वज्र व्यूह (7)

चक्र व्यूह (8)

व्याल व्यूह (9)

॥श्रीक्षेत्रपालायनम॥

स्वामी श्री कृष्णानन्द ग्रन्थमाला–पुष्प–१

(ART OF WARFARE IN MAHABHARTA)

महाभारत में सांग्रामिकता

(महाभारत की युद्ध कला)

डॉ० नन्दकिशोर गौतम (उपाध्याय) 'निर्मल'
एम. ए., पी-एच .डी., साहित्य-आयुर्वेदाचार्य, साहित्य-आयुर्वेदरत्न

प्राचार्य
राजकीय दरबार शास्त्री संस्कृत महाविद्यालय
जोधपुर

निर्मल प्रकाशन, जयपुर
गीत गोविन्द कुन्ज, एस. 24-25 कृष्ण मार्ग
शिवाड़ (शिवालय) क्षेत्र, बापू नगर, जयपुर–15

ART OF WARFARE
IN MAHABHARTA

महाभारत में सांग्रामिकता

(महाभारत की युद्ध कला)

●

डॉ. नन्दकिशोर गौतम 'निर्मल'
स्वत्वाधिकारी

●

निर्मल प्रकाशन
गीत गोविन्द कुञ्ज एस. 24-25
कृष्ण मार्ग, शिवाड़ (शिवालय) क्षेत्र
बापू नगर, जयपुर-15

●

वितरक ;
अलंकार प्रकाशन, जयपुर
74, तनेजा ब्लाक
आदर्श नगर, जयपुर-4

●

मूल्य
दो सौ पच्चीस रुपये

○

संस्करण
गुरु पूर्णिमा सं. २०४३, शक १९०८
दि०21-7-1986

●

मुद्रक :
रसकपूर प्रिण्टर्स
दीनानाथ गली,
जयपुर

ART OF WARFARE IN MAHABHARATA
by Dr. Nand Kishor Gautam 'Nirmal'

❋ समर्पणम् ❋

वृद्धिचन्द्र उपाध्याय – वंशजातो महाशयः ।
वन्द्यो धर्मविद्धन्यो जनको मे महामनः ।।
पित्रे प्रभुभक्ताय करुणामूर्तये मुदा ।
तस्मै च कर्मशीलाय ग्रन्थ एषः समर्प्यते ।।

धर्मकर्म में जो निरत, जनक वृद्धि के चन्द्र ।
उपाध्याय श्री वंश के, थे अद्भुत गुण चन्द्र ।।
करुणासागर जो महान्, प्रभुभक्तिरस लीन ।
ग्रन्थ समर्पण करता हूं, मैं निर्मल अति हीन ।।

—निर्मल

राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा
पीएच. डी. की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

महाभारत में सांग्रामिकता

(महाभारत की युद्ध कला)

मनीषा

भारतीय वाङ्मय में "महाभारत" का उल्लेखनीय स्थान है। इसके सम्बन्ध में अनेक उक्तियां विख्यात है, परन्तु उन सब का संयोजन एक ही उक्ति में कर दिया गया है और वह उक्ति है—

'यदिहास्ति न तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्'

अर्थात् जिस वस्तु का विवेचन महाभारत में है, वह विवेचन अन्यत्र वाङ्मय मे भी उपलब्ध है और जिस वस्तु विषय का विवेचन महाभारत में नही मिलता, वह विवेचन कहीं पर भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। वास्तव में जिस किसी भी समीक्षक ने यह कहा है, वह सत्य है, तथ्य है। इसीलिए महाभारत को मनीषी "महाकोष" की संज्ञा देते हैं। किसी सूक्तिकार का कथन है—वेद चार नही, पांच है, वह पांचवा वेद है—"महाभारत"।

"भारतः पंचमो वेदः सुपुत्रः सप्तमो रसः।
दाता पंचदशरत्नं जामाता दशमो ग्रहः॥

जिस ग्रन्थ को वेद के समकक्ष सम्मान प्राप्त हो जाये तो फिर उसे अपूर्ण कैसे माना जा सकता है, क्योंकि वेद तो समस्त विद्याओं की निधि है—

"वेदस्य सर्वविद्यानिधानत्वम्।"

महाभारत शब्द की भी एक लम्बी यात्रा मानी जाती है। इतिहासकारों

का अभिमत है कि जब इस ग्रन्थ का लेखन प्रारम्भ किया गया था तब इसका नाम "जय" था। कालान्तर में सामग्री की वृद्धि के कारण इसका नाम "भारत" हुआ और जब अन्यान्य समस्त विषयों का इसमे यत्र तत्र समावेश हुआ तो यह "महाभारत" के रूप मे विख्यात हुआ। वैयाकरण पाणिनि भारत का अर्थ "संग्राम" करते है और यह उचित भी है, क्योंकि इसमें मूलतः कौरव और पाण्डवों के संग्राम का ही वर्णन है। चूंकि यह संग्राम सामान्य संग्रामों से विशिष्ट था, अतः उसे महासंग्राम अर्थात् महाभारत का नाम दिया जाना औचित्यपूर्ण ही कहा जायेगा। संघर्ष करना मानव के विकास का एक मूल आधार बिन्दु रहा है। इसे चाहे किसी भी नाम मे व्यक्त किया जाये—संघर्ष कहें या संग्राम कहे या युद्ध कहें, सभी एक ही प्रवृत्ति की ओर सकेत करते हैं, जो प्रवृत्ति सृष्टि के प्रारम्भ से मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति के रूप मे दिखाई देती है। बिना संघर्ष न तो विकास होता है और न मनुष्य अपनी इच्छित वस्तु को प्राप्त कर पाता है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त प्रत्येक मानव संघर्ष करता रहता है चाहे वह संघर्ष शारीरिक हो, मानसिक हो या आध्यात्मिक हो। अनेक बार उसे सामाजिक रीति रिवाजों के खिलाफ संघर्ष करना पड़ता है। कभी मन की प्रवृत्ति और निवृत्ति रूपा वृत्तियों में संघर्ष होता है। संघर्ष के फलस्वरूप उसे लाभ प्राप्त होता है या हानि, यह एक अवान्तर प्रश्न है। सामान्यतया यही अपेक्षा की जाती है कि संघर्ष का परिणाम सुखद हो, देवासुर संग्राम भी इसी ओर संकेत करता है। आसुरी वृत्तियों पर दैवी वृत्तियों की विजय इसी लिये महत्वपूर्ण मानी गई है इसी संघर्ष को लेकर अनेक सिद्धान्त प्रचलित हुये। प्रत्येक अपने पक्ष का समर्थन करता है। अतः निर्णायक के लिये यह कहना कठिन हो जाता है कि कौनसा पक्ष उचित है और कौनसा अनुचित। इस औचित्य निर्धारण के लिये नियम बने और प्रत्येक के लिये उनका पालन अनिवार्य किया गया। महाभारत का युद्ध भी इन सभी नियमो की परिधि मे सम्पन्न हुआ। संघर्ष या युद्ध का कम से कम कोई एक निश्चित प्रयोजन अवश्य होता है। एक से अधिक प्रयोजन भी हो सकते हैं। संसार मे संघर्ष के जितने भी प्रमुख प्रयोजन हो सकते हैं, महाभारत में समस्त प्रयोजन विद्यमान हैं चाहे राज्याधिकार प्राप्ति से उसका प्रयोग हो या स्त्री प्राप्ति से या भूमि प्राप्ति से। प्रत्येक प्रभुता-सम्पन्न होना चाहता है। उसे यह अच्छी प्रकार से मालुम है कि उसका जीवन क्षणभंगुर है। जो उत्पन्न हुआ है अवश्य ही मृत्यु को प्राप्त होगा। उसे उसके जीवन काल में उस सघर्ष का फल प्राप्त होगा या नहीं, यह भी निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। फिर भी वह अपने अधिकार के लिये अपने उद्देश्य प्राप्ति के लिये संघर्षरत हो

जाता है। महर्षि वेदव्यास ने महाभारत में इन समस्त विषयों पर बहुत ही कुशलता से प्रकाश डाला है।

यहां प्रसंग है महाभारत की सांग्रामिक अथवा युद्धकला का विवेचन। इससे पूर्व कि मूल विन्दु पर प्रकाश डाला जाये, यह कहना अप्रासंगिक नहीं है कि यह महाभारत युद्ध किन कारणों से हुआ। वास्तव में देखा जाये तो युद्ध के जितने भी प्रमुख कारण हो सकते हैं, वे सभी वहां विद्यमान थे। इस युद्ध को ईर्ष्यावृत्ति धन लालसा, अधिकार प्राप्ति, अपमान का वदला लेने, अन्याय के विरुद्ध प्रतिशोध, कुमन्त्रणा, हठधर्मिता, मोह अथवा देवीबल आदि कारणों से जन्य माना जा सकता है अथवा इन सभी को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है। ये सब कारण ऐसे कारण हैं जो प्रत्येक मानव के लिये उसके जीवन से अनेक बार उपस्थित होते है। परन्तु जो बुद्धिमान् होते हैं, व उनके निवारण के लिये उपाय करते हैं और अज्ञानी लोग उन्हे आधार वनाकर संघर्परत हो जाते है, अस्तु।

सैन्य संगठन एक महत्त्वपूर्ण विषय है। सैन्यशक्ति या वल राज्य के प्रमुख सात अंगों में से एक अंग है। "स्वाम्यमात्य-सुहृत्कोश दण्ड-दुर्गबलानि च। सप्तांगं राज्यमुच्यते।" के अनुसार सैन्य शक्ति को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसका उपयोग विशिष्ट अवसरों पर ही किया जाता था। प्रत्येक शासक का या राजा का यह दायित्व है कि वह अपनी सैन्य शक्ति को संगठित रखे। एतदर्थ राजधर्म प्रकरण में बहुत विस्तार से विवेचन प्राप्त है। इस के साथ साथ "सैन्य प्रशासन" व "सैन्य सामग्री का संकलन" दो महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर भी राजा को सदा चिन्तित रहना होता है। अपने राज्य के विस्तार हेतु अथवा अपने राज्य की शत्रुओं से रक्षा हेतु उसे कब-कब सैन्य शक्ति का प्रयोग करना है। यह सब विचारणीय होने के साथ साथ मन्त्रणा व परिस्थितियों पर निर्भर करता था।"षाड्गुण्य शक्तयतिस्त्र: प्रभावोत्साहमन्त्रजा:"। षड् गुण तथा तीन शक्तिया ही प्रत्येक राजा के लिये सफल प्रशासन हेतु मानदण्ड रही है वास्तव में चौसठ प्रमुख कलाओं में युद्ध कला को भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है। ऐसा नहीं है कि जब जिसने चाहा तब ही शत्रु पर आक्रमण कर दिया और उसने अधीन बना लिया। आक्रमण करना और फलस्वरूप विजय प्राप्त करना गहरी सूझ-बूझ का परिणाम होता था। इसीलिए महाभारत के अध्ययन से युद्ध कला के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का परिज्ञान होता है। वहा युद्धकला के ही अन्तर्गत युद्ध के विभिन्न प्रकारों का ही विवेचन है। व्यूहरचना युद्धकला की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इनके भी विभिन्न

नाम हैं और ये सभी व्यूह जैसे क्रौंच व्यूह, श्येन व्यूह, सूचीमुग व्यूह, मकर व्यूह, शकट व्यूह, चक्र व्यूह, आदि अनेक व्यूह ऐसे थे जिनकी रचना से शत्रु की बड़ी से बड़ी सेना सरलता से परास्त कर दी जाती थी। इन समस्त व्यूहों का आश्रय लेकर सांग्रामिकता के नियमों का यथावत् पालन करते हुये कुशल सेनापतियो के सफल नेतृत्व मे महाभारत का युद्ध हुआ और फलतः अधर्म पर धर्म की विजय हुई। इसीलिये महाभारत का यह उद्घोष रहा "यतोधर्मस्ततो जयः।"

"यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीविजयो भूतिध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥"

इसीलिए महाभारतकार का यह कथन है–

अर्थात् जहां योगेश्वर कृष्ण विद्यमान है, वहां धनुर्धर अर्जुन विद्यमान है वहां वास्तव में नीति है वही श्री है, वही विजय है, वहीं ऐश्वर्य है और वहीं सब कुछ है।

मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि मित्रवर डॉ. नन्दकिशोर गौतम "निर्मल" ने अपने शोध कार्य हेतु महाभारत मे सांग्रामिकता विषय का निर्वाचन किया और राजस्थान विश्वविद्यालय ने सन् 1977 ई. मे उन्हे पी-एच. डी. की उपाधि से सम्मानित किया।

सम्मानित होना तो सुनिश्चित ही था, क्योकि श्री निर्मल ने श्रद्धेय डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा जी को अपना शोध निदेशक बनाया। राजस्थान प्रान्त के मनीषी, स्वतन्त्र विचारक, साहित्यकार, सफल समालोचक एवं शोध के क्षेत्र में उल्लेखनीय स्थान रखने वाले डॉ. शर्मा जी समस्त राजस्थान मे तो अपने ज्ञान-गौरव के कारण प्रसिद्ध ही है, अब तो वे अलकार शास्त्र के इतिहास मे "सत्यानुभूतिरात्मा काव्यस्य" सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक होने से से समस्त भारत मे अपना स्थान बना रहे हैं। ऐसे महामनीषी के सफल एव वैदुष्यपूर्ण निदेशन मे सम्पन्न डॉ. निर्मल के शोध प्रबन्ध पर मुझे दो शब्द लिखने का जो अवसर प्राप्त हुआ, एतदर्थ मैं आभारी हूं। डॉ. निर्मल ने अपने इस शोधप्रबन्ध में उन समस्त बिन्दुओं का सफलतापूर्वक

संयोजन किया है, जो शोध विषय के विवेचन में अत्यावश्यक हो सकते हैं। यों तो संस्कृत वाङ्मय इतना विशाल है कि उन समस्त बिन्दुओं का समावेश एकत्र संभव नही होता, परन्तु फिर भी महाभारत मे सांग्रामिकता अथवा युद्धकला के विवेचन में जो सारगर्भित दृष्टि रही है, वास्तव मे गागर में सागर भरने की उक्ति को चरितार्थ करती है। इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का वे प्रकाशन करा रहे हैं,यह अत्यन्त हर्ष का विषय है। मुझे विश्वास है इस ग्रन्थ के अध्ययन से अनेक शोधार्थी लाभान्वित होगे। विज्ञेषु किमधिकम्।

विनोत :

डा. प्रभाकर शास्त्री
विभागाध्यक्ष संस्कृत विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर

-o-

प्राक्कथन

आकाशवाणी केन्द्र जयपुर से 'देववाणी' कार्यक्रम के नाम से संस्कृत का एक साप्ताहिक कार्यक्रम प्रसारित होता है। इसमें प्रायः संस्कृत के ग्रन्थो की सोदाहरण वार्तायें प्रसारित की जाती हैं। मैं भी इस कार्यक्रम मे अनेक वर्षों से भाग लेता आ रहा हूँ। अतः इस कार्यक्रम की वार्ताओ को सुनना मेरी स्वाभाविक रूचि है। एक दिन मैं अपने श्रद्धेय गुरुवर डा० पुरुषोत्तम लाल भार्गव की 'महाभारत में युद्ध कौशल' नाम की वार्ता सुन रहा था। इस वार्ता मे अभिरूचि विशेष हुई और आत्मा ने यही संकेत दिया कि इसी विषय को शोधप्रबन्ध हेतु चुनना चाहिए, क्योंकि इस व्याज से महाभारत का मार्मिक अध्ययन हो जायेगा और आधुनिक युग में प्राचीन युद्धकला का उपयोगी रूप भी प्रस्तुत कर दिया जायेगा।

अपने गुरु डा. भार्गव के पास मैं यह विचार लेकर गया। उन्होने मुझे इस विषय के लिये प्रोत्साहित ही नही किया अपितु प्रारंभिक रूपरेखा भी बनाकर दी। मैंने (Art of warfare as depicted in mahabharta' यह विषय विश्वविद्यालय में शोधप्रबन्ध के पंजीयन हेतु प्रस्तुत कर दिया। मैं एक निर्धन छात्र था और कष्टो के साथ एम० ए० कर पाया था। अतः आर्थिक सहायता के बिना मेरा कार्य चलना कठिन था, किन्तु दैवयोग से मुझे राजस्थान विश्वविद्यालय की ओर से सामान्य शोधछात्रवृत्ति की स्वीकृति मिल गई और मैंने अपना कार्य परमश्रद्धेय डा. ब्रह्मानन्द शर्मा के पथप्रदर्शन मे प्रारंभ करने हेतु कदम उठाया, किन्तु मेरे उपर्युक्त विषय का परिमार्जनकर 'महाभारत में युद्ध एवं कूटनीति' यह विषय कर दिया गया। मैंने जब इस विषय पर शोध सामग्री संकलन प्रारभ किया तो विषय की विशालता ने मुझे झकझोर दिया। सभी विद्वान् सम्मति देने लगे कि विषय बहुत बड़ा हो जायेगा और कूटनीति पर तो अलग से ही शोधप्रबन्ध लिखा जा सकता है, यह तो डी. लिट् का विषय है। अतः केवल महाभारत मे साग्रामिकता

(युद्ध कला) यह लेना ही उपयुक्त होगा। मैंने भी इस गुरुतर-भार को इसी रूप मे करना चाहा।

अपने पथप्रदर्शक से गहन विचार-विमर्श कर मैंने अपने विषय का उपर्युक्त रूप में संशोधन कराने हेतु रूपरेखा के साथ पुनः विश्वविद्यालय को प्रार्थना-पत्र भेजा और सिण्डीकेट के द्वारा यह विषय स्वीकृत कर लिया गया। मेरा प्रथम पंजीकरण अप्रेल सन् 1964 में हुआ और विषय का संशोधन अप्रेल सन् 1968 में हुआ। अब मुझे अपने विषय को फिर नवीनरूप मे लेकर चलना था, किन्तु दुर्भाग्य से छात्रवृत्ति केवल दो ही वर्ष मिली और तृतीय वर्ष छात्रवृत्ति न मिलने के कारण मैं हतोत्साह ही नही हुआ अपितु मुझे बाध्य होकर राजस्थान संस्कृत कालेज जयपुर मे प्राध्यापक का कार्य सम्हालना पड़ा। अब शोधप्रबन्ध की ओर वह रूचि नही रही जो रहनी चाहिये थी और इसके साथ-साथ गृहस्थ का भार एवं अनेक समस्यायें मेरे सामने आ पड़ी, जिससे शोधप्रबन्ध की गति अत्यन्त शिथिल पड़ गयी, किन्तु कार्य मन्द गति के रूप में चलता रहा।

मेरे मित्र श्री सुभाष चन्द्र तनेजा ने अपना शोधप्रबन्ध संस्कृत माध्यम से प्रस्तुत करना चाहा था और अभिन्नता के प्रभाव से मैंने भी अपना माध्यम भी संस्कृत ही चुना। गुरुदेव ने भी मुझे इस विषय में प्रोत्साहित किया और मैं इसी माध्यम को लेकर कार्य करता रहा। कार्य करने के साथ मुझे डा. प्रभाकर शर्मा ने बताया कि महाभारत का आलोचनात्मक प्रकाशन जो कि भण्डारकर प्राच्यविद्या-शोध-संस्थान से प्रकाशित हुआ है, वही शोध हेतु स्वीकृत है अन्य प्रकाशन नही महाभारत का यह प्रकाशन 1500 रुपये का मिलता था और मुझ अर्थाभाववान् के लिये इसे खरीदना असम्भव था। मैंने अपना कार्य गीता-प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित महाभारत से ही प्रारंभ किया था और मैं 90) में मिलने के कारण उसे ही प्राप्त कर सका था।

डा. ब्रह्मानन्द ने मुझे बताया कि गीताप्रेस का प्रकाशन बम्बई वाला प्रकाशन है और वह भी मान्य होना चाहिये किन्तु फिर भी यदि दोनो का तुलनात्मक अध्ययन कर लिया जावे तो उत्तम रहे। मुझे तुलनात्मक अध्ययन में फिर कम से कम छः माह लग गये। इसके साथ-साथ अनेक ग्रन्थों का अध्ययन कर शोध-सामग्री एकत्रकर मैंने मन्द गति से संस्कृत माध्यम द्वारा अपना शोध-प्रबन्ध जैसे-तैसे लिखकर गुरुदेव के समक्ष गत वर्ष के ग्रीष्मावकाश में रखा। गुरुदेव ने उसे सूक्ष्मदृष्टि से देखा और मुझे अजमेर परामर्श हेतु बुलाया। विचार-विमर्श का सार यह निकला कि शोधप्रबन्ध मे विवेचन का अभाव है और साथ-साथ प्रत्येक अध्याय को क्रमशः

दिखाने के पूर्व ही सम्पूर्ण शोधप्रबन्ध मानों एक भवन में लाकर रख दिया गया।
इसके काट छांट की ओर ध्यान नही दिया गया। अतः इसे पुनः संशोधित किया
जावे।

मेरे मित्र डा. प्रभाकर शर्मा ने मुझे यह भी परामर्श दिया कि संस्कृत-माध्यम की अपेक्षा हिन्दी-माध्यम का आश्रय लिया जावे क्योंकि संस्कृत में टंकण हेतु बहुत ही कठिनाइयाँ आयेंगी और छः माह के कार्य में एक वर्ष लग जायेगा। गुरुदेव ने भी बताया कि संस्कृत में शोधप्रबन्ध प्रस्तुत करने से यह साधारण जनोपयोगी नही होगा और जनता-जनार्दन के काम आने की अपेक्षा आलमारी को ही सुशोभित करेगा या एक विशिष्ट-वर्ग का विषय बन कर रह जायेगा। अतः नवीन संशोधित रूप को हिन्दी माध्यम से प्रस्तुत किया जावे; क्योंकि विषय का महत्व है, माध्यम का नहीं।

मैंने गुरुदेव की आज्ञा शिरोधार्य मानी और गत नवरात्रों में उन्ही के चरणो में बैठकर लेखनी चलाने लगा। सम्पूर्ण नवरात्रों मे गुरुगृह पर ही अन्तःवासी के रूप मे रहकर विशाल विषय के प्रथम विशाल पर्व का लगभग आधा कार्य पूर्ण किया। गुरुदेव भी साथ के साथ देखते गये, परामर्श देते गये और विषय को माँजते गये। अब तो विषय का निखरा हुआ रूप सामने आना स्वाभाविक था। मैं उत्साह के साथ रातदिन लगकर परिश्रम करता गया और विजयदशमी के महान् पर्व पर मैंने भी इस शोधप्रबन्ध के महायुद्ध मे विजय प्राप्त कर अपने वर्षो के परिश्रम को सफल बनाया।

श्रद्धेय डा. ब्रह्मानन्द के पथ प्रदर्शन में मैंने यह पाया कि इनका गम्भीर-चिन्तन एवं पैनी-दृष्टि सामान्य पदप्रदर्शको से बढ़कर है। मुझे कभी-कभी बड़ा आश्चर्य होता था कि जहा मेरी मति रुक जाती थी, वहां इनके वरदहस्त का स्पर्श पाकर पुनः कार्य में संलग्न हो जाती थी और विषय इतना उत्तम बन जाता था कि जिसकी मैं कल्पना भी नही कर सकता था। इसमे कोई संशय नही कि मैं इन गुरुदेव का अत्यन्त ऋणी रहूँगा जिन्होने 'अंगीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति' इस आभाणक के अनुसार मुझे अपने चरणों में स्थान देने के बाद अपनी ओर से कभी नही हटाया, गुरुदेव के शीलस्वभाव, औदार्य और धैर्य ने मुझे इधर-उधर नही होने दिया और मेरा हृदय बार-बार यही कहता था कि जब देवतुल्य गुरु ही मुझे यह नही कहते कि यदि शोधकार्य न करना हो तो किसी अन्य को चुनलो तब तक मुझे क्यो अन्य की शरण लेनी चाहिये। हम दोनो ही अपनी-अपनी सीमाओं मे

डटे रहे और मैं गुरुदेव के शुभाशीर्वाद, कृपा, सहायता तथा गुरुतर-ज्ञान से कृतकृत्य होकर अपने विशाल शोधप्रबन्ध को पूर्ण कर विद्वानो के समक्ष रखने में समर्थ हो सका।

मुझे शोधप्रबन्ध प्रस्तुत करने में ग्यारह वर्ष लग गये किन्तु मैं यह कह सकता हूँ 'देर आयद् दुरस्त आयद्'। ग्यारह वर्ष की इस विशाल अवधि में इस विशाल शोधप्रबन्ध का पूर्ण होना कोई विशेष अनुचित नही है, क्योंकि एक तो महाभारत विशाल ही नही विश्व का विशालतम ग्रन्थ है, जिसे एक बार पढ़ने मात्र में मुझे छः माह लग गये फिर विषय का पुनः पुनः संशोधन हुआ तथा आर्थिक कठिनाईयों ने फिर इधर से उधर कर दिया, किन्तु, जब आर्थिक ढाचा ठीक ठाक हो गया तो मैंने भी शान्त–मस्तिष्क से घोर-परिश्रम कर इस गुरुतर कार्य को पूर्ण कर ही डाला। मैं इसके हिन्दी रूप को केवल छः माह मे ही परिमार्जित कर प्रस्तुत कर देना चाहता था और यदि मैं ग्रीष्मावकाश में कनाड़ा, अमेरिका, इंग्लैण्ड फ्रान्स, जर्मनी स्विटजरलैण्ड, इटली मिश्र, लेबनान इरान और कुवैतादिक देशों की यात्रा करने नही जाता तो इसे ग्रीष्मावकाश में ही प्रस्तुत कर देता, किन्तु डा. ब्रह्मानन्द के शब्दों में कार्य तभी पूर्ण होता है जब उसका संयोग आता है,। अतः उस विजय दशमी का कार्य इस विजय-दशमी पर ठीक एक वर्ष में ही पूर्ण हुआ।

मेरे शोध-प्रबन्ध की आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उपयोगिता मैं उपसंहार में प्रतिपर्व के साथ बता चुका हूँ, किन्तु यह आवश्यक है कि यहा भी सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध का सूक्ष्म परिचय दे दूँ, जिससे पाठक संक्षिप्त मे इससे परिचित हो सकें।

मेरे शोध-प्रबन्ध का सीधा सम्बन्ध महाभारत के महायुद्ध से है। अतः अधिकतर मैंने इस महायुद्ध से सम्बन्धित् विषयों को ही लिया है, किन्तु जहां आवश्यक हुआ वहां इससे इतर युद्धों को भी ग्रहण किया है। उदाहरणार्थ पशुपतास्त्र के वर्णन हेतु अर्जुन का निवात कवच दानवों के साथ युद्ध। शोध प्रबन्ध की भूमिका में मैंने महाभारत युद्ध के संक्षिप्त कथानक पर, महाभारत की तिथि पर एवं महाभारत ग्रन्थ का सामरिक ज्ञान की दृष्टि से क्या महत्व है? इस विषय पर सूक्ष्म प्रकाश डाला है।

मैंने प्रथम पर्व मे युद्ध का प्रादुर्भाव, युद्धों के उद्देश्य, युद्धों के नियम, यज्ञो का युद्ध से सम्बन्ध, महाभारत के महायुद्ध के कारण, महाभारत युद्ध को टालने हेतु किये गये उपाय, आदि विविध विषयों पर विस्तार के साथ प्रकाश डाला है तथा

युद्ध-प्रिय जाति क्षत्रिय के युद्ध से सम्बन्धित् क्षात्र-धर्म पर मार्मिक विवेचन के साथ प्रकाश डाला है।

द्वितीय पर्व मे सेना का लक्षण, राज्य के संदर्भ में उसकी अनिवार्यता सेना के परम्परागत चारों अंगो का विवेचन, धनुर्वेद का परिचय, महाभारत में धनुर्वेद की परम्परा एवं महाभारत कालीन सैन्यसंगठन की इकाईयों का आधुनिक सैन्य-संगठन की इकाईयों के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

तृतीय पर्व मे सैनिकों की योग्यतायें, परीक्षा एवं सेना के विभिन्न अधिकारियों के श्रेणीगत पद तथा उनकी आधुनिकता के साथ तुलना। सेनापति पद का महत्व, सेनापति की योग्यतायें सेनापति की नियुक्ति एवं आधुनिक सेनापति पद के साथ तुलना। सैनिकों का प्रशिक्षण, वेतन, मृत-सैनिकों के परिवारों की व्यवस्था, इनका आधुनिक ढंग से तुलनात्मक अध्ययन। सेना पर नियंत्रण का आज से तुलनात्मक अध्ययन, आदि विषयों पर प्रकाश डाला है।

चतुर्थ-पर्व सैन्य-सामग्री की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों के साथ तुलनात्मक अध्ययन, दिव्यास्त्रों का संक्षिप्त परिचय, युद्ध के साधन रथ, घोड़ा, सारथि आदि पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला गया है इसमे मैंने अस्त्रशस्त्रों के यथा-शक्य चित्र भी दिये हैं।

पंचम-पर्व में सेना की अभियान विधि का कौटिल्य, शुक्र और आधुनिक मतो के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्थानकाल के शकुनापशकुन का विविध परिणाम एवं आधुनिक दृष्टि से उनका उपयोग। मोर्चाबन्दी, सेना की अनुशासन विधि, अनुशासनहीनता के कारण एव सैन्य-संचालन की रीति-नीति का यथेष्ट विवेचन प्रस्तुत किया गया है और आवश्यकतानुसार कुछ चित्र भी दिये गये हैं।

षष्ठ-पूर्व में महाभारत युद्ध में हुये विविध प्रकार के युद्धों का वर्णन प्रस्तुत किया है। जिसमें प्रमुख दिव्यास्त्रयुद्ध—दिव्यास्त्रों की प्राप्ति, उनका प्रयोग प्रभाव और उनका आधुनिक आणविकास्त्रों के साथ तुलनात्मक अध्ययन। महायुद्ध, गदा-युद्ध, मुष्टिक-युद्ध, प्रस्तर युद्ध, वृक्षयुद्ध, द्वन्द्व-युद्ध एवं विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्रो के युद्धों पर यथेष्ट प्रकाश डाला है।

सप्तम-पर्व मे महाभारत की व्यूह-कला का सुविवेचन बन पड़ा है। जहां तक हो सका मैंने इसके चित्र समझाने की दृष्टि से दिये हैं। उदाहरणार्थ क्रौंच,

श्येन, मकर, वज, चक्र शकट, सर्वतोभद्र, व्यालादि व्यूहों का आधुनिक व्यूहों के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

अन्तिमरूप उपसंहार का है जिसमें मैंने अपने शोध-प्रबन्ध का आधुनिक परिप्रेक्ष्य में उपयोग बताया है। इस प्रकार यदि हम पूर्ण-रूप से मिलाकर देखें तो मेरे शोध-प्रबन्ध में नौ पर्व बनते है, किन्तु मैंने भूमिका और उपसंहार को पर्व के रूप में न गिनकर आदि अन्त के संपुटों के रूप मे गिना है। अतः सात ही पर्व मैंने माने हैं। क्योंकि मेरा यह शोध प्रबन्ध महाभारत जैसे विशाल ग्रन्थ को लेकर है। अतः मैंने अध्यायों के स्थान पर अध्यायों का पर्व नाम रखकर महाभारत का यह शोध प्रबन्ध है, ऐसा सहज में ही भान करा दिया है।

मैंने अपने शोध-प्रबन्ध में आधुनिक सैन्यज्ञान की सामग्री अपने एन. सी. सी. के 'बी' एवं 'सी. प्रमाणपत्र के चार वर्ष के प्रशिक्षणानुभव के आधार पर एवं पुराने एन. सी. सी. के प्रशिक्षकों से सम्पर्क साधकर दी है। अतः सन्दर्भ-ग्रन्थ रूप मे मैं किसी भी पुस्तक का प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सका। इसके लिये नीतिनिपुण विद्वान् मेरी विवशता को समझने की कृपा करेंगे।

अन्त मे सभी गुरुजनों को पुनः पुनः प्रणाम करता हुआ परमपिता परमेश्वर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ कि जिनकी कृपा से मैं अपना शोध-प्रबन्ध विद्वज्जनो के समक्ष रखने मे सफल हो सका। मेरे इस शोध-प्रबन्ध के लिये मैं उन व्यक्तियों की सहायता को भी नही भूल सकता जिन्होंने इसके पूर्ण करने मे प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप में सहयोग दिया। उन लोगों में प्रमुख नाम मेरी भार्या वैद्या (श्रीमती) गीता देवी, गौतम 'कविता' आयुर्वेदाचार्य बी. ए. का, सहायक अध्यापक श्री प्रभाती लाल गुप्त बी. ए. का श्री सुरेन्द्रकुमार सिंघल एवं जगदीश शर्मा का मेरे अनुज श्री राधेश्याम शर्मा आयुर्वेद-विशारद का, श्री ग्यारसी लाल शर्मा का श्री गोपाल नारायण बहुरा का बद्री नारायण शर्मा आयुर्वेदाचार्य का, वैद्य श्री रमेश कुमार शर्मा आयुर्वेदाचार्य का, तथा मेरे महाविद्यालय के ज्योतिष प्राध्यापक श्री रामपाल शर्मा का उल्लेखनीय है।

—डॉ. नन्दकिशोर गौतम

प्रोफेसर युगलकिशोर मिश्र
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी।

दिनांक 23-4-86

भारतीय ऋतम्भरा प्रज्ञा से प्रसूत विश्व के श्रेष्ठ वाङ्मय में महाभारत का अन्यतम स्थान है। यह ग्रन्थरत्न श्रृंखलाबद्ध ऐतिह्यमात्र का प्रतिपादक नहीं अपितु साक्षात्कृतधर्मा मनीषियों द्वारा लोकमङ्गल की स्थापना हेतु आविष्कृत उदात्त संविधानों का संग्रह है। "यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" इस आनुश्रविक चिन्तन से उद्भूत अखण्डवासना से वत्सल होने के कारण इस आगम की परिधि में समग्र सृष्टि समाहित है तथा सृष्टि के शाश्वतमूल्यों के संरक्षणार्थ इसकी प्रासंगिकता त्रिकाल में अव्याहत है। अत एव आचार्यों ने पञ्चमवेद के रूप में भी इसका समादर किया है।

शाश्वत सृष्टिधारक मूल्यों की सुरक्षा के लिए मानव मात्र को जाग्रत एवं युयुत्सु रहने का सन्देश मानवभूति के लिये ध्रुवनक्षत्र सदृश है। इस ग्रन्थरत्न की सांग्रामिकता के पक्ष को अभिनव रूप मे प्रस्तुत करने के प्रयास को डॉ. नन्दकिशोर गौतम 'निर्मल' के प्रयास को मैं वरेण्य मानता हूं।

—प्रो. युगलकिशोर मिश्र

दिनांक 24–4–1986

महामहोपाध्याय एस. जी. कांटावाला
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
संस्कृत, पाली एवं प्राकृतविभाग
नियामक (निदेशक) प्राच्यविद्या मन्दिर
महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय
वड़ोदा (गुजरात)

डॉ० नन्दकिशोर गौतम 'निर्मल' द्वारा प्रस्तुत एवं राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पी.एच. डी. उपाधि हेतु स्वीकृत शोध प्रबन्ध 'महाभारत में सांग्रामिकता' (महाभारत की युद्धकला) का मैंने अवलोकन किया। महाभारत के विषय में विद्वानों का जो यह कथन है कि 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्' वास्तव में सत्यानुभूतिपरक कथन है इसीलिए महाभारत को पञ्चमवेद के रूप में सम्मान प्राप्त है। आज महाभारत शब्द सामान्यत: युद्ध या का पर्यायवाची हो गया है। वर्तमान में हम ही नहीं समस्त विश्व युद्ध की विभीषिकाओं से संत्रस्त हैं। इस वैज्ञानिक युग में युद्ध के सन्दर्भ में नवीन 2 आविष्कारों की चर्चा सुनते हैं और कभी 2 उन्हें प्रत्यक्षतः देखने का अवसर भी प्राप्त होता है। जिन्हें सुनकर और देखकर सामान्य व्यक्ति तो प्रभावित हो सकता है। किन्तु संस्कृत का ज्ञाता विशेषत: महाभारत का प्रेमी इसीलिए प्रभावित नहीं होता कि उसे इस बात का परिज्ञान है कि महाभारत काल में युद्धकला अपने किस उत्कर्ष पर थी।

डॉ० गौतम ने महाभारतकालीन युद्धकला को लक्ष्य बनाकर जो शोध प्रबन्ध लिखा है उससे अनेक नये लक्ष्य उजागर हुए हैं। लेखक ने अपने शोध-प्रबन्ध में युद्धों के कारण, युद्धों के प्रकार युद्धों का यज्ञ से सम्बन्ध, महाभारत के युद्ध के कारण महाभारत के युद्ध को टालने के लिए किये गये उपाय आदि विषयों पर विस्तार से विवेचन प्रस्तुत किया है।"महाभारत में क्षात्र धर्म" इस शोध प्रबन्ध का एक बहुत ही महत्वपूर्ण एवं मार्मिक विवेचन है। महाभारतकालीन सेना की श्रेणियों की आधुनिक सेना की श्रेणियों से समकक्षता एक तथ्य प्रस्तुत करती है। अस्त्र-शस्त्रों का चित्रों के साथ प्रस्तुत करना एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। दिव्यास्त्रों का आणविकास्त्रों के साथ

तुलनात्मक अध्ययन अपने आप में एक विशिष्ट तथ्य है। महाभारत की व्यूह कला का आधुनिक व्यूहकला के साथ तुलनात्मक अध्ययन और व्यूहों के चित्र इस प्रबन्ध की विशिष्ट उपलब्धि है।

डॉ. गौतम के इस कार्य के लिए मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूं तथा इसके प्रकाशन से सामान्य जनता को विशिष्ट ज्ञान के लिए प्रमुख हेतु मानकर बधाई देता हूं। भारतीय युद्ध कला पर अनेक विद्वानों ने स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में तथा विशिष्ट लेखों के माध्यम से पर्याप्त लिखा है जो प्रकाशित भी है। यह शोधप्रबन्ध उसी शृंखला में यह एक विशिष्ठ ग्रन्थ है।

म. म. डॉ. सुरेशचन्द्र जी. कांटावाला

रणजीत सिंह कूमट
शिक्षा सचिव

जयपुर
राजस्थान

अ० शा० पत्र क्रमांक निस/शिस/86/269
जयपुर, दिनांक 23 अगस्त, 1986

राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पी. एच. डी. की उपाधि के लिए स्वीकृत 'महाभार[illegible]ांग्रामिकता (महाभारत की युद्धकला)' शीर्षक शोध प्रबन्ध देखा। इसके [illegible]भार प्रदर्शि[illegible]शार गौतम 'निर्मल' ने इस ग्रन्थ में विश्व के विशालतम ग्रन्थ [illegible]कला की तथ्यपूर्ण एवं गूढ बातें विद्वानों के सामने प्रस्तुत की हैं जो [illegible]खती हैं। इन्होंने अपने इस ग्रन्थ में महाभारतकालीन अस्त्र-शस्त्रों को, दिव्या[illegible]ों को, सेना के अंगों को, सैन्योपकरणों को सेना के व्यूहों को, युद्ध के नियमा को [illegible]भिन्न प्रकारादि से युद्ध के पक्षों को ऊजागर किया है। डॉ. गौतम ने अपने शोध प्रबन्ध में प्राचीन और अर्वाचीन युद्धकला का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। निश्चय ही भारतीय वाङ्मय में यह शोध–प्रबन्ध महाभारत के विभिन्न पक्षों पर लिखे जा चुके श्रेष्ठ ग्रन्थों में अपना स्थान पायेगा।

भवन्निष्ठ,
रणजीत सिंह कूमट

—: सौजन्य से :—

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध में श्री रामचरण प्राच्य-विद्यापीठ एवं
म प्रन्यास, नीलाम्बरा प्राच्य-विद्यापथ जयपुर से व्यूहों के
भ चित्र प्राप्त हुए हैं, जिनमें प्रमुख व्यालव्यूह, वज्रव्यूह
तोभद्रादि व्यूह हैं। एतदर्थ सग्रहालय के सस्थापक व
आचार्य श्री रामचरण शर्मा 'व्याकुल' के प्रति लेखक अपना
. प्रदर्शित करता है।

डा० नन्दकिशोर गौतम 'निर्मल'

26–4–86

डॉ. पी. एल भार्गव
भूतपूर्व संस्कृत आचार्य,
राज. वि. वि., जयपुर तथा
धर्माचार्य
एम. सी. मास्टर विश्वविद्यालय
हेमील्टन, ओन्टेरियो, कनाडा ।

मैंने डॉ. नन्दकिशोर गौतम 'निर्मल' द्वारा लिखित और राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पी. एच. डी. उपाधि के लिए स्वीकृत 'महाभारत की युद्ध कला' [महाभारत में सांग्रामिकता] शीर्षक शोध प्रबन्ध पढ़ा । लेखक ने बड़े परिश्रम और अध्यवसाय से महाभारत रूपी समुद्र का मन्थन करके उसमें से तत्कालीन युद्धकला रूपी रत्न निकाले हैं । इन्होंने अपने इस ग्रन्थ में तत्कालीन अस्त्रशस्त्र, सेना के अंग सेना के उपकरण, सेना के समूह आदि सभी पक्षों को उजागर किया है । इन्होंने अपने शोधप्रबन्ध मे उस काल की युद्धकला का पूर्ण वर्णन किया है, साथ ही आधुनिक युद्धकला से उसकी समानताएं और विभिन्नताएं दिखाकर ग्रन्थ को और भी उपयोगी बना दिया है । मुझे आशा ही नही पूर्ण विश्वास भी है कि यह शोध प्रबन्ध महाभारत के विभिन्न पक्षों पर लिखे हुए सर्व श्रेष्ठ ग्रन्थों में स्थान पायेगा ।

ह. पुरुषोत्तमलाल भार्गव

डा० रेवाप्रसाद द्विवेदी
संकाय प्रमुख
संस्कृत विद्या, धर्म विज्ञान सकाय
काशी हिन्दु विश्वविद्यालय वाराणसी

24-4-86

डॉ नन्दकिशोर गौतम 'निर्मल' का शोध प्रबन्ध महाभारत की युद्धकला (महाभारत में सांग्रामिकता) एक महत्त्वपूर्ण और असाधारण ग्रन्थ है । ग्रन्थ विशेषताओं के अतिरिक्त इस ग्रन्थ की उल्लेखनीय विशेषता अस्त्र-शस्त्रों विशेषतः दिव्यास्त्रों का प्रभाव और उनका आधुनिक परिप्रेक्ष्य में आणविक अस्त्रों से तुलनात्मक अध्ययन, युद्धों के प्रकार, व्यूहो का चित्राङ्कन, सेना की श्रेणियां, सेना के अङ्ग सेना की सामग्री आदि विषयों पर महाभारतकालीन युद्धकला का बड़ा ही मार्मिक विवेचन किया है । निश्चय ही महाभारतकालीन युद्धकला का आधुनिक परिप्रेक्ष्य में एक नवीन उद्‌बोधन इस ग्रन्थ के द्वारा प्राप्त होता है ।

महाभारत भारतीय संस्कृति का आकर ग्रन्थ है । भारतीय अतीत का इतिहास महाभारत संहिता की देन है । यह एक स्मृति ग्रन्थ है और प्रमाणभूत शास्त्र है । इसे पञ्चम वेद का स्थान दिया गया है । "यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तद् क्वचित्" का उद्‌घोष महाभारत के विषय में अक्षरशः सत्य है । उसके अध्ययन की दिशा में किया गया प्रत्येक प्रयत्न श्लाघ्य है ।

मैं डॉ० गौतम के इस ग्रन्थ का हार्दिक स्वागत करता हूं

डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी

21-4-86

DR. B. N. Sharma
Ex. Director
Raj. Oriental Research Institute
Ex u.g c Research Professer
University of Rajasthan

डॉ० नन्दकिशोर गौतम 'निर्मल' द्वारा लिखित तथा राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पी. एच. डी. की उपाधि के लिए स्वीकृत 'महाभारत की युद्ध कला महाभारत में सांग्रामिकता शीर्षक शोध-प्रबन्ध एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। लेखक ने व्यापक एवं गम्भीर अध्ययन के आधार पर इसमें युद्धकला सम्बन्धी सभी पक्षों का विवेचन किया है तथा युक्तियुक्त एवं तर्कसम्मत निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं। युद्ध के पूर्व की प्रक्रियाओं के विवेचन के अतिरिक्त युद्धवर्ती विभिन्न व्यूहों तथा युद्ध में प्रयुज्यमान विविध शास्त्रों का विस्तृत वर्णन किया गया है शास्त्रों में सामान्य शस्त्रों से लेकर व्यापक एव विनाशकारी प्रभाव वाले दिव्यास्त्रों का विवेचन हुआ है। इस विवेचन मे यथासम्भव शस्त्रों के चित्रों के सन्निवेश से वर्णन, में स्पष्टता एवं रोचकता आ गई है। व्यापक विनाशकारी प्रभाव वाले शस्त्रों की तुलना आणविक शस्त्रों से करके लेखक ने अपने विवेचन की आधुनिक प्रासंगिकता भी प्रतिपादित कर दी है।

युद्ध काल के अतिरिक्त ग्रन्थ में प्रसंगवश धर्म के स्वरूप एवं राजधर्म का भी विवेचन हुआ है। यह विवेचन आधुनिक राजनीति के अध्ययन की दृष्टि से उपयोगी कहा जा सकता है। युद्धकला की सूक्ष्मताओं का विवेचन आधुनिक रणनीति के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है। डॉ० नन्दकिशोर गौतम इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के लिए निस्सन्देह साधुवाद के पात्र हैं। मुझे विश्वास है कि यह ग्रन्थ प्राचीन एवं अर्वाचीन युद्धकला के अध्ययन में रुचि रखने वाले पाठकों के लिए परम उपयोगी सिद्ध होगा एवं उनके मनस्तोष का कारण होगा।

डॉ० ब्रह्मानन्द शर्मा

संकेत

1.	महाभारत का पूना प्रकाशन	पू०
2.	महाभारत का गीताप्रेस प्रकाशन	गी०
3.	पर्व	प०
4.	सभा	स०
5.	विराट	वि०
6.	उद्योग	उ०
7.	भीष्म	भी०
8.	कर्ण	क०
9.	द्रोण	द्रो०
10	शल्य	श०
11.	सौप्तिक	सौ०
12.	शान्ति	शा०
13.	अनुशासन	अनु०
14.	आश्वमेधिक	आश्व०
15.	शुक्रनीति	शु० नी०
16.	शुक्रनीति सार	शु० नी० सा०
17.	प्रकरण	प्र०
18.	मनुस्मृति	म० स्मृ०
19.	याज्ञवल्क्य स्मृति	या० स्मृ०
20.	वाल्मीकि रामायणम्	वा० रा०
21.	युद्ध-काण्ड	यु० का०
22.	चौखम्बा प्रकाशन	चौ०
23.	उत्तर रामचरितम्	उ० रा० च०
24.	कौटिल्य-अर्थशास्त्र	कौ० अ० शा०
25.	पृष्ठ संख्या	पृ० सं०
26.	मत्स्य पुराण	मत्स्य पु०
27.	पूर्वमीमांसा-दर्शन	पू० मी० द०
28.	धनुर्वेद छन्द सं०	ध० वे० छ० सं०
29.	शब्द-कल्प-द्रुम	श० क० द्रु०
30.	रामचरितमानस बालकाण्ड	राम० मानस, बा.का
31.	किरातार्जुनीयम्	किरात०

विषय-सूची

भूमिका

महाभारत का परिचय

मेरे शोधप्रबन्ध का विषय महाभारत की युद्ध-कला को लेकर है और सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने 'भारत' का अर्थ 'संग्राम' बताया है, इससे 'महाभारत' नाम 'महासंग्राम का द्योतक प्रतीत होता है। अतः इस महायुद्ध की युद्ध-कला के पूर्व इस महासंग्राम के महा कथानक को जान लेना बहुत आवश्यक है, जिससे कि युद्ध-कला का प्रसंगानुकूल ज्ञान हो सके। इसलिये हम इस महाकथानक को यथा-साध्य इस प्रकार संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करते हैं।

महाभारत के महायुद्ध का संक्षिप्त कथानक :— द्यूत के परिणाम-स्वरूप वनवासादिक दुःखों को भोगकर पाण्डव जब उपप्लव नगर में निवास कर रहे थे तब दुर्योधन और अर्जुन परस्पर विजयाकांक्षा से देवकीनन्दन श्रीकृष्ण के पास उपस्थित हुये। उन दोनों ने ही श्री केशव से यह प्रार्थना की कि इस निकट भविष्य में ही होने वाले महायुद्ध में आप हमारी सहायता करें। तब परम-बुद्धिमान् श्रीकृष्ण ने कहा "आप दोनों ही श्रेष्ठ पुरुष हैं। अतः एक के लिये एक अक्षौहिणी सेना देता हूँ और एक के लिये स्वयं युद्ध न करके केवल मन्त्री बन जाना चाहता हूँ। अतः आप दोनों ही निश्चय करें कि किसे क्या दूँ? दुर्मति दुर्योधन ने तो अक्षौहिणी सेना माँग ली 'और धनंजय ने युद्ध न करते हुये केवल मन्त्री रूपी श्रीकृष्ण का वरण कर लिया। शल्य को दुर्योधन ने मार्ग में ही उपहारों से प्रसन्न कर सहायता का वचन ले लिया और फिर शल्य ने पाण्डवों के पास जाकर सब कुछ शान्तिपूर्वक कह दिया। तदन्तर पाण्डवों ने पुरोहित को कौरवों के पास भेजा। धृतराष्ट्र ने पाण्डवों के पुरोहित द्वारा कथित इन्द्र विषयक प्रसंग को सादर सुनते हुये उसके आगमन के औचित्य को स्वीकार किया। तदन्तर प्रतापवान् धृतराष्ट्र ने शान्ति के लिये संजय को पाण्डवों के पास दूत बनाकर भेजा। उसी समय चिन्ताकुल धृतराष्ट्र को विदुर ने उपदेश दिया। संजय ने पाण्डवों के पास से लौटकर प्रातःकाल राजसभा में श्रीकृष्ण और अर्जुन की एकात्मकता का भली-भाँति वर्णन किया। परम-दयालु सर्वज्ञ श्रीकृष्ण भी शान्ति-स्थापना के लिये सन्धि

कराने के उद्देश्य से स्वयं हस्तिनापुर नगर में पधारे। यद्यपि जनार्दन ने दोनों पक्षों के हित को लेकर शान्ति के लिये प्रार्थना की, किन्तु दुर्योधन ने विरोध किया। भगवान् श्रीकृष्ण ने कर्ण और दुर्योधन आदि की दूषित मन्त्रणा को जानकर राजाओं की भरी सभा में अपने योगैश्वर्य का प्रदर्शन किया। केशव ने कर्ण को अपने रथ पर बैठा कर उसे अनेक युक्तियों से बहुत समझाया-बुझाया, किन्तु कर्ण ने अहंकारवश उनकी बात अस्वीकार कर दी। गोविन्द ने हस्तिनापुर से उपप्लव्य नगर में आकर जो कुछ वहाँ हुआ था, सब पाण्डवों को कह सुनाया। शत्रुदमन पाण्डवों ने केशव के वचन सुनकर हित की मंत्रणा करके समस्त-युद्ध-सामग्री को सजाया। तदन्तर सैन्य की गणना की गई। गणनानन्तर पदाति, अश्व, रथ और हाथी हस्तिनापुर से युद्ध के लिये निकले। दूसरे दिन प्रातःकाल होने वाले महायुद्ध के सम्बन्ध में उलूक को दूत बनाकर पाण्डवों के पास भेजा।[1]

युद्ध के प्रारम्भ में मोहग्रस्त अर्जुन को वासुदेव मोक्षतत्त्व का ज्ञान देते हैं। जिससे अर्जुन का मोहजनित शोक उच्छिन्न हो जाता है और वह युद्ध-कर्म में संलग्न हो जाता है। यही ज्ञान 'श्रीमद्भगवत्गीता' के नाम से प्रसिद्ध होता है। भीष्म पितामह दस दिन तक युधिष्ठिर की सेना का घोर संहार करते हैं। युधिष्ठिर के हित में लगे हुये भगवान् देवकीनन्दन महासमर में अर्जुन का शैथिल्य देखकर रथ से उतरकर हाथ में चाबुक लेकर भीष्म को मारने के लिये दौड़ते हैं। साथ ही सब शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ गाण्डीवधन्वा अर्जुन को जनार्दन व्यंग्य-वाक्य-रूपी चाबुक से मार्मिक चोट पहुँचाते हैं। तब महाधनुर्धर अर्जुन युद्ध-भूमि में शिखण्डी को सामने करके तीखे बाणों से घायल करते हुये भीष्म पितामह को रथ से गिरा देते हैं और भीष्म तब शरशय्या पर शयन करने लगते हैं।[2]

तत्पश्चात् प्रतापवान् द्रोणाचार्य सेना-पति पद पर अभिषिक्त हुये। अस्त्र-विद्याविशारद द्रोणाचार्य ने दुर्योधन की प्रसन्नता के लिये प्रतिज्ञा की कि मैं युधिष्ठिर को पकड़ लूँगा, किन्तु इन्हें इस कार्य में सफलता नहीं मिली। इसी समय संशप्तकगण अर्जुन को रणांगण से बहुत दूर ले गये। इस अवसर का लाभ उठाकर द्रोणाचार्य ने पाण्डवों के एक महान् योद्धा के विनाश हेतु चक्रव्यूह की रचना की। अर्जुन के अभाव में महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर सौभद्र शूरवीर अभिमन्यु चक्रव्यूह के भेदन करने में प्रवृत्त हुआ। चक्रव्यूह के भेदन में संलग्न वह वीर बालक जो अभी युवावस्था को भी प्राप्त नहीं हुआ था और एकाकी था,

1. आ. प. 2/136–150 पू., आ. प. 2/218–241 गी.
2. आ. प. 2/154–157 पू., आ. प. 2/245–251 गी.

जयद्रथ आदि बहुत से विख्यात महारथियों के द्वारा मार डाला गया। अभिमन्यु के वध से कुपित होकर अर्जुन ने सात अक्षौहिणी सेनाओं का संहार करके राजा जयद्रथ को यमसदन भेज दिया। इसी अवसर पर महाबाहु भीमसेन और महारथी सात्यकि धर्मराज युधिष्ठिर की आज्ञा से अर्जुन को ढूंढने के लिये कौरवों की सेना में प्रविष्ट हो गये, जिसकी मोर्चाबन्दी देवता भी नहीं तोड़ सकते थे। महामना संशप्तक वीरों की संख्या नौ करोड़ थी, किन्तु किरीटधारी अर्जुन ने आक्रमण करके अकेले ही उन सबको यमलोक भेज दिया। द्रोण के सेनापतित्वकाल में बहुत से धार्तराष्ट्र, पाषाण-योद्धाम्लेच्छ, नारायणनामक गोप, अलम्बुष, श्रुतायु, पराक्रमी जलसन्ध, भूरिश्रवा, विराट, महारथी द्रुपद तथा महा-पराक्रमी घटोत्कचादि बडे-बडे वीर मारे गये। स्वयं महारथी आचार्य द्रोण के मारे जाने पर उनके पुत्र अश्वत्थामा ने महाभयंकर नारायणास्त्र का प्रयोग किया, किन्तु श्रीकृष्ण की कृपा से पाण्डव इस अस्त्र से भी सुरक्षित बच गये।[1]

द्रोणाचार्य के अनन्तर दानवीर वैकर्तन कर्ण सेनापति के पद पर अभिषिक्त हुआ। कर्ण शल्य को अपना सारथि बनाना चाहता था, किन्तु शल्य ने यह स्वीकार नहीं किया। दुर्योधन की विनम्र-प्रार्थना पर शल्य ने कर्ण का सारथिकर्म स्वीकार किया, किन्तु रणस्थल में प्रस्थान के पूर्व ही कर्ण और शल्य में कठोर संवाद हो गया। उसी समय शल्य ने कर्ण पर आक्षेप करते हुये हंस और कौए का आक्षेप-उपाख्यान कहा। कर्ण के सेनापतित्व में अश्वत्थामा ने पाण्ड्यनरेश को यमालय भेज दिया। कर्ण और युधिष्ठिर का द्वन्द्व युद्ध हुआ, जिसमें कर्ण ने युधिष्ठिर के प्राणों को संशय में डाल दिया। पलायित युधिष्ठिर का अर्जुन के साथ वाक्कलह हुआ, किन्तु श्रीकृष्ण की कृपा से कुपित अर्जुन शान्त हो गया। इसी समय भीम ने दुःशासन के उरस्थल को विदीर्ण कर उसका रक्तपान किया और तदनन्तर द्वन्द्व युद्ध में किरीटी के द्वारा कर्ण मार डाला गया।[2]

दुर्योधन के जब सब ही प्रमुख वीर दिवंगत हो गये तब मद्रेश्वर शल्य को सेनापति बनाया गया। शल्य के सेनापतित्व में शेष सारे ही कौरव निःशेष हो गये। मद्रराज भी महाराज युधिष्ठिर के भयंकर शक्ति प्रहार से पंचत्व को प्राप्त हो गया। दुर्विनीत दुष्ट-शकुनि को सहदेव ने मार डाला। इस प्रकार जब प्रायः सम्पूर्ण ही कौरव सेना नष्ट हो गयी और अत्यन्त ही कम कौरव सेना बची तब दुर्योधन अपने प्राण बचाने के लिये सरोवर के जल को स्तम्भित कर उसमे प्रवेश

---

1. आ. प. 2/160–165 पू., आदि प. 2/254–265 गी.
2. आ. प. 2/169–171 पू., आ. प. 2/270–277 गी.

कर गया, किन्तु व्याधों ने जब पद-चिन्हों द्वारा दुर्योधन के प्रवेश की निश्चित सूचना दे दी तब मतिमान् युधिष्ठिर के आक्षेप-वचनों से अत्यन्त अमर्ष को प्राप्त हुआ ज्येष्ठ धार्तराष्ट्र सरोवर से निकलकर बाहर आ गया तत्पश्चात् भीम के साथ उसका भयंकर गदा-युद्ध हुआ। उस गदायुद्ध में भीम ने हठपूर्वक युद्ध के नियमों का उल्लंघन करके वेगवती गदा के द्वारा दुर्योधन के उरुयुगल को भंग कर दिया।[1]

सायंकाल रणस्थल से पाण्डवों के चले जाने के अनन्तर रुधिरावलिप्त, भग्नोरु दुर्योधन के पास कृपाचार्य द्रोणपुत्र और कृतवर्मा पहुँचे। दुर्योधन की दुर्दशा देखकर अश्वत्थामा ने क्रुद्ध होकर प्रतिज्ञा की "मैं धृष्टद्युम्नादि सम्पूर्ण पांचालों और मंत्रियों सहित समस्त पाण्डवों का वध किये बिना अपना कवच नहीं उतारूँगा।" दुर्योधन को ऐसा कहकर वे तीनों वहाँ से चल दिये। रात्रि में वे एक गहनवन में विश्रामार्थ एक विशाल वट वृक्ष के नीचे बैठ गये। उसी समय वहाँ एक उल्लू ने आकर बहुत से सोये हुये कौओं को मार डाला, जिसे देखकर क्रोधाविष्ट द्रौणि ने पितृवध का स्मरणकर सोये हुये पांचालों के वध का निश्चय किया।[2]

तदनन्तर रात्रि में निःशंक सोये हुये धृष्टद्युम्नादि पांचालों और द्रौपदेयों को द्रौणपुत्र ने कृपाचार्य और कृतवर्मा की सहायता से मौत के घाट उतार दिया। भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा के बलाश्रय से सात्यकि और पांच पाण्डवों को छोड़कर शेष सारे ही वीर परलोकगामी हो गये। धृष्टद्युम्न के सारथि ने जब द्रौपदी को यह सूचना दी कि द्रौणपुत्र ने प्रसुप्त-पांचालों और द्रौपदेयों को मार डाला है तब वह पुत्रशोक से तथा भाई और पिता की हत्या से व्यथित हो उठी। वह पतियों से प्रतिशोध लेने के लिये उत्तेजित होकर अनशन का संकल्प कर बैठ गयी, पराक्रमी भीम ने तब द्रौपदी का प्रिय करने की इच्छा से अत्यन्त क्रोध में भरकर हाथ में गदा लेकर गुरुपुत्र अश्वत्थामा का पीछा किया। भीमसेन के डर से डरे हुये द्रौणपुत्र ने तब अत्यन्त कुपित होकर पाण्डव-कुल का सर्वनाश करने के लिये एक सीक को ब्रह्मास्त्र से मन्त्रित करके छोड दिया, किन्तु अर्जुन ने उस ब्रह्मास्त्र को ब्रह्मास्त्र से ही दबा दिया। भगवान् श्रीकृष्ण ने पापात्मा द्रौणपुत्र की द्रोहबुद्धि को देखकर उसे शाप दे दिया। महारथी द्रौणपुत्र से पाण्डवों ने उसकी मणि लेकर द्रौपदी को दे दी। इस प्रकार महाभारत के महायुद्ध के महाकथानक की परिसमाप्ति यहीं हो जाती है।[3]

---

1. आ. प. 2/173–175 पू., आ. प. 2/279–288 गी.
2. आ. प. 2/178–180 पू., आ. प. 2/291–294 गी.
3. आ. प. 2/181–186 पू., आ. पा. 2/300–308 गी.

महाभारत लेखन :—संकल्प से महाभारत को रचकर महर्षि व्यास ने यह विचार किया कि मैं इस पुण्य ग्रंथ को शिष्यो को कैसे पढाऊँ ? महर्षि व्यास के विचार को जानकर उनकी प्रसन्नता के लिये तथा लोक-कल्याण की दृष्टि से ब्रह्मा स्वयं ही उनके आश्रम पर उपस्थित हुये । व्यास जी ब्रह्माजी को देखकर आश्चर्य-चकित रह गये । उन्होंने हाथ जोड़कर प्रणाम किया और खड़े रहे । फिर सावधान होकर सब ऋषि-मुनियों के साथ उन्होंने ब्रह्माजी के लिये आसन की व्यवस्था की । तदनन्तर महर्षि व्यास लोक-स्रष्टा की आज्ञा से आसन पर बैठ गये और तदनन्तर उन्होंने सविनय निवेदन किया 'हे भगवान् ! मैंने सम्पूर्ण लोकों द्वारा परम पूजनीय एक महाकाव्य की रचना की है । ब्रह्मन् ! इस महाकाव्य में मेरे द्वारा वेदों का गुह्यतम रहस्य और अन्य शास्त्रो का सारभार स्थापित किया गया है यहाँ तक कि केवल वेदों का ही नही अपितु उनके अंग उपनिषदो का भी मैंने इसमें विस्तार के साथ निरूपण किया है । अन्य भी समस्त लोकोपयोगी पदार्थों का मैंने प्रतिपादन किया है, किन्तु मुझे इस बात की चिन्ता है कि इसे भूमि पर लिखे कौन ? मुझे इस धरा पर इसे लिखने वाला कोई दिखाई नहीं देता ।

तदनन्तर लोक पितामह ने महर्षि व्यास के महाकाव्य की प्रशंसा करते हुये कहा "मुनिवर ! इस महाकाव्य को लिखवाने के लिये श्रीगणेश का स्मरण करो ।" प्रजापति ब्रह्मा ऐसा कहकर ब्रह्मसदन को पधार गये । तब महर्षि व्यास ने गणनायक का स्मरण किया भगवान् श्रीगणेश स्मरण मात्र से ही वेदव्यास के पास उपस्थित हो गये । महर्षि ने उनका सादर और प्रेमपूर्वक अभिनन्दन किया । पूजा के पश्चात् जब विघ्नेश्वर ने अपना आसन ग्रहण कर लिया तब व्यास जी ने निवेदन किया "हे रम्ब ! मेरे द्वारा संकल्पित महाभारत महाकाव्य के आप लेखक बन जाईये ।" महर्षि व्यास की इस बात को सुनकर विघ्नेश्वर ने प्रत्युत्तर दिया "हे मुनिश्रेष्ठ ! यदि मेरी लेखनी लेखन-काल में क्षण भर के लिये भी न रुके तो मैं इस ग्रंथ का लेखक बन सकता हूँ । महर्षि व्यास ने भी विघ्नविनाशक से कहा "आप बिना समझे किसी भी प्रसंग में एक अक्षर भी न लिखियेगा" शिवतनय ने 'हाँ' कहकर इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और लेखक बन गये । इस प्रकार विद्याबुद्धि प्रदाता विनायक की विशिष्ट कृपा से यह लोकपावन महाभारतग्रंथरत्न हम संसारी जीवों को इस ग्रंथ रूप में देखने को मिला ।[1]

महाभारत के विकास की अवस्थाय :—इस महाभारत ग्रन्थ में महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास ने कुरुवंश का विस्तार, गान्धारी की धर्मशीलता, विदुर की

1. आ. प. 1/55–79 गी.

उत्तम प्रज्ञा, तथा कुन्ती की धीरता का भलीभांति वर्णन किया है। इसमें महर्षि ने श्रीकृष्ण के माहात्म्य का, पाण्डवों की सत्यपरायणता का और धार्तराष्ट्रों के दुर्व्यवहार का भी स्पष्ट उल्लेख किया है। पुण्यकर्मा मानवों के उपाख्यानों सहित एक लाख श्लोकों के इस उत्तम ग्रन्थ को आद्य 'भारत' जानना चाहिये। उपाख्यान भाग को छोड़कर महर्षि व्यास ने चौबीस हजार श्लोकों की 'भारत संहिता' बनायी, जिसे विद्वान् पुरुष 'भारत' कहते हैं। महर्षि व्यास ने सर्वप्रथम इस ग्रन्थ का अध्ययन अपने पुत्र शुकदेव मुनि को करवाया। तदनन्तर उन्होंने दूसरे-दूसरे सुयोग्य और अनुगत शिष्यों को इसका उपदेश दिया। तदनन्तर उन्होंने साठ लाख श्लोकों की एक दूसरी संहिता बनायी। उसके तीस लाख श्लोक देवलोक में समादृत हुये। इसके अतिरिक्त पन्द्रह लाख पितृलोक में तथा गन्धर्वलोक में चौदह लाख श्लोकों का पाठ होता है। एक लाख श्लोकों का आद्य भारत (महाभारत) इस मनुष्य लोक में प्रतिष्ठित है। देवर्षि नारद ने इस ग्रन्थ का श्रवण देवों को और असित देवल ने इसका श्रवण पितरों को कराया। भूलोक में इसके प्रथम वक्ता वैशम्पायन माने जाते हैं।[1]

महर्षि व्यास की आज्ञा से जनमेजय के सर्पयज्ञ में इस पुण्य महाभारत को वैशम्पायन ने सर्वप्रथम जनमेजय को कहा। तदनन्तर एक बार महर्षि शौनक ने नैमिषारण्य में एक बृहद्-यज्ञ का आयोजन किया। इस समय सौति उग्रश्रवा भी उपस्थित थे, जिन्होंने जनमेजय के नागयज्ञ में इस कथा को सुना था। अतः शौनक की प्रार्थना पर उन्होंने इस कथा को वहाँ उपस्थित ऋषियों को श्रवण कराया।[2]

इस महान् ग्रन्थ में भरतवंशीय राजाओं का चरित्र वर्णित किया गया है। अतः इसे 'भारत' नाम से अभिहित किया गया है। सौति उग्रश्रवा ने इसे सुनाते समय अपने विचारों से, उदाहरणों से और उपाख्यानों के वर्णनों से इसके आकार को एक विशाल रूप प्रदान कर दिया। इसी कारण इसकी संज्ञा 'भारत' से 'महाभारत' बन गयी। जैसा कि कहा भी गया है "महत्वाद् भारवत्वाच्च महाभारतमुच्यते" इति।[3]

संस्कृत साहित्य के प्रायः सभी आधुनिक इतिहासकारों ने महाभारत के विकास की तीन अवस्थाओं के अनुसार इसके तीन रूप बताये है :—'जय' 'भारत'

---

1. आ. प. 1/59-64 पू., आ. प. 1/99-107 गी.
2. आ. प. 1/8-19 पू., आ. प. 1/9-21 गी.
3. आ. प. 1/209 पू., आ. प. 1/274 गी.

और 'महाभारत'। उनका कथन है कि 'जय' आठ हजार श्लोकों का था 'भारत' चौबीस हजार श्लोकों का बना तथा उसी में विविध उपाख्यान जोड़कर एक लाख श्लोको का 'महाभारत' बनाया गया, किन्तु महाभारत के प्रगाढ़ अन्वेषक पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर का कथन है कि आज तक के अन्वेषण में कहीं भी 'जय' अथवा 'भारत' नामक पृथक् कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ। इससे प्रतीत होता है कि 'जय' 'भारत' और महाभारत इन नामो का उल्लेख महाभारत में अवश्य हुआ है किन्तु उपलब्ध स्वरूप केवल महाभारत के रूप में ही मिलता है। अतः महाभारत के अन्तिम रूप को ही हमे स्वीकार करना चाहिये।

श्री वैशम्पायन जनमेजय के नागयज्ञ में जनमेजय से कहते है"
"जयो नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजिगीषुणा।"

(आ. प. 56/19पू., आ. प. 62/20 गी.)

इससे ज्ञात होता है कि श्री व्यास द्वारा कथित महाभारत का नाम पहले 'जय' था और वैशम्पायन द्वारा कथित उपाख्यानों सहित महाभारत का नाम 'भारत' पड़ा हो और उग्रश्रवा के द्वारा शौनकादि ऋषियों के द्वारा आख्यानो द्वारा कथित 'महाभारत' का नाम 'महाभारत' पड़ा हो जो आज उपलब्ध हो रहा है। अतः अनुमानतः महाभारत के विकास की ये तीन अवस्थायें मानी जा सकती है।

महाभारत के रचनाकाल का विवेचन :—जहाँ तक मेरे शोध प्रबन्ध का सम्बन्ध है मुझे महाभारत के काल को लेकर गहराई में प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मेरे विषय के साथ इस पर विशेष प्रकाश डालने की आवश्यकता प्रतीत नही होती, किन्तु 'महाभारत' ग्रन्थ से विषय चुनने के कारण ग्रन्थ के रचनाकाल पर भी सूक्ष्म प्रकाश डालना उचित प्रतीत होता है। अतः मैं इस ओर किये गये अपने लघु प्रयासों का इस प्रकार उल्लेख करता हूँ।

महाभारत-काल को लेकर मैंने प्रायः आधुनिक सभी संस्कृत इतिहासकारों के मन्तव्यों को पढ़ा, किन्तु अनुमान के अतिरिक्त किसी ठोस प्रमाण ने हृदय को संतुष्ट नही किया। गहन-अध्ययन के अनन्तर तथा अनेक विद्वानों से विचार-विमर्श करने के पश्चात् ज्योतिष-प्रमाणो से महाभारत काल को नापना चाहा; क्योंकि मेरे हृदय ने ज्योतिष-प्रमाण को ही एक ठीक प्रमाण स्वीकार किया। अतः मैं महाभारत काल के लिए ज्योतिष को ही मुख्याधार मानकर इस प्रकार इसका विवेचन प्रस्तुत कर रहा हूँ।

श्री वाचस्पति गैरोला ने अपनी पुस्तक में❀ जो महाभारत-काल का विवेचन किया है, उसमें यह बताया है कि काल निर्णय की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण है कि महाभारत काल में नक्षत्र गणना अश्विनी नक्षत्र से न होकर श्रवण नक्षत्र से होती थी। विधाता महर्षिगणों को श्रवण-नक्षत्र को ही आदि नक्षत्र के रूप में बताते हैं।[1] महर्षि विश्वामित्र भी कुपित होकर परलोक की रचना करते समय नक्षत्र सम्पत्ति से रुठकर प्रतिश्रवणादि नूतन नक्षत्रों का निर्माण करते है।[2]

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि पहले श्रवण नक्षत्र से ही नक्षत्र गणना प्रारंभ होती थी। टीकाकार इसका तात्पर्य यह लेते है कि उस समय श्रवण नक्षत्र से उत्तरायण होता था और ज्योतिष के अनुसार एक नक्षत्र अपने स्थान से उदगयन-रूप में यदि चलता है तो एक सहस्त्र वर्ष ले लेता है। अब क्योंकि नक्षत्र-गणना अश्विनी नक्षत्र से होती है। अतः श्रवण के अनन्तर धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वा-भाद्रपद, उत्तरा-भाद्रपद और रेवती इन पांच नक्षत्रो के उदगयन काल व्यतीत हो जाने से पांच सहस्त्र वर्ष व्यतीत हो जाते हैं। यही मत शंकर बालकृष्ण दीक्षित का भी है।[3] इससे स्पष्ट निर्णय होता है कि महाभारत को रचे हुये कम से कम 5000 वर्ष तो व्यतीत हो ही चुके है।

❀

(2) श्री इन्द्र नारायण द्विवेदी के मत में—श्री मद्भागवत् महापुराण भी ज्योतिष के आधार पर युधिष्ठिर के काल में ही कलियुग का प्रारम्भ बताती है—

तेनैव ऋषयो युक्तास्तिष्ठन्त्यब्दशतं नृणाम्।
ते त्वदीयो द्विजाः काले अधुना चाश्रिता मघाः॥

यदा देवर्षयः सप्त मघासु विचरन्ति हि।
तदा प्रवृत्तस्तु कलिर्द्वादशाब्दशतात्मकः॥

(स्कन्ध 12/2/28, 31)

❀ संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास पृ. स. 199–200

1. श्रवणादीनि ऋक्षाणि ऋतवः शिशिरादयः। आश्व. पृ. 44/2 गी.
2. प्रतिश्रवण-पूर्वाणि नक्षत्राणि चकार यः। आ. प. 65/34 पृ., आ. प. 71/34 गी.
3. दीक्षित भारतीय ज्योतिषशास्त्र (हिन्दी संस्करण) पृ. सं. 156, 171

❀ कल्याण वर्ष 3 सं. 11, पृ. सं. 110

सप्तर्षि प्रत्येक नक्षत्र पर सौ वर्ष रहते हैं और उपर्युक्त पद्यों से स्पष्ट है कि जब सप्तर्षि मघानक्षत्र पर आये तब बारह हजार दिव्य वर्षों का कलियुग प्रारम्भ हुआ। ये सप्तर्षि युधिष्ठिर के शासन-काल में जब परीक्षित् का जन्म हुआ तब मघानक्षत्र पर थे और कलियुग प्रारम्भ हो चुका था। वराह-मिहिर की बृहत्संहिता भी 'आसन् मघासु मुनयः शासति। पृथ्वी युधिष्ठिरे नृपतौ' ॥3॥ इन शब्दों के द्वारा युधिष्ठिर के शासनकाल की पुष्टि करती है।

कलियुग के इन दिव्य 1200 वर्षों को यदि हम लौकिक 360 वर्षों से *गुणा कर दें तो कलियुग का प्रमाण 432000 वर्ष का होता है। इस प्रमाण की* पुष्टि भास्कराचार्य प्रणीत 'सिद्धान्त शिरोमणि' ग्रन्थ के गणिताध्याय में कालमानाध्याय का 21वां श्लोक भी पुष्टि करता है—

खखखाभ्रदन्त सागरैर्युगाग्नि युग्म भूगुणैः।
क्रमेण सूर्यवत्सरैः कृताद्यो युगाङ्घ्रयः ॥

ख=0, ख=0, अभ्र=0, दन्त=32, सागर=4=432000 वर्ष का कलियुग।

कलियुग के इस प्रमाण की पुष्टि हमारे सम्पूर्ण भारत में प्रचलित समस्त पंचाग करते हैं। प्रत्येक वर्तमान पचांग में कलियुग प्रमाण 432000 वर्ष, गत कलियुग-प्रमाण 5076 वर्ष और भोग्य कलियुग प्रमाण 426924 दिया हुआ है। इससे स्पष्ट है कि कलियुग को व्यतीत हुये 5076 वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। यदि परिक्षित् के 76 वर्ष बाद भी महाभारत की रचना मानी जावे तो भी महाभारत को रचे हुये कम से कम 5000 वर्ष व्यतीत हो चुके।

(3) महाभारत का प्रमाण भी इस बात को पुष्ट करता है। महाराज जनमेजय ने अपने सर्पयज्ञ में जब श्री उग्रश्रवा से अपने पिता के जीवन काल के आचार-विचार तथा राज्यकाल के विषय में पूछा तब श्री-उग्रश्रवा ने कहा "राजन्! महाराज परिक्षित् ने अपनी इन्द्रियों को जीतकर अपने मन को वश में कर रखा था। वे मेधावी तथा धर्म का सेवन करने वाले थे। उन्होंने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—इन छहों शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली थी। उनकी बुद्धि विशाल थी। वे नीति के विद्वानों में सर्वश्रेष्ठ थे। उन्होंने साठ वर्ष की आयु तक इन समस्त प्रजाओं का पालन किया था। तदनन्तर हम सबको दुःखी बनाकर उन्होंने कैवल्य प्राप्त किया। पुरुष श्रेष्ठ! पिता के देहावसान के पश्चात् तुमने धर्मपूर्वक इस राज्य को ग्रहण किया, जो सहस्त्रों वर्षों से कुरुकुल के अधीन

चला आ रहा है। बाल्यावस्था में ही तुम्हारा राज्याभिषेक हुआ था। तब से ही इस राज्य के समस्त प्राणियों का पालन करते हो।[1]

यदि हम यह मान लें कि जनमेजय लगभग 25 वर्ष की आयु में सिंहासनारूढ हुये थे और परिक्षित् 60 वर्ष की अवस्था में परमधाम चले गये थे तो महाभारत की रचना कम से कम जनमेजय के पूर्व तथा परिक्षित् के शासन काल में तो हो ही गई थी क्योंकि राजाओं की ऐसी विजय के इतिहास युद्ध के अनन्तर ही लिखे जाते हैं और जब परिक्षित् राज्य-सिंहासन पर आरूढ हुये तब कलियुग प्रारम्भ हो चुका था। अत महाभारत को रचे हुये कम से कम 5000 वर्ष व्यतीत हो चुके हैं।

(4) महाभारत के रचनाकाल के लिये युद्धकाल का निश्चित होना परमावश्यक है और इस बात की पुष्टि स्वयं महाभारत ही कर देता है—

अन्तरे चैव सम्प्राप्ते कलिद्वापरयोरभूत्।
समन्तपंचके युद्धं कुरुपाण्डवसेनयोः॥
(आ. प. 2/9 पू., आ. प. 2/13 गी.)

यदि हम यह विश्वास करें कि युधिष्ठिर के राज्यकाल में ही बीस वर्षों के बाद या छत्तीस वर्ष बाद महर्षि व्यास ने महाभारत की रचना कर ली थी तो कोई अनुचित नही होगा; क्योंकि इस प्रकार के इतिहास प्रायः विजय के पश्चात् ही लिखे जाते हैं। इससे भी यही स्पष्ट होता है कि कलियुग गताब्दानुसार 'महाभारत' को रचे हुये 5000 वर्ष व्यतीत हो चुके है।

(5) राजतरंगिणीकार कल्हण का कथन है कि कलि-काल के 653 वर्षों के अनन्तर कौरव और पाण्डव हुये थे।[2] इसी के कथनानुसार जब महाराज युधिष्ठिर शासन कर रहे थे तब सप्तऋषि मघानक्षत्र पर थे और युधिष्ठिर का काल शक संवत् से 2556 वर्ष पूर्व माना जाता था।[3]

इस दृष्टि से भी हम गणना करें तो युधिष्ठिर के काल को व्यतीत हुये लगभग साढ़े चार हजार वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। अतः यदि उसी के शासन काल में महाभारत को रचा जा चुका था तो 5000 वर्ष तो महाभारत को रचे हो

---

1. आ. प. 45/14–16 पू., आ. प. 49/16–18 गी.
2. कल्हण राजतरंगिणी प्र. त./51
3. राज त. 1/56

हो चुके है । उच्च-कोटि के विद्वान् पूर्व विद्वानों के द्वारा प्रदर्शित इन मान्यताओं को मेरे द्वारा भी स्वीकार कर लेने पर भले हो इसे बालसुलभ चेष्टा कह कर हँस सकते हैं, किन्तु यह तो अपनी-अपनी मान्यता है। मेरी मान्यता के आधार पर मैं आज के वर्ष से 'महाभारत' का रचनाकाल 5000 वर्ष पूर्व मानता हूँ और यह आग्रह नहीं करता कि विद्वान्-लोग मेरी मान्यता मानें हो । हां मैं अपने लघु-प्रयासों के आधार पर महाभारत की रचना का काल यह मानता हूँ। विद्वज्जन यदि इसमें तथ्य हो तो मेरे साथ इसे स्वीकार करें और तथ्य न ज्ञात हो तो सहर्ष छोड़ सकते हैं ।

महाभारत का प्राचीन सामरिकज्ञान के लिये विशिष्ट महत्त्व :—

हमारी भारतीय संस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ गिने जाते हैं और इन पुरुषार्थों की पूर्ति के लिये महाभारत महर्षि व्यास के ही शब्दों मे ऐसा अतुल ग्रन्थ है कि संसार में ऐसा अन्यत्र कोई ग्रन्थ नहीं मिलता—

धर्मे अर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥
(आ. प. 56/33 पू., आ. प. 62/53 गी.)

अतः सम्पूर्ण ज्ञान के अखण्ड-भण्डार होने के कारण हमारे भारतीय विद्वान् इसे विश्वकोष के नाम से अभिहित करते है । इस विश्वकोष मे कौरव-पाण्डवों के महायुद्ध की घटना का वर्णन प्रधान रूप से है । अतः सामरिक दृष्टि से इसका महत्व और भी विशेष हो सकता है ।

यदि हम रामायण के सामरिकज्ञान के साथ महाभारत के सामरिकज्ञान की सूक्ष्म रूप से तुलना करें तो रामायण की अपेक्षा महाभारत का सामरिकज्ञान की दृष्टि से विशिष्ट महत्व है । महाभारत के अध्ययन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्राचीन काल मे किन-किन कारणों से युद्ध हुआ करते थे । युद्धो के लिये किस-किस प्रकार के नियम निर्धारित किये जाते थे और किस सीमा तक उनका पालन किया जाता था ।

प्राचीन-काल मे सेना का क्या लक्षण था ? सेना राज्य शासन के अनिवार्य अंग के रूप मे किस प्रकार गिनी जाती थी । सेना के कौन-कौन से अंग होते थे । उस समय सैन्य-संगठन किस प्रकार होता था, इत्यादि विविध विषयों का ज्ञान महाभारत के अध्ययन से सम्यक् हो जाता है ।

कौन सैनिक होने योग्य है ? सेना के विभिन्न अधिकारियों का निर्धारण किस प्रकार किया जाता है ? सेनापति पद का क्या महत्व है और कौन योद्धा उसके लिये उपयुक्त है ? सैनिकों को किस प्रकार प्रशिक्षित किया जाता है ? मृत सैनिकों के परिवारों की क्या व्यवस्था की जाती है ? राजा को किस प्रकार सेना को अपने नियन्त्रण में रखना चाहिये ? इत्यादि अनेक सामरिक विषयों के ज्ञान के लिये महाभारत एक ग्रन्थविशेष है।

अस्त्र-शस्त्र कितने प्रकार के होते हैं ? दिव्यास्त्र कौन-कौन से है ? दिव्यास्त्र किस प्रकार से प्राप्त किये जाते हैं ? दिव्यास्त्रों को चलाने की क्या विधि है ? दिव्यास्त्रों का प्रभाव कैसा होता है ? इत्यादि सम्पूर्ण युद्धसामग्री का यथेष्ठ ज्ञान महाभारत को पढ़ने से प्राप्त किया जा सकता है।

उस काल मे सैनिकों की वेशभूषा कैसी थी ? सैनिकों का रणप्रस्थान किस प्रकार होता था ? शकुन/पशकुनो का सेना के लिये क्या महत्व है ? सेना की शिविर व्यवस्था किस प्रकार करनी चाहिये। सेनानुशासन की क्या रीति है ? जय-पराजय के लक्षण कौन-कौन से हैं ? सैन्य-संचालन की रीति-नीति क्या है ? आदि सामरिक ज्ञान को हम महाभारत से ग्रहण कर सकते है।

युद्ध के प्रकार कितने है ? विभिन्न युद्धों के पृथक्-पृथक् क्या नियम हैं ? उदाहरणार्थ मल्लयुद्ध किस स्थल पर होना चाहिये ? उसके क्या दावपेच है तथा उसके क्या-क्या नियमादि है ?

महाभारत मे प्राचीन व्यूह-कला का विशद और सुव्यवस्थित वर्णन प्राप्त होता है। जैसे सूची, श्येन, शकट, मकर, सर्वतोभद्र और चक्रव्यूहादि की निर्माण-विधि विभेदन विधि और निर्गम विधि क्या है ? आदि प्रश्नो का विस्तार के साथ वर्णन मिलता है।

—□—

प्रथम-पर्व

युद्धों के उद्देश्य और नियम

युद्ध का प्रादुर्भाव :—यदि हम मानवजाति के इतिहास को गम्भीर दृष्टि से देखें तो यह भलीभाँति ज्ञात होगा कि 'युद्ध' मनुष्य की एक स्वाभाविकी प्रवृत्ति है। मानवजाति का यह इतिहास चाहे पौराणिक आधार पर हो अथवा विकासवाद के आधार पर, दोनों ही दृष्टिकोणों से यह युद्ध-सम्बन्धी प्रवृत्ति स्वभावगत प्रतीत होती है। मनुष्य में इस प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव यौवन की विशेष बलिष्ठ शक्ति के कारण युवावस्था में ही होता है, ऐसी बात नहीं है, अपितु इस सहजात प्रवृत्ति के दर्शन तो हमें शैशव के प्रारम्भ से ही होने लग जाते हैं।

हम देखते हैं कि प्राणी जन्म से ही अपने जीवन के विकास के लिये संघर्ष करता है। सर्वप्रथम दुग्धपान के लिये वह रोता है, हाथ पैरों को चलाता है। तदनन्तर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अथवा अपने स्वार्थों को सिद्ध करने के लिये शक्ति का आधार लेकर दूसरों को मारता है, पीटता है अथवा धमकाकर जैसे-तैसे भी हो अपने कार्य को सिद्ध कर ही लेता है। जगत् कुख्यात रावण और दुर्योधन के जीवन चरित्र इस मत की पुष्टि पूर्णरूपेण कर देते हैं। वैश्रवण अपने ही बड़े भाई कुबेर की विभूति को देखकर ललचाता है और अपनी-शक्ति के द्वारा अनुचित प्रयत्नों से उस वैभव का अपहरण कर उसे लंका से निकालकर उस पर अपना अधिकार कर लेता है। इसी भाँति दुर्योधन भी छल-कपट और बल से पाण्डवों का सर्वस्व छीनकर उन्हें हस्तिनापुर से बाहर निकाल देता है और इसी स्वार्थलिप्सा के कारण महाभारत का भयंकर युद्ध होता है।

संसार में मत्स्यन्याय प्रसिद्ध है और महापुरुषों ने भी कहा है 'जीवो जीवस्य भोजनम्'। इस प्रकार मनुष्य की इस स्वधर्ममयी प्रवृत्ति को देखकर दैत्य-गुरु शुक्राचार्य ने युद्ध का सामान्य लक्षण इस प्रकार प्रतिपादित किया है—"परस्पर शत्रुभाव

रखते हुये निश्चल चित्त होकर दो व्यक्तियों का अस्त्रादिकों के द्वारा जो व्यापार होता है, उसे 'युद्ध' कहते हैं।''ꕥ

यह 'युद्ध' शब्द 'युद्ध योधने' धातु से 'क्त' प्रत्यय लगने पर नपुंसकलिंग में 'युद्धम्' ऐसा निष्पन्न होता है।

'युद्ध' के उपरितन लक्षण के आधार पर यदि हम गहन दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि मनुष्य जाति का कोई युग ऐसा व्यतीत नहीं हुआ जिसमें यह भूमि मनुष्य की इस संघर्षशील प्रवृत्ति के कारण रक्तरंजित न हुई हो। मनुष्य की इसी प्रवृत्ति के कारण सृष्टि के आदि काल से लेकर आज तक न केवल असंख्य युद्ध ही हुये अपितु मानवता का विनाश करने वाले महायुद्ध भी इसी के परिणामस्वरूप थे। क्या देवासुर सग्राम ? क्या राम-रावण का युद्ध ? क्या कौरव-पाण्डवों का युद्ध ? क्या कृष्ण-कंस का युद्ध ? क्या बाबर और राणासांगा का युद्ध ? क्या प्रताप अकबर का युद्ध ? क्या भारतीयों और अंग्रेजों का युद्ध ? क्या चीन-भारत का युद्ध ? क्या पाक बंग का युद्ध और क्या भारत-पाक का युद्ध ? वैदिककाल से लेकर आधुनिक काल तक सारे ही युद्ध क्रूरकर्मा मनुष्य की इस स्वार्थमयी प्रवृत्ति या संघर्षशील प्रवृत्ति के ही परिणाम है।

अतः हम यह कह सकते है कि युद्ध का प्रादुर्भाव मनुष्य के प्रादुर्भाव के साथ ही हो गया था।

युद्धों के उद्देश्य :—'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते' इस उक्ति के अनुसार कोई भी प्राणी भले ही वह मन्दबुद्धि ही हो, किन्तु बिना प्रयोजन किसी भी कर्म मे प्रवृत्त नही होता। अतः मनुष्य स्वार्थलिप्सा को लेकर महाभारत ग्रन्थ के आधार पर हम युद्ध के मुख्य उद्देश्यों को इस प्रकार प्रस्तुत करते है :—

(क) भूमि प्राप्ति का लाभ (ख) स्त्री प्राप्ति का लाभ (ग) धन और यश प्राप्ति का लाभ (घ) प्रभुत्व प्राप्ति का लाभ (ङ) प्रतिशोध एवं दण्ड देने हेतु।

(क) **भूमि लाभ :**—भूमि प्राप्ति या विशाल साम्राज्य की प्राप्ति हेतु इस संसार में प्रधान रूप से युद्ध हुये हैं। महाभारत ग्रन्थ में यह कारण प्रधान रूप से

ꕥ आविभ्रतोः शत्रुभावमुभयोः संमतात्मनोः।
अस्त्राद्यैः स्वार्थसिद्ध्यर्थं व्यापारो युद्धमुच्यते ॥
(शु. नी. 4/7 प्र. /219 पृ सं. 361)

मिलता है। अतः अब हम इसी ग्रन्थ के आधार पर इस कारण का इस प्रकार सिंहावलोकन करते है—

सर्वप्रथम महाभारत के आदि पर्व मे भूमि लाभ के लिये राजा पाण्डु का दिग्विजय-वर्णन उपलब्ध होता है। महात्मा पाण्डु देवतुल्य तेजस्वी थे। उन्होने भूमि को जीतने के लिये अपनी हृष्ट-पुष्ट-सेना के साथ अनेक शत्रुओं पर आक्रमण किया। उन्होने सर्वप्रथम दाशार्ण-प्रदेश※ के राजाओं को जीता। तत्पश्चात् राजगृह में मगधनरेश दीर्घ को जीता, तदनन्तर विदेहवंशीय क्षत्रियों को पराजित किया। इस प्रकार यशस्वी पाण्डु ने क्रमशः काशी, सुह्म, पौण्ड्रादि राज्यों को जीतकर अपने कुरुकुल का विस्तार किया। महाराज पाण्डु के द्वारा जीते गये समस्त भूमिपालों ने इस भूमि पर केवल उन्हे ही देवराज इन्द्र के समान माना। इस प्रकार महाराज पाण्डु ने भूमि के साथ-साथ यश और अगणित धन भी प्राप्त किया।[1]

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ने भी राजसूययज्ञ के पूर्व चारों भाईयो को क्रमशः दिग्विजय के लिये भेजा। उनमे से एक-एक का विजय वर्णन इस प्रकार मिलता है। जगद् विख्यात धनुर्धारी-कौन्तेय अर्जुन ने क्रमशः युद्ध करके महाराज युधिष्ठिर की राज्य सीमा को बढाया। महाबाहु धनंजय ने पहले पुलिन्द देश के राजाओं को वशीभूत किया। तदनन्तर सव्यसाची अर्जुन ने कुलिन्दों के साथ-साथ कालकूट और आनर्त देश के राजाओं को जीतकर सेना सहित राजा सुमण्डल को भी जीत लिया। इसके बाद गुडाकेशार्जुन ने सुमण्डल को अपना साथी बनाकर शाकल द्वीप तथा अन्य सात द्वीपो को तुमुल युद्ध करके जीत लिया। फिर प्राग्ज्योतिषपुर के राजा भगदत्त के साथ महात्मा अर्जुन का बड़ा भारी युद्ध हुआ, किन्तु उसे भी उसने जीत लिया और उससे बहुत सी भेंट तथा आदर प्राप्त करके वह कुबेर की उत्तर दिशा को प्रस्थान कर गया। तब कुरुश्रेष्ठ धनंजय ने क्रमश. अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि और उपगिरि नामक प्रदेशों पर विजय प्राप्त की।[2]

तत्पश्चात् धनुर्धारी अर्जुन ने मोदापुर, वामदेव, सुदामा, सुसंकुल तथा उत्तर-उलूक के राजाओ को भी इसी प्रकार अपने अधीन कर लिया। तदनन्तर

※ विन्ध्यपर्वत के पूर्व-दक्षिण की ओर स्थित उस प्रदेश का प्राचीन नाम दशार्ण है, जिससे होकर धसान नदी बहती है। विदिशा(आधुनिक भिलसा) इसी प्रदेश की राजधानी थी।

1. आदि प. 105/7–15 पू., „ „ 112/24–32 गी.
2. स. प. 23/16–26 पू., „ „ 26/3–16 एवं 27/1–3 गी.

किरीटधारी अर्जुन ने धर्मराज की आज्ञा से पंचगण देशों को जीता। फिर सभी पर्वतीय महारथियों को परास्त कर धनंजय ने पौरव को युद्ध में जीता। तत्पश्चात् पर्वत निवासी लुटेरों के सात दलो पर जो 'उत्सव संकेत' कहलाते थे, पाण्डुनन्दन अर्जुन ने विजय प्राप्त की। फिर कश्मीर के क्षत्रियों तथा दशमण्डलों के साथ राजा लोहित को भी जीत लिया। तदनन्तर कुरुनन्दन धनंजय ने रमणीय अभिसारी नगरी पर विजय पायी और उरगवासी राजा रोचमान को भी युद्ध में जीता। उस शूरवीर अर्जुन ने वैसे ही लोह, परमकाम्बोज, ऋषिक तथा उत्तर देशों को भी जीत लिया।[1]

इसी प्रकार पराक्रमी अर्जुन ने अपने भुजबल के द्वारा किम्पुरुष, हाटक तथा उत्तरकुरु पर भी विजय प्राप्त की और अनेक अमूल्य रत्न अश्वादि को उपहार-स्वरूप प्राप्त कर इन्द्रप्रस्थ को लौट आया।[2]

जिस प्रकार पाण्डुपुत्र धनजंय ने उत्तर दिशा को जीता वैसे ही वायुनन्दन भीम ने भी पूर्व दिशा को जीत लिया। सर्वप्रथम नरशार्दूल भीमसेन ने पांचालपुर में जाकर पांचालों को विविध उपायों से शान्त करके अपने वशीभूत किया। तदनन्तर गण्डकों, विदेहों और दाशार्ण देशवासियों को थोड़े ही समय में जीत लिया। वीरवर भीम ने अश्वमेधेश्वर रोचमान को भी सरलता से ही युद्ध में जीत लिया और भीम के भयंकर पराक्रम को सुनकर तुर्वदेश के राजाओं ने तो कोमलता के साथ स्वतः ही भीम के पास आकर उसकी पराधीनता स्वीकार करली।[3]

इसके बाद वृकोदर भीम ने कुमार-देश के राजा श्रेणिमान् और कोशलनरेश बृहद्बल को भी जीत लिया। तदनन्तर अयोध्यानरेश दीर्घयज्ञ को भीम ने कोमलता-पूर्ण व्यवहार से ही वश में कर लिया। फिर गोपालकक्ष, उत्तरकोशल, मल्लराष्ट्र, जलोद्भव, शुक्तिमान् पर्वतादि प्रदेशों को जीतकर काशिराज सुबाहु राजराजेश्वर क्रथक को भी जीत लिया। इसके बाद मत्स, मलद, अनदय और अभय नामक देशों को जीतकर पशुभूमि (पशुपतिनाथ के निकटवर्ती स्थान नेपाल) को भी सब ओर से जीत लिया। वहाँ से लौटकर महाबाहु भीम ने मदधार पर्वत और सोमधेय निवासियों को परास्त किया इसके बाद बलवान् भीम ने उत्तराभिमुख यात्रा की और वत्सभूमि पर बलपूर्वक अधिकार जमा लिया। तदनन्तर उसने निषादाधिपति तथा

---

1. स. प. × × पू. „ „ 27/11–25 गी.
2. सभा प. 25/पू., „ „ 28/गी.
3. सभा प. 26/पू., „ „ 29/गी.

मणिमानादि बहुत से भूमिपालों को जीता। इसके बाद दक्षिण मल्ल और भोगवान् पर्वत को भीम ने शीघ्रता के साथ जीत लिया। जगतीपति विदेह जनक को भी भीम ने बड़ी सरलता से जीत लिया। शक और बर्बर भी भीम के द्वारा छद्म से जीत लिये गये। इसके बाद क्रमशः सुह्म और प्रसुह्म देश के राजाओं को, गिरिव्रज-नरेश सहदेव को, शत्रुघाती कर्ण को, पुण्ड्रकदेशाधिपति को, वंगाधिपति को, समुद्र-सेन को, ताम्रलिप्त को, कर्वटाधिपति को, सागरवासी म्लेच्छगणों को अपने प्रचण्ड पराक्रम से जीतकर धन रत्नादि अनेक उपहारों को संगृहीत कर वायुनन्दन भीम इन्द्रप्रस्थ को लौट आये।[1]

इसी प्रकार धर्मराज से सम्मानित होकर सहदेव ने भी बहुत बड़ी सेना के साथ दक्षिण दिशा को जीतने के लिये प्रस्थान किया। महाशक्तिशाली सहदेव ने सर्वप्रथम शूरसेन निवासियों को पूर्णरूप से जीता। तदनन्तर मत्स्यराज विराट् दन्तवक्र निषादभूमि, गोशृंग को जीतकर वेगपूर्वक श्रेणिमान् को भी जीत लिया। नरराष्ट्र और कुन्तीभोज को जीतकर उसने चम्बल नदी के किनारे जम्भकपुत्र को भी जीत लिया। तदनन्तर माद्रीतनय ने अपरसेकदेशो पर विजय पायी। नर्मदा के सुतीर पर उसके द्वारा अवन्तिराजकुमार विन्द और अनुविन्द भी परास्त कर दिये गये। फिर भोजकट नगर में राजा भीष्मक के साथ दुर्धर्षसंग्राम करके उसे भी परास्त कर दिया। तदनन्तर कोसलाधिपति, वेणानदी के तटवर्ती प्रदेशवासियों से कान्तारक तथा पूर्व कोसल के राजाओं को भी समर में पराजित कर दिया। तत्पश्चात् नाटकेयो और हैरम्बकों को भी युद्ध मे हराया। नकुलानुज महारथी सहदेव ने मात्स्य तथा रम्यग्राम को बलपूर्वक परास्त करके नाचीन, अर्बुद तथा समस्त वनेचर राजाओं को जीत लिया। तदनन्तर पुलिन्दों, पाण्ड्यों, मैन्द एवं द्विविद वानरों को जीतकर माहिष्मती नरेश नीलमणि को भी विनय के साथ जीत लिया। फिर त्रिपुरी के राजा अमितोजा को वश में करके महाबाहु सहदेव ने पौरेश्वर को वेगपूर्वक बन्दी बना लिया। तदनन्तर बड़े भारी प्रयत्न के साथ माद्रीकुमार ने सुराष्ट्राधिपति कौशिकाचार्य आकृति को वश में किया। तेजस्वी पाण्डुनन्दन ने शूर्पारक और तालाकाट को जीतते हुये दण्डकारण्य को भी अपने अधीन कर लिया। तत्पश्चात् उसने सागरद्वीपवासी म्लेच्छ राजाओं, निषादों राक्षसों और कर्णप्रावरणों* को भी पराजित कर दिया। इसी प्रकार अपने पराक्रम से माद्रीनन्दन सहदेव कोलगिरी ताम्रद्वीप रामकपर्वत, केरल, पाण्ड्य, द्रविड, उण्ड्र, आन्ध्र, तालवन, कलिंग और

---

1. सभा प. ×/पृ., ,, ,, 30/1–30 गी.

* जो कानों से ही शरीर को ढक लें, उन्हे कर्ण प्रावरण कहते हैं। प्राचीनकाल मे ऐसी जाति के लोग थे, जिनसे कान पैर तक लटकते थे।

उप्ट्रकर्णिक देशों को जीतकर घटोत्कच की सहायता से लंकाधिपति विभीषण को भी करदाता बनाकर इन्द्रप्रस्थ को लौट आया।[1]

माद्रीकुमार नकुल ने भी वरुणाधिकृत पश्चिम दिशा को क्रमशः इस प्रकार जीता। खाण्डवप्रस्थ से प्रस्थान करने के बाद नकुल का पहला युद्ध रोहतक में हुआ। वहाँ मत्तमयूर नाम वाले क्षत्रियों के साथ घोर संग्राम हुआ। उस पर अधिकार कर लेने के बाद महान् तेजस्वी नकुल ने समूची मरुभूमि (मारवाड़) प्रचुर धनधान्यपूर्ण शैरीषक और महोत्थ नामक देशों पर अधिकार प्राप्त कर लिया। तदनन्तर दाशार्ण देश को जीतकर पाण्डुनन्दन नकुल ने शिवि, त्रिगर्त, अम्बष्ठ, मालव, पंचकर्पट, माध्यमिक एवं वाटधान देशों को भी जीत लिया। वहाँ से लौटकर पुष्करारण्य-निवासी उत्सवसंकेत नामक गणों को भी नकुल ने सहज रूप में ही परास्त कर दिया। तदनन्तर समुद्रतटवासी ग्रामणियों, सरस्वती नदी के किनारे रहने वाले आभीरगणों, धीवरों एवं पर्वतवासियों को भी नकुल ने अपने वश में कर लिया। तत्पश्चात् सम्पूर्ण पंचनद, अमरपर्वत, उत्तरज्योतिष, दिव्यकटक नगर, और द्वारपालपुर को नकुल ने बड़े वेग के साथ जीत लिया। रामठों, हारों, हूणों तथा अन्य पश्चिमीनरेशों को नकुल ने केवल आज्ञा मात्र से ही अपने अधीन कर लिया। भगवान् वासुदेव ने भी प्रेम के वशीभूत होकर महाराज युधिष्ठिर के शासन को स्वीकार कर लिया। फिर शाकल देश को जीतकर मद्राधिपति शल्य को भी माद्रीनन्दन ने प्रेम से ही वश मे कर लिया। तत्पश्चात् टापुओं पर रहने वाले अत्यन्त भयंकर म्लेच्छ, पल्लव, बर्बर, किरात, यवन और शकों को भी जीतकर नकुल ने उनसे रत्नों की भेंट ली तथा तदनन्तर विजय के विचित्र उपायों को जानने वाले माद्रीतनय नकुल इन्द्रप्रस्थ को लौट आये।[2]

महाराज सगर ने भी अपने राज्य की सीमा की वृद्धि के लिये अश्वमेध यज्ञ किया। जिस यज्ञ की कथा जगत् प्रसिद्ध है। जिसका महाभारत में केवल इन्द्र द्वारा अश्व की चोरी, साठहजार सगरपुत्रों का महर्षिकपिल द्वारा दाह तथा अंशुमान् का यज्ञीय अश्व का पुनः प्राप्त करना आदि वर्णन मिलता है, किन्तु स्पष्ट है कि घोडे के पीछे चलने वाले सभी अनुगामियों को अन्य क्षत्रियों को स्वाधीन करने हेतु युद्ध करना पड़ता है और अश्वमेध यज्ञ चक्रवर्ती साम्राज्य के लिये किया जाता है जिसमें भूमि प्राप्ति का लाभ स्वतः ही हो जाता है।[3]

---

1. सभा प. × ×/पू., „ „ 31/1–76 गी.
2. सभा प. × ×/पू., „ „ 32/2–17 गी.
3. वन प. 105/9–29 पू., „ „ 107/11–57 गी

भीष्म का अपमान करके कर्ण दुर्योधन की दिग्विजय हेतु निवेदित करता है। दुर्योधन उसे आज्ञा दे देता है और वह कहता है "राजन् ! मैं समस्तवनों के साथ सम्पूर्ण पृथ्वी को जीत लूंगा। जो भूमि बलवान् पाण्डवों के द्वारा पारस्परिक सहयोग से जीती गई उसे मैं एकाकी ही जीत लूंगा" और वह ऐसा ही करता भी है।[1] भूमि पर सर्वत्र युद्ध करके कर्ण दिग्विजय करके जब हस्तिनापुर लौटता है तब दुर्योधन बड़े उल्लास के साथ उसका स्वागत करता है। इस प्रकार इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि राज्यभूमि के प्रसार के लिये ही कर्ण तथा अन्य क्षत्रियों ने युद्ध किये थे।[2]

भीष्म, द्रोण, विदुर, गान्धारी धृतराष्ट्रप्रभृति सभी ने दुर्योधन को बार-बार यही कहा कि पाण्डवों ने धर्मानुसार चतुर्दशवर्ष तक वनवास भोग लिया है। अतः वे न्याय से कम से कम आधेराज्य के अधिकारी हैं। इसलिये उन्हें राज्य का आधाभाग तुम्हें अवश्य दे देना चाहिये। आनन्दकन्द श्री-कृष्ण द्वारा भी वह दुर्योधन भलीभांति समझाया जाता है कि न्याय से तो सम्पूर्ण राज्य युधिष्ठिर का ही है क्योंकि तुम्हारे पितृचरण तो अन्धत्व के कारण राज्यसिंहासन के अधिकारी ही नहीं थे और इसी कारण राज्य-सिंहासन पर महाराज पाण्डु अधिरूढ हुये थे। अतः परम्परा से तथा न्याय से भी पाण्डु के ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर का ही राज्य पर अधिकार है न कि तुम्हारा। फिर भी यदि तुम सम्पूर्ण राज्य देना नहीं चाहते तो आधा राज्य ही पाण्डवों को दे दो, किन्तु दुष्ट-दुर्योधन ने भगवान् वासुदेव पर पाण्डवों के पक्ष का दोषारोपण कर कठोर शब्दों के साथ कहा "हे केशव ! मेरे जीवित रहते हुये पाण्डवों के लिये राज्य तो क्या अपितु तीक्ष्ण सूई के द्वारा भेदे जाने वाले अग्रभाग के तुल्य भूमि का भाग भी नहीं दूंगा।[3]

इस भूमि के भाग के अभाव के कारण या राज्य की प्राप्ति के लिये महाभारत का महान् युद्ध हुआ जिसका विस्तृत वर्णन भीष्म, द्रोण, कर्ण और शल्य पर्वों में उपलब्ध होता है।

कौरव-पाण्डवों के युद्ध के अनन्तर अपने साम्राज्य की वृद्धि हेतु महाराज युधिष्ठिर अश्वमेध यज्ञ करते हैं। अश्वमेध यज्ञ की पूर्ति के लिये अर्जुन द्वारा कृत दिग्विजय का वर्णन हमें महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में फिर मिलता है। जिसका

1. वन प. × × /पू., ,, ,, 253/20–21 गी.
2. वन प. × × /पू., ,, ,, 254/32–33 गी.
3. उ. प. 125/16 पू., ,, ,, 127/25 गी.

उद्देश्य उपर्युक्त वर्णन के आधार पर प्रधानरूप से वही भूमि प्राप्ति ही है। यह अवश्य है कि राजसूय यज्ञ के समय चारों भाइयों ने पृथक् रूप से एक-एक दिशा को जीतकर दिग्विजय की थी, किन्तु अश्वमेघ यज्ञ के समय केवल एकाकी धनंजय ने ही सम्पूर्ण भूमिमण्डल की दिग्विजय की।

(प) **स्त्री-प्राप्तिलाभ** :—अनुभवी पुरुषों के आधार पर भी भूमि के बाद स्त्री कलह या युद्ध का द्वितीय कारण कही गई है। पौराणिक काल से लेकर अद्यावधि प्रायः असख्य युद्ध स्त्री को लेकर हुए। जगद्विख्यात राम-रावण का युद्ध स्त्री के कारण से ही हुआ। महाभारत का युद्ध भी द्रौपदी के भयंकर अपमान के कारण से हुआ और पृथ्वीराज तथा जयचन्द का युद्ध भी संयोगिता के कारण ही हुआ। इस प्रकार स्त्री भी युद्ध के प्रधान-कारणों में से एक कारण गिनी जाती रही है। महाभारत ग्रन्थ में स्त्री को लेकर जो युद्ध हुए उनके प्रसंग इस प्रकार उपलब्ध होते है।

महाभारत के आदि पर्व मे स्त्री प्राप्ति हेतु जो युद्ध का प्रसंग प्राप्त होता है वह काशिराज और बालब्रह्मचारी महात्मा भीष्म का है। महात्मा भीष्म काशिराज की तीन कन्याओं का विचित्रवीर्य के लिये अपहरण करते हैं। भीष्मपितामह विचित्रवीर्य की युवावस्था जानकर उसके विवाह हेतु विचार करते है और जब वे यह सुनते हैं कि काशिराज की तीन कन्यायें स्वयंवर में अपने प्राणनाथों का वरण करना चाहती हैं तो वे भी माता सत्यवती की आज्ञा लेकर एकाकी ही वाराणसी प्रस्थान कर जाते है। स्वयंवरस्थल पर एकाकी वृद्ध भीष्म को देखकर युवक-राजाओं ने यह कहकर भीष्म का उपहास किया कि यह वृद्ध भीष्म तो ब्रह्मचारी नही है। अतः काम से पीड़ित होकर यह विवाह के लिये स्वयवर में आया है। उनके द्वारा उपहास करने पर महात्मा भीष्म कुपित हो उठे और उनके देखते-देखते उन्होंने उन तीनों कन्याओं का अपहरण कर लिया तथा कन्याओं को रथ में बैठाकर उन भूमिपालों को कहा "हे राजाओं! इन कन्याओं का मेरे द्वारा बलपूर्वक अपहरण किया जा रहा है तुम सब अपनी पूर्णशक्ति से मुझे रोकने का यत्न करो। मैं युद्ध के लिये सन्नद्ध हूँ।" इसके अनन्तर अमर्षशील राजाओं के साथ भीष्म का घोर संग्राम हुआ और उस लोमहर्षण संग्राम में राजाओं के द्वारा युगपत् दशसहस्र शर छोड़े गये, किन्तु बलशाली भीष्म के द्वारा वे बाण बीच में ही कंकपत्रबाणों से छिन्न-भिन्न कर दिये गये। यद्यपि वह युद्ध देवासुर-संग्राम के समान प्रतीत हो रहा था, किन्तु अमिततेजस्वी धनुर्धारियों में श्रेष्ठतम भीष्म सब राजाओं को रण मे जीतकर कन्याओं के साथ हस्तिनापुर को चल दिये। गमनानन्तर महारथी शाल्व ने पीछे से शान्तनुनन्दन भीष्म का पीछा किया तब उन दोनों में पुनः घोर युद्ध हुआ और

भीष्म ने दिव्यास्त्रों का प्रयोग कर महारथी शाल्व को पराजित कर दिया। शाल्व अपने प्राण बचाकर अपने नगर को भाग गया और गांगेय उन कन्याओं को लेकर हस्तिनापुर पहुँच गये।[1]

स्त्री प्राप्ति हेतु महाभारत में युद्ध का दूसरा प्रसंग द्रौपदी द्वारा अर्जुन को वरण कर लेने पर आता है। द्रौपदी-स्वयंवर म ब्राह्मणवटुकवेशधारी अर्जुन जब ब्राह्मण-मण्डल से उठकर विचित्र लक्ष्य का वेधन कर देते हैं तो द्रौपदी उन्हें वर माला पहिना देती है। द्रौपदी को रंगभूमि से लेकर अर्जुन जब बाहर आये तो ब्राह्मण-मण्डली के द्वारा उनका बहुत सम्मान किया गया, किन्तु क्षत्रियों ने जब यह जाना कि राजा द्रुपद ब्राह्मण को अपनी कन्या दे देना चाहता है तब परस्पर एक दूसरे को देखकर बोले "हम लोगों को तृणवत् समझकर यह राजा द्रुपद ब्राह्मण को द्रौपदी दे देना चाहता है। अतः इस दुरात्मा को मार डालो क्योंकि यह हम लोगों को कुछ नही गिनता। स्वयंवर में कन्या के द्वारा वरण प्राप्ति का अधिकार ब्राह्मणों के लिये तो है नही, स्वयवर तो केवल क्षत्रियों के लिये ही होता है। यह बात तो जगत् में प्रसिद्ध है। यद्यपि इस ब्राह्मण ने चपलता से या राज-कन्या के लोभ से राजाओं का अप्रिय कार्य किया है, किन्तु ब्राह्मण होने से यह वध्य नहीं है। अतः द्रुपद को ही दण्ड दिया जाना चाहिये। जिससे हमारा अपमान न होवे और स्वयंवरों की इस प्रकार की दुर्गति न हो।" राजाओं ने ऐसा कहकर राजा द्रुपद पर आक्रमण कर दिया। वह ब्राह्मणों की शरण पहुँचा। उस समय राजाओं को वेग से आते हुये देखकर ब्राह्मणवेशधारी भीम और अर्जुन उन्हें मारने की इच्छा से उन पर टूट पड़े।[2] उस समय कर्ण और अर्जुन का तथा शल्य और भीम का लोमहर्षण युद्ध हुआ, किन्तु कर्ण तो ब्रह्मतेज को अजेय मानकर युद्ध से विमुख हो गया और शल्य भीम के द्वारा मल्लयुद्ध में भुजाओं के द्वारा उठाये जाकर भूमि पर गिरा दिये गये। तब भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा परिशान्त किये गये राजा लोग युद्ध से निवृत्त हो गये।[3]

स्त्री प्राप्ति हेतु महाभारत में युद्ध का तृतीय प्रसंग सुन्द और उपसुन्द का प्राप्त होता है। उग्रतपस्या करके जब सुन्द और उपसुन्द दैत्यो ने ब्रह्मा से त्रिलोक विजय का तथा आपस में एक दूसरे के अतिरिक्त किसी अन्य से न मारे जाने का ऐसे दो वरदान प्राप्त कर लिये तो वे उन्मत्त होकर भूमि पर बाहुल्य से पापाचार

1. आदि प. 96/1–42 पू., „ „ 102/1–53 गी.
2. आदि प. 180/1–15 पू., „ „ 188/1–14 गी.
3. आदि प. 181/5–20 पू., „ „ 189/5–22 गी.

करने लगे । तब देवों की प्रार्थना पर ब्रह्मा ने उन दोनों दैत्यों के नाश के लिये एक 'तिलोत्तमा' नाम की सुन्दरी की रचना की । रचनानन्तर वह उन दोनो दैत्यों के पास भेज दी गई । तिलोत्तमा को देखकर वे दोनों काम विह्वल हो गये और दोनों ने पृथक्-पृथक् रूप से उससे अपनी भार्या बनने हेतु याचना की। तब सुन्द ने उसका दक्षिण हस्त ग्रहण किया और उपसुन्द ने वाम । सुन्द ने कहा "यह मेरी भार्या है, अतः तेरी मातृतुल्य है" और उपसुन्द ने कहा "यह मरी भार्या है, अतः तुम्हारे लिये पुत्रवधू है," इस प्रकार दोनो ही परस्पर यह कह रहे थे कि यह तुम्हारी नही मेरी है। ऐसा कहते और झगड़ते हुये वे क्रोधान्वित हो उठे और दोनों ने भयंकर गदायें उठालीं । इस प्रकार पहले मैं पहले मैं ऐसा कहते हुये उन दोनों ने एक दूसरे पर भीषण गदाओ का प्रहार किया और प्राणशून्य होकर भूमि पर गिर पडे ।[1]

स्त्री को लेकर महाभारत मे युद्ध का चतुर्थ प्रसंग अर्जुन द्वारा सुभद्रा का अपहरण करने पर आता है, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण के कारण युद्ध हेतु सन्नद्ध यादव रणभूमि में उतरकर युद्ध में प्रवृत्त नही हो सके ।[2]

महाभारत युद्ध के बहुत से कारणों में से द्रौपदी का चीरहरण भी एक प्रधानभूत कारण रहा है । यहाँ हम इस कारण को 'स्त्री अपमान से युद्ध' इस रूप में ले सकते हैं । द्रौपदी का भरी सभा में जो न देखा जाने वाला अपमान किया गया वह भीम को कदापि सहन न हो सका और उसने इसी अपमान के कारण दो प्रतिज्ञायें की जिनसे महाभारत युद्ध होकर ही रहा । प्रतिज्ञायें द्रौपदी के घोरापमान के कारण की गई । अतः स्त्री द्रौपदी ही महाभारत युद्ध का प्रधान कारण बनी । उन प्रतिज्ञाओ में से पहली प्रतिज्ञा भीम ने तब की जब भरी सभा में दुःशासन द्रौपदी के वस्त्रों को निरन्तर खींच कर उसे वस्त्रहीन कर देना चाहता था । उस समय भीम ने सब राजाओं के सामने यह दृढ प्रतिज्ञा की "हे राजाओ ! मेरी यह दृढ प्रतिज्ञा सुनो ! मैं इस दुःशासन की इन्हीं भुजाओं को तोडकर इसके वक्षस्थल को विदीर्ण कर इसके उष्ण रक्त का पान करूंगा ।"[3] उसी समय जब दुष्ट दुर्योधन ने भरी सभा मे द्रौपदी को अपनी वाम जंघा को वस्त्रहीनता से दिखाया तो भीम ने तत्काल प्रतिज्ञा की "हे दुर्योधन ! यदि मैं महासभा में तुम्हारी इस जंघा को नही

---

1. आदि प. 204/11–19 पू., ,, ,, 211/11–19 गी.
2. आदि प. 212/पू., ,, ,, 219 ग .
3. सभा प. 61/45–46 पू., ,, ,, 68/52–53 गी.

तोड़ूँ तो पूर्वजों की सद्गति को प्राप्त न होऊँ।"[1] इस प्रकार द्रौपदी के घोर अपमान से उत्पन्न भीम की प्रतिज्ञाओं ने युद्ध को साकार रूप दे ही डाला।

स्त्री से कामलिप्सा की पूर्ति ने भी युद्ध को जन्म दिया। इस बात का एक उदाहरण महाभारत के वन पर्व में मिलता है। द्यूतक्रीड़ा के परिणामस्वरूप जब पाण्डव वन में निवास कर रहे थे, तब सिन्धुराज जयद्रथ एकाकिनी द्रौपदी को देखकर कामविह्वल हो जाता है और उसे कहता है "हे याज्ञसेनी! पाण्डव इस समय राज्यहीन और निर्धन है। अतः तुम उन्हे त्याग कर मेरी भार्या बन जाओ क्योंकि विदुषीस्त्रियाँ निर्धन पतियों की उपासना नही करती।"[2] इस बात को सुनकर वह कृष्णा के द्वारा कठोर वाक्यो से प्रताड़ित किया गया "हे मूर्ख! जिस प्रकार कदली, वेणु और नरकुल अपने विनाश के लिये ही फलते है तथा कर्कटी अपनी मृत्यु के लिये ही गर्भ धारण करती है वैसे ही तुम अपने प्राणों के नाश के लिये ही मेरा अपहरण करना चाहते हो।" तदनन्तर द्रौपदी ने जयद्रथ को डराने के लिये पाण्डवो के पराक्रम का वर्णन भी किया, किन्तु उस दुष्ट ने कुछ आगे आकर द्रौपदी की ओढनी का छोर पकड़ लिया, किन्तु द्रौपदी ने उसे जोर का धक्का दिया और धक्का लगते ही पापी जयद्रथ का शरीर जड़ से कटे हुये वृक्ष की भाँति भूमि पर गिर पड़ा। तदनन्तर वह बड़े वेग से उठा और उसने बार-बार लम्बी श्वांस लेती हुई द्रौपदी को पकड़ कर रथ पर बैठा लिया।[3]

पाण्डव लोग जब आश्रम पर लौट कर आये और उन्होंने द्रौपदी की दासी धात्रेयिका से सब वृत्तान्त जाना तो तुरन्त जयद्रथ का पीछा करने को चल दिये और वहाँ काम्यकवन (कामा) में जयद्रथ की सेना के साथ पाण्डवों का घोर संग्राम हुआ। तब जयद्रथ भयभीत होकर भाग गया किन्तु बलशाली भीम के द्वारा वह दौड़ता हुआ पकड लिया गया। इसके बाद भीम ने उसे ऊपर उठाकर धरती पर पटक दिया और उसे रौंदने लगा। फिर उसने राजा जयद्रथ का शिर पकड कर उसके कई थप्पड़ लगाये और अर्जुन के अनुरोध से भीम ने तब उसे जीवित ही छोड़ दिया जब उसने पाण्डवो का दासभाव स्वीकार कर लिया।[4]

---

1. सभा प. 63/14 पू., ,, ,, 71/14 गी.
2. वन प. 251/14–18 पू., ,, ,, 267/13–15 गी.
3. वन प. 252/13–25 पू., ,, ,, 268/9–25 गी.
4. वन प. 272/2–11 पू., ,, ,, 272/2–11 गी.

सीताहरण के कारण से जो जगत्‌विख्यात राम-रावण युद्ध हुआ। उसका वर्णन महाभारत के वन पर्व मे 'रामोपख्यान' के रूप में मिलता है। वहाँ भी यही प्रदर्शित किया गया है कि जगज्जननी सीता ही इस भयंकर युद्ध का कारण थी।

इस प्रकार हम उपर्युक्त वर्णन के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भूमि के बाद युद्ध को कराने मे द्वितीय स्थान स्त्री जाति का रहा है फिर भले ही वह स्थान विवाह, कामलिप्सा, अपमान, सौन्दर्यादि कई बातो को लेकर बना हो जैसा कि उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है।

(च) धन और यश का लाभ :—धन भी इसी प्रकार संसार में युद्ध के प्रधान तीन कारणों मे से एक महत्त्वपूर्ण कारण माना जाता है। प्राचीन काल से लेकर आज तक का इतिहास धन को लेकर युद्ध होने की घटनाओं से भरा पड़ा है। आक्रमणकारी प्रायः धन की प्राप्ति के साथ यश का भी अर्जन करता है, किन्तु यह बात प्रत्येक के साथ नहीं घटती। जैसे रामायण में रावण कुबेर को जीतकर असख्य धनराशि तथा रत्नराशि की प्राप्ति करता है तथा अपने पौरुष से संसार मे विख्यात हो जाता है। इन्द्रादि देवताओं को जीतकर मेघनाद इन्द्रपुरी के अतुल वैभव के साथ यश का अर्जन भी करता है। मध्यकाल में भी इसी प्रकार धन के कारण से ही मुहम्मदगज़नवी, महमूदगौरी और तैमूरलगादि ने भारत देश को लूटा। गौरांगों ने भी धन के कारण मे ही भारत को शताब्दियों तक परतन्त्र रखा। जीतने वाले को धन तो प्राप्त होता ही है किन्तु उसके चातुर्य और प्रभाव के कारण यदि वह गुणवान् है तो लोग उसकी प्रशंसा भी करते है और इस प्रकार उसे लोगो के बीच अपनी दक्षता दिखाने पर अमरयश की प्राप्ति होती है। इस प्रकार प्रशंसनीय शासको के जीवन—चरित्रो से हमारा भारतीय इतिहास भरा पड़ा है उदाहरणार्थ, राजाशिवि, हरिश्चन्द्र, राम, श्रीकृष्णादि।

महाभारत ग्रन्थ मे इन दोनों ही विषयों को लेकर इस प्रकार प्रसंग उपलब्ध होते है। महाराज पाण्डु दिग्विजय काल मे युद्ध के द्वारा ही धन और यश की प्राप्ति करते है। दिग्विजय कर लेने के कारण से ही धरा पर सब राजालोग उन्हे इन्द्र के समान तेजस्वी और प्रतापी मानने लगते है तथा उनके प्रताप और तेज के सामने नतमस्तक होकर असंख्य रत्न तथा धनराशि की भेंट अजलिबांध कर समर्पित करते हैं। महाराज पाण्डु उस समस्त धन को लेकर हस्तिनापुर आते हैं और इस धनप्राप्ति तथा दिग्विजय से वे भरत और शान्तनु की प्रनष्ट कीतिकथा को पुनर्जीवित करते हैं।[1]

---

1. आदि प० 105/16–20 पू, 112/32–37 गो०

भगवान् श्रीकृष्ण की कूटनीति से जब जरासन्ध का नाश कर दिया गया तो राजसूय यज्ञ का होना निश्चित हो गया। तब राजसूय यज्ञ के पूर्व किरीटी अर्जुन महाराज युधिष्ठिर को निवेदन करता है "राजन्! धनुष बाण, पराक्रम और भगवान् श्रीकृष्ण से सहायक, भूमि, यश, तथा बल ये सभी दुर्लभ एवं मनोवांछित वस्तुएँ मुझे प्राप्त हो चुकी हैं। नृपश्रेष्ठ! मै अब अपने कोष को बढाना चाहता हूँ। मेरी इच्छा है कि समस्त राजाओं को जीतकर उनसे कर वसूल करूँ।[1]

अतः अर्जुन के साथ ही भीम नकुल और सहदेव भी क्रमशः उत्तर, पूर्व, दक्षिण और पश्चिम दिशा को जीतकर यश और धन का अर्जन करते है जिसका वर्णन हम चारों भाइयों की दिग्विजय वर्णन में प्रस्तुत कर चुके हैं।

सूतपुत्र कर्ण भी अपनी कीर्ति को दिशाओं में फैलाने के लिये राजा दुर्योधन से आज्ञा लेकर दिग्विजय करता है तथा अपार धनसम्पत्ति प्राप्त कर वापिस हस्तिनापुर को लौट आता है, जिसका वर्णन हम कर्ण दिग्विजय के रूप में ऊपर कर चुके हैं।

दुर्योधन के हृदय में पाण्डवों की लक्ष्मी के प्रति अपार क्षोभ था। वह किसी भी प्रकार पाण्डवों का नाश कर उनकी राजलक्ष्मी को प्राप्त कर लेना चाहता था। अतः द्यूतक्रीड़ा के द्वारा पाण्डवों को जीतकर उनसे पाण्डवों की लक्ष्मी का अपहरण कर लिया और फिर भी उसने न्याय संगति से पाण्डवों की लक्ष्मी को लौठाना नहीं चाहा। अतः महान् भारत-युद्ध हुआ। पाण्डवों की लक्ष्मी को देखकर उसने ईर्ष्या से जलते हुये यहाँ तक कहा कि जब तक मैं पाण्डवों के ऐश्वर्य को प्राप्त न करलूँ तब तक मेरे हृदय में दुविधा ही बनी रहेगी। अतः मैं कैसे भी पाण्डवसम्पति को ग्रहण करूँगा।[2] इस प्रकार दुर्योधन की इस धनलिप्सा ने ही महाभारत के महान् युद्ध का सूत्रपात किया।

यहाँ तक कि सब जनपदों को जीतकर उनके स्वामियों से अर्जुन करहरूप मे बहुत सा धन जीतकर लाते हैं और उस धन के मध्य सुशोभित होने के कारण वे अपना नाम ही 'धनंजय'[3], इस प्रकार लोक में विख्यात कराते हैं। अतः धन लाने के लिये अर्जुन ने बहुत ये युद्ध किये यह स्वतः सिद्ध हो जाता है।

---

1. सभा प० 25/2–3 पू, 25/2–3 गी०
2. सभा प० 50/16–28 पू. 55/8–21 गी०
3. विराट् प० 44/13–14 गी०, X X/पू०

यश का क्षेत्र इतना व्यापक है कि हम उसे किसी एक ही वस्तु के साथ नहीं बांध सकते। अधिकतर कुछ वस्तुयें ऐसी है जिनकी प्राप्ति के साथ यश की प्राप्ति भी स्वतः हो जाती है। जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि भूमि, स्त्री, धन और प्रभुत्व प्राप्ति के साथ यश प्राप्ति का लाभ स्वतः ही हो जाता है, किन्तु कभी-कभी प्रत्येक ही के साथ यह संपृक्त नही रहता जैसे धन प्राप्ति के साथ यश भी मिले, यह आवश्यक नहीं।

(ट) प्रभुत्व का लाभ :—वस्तुतः प्रभुत्व प्राप्ति का लाभ एक ऐसा लाभ है, जिसमें युद्ध के होने वाले लगभग अन्य सभी लाभों को समाहित किया जा सकता है, किन्तु प्रभुत्व के महत्त्व को देखते हुये यह अपना स्थान उन सभी कारणों से एक अलग ही महान् कारण के रूप में बना लेता है, जिस प्रकार सभी समान मनुष्यों में राजा या सभी समान राजाओं में सम्राट् अपना विशिष्ट स्थान बना लेता है। अतः प्रभुत्व मे अन्य सभी कारणो के मिले रहते हुये भी हम इसके गौरव की दृष्टि से इसे एक विशिष्ट स्थान देकर अन्यों से इसकी सत्ता को पृथक् ही मानते है।

महाभारत ग्रन्थ में प्रभुत्व प्राप्ति का जो वर्णन प्राप्त होता है उसे हम संक्षिप्तत. इस प्रकार प्रस्तुत करते है—

महाराज पाण्डु संसार में अपने प्रभुत्व का प्रदर्शन करने के लिये दिग्विजय करते हैं जिसका कि वर्णन हम भूमि प्राप्ति तथा यश प्राप्ति प्रसंग मे कर चुके हैं। यहाँ तो इस एक ही वाक्य से उनके प्रभुत्व का वर्चस्व मान लेना पर्याप्त होगा कि महाराज पाण्डु ने उन राजाओं को करदाता बना लिया जिन्होने पहले कुरुदेश के धन तथा कुरुराष्ट्र का अपहरण किया था।[1]

आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र ने धर्मराज युधिष्ठिर को अपना प्रभुत्व जमाने के के लिये यह सम्मति दी "हे राजन्! आपमें वे सभी गुण विद्यमान है जिनके आधार पर आप चक्रवर्ती सम्राट् बन सकते है। भगवान् परशुराम ने प्राय सभी उत्तम क्षत्रियों का नाश कर डाला जो शेष बचे वे निम्न कोटि के है और उन्होने सामूहिकरूप से यह नियम बना लिया है कि हम मे से जो समस्त क्षत्रियो को जीतेगा वही सम्राट् होगा। राजन्! अभी-अभी भूपाल जरासन्ध उन समस्त क्षत्रिय-कुलों की राजलक्ष्मी को लांघकर राजाओं द्वारा सम्राट् के पद पर अभिषिक्त हुआ है और वह अपने बलपराक्रम से सब पर आक्रमण करके समस्त राजाओं का सिरमौर हो रहा है। अतः जरासन्ध के जीवित रहते हुए न आप राजसूय यज्ञ करने

1· आदि प० 105/21 पू०; 112/38 गी०

में ही समर्थ हो सकते हैं और न परमसम्मानीय सम्राट् के पद की ही प्राप्त कर सकते है। अतः जरासन्ध को मारकर ही आप सम्राट् पद से अलंकृत हो सकते हैं।[1]

तदनन्तर भगवान् वासुदेव की कूटनीति से ही भीम के द्वारा जरासन्ध मारा गया और तत्पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ने चारों भाइयो को दिग्विजय करने हेतु भेजा जिसका वर्णन हम पहले दे चुके हैं। पाण्डवों द्वारा दिग्विजय कर लौट आने पर महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ करके सार्वभौम सम्राट् का पद ग्रहण किया। गहन चिन्तन से ज्ञात होगा कि यहाँ सारे युद्ध धर्मराज की प्रभुत्व प्राप्ति के लिये ही किये गये और वस्तुतः राजा युधिष्ठिर प्रभुत्व के अधिकारी थे, जिसकी पुष्टि अर्जुन द्वारा राजा विराट् नरेश की राजसभा में की गई।[2]

यहाँ तक कि विश्व का बेजोड़ कौरवपाण्डव युद्ध भी इसी प्रभुत्व प्राप्ति के कारण हुआ। भीम दुर्योधन को मारकर प्रभुत्व की लक्ष्य प्राप्ति को प्रकट करते हुए महाराज युधिष्ठिर से कहते है "महाराज! आज यह सारी पृथ्वी आपकी हो गई, इसके काँटे नष्ट कर दिये गये, अतः यह मंगलमयी हो गई। आप इसका शासन तथा अपने धर्म का पालन कीजिए।" युधिष्ठिर ने भी भीम का अनुमोदन करते हुये कहा "भीमसेन! यह हमारा परम सौभाग्य है कि तुमने वैर का अन्त कर दिया। राजा दुर्योधन मारा गया और श्रीकृष्ण के मत का आश्रय लेकर हमने यह सारी पृथ्वी जीत ली।"[3]

महाभारत के महाभयंकर युद्धानन्तर महाराज युधिष्ठिर प्रभुत्व प्राप्ति के लिये ही अश्वमेध यज्ञ करते हैं। इस बार केवल एकाकी धनंजय ही समस्त भूमण्डल को जीतकर समस्त भूमिपालों को करदाता बनाकर युधिष्ठिर को सार्वभौम सम्राट के पद पर प्रतिष्ठित होने हेतु प्रस्तुत कर देता है और नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर भी अश्वमेध यज्ञ करके सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट् के पद को अलंकृत करते है। इस प्रकार इस दिग्विजय-काल में भी जो युद्ध हुये वे सब युधिष्ठिर की प्रभुत्व प्राप्ति के लिये ही किये गये। अतः प्रभुत्व प्राप्ति में युद्ध के अन्य सभी कारण समाहित होकर उसके गौरव को प्रतिष्ठित करने वाले होते हैं।

(त) प्रतिशोध एवं दण्ड देने हेतु :—प्रतिशोध की भावना भी युद्ध के प्रमुख कारणों में ही है। तिरस्कृत व्यक्ति तिरस्कार करने वाले के प्रति स्वाभाविक

1. सभा प० 13/1–3, 7–8, 60–61 पू०, 14/1–3, 7–8, 60–61 गी०
2. विराट् प० 65/1–21 पू०, 70/7–28 गी०
3. शल्य प० 59/38–44 पू०, 60/42–47 गी०

रूप से प्रतिशोध की भावना को हृदय में रखता है और समय आने पर वही भावना युद्ध की भीषणता को धारण कर लेती है यथा महाभारत के आदि पर्व में द्रोण-द्रुपद का प्रसंग।

गुरु द्रोणाचार्य राजा द्रुपद के सतीर्थ्य थे। सम्पूर्ण विद्याओं से अलंकृत होते हुये भी निर्धनतावश जब वे सिंहासनारूढ राजा द्रुपद के पास कुछ सहायता प्राप्त करने के लिये गये तो राजा द्रुपद ने उनकी सहायता करने के स्थान पर उनका घोर अपमान किया। ब्राह्मणश्रेष्ठ द्रोण उस घोर अपमान को उस समय सहन कर वहाँ से चल दिये, किन्तु उनके हृदय में तीव्र प्रतिशोध की भावना ने स्थान ग्रहण कर लिया। वे सर्वदा यही सोचते रहते थे कि कब और किस प्रकार मैं इस घोर अपमान का प्रतिशोध लूँ।

विप्रवर-द्रोण जब अपने शिष्य कौरव तथा पाण्डवों को धनुर्वेद की शिक्षा में निष्णात बनाकर अपने कर्त्तव्य की परिपूर्ति कर देते है तो शिष्य भी उन्हें गुरु-दक्षिणा भेंट करने हेतु निवेदन करते है। चिरकाल से जाज्वल्यमान द्रोणहृदय ने उन शिष्यों से गुरु-दक्षिणा के रूप में द्रुपद का बन्धन चाहा और तब सब राजकुमारों ने 'ऐसा ही होगा' ऐसा कहकर रथो पर आरूढ़ होकर आचार्य-द्रोण के साथ द्रुपद पर आक्रमण करने हेतु चल दिये। प्रथमतः वहाँ कर्ण दुर्योधनादि के द्वारा आक्रमण किया गया किन्तु वे द्रुपद के द्वारा पराजित कर दिये गये। तदनन्तर पाण्डव रणांगण मे उतरे। किरीटधारी धनंजय सब पांचालों को हरा कर मन्त्रियों सहित द्रुपद को समर-भूमि में बन्दी बनाकर द्रोणाचार्य के पास ले गये। भग्नदर्प-हृतधन वाले पराधीन द्रुपद को देखकर द्रोणाचार्य ने मन से पूर्व वैर का स्मरण किया और फिर इस प्रकार बोले "राजन्! मेरे अपमान के प्रतिशोध के लिये ही मैंने बलपूर्वक तुम्हारे राष्ट्र को मिट्टी में मिला दिया। अब तुम शत्रु के चंगुल मे हो, कहो क्या चाहते हो? तुमने कहा था "जो राजा नहीं है वह राजा का सखा बनने योग्य नहीं। इसी कारण मैंने तुम्हारे राज्य का अपहरण किया है। फिर भी हम तो क्षमाशील ब्राह्मण हैं। अतः भागीरथी के उत्तर की ओर तो मेरा राज्य होगा और पुण्यसलिला के दक्षिण की ओर तुम्हारा राज्य होगा।" ऐसा कह कर ब्राह्मणश्रेष्ठ-द्रोण ने उसे छोड़ दिया। इस प्रकार पूर्व वैर के प्रतिशोध के रूप मे द्रोण ने द्रुपद को दण्ड प्रदान किया।[1]

कंस की मृत्यु के बाद जरासन्ध ने श्रीकृष्ण को पराजित कर उनसे प्रतिशोध लिया। उस वैर को स्मरण कर समय आने पर वासुदेव ने जरासन्ध से प्रतिशोध

---

[1] आदि प. 128/1-2,5-7, 12 पू., 137/2-3, 63-65, 70 गी.

लेने का विचार किया धर्मराज युधिष्ठिर से आज्ञा लेकर भीम और अर्जुन के साथ श्रीकृष्ण ने ब्राह्मण भेष में जरासन्ध की राजधानी गिरिव्रज मे चैत्यक पर्वत के शिखर को तोड़कर विना द्वार के ही प्रवेश किया। जरासन्ध ने जब इसका कारण पूछा तब वासुदेव ने कहा "धीर मनुष्य शत्रु के घर में बिना द्वार के और मित्र के घर में द्वार से प्रविष्ट होते है।" तब जरासन्ध ने कहा "हे ब्राह्मणों ! मुझे याद नही आ रहा कि मैंने आप लोगो के साथ कब वैर किया था।" तब देवकीनंदन ने कहा "हे महाबाहो ! सम्पूर्ण कुल में कोई एक ही पुरुष कुल का भार सम्भालता है उस कुल के सभी लोगों की रक्षा आदि का कार्य सम्पन्न करता है। जो ऐसे महा-पुरुष हैं, उन्ही की आज्ञा से हम लोग आज तुम्हें दण्ड देने को उद्यत हुये है। हे राजन् ! तुम से युद्ध करने के इच्छुक हम निश्चय ही ब्राह्मण नहीं हैं। मैं तो तुम्हारा प्रसिद्ध शत्रु हृषीकेश हूँ और ये दोनों पाण्डुपुत्र वीरवर भीमसेन और अर्जुन है। "तब जरासन्ध ने कहा" तुम्हारी सेना मेरी व्यूह-युक्त सेना के साथ लड़लें अथवा तुम में से कोई एक मुझ अकेले के साथ युद्ध करें अथवा मैं एकाकी ही दो या तीनों के साथ बारी-बारी से या एक ही साथ युद्ध कर सकता हूँ।[1]

तदनन्तर भीम जरासन्ध का कार्तिकमास के प्रथम दिन से चतुर्दशी तक बिना आहार बिना विश्राम रात और दिन युद्ध चला और अन्त में श्रीकृष्ण के संकेत से जरासन्ध भीम के द्वारा मारा गया। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने जरासन्ध से प्रतिशोध लेकर उसे दण्डित किया।[2]

यदि हम गम्भीर चिन्तन से विचार करें तो प्रतीत होगा कि महाभारत युद्ध भी पाण्डवों द्वारा कौरवों से प्रतिशोध लेने के लिए तथा उन्हे दण्ड देने के परिणामस्वरूप ही हुआ। इसलिए प्रधान पात्रों की प्रतिज्ञाओं तथा वैर भावनाओं को लेकर विषय का प्रतिपादन करते है। द्रौपदी के चीरहरणकाल में भीम ने दुःशासन के हृदय को विदीर्णकर उष्णरक्तपान की प्रतिज्ञा की। जिसका वर्णन हम स्त्री प्राप्ति लाभ के प्रसंग में कर चुके। इस प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए भीम ने दुःशासन के शिर पर भयंकर गदा का प्रहार किया जिसके आघात से दुःशासन कांपता हुआ भूमि पर गिर पड़ा और अत्यन्त वेदना से व्याकुल होकर छटपटाने लगा। भीम तो उसे भूमि पर गिराकर हर्ष से गर्जा तथा दिशाओं को निनादित करता हुआ रथ से उतर कर दुःशासन की ओर वेग से झपटा। उस समय वह पूर्वकृतशत्रुव्यवहार को याद कर क्रोध से विह्वल हो उठा। दुःशासन के पास पहुँचकर भीम ने

---

1. सभा प. 21/45–53 गी., 22/1, 7, 25, 30 गी.
1. सभा प. 23/29–30, 24/7 गी.

तीव्रधार वाली तलवार उठाली और उसके गले पर लात मारी। तदनन्तर पूर्व-कथित अपनी प्रतिज्ञा को उसे स्मरण कराते हुए पाण्डुनन्दन भीम ने दुःशासन की भुजा को अपने हाथ से उखाड़ डाला और उसी भुजा से उसे बार-बार पीटा। फिर भूमि पर पड़े हुए उसके वक्षस्थल को विदीर्ण कर उसने उष्णरक्तपान किया तथा तीव्र तलवार से उसके शिर को धड़ से अलग कर दिया। इस प्रकार भीम ने प्रतिशोध की पूर्ति कर दुःशासन को उसके कुकृत्य का दण्ड दिया।[1]

इसी प्रकार चीरहरणकाल में ही दुर्योधन ने भी द्रौपदी को अपनी वस्त्रहीन वाम जंघा दिखाई थी, जिसे महासमर में तोड़ने हेतु भीम ने प्रतिज्ञा की थी। जिसका वर्णन हम स्त्री-प्रसंग में दे चुके। प्रतिज्ञानुसार प्रतिशोध ग्रहण करने के इच्छुक भीम ने महायुद्ध के अन्तिम चरण में भीम-दुर्योधनगदा-युद्ध में भगवान् श्रीकृष्ण के संकेत पर अर्जुनकृत संकेत को प्राप्त कर छली दुर्योधन की जाँघों पर सिंह के समान गर्जना कर बड़े ही वेग से गदा का प्रहार किया। वज्रपात के समान गिरकर उस गदा ने दुर्योधन की वाम जंघा को विभाजित कर दिया और इस प्रकार प्रतिशोध-कामी भीम ने अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति कर दुर्योधन को क्रूरकर्मों का दण्ड दिया।[2]

पाण्डुनन्दन धनंजय ने भी दुःशासन के द्वारा उपहास करने पर यह प्रतिज्ञा की थी "जो हमारे दोषों को ढूँढा करता है, हमारे दुःख देखकर प्रसन्न होता है, कौरवो को खोटी सम्मतियाँ देता है, और व्यर्थ बढ़चढ़ कर बातें बनाता है, उस कर्ण तथा कर्णानुगामियों को अपने भाई भीमसेन का प्रिय करने की इच्छा से युद्ध में अवश्य बाणों द्वारा मार ड़ालूँगा।"[3] प्रतिज्ञा की परिपूर्ति हेतु तथा प्रतिशोध ग्रहण करने के लिए भगवान श्रीकृष्ण की सम्मति से महासमर में विपत्तिग्रस्त कर्ण को किरीटी ने मार डाला।[4]

इसी प्रकार जब सात महारथियों के द्वारा निशस्त्र अभिमन्यु अन्याय से मार दिया गया और जयद्रथ ने अपने पराक्रम से किसी भी पाण्डव को चक्रव्यूह में प्रविष्ट नहीं होने दिया, तब अर्जुन ने जयद्रथ को ही पुत्र-मृत्यु का प्रमुख कारण मानकर प्रतिज्ञा की "यदि जयद्रथ डर कर धृतराष्ट्र पुत्रों को नहीं छोड़ देगा, मेरी,

---

1. कर्ण प. 83/8–29 गी.
2. शल्य प. 58/44–47 गी.
3. सभा प. 68/32–33 पू., ,, ,, 77/32–33 गी.
4. क प. × × /पू., ,, ,, 91/17–53 गी.

श्रीकृष्ण तथा महाराज युधिष्ठिर की शरण में नहीं आयेगा तो कल मैं उसे अवश्य मार डालूँगा।[1] अभिमन्यु की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण की कृपा से अर्जुन ने वर-प्राप्त जयद्रथ को, जिसका कि मारा जाना दुष्कर था, रण में पाशुपतास्त्र के द्वारा मार डाला।[2]

इसी भाँति सहदेव ने भी युद्ध की जड़ शकुनि का उन्मूलन करने के लिये कपट-द्यूत के अनर्थों के परिणामों का प्रतिशोध लेने के लिये प्रतिज्ञा की "हे शकुनि ! यदि तुम महासमर में क्षात्र-धर्मानुसार डटे रहे तो मैं बान्धवों सहित तुझे वेगपूर्वक आक्रमण कर अवश्य मार डालूँगा।"[3] यही प्रतिशोध हेतु की गई प्रतिज्ञा सहदेव के द्वारा बान्धव सहित शकुनि को मारने से पूर्णता को प्राप्त हुई।[4]

एवमेव नकुल ने भी शत्रुओं से प्रतिशोध लेने के लिये प्रतिज्ञा की "काल से प्रेरित दुर्वृत्त मुमूर्षु दुर्योधन ! नीच धार्तराष्ट्रों को, जिन्होंने याज्ञसेनी को रूक्ष-वचन सुनाये, मैं पाण्डुपुत्र नकुल महासमर में अवश्य यमालय को भेजूँगा।"[5] उसने कथनानुसार भीषण संग्राम कर अपने धर्म का पालन किया।

द्रुपद-कुमार धृष्टद्युम्न तो राजा द्रुपद के द्वारा यज्ञ से द्रोण से प्रतिशोध लेने के लिये ही प्राप्त किया गया था। अतः उसने पिता का प्रतिशोध लेने के लिये भारत नामक महान् संग्राम में निशस्त्र द्रोणाचार्य को मार डाला और उसी भाँति अश्वत्थामा के द्वारा पिता का प्रतिशोध लेने के लिये धृष्टद्युम्न भी रात्रि में शिविर में सोता हुआ पशुमार से मार दिया गया। भगवान् श्रीकृष्ण ने भी शिशुपाल के सौ अपराधों को सहकर उसके द्वारा कृत अपमान का प्रतिशोध करने के लिये सुदर्शन-चक्र से उसे भरी सभा में मार डाला। इस प्रकार महाभारत के प्रायः सभी प्रधान पात्रों ने प्रतिशोध एवं दण्ड हेतु युद्ध किया।

यज्ञों का युद्ध से सम्बन्ध :—सामान्य रूप से महाभारत ग्रन्थ में अनेक नृपों द्वारा विहित विभिन्न यज्ञों का स्थान-स्थान पर वर्णन मिलता है। परन्तु मुख्य रूप से राजसूय, विष्णु और अश्वमेध यज्ञों ही का वर्णन विस्तृत रूप से मिलता

---

1. द्रोण प. 51/20–36 पू., „ „ 73/20–45 गी.
2. द्रोण प. 121/37–39 पू., „ „ 146/104–130 गी.
3. सभा प. × × /पू., „ „ 77/41 गी.
4. शल्य प. × × /पू., „ „ 28/51–68 गी.
5. सभा प. × × /पू., „ „ 77/43–44 गी.

है। इनमें भी राजसूय और अश्वमेध यज्ञ ही ऐसे है जिनका युद्ध के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। महाराज युधिष्ठिर ने राजसूय और अश्वमेध दोनों ही यज्ञ किये, जबकि दुर्योधन ने केवल एक विष्णुयज्ञ ही किया जिसका कि प्रत्यक्ष रूप से युद्ध के साथ कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं देता।

राजसूय यज्ञ :—एक बार देवर्षि नारद युधिष्ठिर की राज सभा में पधारे। स्वागतानन्तर युधिष्ठिर की इच्छानुसार उन्होने उसे विभिन्न सभाओं का परिचय दिया और महाराज पाण्डु के द्वारा प्रेरित सन्देश को भी उन्होंने युधिष्ठिर से कहा "हे भारत ! तुम्हारे भाई तुम्हारे वश मे है। अतः तुम सम्पूर्ण भूमण्डल को जीतने में समर्थ हो। इसलिये तुम क्रतुश्रेष्ठ राजसूय का अनुष्ठान करो। जिससे मैं भी पुत्र द्वारा कृत यज्ञ के फलस्वरूप राजा हरिश्चन्द्र के समान बहुत वर्षों तक इन्द्र-भवन में आनन्द भोग सकूँ।"

यह सन्देश कहकर महर्षि नारद ने इस यज्ञ का युद्ध के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध प्रदर्शित किया "हे राजन् ! इस यज्ञ में विघ्नों की बहुत ही अधिक सम्भावना होती है, क्योंकि यज्ञनाशक महाराक्षस इसके छिद्रो को बार-बार देखते रहते है तथा इसका अनुष्ठान होने पर कोई एक ऐसा निमित्त भी बन जाता है, जिससे पृथ्वी पर विनाशकारी युद्ध उपस्थित हो जाता है, जो क्षत्रियो के संहार और भूमण्डल के विनाश का कारण बन जाता है। अतः चातुर्वर्ण्य की रक्षा हेतु नित्य सावधान रहकर सम्यक् विचारकर जो हितकर ज्ञात हो वही करो।[1]

देवर्षि नारद के सन्देशानन्तर महाराज युधिष्ठिर, मंत्रियों, मुनियों भाईयों तथा श्रीकृष्ण से इस विषय मे सम्मति लेते है। श्रीकृष्ण तथा मंत्रिगण यज्ञ की योग्यता, फल और भेंटादि के विषय में अपने-अपने विचार इस प्रकार प्रदर्शित करते है—

मन्त्रियों ने कहा "हे राजन् ! राजसूय यज्ञ के लिये अभिषिक्त नृपति वरुण के गुणों को प्राप्त कर लेता है, इसलिये प्रत्येक नरेश उस यज्ञ के द्वारा सम्राट् के समस्त गुणों को पाने की अभिलाषा रखता है। कुरुनन्दन ! आपके सुहृद आपको सम्राट् के गुण रखने वाले मानते है और इस यज्ञ का समय सेनादि के अधीन है। इसमें उत्तमव्रत का आचरण करने वाले ब्राह्मण सामवेद के मंत्रों द्वारा अग्नि की स्थापना के लिये षट्अग्निवेदियों का निर्माण करते हैं। जो भी व्यक्ति उस यज्ञ का

1. सभा प. 11/66–70 प., 12/25–31 गी.

अनुष्ठान करता है, वह "दर्वीहोम" (अग्निहोत्रादि) से लेकर समस्त यज्ञों के फल को प्राप्त कर लेता है तथा फिर यज्ञ के अन्त में अभिषेक होता है, उससे यह यज्ञकर्त्ता नरेश 'सर्वजित् सम्राट्' कहलाने लग जाता है। इस विषय में श्रीमान् सर्वसमर्थ हैं। हम सब आपके आधीन हैं। अतः हमारी सम्मति में आप शीघ्र ही राजसूययज्ञ पूर्ण कर सकेंगे।[1]

श्रीकृष्ण भी युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ के अनुष्ठान हेतु योग्य ठहराते हुये जरासन्ध की मृत्यु बिना राजसूय यज्ञ की पूर्ति होना असम्भव है, यह मत अभिव्यक्त कर उसकी पुष्टि इस प्रकार करते है। "राजन्! उसने सब राजाओं को जीतकर गिरिव्रज में कैद कर रखा है और वह उन राजाओं की बलि देकर एक यज्ञ करना चाहता है। इसलिये कुन्तीनन्दन यदि आप यज्ञ को सफल बनाना चाहते हैं तो उनकी मुक्ति के लिये और जरासन्ध के वध के लिये प्रयत्न कीजिये।[2] राजा युधिष्ठिर भी वासुदेव की सम्मति तथा सत्प्रयत्नों से राजसूय यज्ञ से पूर्व ही जरासन्ध को भीम द्वारा मरवा डालते है और फिर निष्कण्टक रूप से यज्ञ की परिपूर्ति कर लेते हैं।

सम्यक् चिन्तन से प्रतीत होता है कि राजसूययज्ञ का युद्ध के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है क्योकि यज्ञ से पूर्व जरासन्ध के साथ युद्ध हुआ, दिग्विजय में चारों पाण्डवों को अनेक राजाओं के साथ युद्ध करना पडा, यज्ञ की अग्रपूजाकाल में शिशुपाल का वध हुआ और यज्ञ के पश्चात् युधिष्ठिर के अतुलित वैभव को देखकर दुर्योधन ईर्ष्यातत्पर हुआ तथा द्यूत के द्वारा पाण्डवों का सर्वस्व अपहरण कर उन्हें बनवास भेज दिया। तदनन्तर महर्षि-नारद के पूर्व संकेतानुसार भूमि पर क्षात्रक्षय हुआ जो सर्वविदित है। अतः यह सब कुछ इस यज्ञ के कारण ही हुआ। अतः राजसूय यज्ञ के साथ युद्ध होना अनिवार्य हो जाता है।

विष्णु यज्ञ :—यद्यपि दुर्योधन द्वारा कृत विष्णुयज्ञ का अप्रत्यक्षरूप से युद्ध के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है क्योंकि यज्ञ से पूर्व कर्ण दुर्योधन के साम्राज्य को बढ़ाने के लिये दिग्विजय करता है।[3] किन्तु दिग्विजय के पूर्व उसका यज्ञ करने का विचार नहीं दिखाई देता। कर्ण के दिग्विजय कर लौटने के बाद वह युधिष्ठिर के समान ही एक राजसूय यज्ञ करने की इच्छा प्रकट करता है, किन्तु उसके अधिकारों के अभाव में पुरोहित की सम्मति से वह विष्णुयज्ञ करता है, जिसका महत्व राजसूय

---

1. सभा प. 12/11–15 पू., 13/21–25 गी.
2. सभा प. 13/61 पू., 14/62–68 गी.
.. वन प. 241/5 गी., 255/6 पू.

यज्ञ के समान ही होता है। यज्ञ के वर्णन से ज्ञात है कि प्रत्यक्ष-रूप से पूर्व या पश्चात् इसका युद्ध से कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। अतः यह कहा जा सकता है कि युद्ध का विष्णुयज्ञ से कोई सम्बन्ध नही है।[1]

अश्वमेध यज्ञ :—युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ के पूर्व महाभारत में महाराज सगर के अश्वमेध यज्ञ का वर्णन मिलता है, किन्तु वहां युद्ध का वर्णन नही किया गया। यह तो स्पष्टरूप से स्वीकार्य है कि अश्वमेध यज्ञ का युद्ध से घनिष्ठ सम्बन्ध है और इसी कारण से महाराज सगर के साठ हजार पुत्र यज्ञाश्व का अनुसरण करते हैं, किन्तु उनके साथ किसी का युद्ध का वर्णन प्रकट नही किया गया। असमंजस का पुत्र अंशुमान् महर्षि कपिल के पास जाकर विनम्रता से अश्व को पुनः प्राप्त कर लेता है और यज्ञ की पूर्ति कर दी जाती है।[2]

महाभारत के महान् युद्ध के बाद महाराज युधिष्ठिर को महामोह उत्पन्न हुआ। महात्मा भीष्म, श्रीकृष्ण तथा कृष्णद्वैपायन व्यास ने महाराज युधिष्ठर के मोहनाश के लिये बहुत से उपाय किये, बहुत ज्ञान दिया, किन्तु फिर भी युधिष्ठिर का हृदय शोकरहित नही हुआ। तब महर्षि व्यास ने पाप के पश्चाताप निमित्त तप यज्ञ-दानादि उपाय प्रदर्शित किये। उन्होने कहा यज्ञ से ही देवो का महत्व विशेष बना। यज्ञ के द्वारा ही क्रियानिष्ठ देवों ने दानवों को पराजित किया। इसलिये हे भारत! तुम राजसूय, अश्वमेध, सर्वमेध, नरमेधादि यज्ञों को करो। विशेषकर जिस प्रकार दाशरथि राम ने बहुत कामनाओं की पूर्ति करने वाले अश्वमेध यज्ञ को किया, उसी प्रकार तुम भी विधिवत् भूरिदक्षिणा वाला वाजिमेध यज्ञ करो जिसके फलस्वरूप तुम पापरहित हो जाओगे।[3]

महर्षि व्यास के द्वारा पश्चाताप का सर्वोत्तम उपाय बताने के बाद भी युधिष्ठिर ने यज्ञ हेतु धनाभाव बताकर असमर्थता प्रकट करदी। तब महर्षि व्यास ने राजा मरुत्त के यज्ञस्थल से धन लाने का आदेश दिया और युधिष्ठिर ने आदेशानुसार धन प्राप्त कर अश्वमेध यज्ञ के घोड़े का मुहूर्त कर, उससे सम्बन्धित कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति की। तत्पश्चात् सामग्री संकलनादि करवाकर अश्व की परीक्षा करवाई। अश्व की रक्षा का भार वहन करने के लिये अर्जुन को नियुक्त किया।[4]

---

1. वन प. 242/1–24 पू., 256–1–26 गी.
2. वन. प. × × पू., 107/11–62 गी.
3. आदि प. 3/4–9 पू., 3/4–9 गी.
4. आश्व प. 71/5–18 पू., 72/5–18 गी.

दैवी* सम्पत्ति से संयुक्त थे। ये दोनों ही दानव और देव एक दूसरे के विरुद्ध हैं। अतः इनके अंश में भी पारस्परिक विरोध होना स्वाभाविक था। अतः दुर्योधन जन्म से ही युधिष्ठिर तथा उसकी सम्पत्ति से जलता था। वह ज्यों-ज्यों बड़ा होता गया त्यों-त्यों ही उसका ईर्ष्या रूपी पौधा भी बढ़ता गया और एक दिन उसने विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लिया जिसके फलों के स्वरूप महाभारत युद्ध होकर क्षात्रवंश का नाश हुआ।

महाराज युधिष्ठिर द्वारा आयोजित 'राजसूय-यज्ञ' में दुर्योधन भी आमंत्रित किया गया था, किन्तु वहाँ आकर प्रसन्न होने के स्थान पर वह युधिष्ठिर की अतुल-समृद्धि को देखकर ऐसे संतप्त हो उठा जैसे अग्नि में तपाया जा रहा हो। दुर्योधन का यह ईर्ष्याजनित संताप ही कुरुकुल के लिये अग्नि-स्फुलिंग बना और उसने धीरे-धीरे बढ़ना प्रारम्भ किया।[1]

शकुनि ने दुर्योधन के संताप का कारण जानकर उसके संताप को दूर करने के लिये द्यूत योजना बताई, जिसका वर्णन महाभारत के द्यूत पर्व में इस प्रकार उपलब्ध होता है। शकुनि ने दुर्योधन से कहा "हे भारत! तुम भी शक्तिमान् हो, तुम्हारे अनुज भी तुम्हारे वशीभूत है। सुपुत्र! धनुर्धारी द्रोण, सूतपुत्र कर्ण, महारथी कृपाचार्य, राजा सोमदत्त तथा अपने सहोदरों के साथ तुम भी सम्पूर्ण वसुन्धरा को जीत लो।" दुर्योधन ने यह सुनकर कहा "हे मातुल! यदि तुम्हारी आज्ञा है तो मैं इन महारथियों के साथ पाण्डुपुत्रों को जीत लूँ। इन समस्त भूपालों को इनके द्वारा जीत लेने पर यह सारा ऐश्वर्य, यह अद्‌भुत पाण्डव-सभा तथा यह समस्त मेदिनी निश्चित ही मेरी हो जायेगी," किन्तु तभी शंकित होकर शकुनि ने कहा "श्रीकृष्ण के साथ महाधनुर्धर पाण्डव देवों के लिये भी अजेय हैं। इसलिये राजन्! मेरे उपाय का अवलम्बन कर सरलता से कार्य सिद्धि करो।" समुत्सुक दुर्योधन ने शकुनि से कहा "हे मातुल! प्रमाद-रहित सुहृदों तथा अन्य वीरवरों के द्वारा यदि वे जीते जा सकते है तो कहो।" तब धूर्त शकुनि बोला–हे राजन्! महाराज युधिष्ठिर द्यूतप्रिय हैं, किन्तु वे द्यूत कला निपुण नहीं है और द्यूत क्रीडा के लिये आमंत्रित किये गये, वे आने के लिये अवश्य उद्यत होंगे। हे कौरव्य! मैं द्यूतकला में पूर्ण निष्णात् हूँ। मेरे समान द्यूतकलाकुशल कोई भूमि पर नहीं है। यहाँ तक कि तीनों लोकों में भी मुझे द्यूत क्रीड़ा में कोई जीत

* तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ (गी. 16/3)

1 स. 43/30, 35 पू., 47/34, 39 गी.

नहीं सकता। अतः तुम द्यूत क्रीड़ा हेतु युधिष्ठिर का आह्वान करो। अक्षकुशल मैं युधिष्ठिर के राज्य तथा राज्य-श्री को निश्चय ही तुम्हारे लिये जीत लूँगा।" दुरात्मा दुर्योधन ने इस द्यूतयोजना को ईर्ष्यावश स्वीकार कर लिया जो आगे जाकर विष-लता के समान सिद्ध हुई।[1]

दुर्योधन से प्रेरित शकुनि ने धृतराष्ट्र के पास जाकर दुर्योधन की कान्तिहीन दशा तथा संताप का वर्णन किया। धृतराष्ट्र के पूछने पर दुर्योधन ने शकुनि के कथन को पुष्ट किया और यह भी बताया कि मेरे संताप को मामाजी द्यूतविद्या द्वारा युधिष्ठिर का सरलता से सर्वस्व अपहरण कर दूर कर सकते हैं। अतः श्रीमान् इन्हें अक्षविद्या हेतु आज्ञा प्रदान करें अन्यथा मैं निश्चय ही मृत्यु को प्राप्त हो जाऊँगा। पुत्र-मृत्यु से भयभीत धृतराष्ट्र ने द्यूत योजना स्वीकार तो करली किन्तु विदुर की सम्मति लेकर वंशोच्छेदकद्यूतारणिवह्नि से अपने पुत्र को निवारण हेतु कहा "हे पुत्र! विदुर हमारा हितचिन्तक है वह कभी हमारे लिये अनिष्ट वार्ता नहीं कहेगा। उसके मन में यह द्यूत क्रीड़ा कदापि नहीं होनी चाहिये, क्योंकि इससे भाईयों में भेद उत्पन्न हो जाता है और भेद से निश्चय ही राज्य का नाश होता है,"[2] किन्तु दुर्योधन के अमर्ष ने इस द्यूतयोजना द्वारा भ्रातृवंश विनाशक महाभारत के युद्ध को उत्पन्न कर ही दिया।

2. धन-लालसा:—धन एक ऐसी वस्तु है जिसके अभाव में मानव 'दरिद्रीपुरुषोम्रियते' इस कथन को पूर्ण करता है और 'यौवनं धनं-संपत्तिः प्रभुत्वमविवेकता। एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥' के अनुसार समस्त अनर्थों की जड़ भी है। अतः मनुष्य के पास धन होना भी चाहिये और अपार धन नहीं भी होना चाहिये। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवनयापन हेतु या सुखी जीवन व्यतीत करने हेतु मानव के हृदय में धन की लालसा होना स्वाभाविक है, किन्तु यह धन लालसा जब सीमा का उल्लंघन कर जाती है तो मानव को मदान्ध बनाकर किस प्रकार मनुष्यत्व से पतित कर देती है। यह उदाहरण दुर्योधन की धन लालसा से इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है।

धृतराष्ट्र का ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन युधिष्ठिर से कनिष्ठ होता हुआ भी आधे राज्य पर शासन कर रहा था। उसके पास प्रचुर ऐश्वर्य था, किन्तु उसकी धन की लालसा ने सीमा का उल्लंघन कर डाला और राजसूय-यज्ञ में दृष्ट युधिष्ठिर की

---

1. सभा प. 44/12–20 पू., 48/13–21 गी.
2. सभा प. 46/6–17 पू., 50/6–16 गो.

अतुल समृद्धि को द्यूत जैसे हीन साधन के द्वारा शकुनि के माध्यम से ग्रहण कर लिया, जिसका वर्णन महाभारत के सभापर्व में इस प्रकार मिलता है।

द्यूत क्रीड़ार्थ आहूत महाराज युधिष्ठिर जब भाईयों सहित द्यूत सभा में उपस्थित हो गये, तब शकुनि ने द्यूत खेलने का प्रस्ताव किया, किन्तु उन्होंने द्यूत का अनौचित्य प्रदर्शन करते हुये उसमें रुचि नहीं दिखाई। शकुनि ने कहा "यदि आपको भय लगता है तो द्यूतक्रीड़ा से विनिवृत्त हो जाइये।" युधिष्ठिर बोले "मैं बुलाया गया हूँ। अतः निवृत्त नहीं हूँगा, क्योंकि यह मेरा शाश्वत नियम है। विधि बलवान् है" ऐसा कहकर वे द्यूतक्रीड़ा में संलग्न हो गये।[1]

महाभारत युद्ध का बीज द्यूत दैववश प्रारम्भ हो गया। वहाँ युधिष्ठिर ने जो-जो भी वस्तु दाँव पर लगाई उस-उस वस्तु को शकुनि ने जीत लिया। धन, मणि, रथ, अश्व, दासी, दास, हाथी, वीर, और निधियाँ (खजाने से भरी पेटियाँ) आदि समस्त वस्तुयें शकुनि के द्वारा जीत ली गई। इस प्रकार सर्वस्व के अपहरण करने वाले घोर द्यूत के प्रवर्तित हो जाने पर युद्ध की भावी आशंका से आशंकित होकर विदुर ने इस प्रकार धृतराष्ट्र से द्यूत के दुर्गुण कहकर उसे बन्द करवाना चाहा "हे माननीय नरेश द्यूत कलह का मूल होता है। परस्पर दारुण-भेद को उत्पन्न कर देता है और यह दुर्योधन उसी का आश्रय लेकर उग्रवैर का अर्जन कर रहा है। दुर्योधन के अपराध से प्रतीप, शान्तनु भीमसेन* तथा वाह्लीक के वंशज सब प्रकार से घोर संकट में पड़ जायेंगे। यद्यपि इस समय दुर्योधन युधिष्ठिर को द्यूत में जीतकर प्रहृष्टमन है, किन्तु यह विनोद ही शीघ्र नरसंहार रूप में परिणित हो जायेगा। अजातशत्रु युधिष्ठिर, वृकोदर भीम, सव्यसाची अर्जुन और यमज पुत्र नकुल सहदेव द्यूत के भयकर परिणाम-स्वरूप अत्यन्त क्रोधित होंगे और घोर युद्ध हो जायेगा, जिसमे कोई भी कौरवो का रक्षक न हो सकेगा। अतः इस धूर्त शकुनि को अपने घर भेजकर इस भयकर द्यूताग्नि को यही शान्त कर कुरुकुल की रक्षा कीजिये।[2]

विदुर के द्वारा इस प्रकार भाषण देने पर दुर्योधन ने उन्हें अनेक कटुवचन कहे। विदुर के द्वारा बार-बार द्यूत के अनेक अनर्थों को बता देने पर भी धृतराष्ट्र ने द्यूत नहीं रुकवाया और शकुनि ने धर्मराज को फिर कहा "हे कुन्तीनन्दन! आप

---

1. सभा प. 53/10–12 पू., 59/17–19 गी.

* कुरुवंश के एक पूर्वज।

2. सभा प. 56/1–10 पू, 63/1– 0 गी.

पाण्डवों का बहुत सा वित्त हार चुके हैं यदि अब भी आपके पास अपराजित धन है तो द्यूत पर लगाईये" तब युधिष्ठिर ने कहा "हे सौबल ! मेरे पास अभी भी असंख्य धन है, तुम क्यों मेरे धन का परिमाण पूछते हो।" इसके पश्चात् युधिष्ठिर ने जो-जो धन द्यूत पर लगाया उस-उस धन को शकुनि ने जीत लिया। यहाँ तक कि चारों भाईयों, अपने आपको और अन्त में साध्वी द्रौपदी को भी दाँव पर लगाकर युधिष्ठिर सर्वस्व हार गये।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि धन की लालसा मनुष्य को द्यूत जैसे अनुचित साधनों को अपनाने को बाध्य कर देती हैं, जिसमें कि अनर्थ ही अनर्थ भरे पड़े हैं। द्यूत से मानव हार कर दीन बन जाता है, उसके समस्त तेज का नाश हो जाता है, वह पराक्रमी होकर भी का-पुरुष बन जाता है। द्यूत से मनुष्य का सर्वस्व अपहृत हो जाता है। जैसाकि युधिष्ठिर सम्पूर्ण सम्पत्ति को ही नहीं, अपने को, भाईयों को और साध्वी गृहिणी को भी जो कि कुल का सर्वस्व होती है, हार गये। 'द्यूत कलह और भेद का मूल होता है', विदुर का यह वाक्य सार्थक था। इस द्यूत के भयंकर परिणामस्वरूप महाभारत का विश्व-विख्यात युद्ध हुआ। यदि हम यह कह दें कि महाभारत के युद्ध के लिये द्यूत बीज, दु:शासन जल, प्रतिज्ञायें यत्न और फल युद्ध था तो कोई अत्युक्ति नहीं है। अतः मनुष्य को अपनी धन की लालसा सीमित रखनी चाहिये अन्यथा वह कलह-कारिणी बन जाती है।

3. प्रभुत्व प्राप्ति :—मानव यदि मानव रहें तब तक तो सब ठीक रहता है किन्तु जब वह अहकार-वश अपने को मानवों में श्रेष्ठ मानव सिद्ध करना चाहता है तभी अनेक विपत्तियों को अपने शिर ले लेता है। प्रभुत्व प्राप्ति मानव की सहजता आकाक्षा है। इस आकांक्षा के वशीभूत होकर मनुष्य को अनूठे कार्य करने पड़ते है।

महाभारत में भी इसी आकांक्षा से सम्बद्ध दिग्विजय, राजसूययज्ञ, अश्वमेध-यज्ञ और विष्णुयज्ञादि प्रवृत्तियाँ मिलती है, जिनका युद्ध से घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है। आईये, हम एक-एक का महाभारत ग्रन्थ के आधार पर अवलोकन कर निष्कर्ष निकालें।

युधिष्ठिर की दिग्विजय प्रवृत्ति राजसूय एवं अश्वमेध यज्ञों से अविच्छिन्न सम्बन्ध रखती है। दिग्विजय में अनेक राजाओं से युद्ध कर उन्हें पराजित कर अपने

1. सभा प. 58/1/42 पू., 65/1–44 गी.

अधीन बनाया जाता है, जिसका कि वर्णन हम भूमि लाभ के प्रसंग में विस्तार से कर चुके हैं।

राजसूय यज्ञ में राजा अपने प्रभुत्व की प्राप्ति हेतु समस्त राजाओं को जीत कर 'सर्वजित् सम्राट्' के पद को अलंकृत करता है। महाराज युधिष्ठिर ने भी ऐसा ही किया, किन्तु साथ ही महाभारत के महायुद्ध के बीज भी बो दिये। देवर्षि नारद ने युधिष्ठिर को यज्ञ के पूर्व ही संकेत कर दिया था कि राजसूय यज्ञ से कुछ ऐसे निमित्त बन जाते हैं जिनसे भूमिविनाशक क्षात्रसंहारक युद्ध होता ही है।[1]

नारदमुनि द्वारा संकेतित निमित्त युधिष्ठिर के राजसूययज्ञ में शिशुपालवध बना। उसी निमित्त को लेकर युधिष्ठिर ने जब भगवान् व्यास को अनिष्ट के लिये पूछा तो महर्षि व्यास बोले "हे राजन् ! उत्पातों का महान् फल त्रयोदश वर्षों तक होता है। अभी-अभी हुआ उत्पात सर्वक्षत्रियों का विनाशक होगा। हे भरतर्षभ ! एक मात्र तुम्ही, को निमित्त बनाकर यथासमय समस्त भूमि-पालों का समुदाय आपस में संघर्ष कर नष्ट हो जायेगा। हे भारतकुलतिलक ! क्षत्रियों का यह विनाश दुर्योधन के अपराध से तथा भीम और अर्जुन के पराक्रम द्वारा सम्पन्न होगा। इस प्रकार नारद द्वारा प्रकटित निमित्त व्यास द्वारा पुष्ट किया गया और महर्षि व्यास की भविष्य वाणी ही 'महाभारत युद्ध' के रूप में प्रत्यक्ष सिद्ध हुई।[2]

इसी प्रकार गहन-चिन्तन से ज्ञात होता है कि अश्वमेध तथा विष्णु यज्ञ का भी महाभारत युद्ध से दूरगामी सम्बन्ध रहा, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से नहीं, क्योंकि ये यज्ञ भी प्रभुत्व की प्रवृत्ति के जनक हैं और प्रभुत्व कलह का मूल होता ही है। अतः महाभारत युद्ध के ये भी अप्रत्यक्ष रूप से कारण बन जाते हैं।

4. अपमान :—मान ही मानव जीवन का प्रकाश है, जहाँ मनुष्य का मान चला जाता है वहाँ वह जीवन हार बैठता है अथवा यों कहिये कि उसका जीवन अन्धकारमय हो जाता है। महाभारत में मनुष्य के मान मारे जाने के अर्थात् अपमान के कई उदाहरण मिलते हैं जिन्होने महाभारत जैसे युद्ध को भड़काने में स्फुलिंगों का कार्य किया।

राजसूय-यज्ञ में समागत दुर्योधन जब सभा-भवन का निरीक्षण कर रहा था तो वहाँ उसने वे दिव्य दृश्य देखे जो पहले उसके द्वारा कभी भी हस्तिनापुर में

1. सभा प. 11/69 पू., 12/30 गी.-
2. सभा प. × × /पू., 46/11–12 गी.,

नहीं देखे गये थे। एक बार वह घूमता हुआ सभा-मध्य स्फटिक स्थल पर जा पहुँचा और वहाँ पर जल की आशंका हो जाने पर उसने अपने वस्त्रों को ऊँचा किया और इस प्रकार बुद्धि-भ्रमित होने से उसका मन उदास हो गया। उस स्थान से लौटकर सभा में जब वह दूसरी ओर चक्कर काटने लगा तो स्फटिक-मणि के समान स्वच्छ जल से भरी स्फटिक मणिमय कमलों से सुशोभित वापिका को स्थल मानकर वह वस्त्र सहित जल में गिर पड़ा। उसे जल में गिरा हुआ देखकर भीमसेन हँसने लगे और उनके सेवकों ने भी दुर्योधन की हँसी उड़ाई। राजाज्ञा से सेवकों ने दुर्योधन को सुन्दर वस्त्र दिये, किन्तु दुर्योधन की उस दुरवस्था को देखकर महाबली भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव सभी जोर-जोर से हँसने लगे। इस उपहास को दुर्योधन ने अपना घोर अपमान समझा जिसे सहन न करने के कारण वह संतप्त हो उठा और उसके अपमान-जनक संताप ने द्यूतादि रूपों में महाभारत युद्ध के बीज बोये। जिसके कटु फल सभी क्षत्रियों को खाने पड़े।[1]

इसी भांति भरी सभा में दुःशासन को माध्यम बनाकर दुर्योधन तथा कर्ण द्वारा किये गये अपमान ने भीमादि पाण्डवों को प्रतिज्ञा करने हेतु बाध्य किया और अपमान-जनित प्रतिज्ञा-रूपी बीज ने महाभारत युद्ध-रूपी कुपरिणाम को पैदा किया, जिसका वर्णन महाभारत के सभापर्व में इस प्रकार उपलब्ध होता है।

महाराज युधिष्ठिर स्वयं को दाँव पर लगा कर हार जाने के बाद जब कृष्णा को भी दाँव पर लगाकर हार जाते हैं तो दुर्योधन प्रतिकामी को कृष्णा को सभा में लाने हेतु भेजता है। द्रौपदी प्रतिकामी को कहती है "पहले जुआरी को सभा में यह पूछ कर आवो कि पहले दाँव पर स्वयं हारे या बाद में अर्थात् दाँव पर मुझे स्वयं को हार जाने के बाद लगाया या पहले? इसके बाद मैं सोचूँगी कि मुझे क्या करना चाहिये। जब प्रतिकामी को द्रौपदी के प्रश्न को सभा में बार-बार कहने पर भी कोई उत्तर नहीं मिला तो दुष्ट दुर्योधन ने दुःशासन को यह कहकर द्रौपदी के भेजा कि द्रौपदी के केश पकड़ कर उसे घसीटते हुये सभा में ले आओ। दुष्ट दुःशासन ने द्रौपदी के साथ जब ऐसा घोर अपमान भरा दुर्व्यवहार किया तो उसने कहा "हे अनार्य! नृशंसकर्मा, दुःशासन मुझे विवस्त्र मत करो क्योंकि इन्द्र सहित देवता भी यदि तुम्हारे सहायक हो जायेंगे तो भी पाण्डव तुम्हारे अत्याचार को सहन नहीं करेंगे।"[2] द्रौपदी तथा पाण्डव इस घोर अपमान को कभी नहीं

1. सभा प. 43/2-14 पू., 47/3-15 गी.
2. सभा प. 60/5-37 पू., 76/5-37 गी.

भूले। द्रौपदी इसलिये अपने केश खुले रखती थी कि उसके पति केशों के अपमान को याद रखकर कौरवों को दण्ड दें और दण्ड महासमर में दिया गया। इस प्रकार द्रौपदी के अपमान ने महासमर की ज्वाला को प्रज्वलित किया।

5. दैव :—"पूर्वजन्म कृतं कर्म तत् दैवमिति कथ्यते" प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है। हम जो भी कर्म करते है उसका फल अवश्य मिलता है। लोक मे भी देखा जाता है जिसे बोते हैं उसे काटते भी है। जिस प्रकार किसान का बोया हुआ बीज कालान्तर मे जाकर फल देता है, उसी प्रकार मानव के कर्मों की खेती भी जो उसने पूर्व-जन्म मे की थी दूसरे जन्म में आकर प्रतिफलित होती है। इसलिये कर्म दो प्रकार के माने जाते है-संचित (प्रारब्ध) और क्रियमाण। प्रारब्ध का फल चाहे वह अच्छा हो या बुरा वर्तमान मे भोगना ही पड़ता है "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" प्रारब्ध के अनुसार जन्म लेने से पूर्व ही अर्थात् माता के गर्भ मे आते ही मनुष्य के जीवन की सारी रूपरेखा बन जाती है,※ जिसे ज्योतिष द्वारा जान लिया जाता है और इसी कारण ज्योतिषी को 'दैवज्ञ' कहते है।

महाभारत के महायुद्ध का दैव भी एक प्रबल कारण था जिसे महाभारत के प्रमुख पात्र बार-बार स्वीकार करते है।

महाराज धृतराष्ट्र ने दुष्ट दुर्योधन को द्यूत न खेलने के लिये बहुत समझाया किन्तु द्यूत न खेलने की अपेक्षा उसने कहा "पिताजी ! व्याधि और यमराज मनुष्य के श्रेय की प्रतीक्षा नहीं करते। अतः जब तक सामर्थ्य है-श्रेय को प्राप्त कर लेना चाहिये।" तब धृतराष्ट्र ने कहा "पुत्र ! बलवानो के साथ विरोध कदापि ठीक नहीं है और "हे मदान्ध ! तुम द्यूत के अनर्थो को ही अर्थ मानते हो। यदि यह किसी भी प्रकार प्रारब्ध हो गया तो तलवारो और बाणों की सृष्टि कर देगा।' दुर्योधन के हृदय पर धृतराष्ट्र के कथन का कोई प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि दैव द्यूत कराना ही चाहता था। अतः दैव के वशीभूत होकर धृतराष्ट्र ने दुर्योधन के दुराग्रह को स्वीकार कर ही लिया और उसी द्यूत के भयंकर परिणाम ने महाभारत के अप्रतिम युद्ध की सृष्टि की।[1]

युधिष्ठिर भी न चाहते हुये 'विधिश्चबलवान्' ऐसा कह कर कलह के मूल द्यूत में संलग्न हो जाते हैं। जिसका वर्णन हम धन-लालसा प्रसंग में कर चुके है।

※ आयुः कर्म च वित्तं च, विद्या निधनमेव च।
पंचैतानि सृजन्ते, गर्भस्थस्यैव देहिनः॥

1. सभा प. 51/9–22 पू., 56/10–22 गी.

प्रथम बार द्यूत में हारकर द्रौपदी द्वारा प्राप्त वरदानों से शत्रुपराधीनता से उन्मुक्त युधिष्ठिर जब लौटकर इन्द्रप्रस्थ जा रहे थे तो दुष्ट शकुनि कर्ण और दुर्योधन की कुमन्त्रणा से फिर बीच मे ही द्यूत हेतु बुलाये गये। महाराज युधिष्ठिर द्यूत का मृत्यु के समान दुःखदायी कुपरिणाम देख चुके थे, किन्तु फिर भी "समस्त प्राणी विधाता की प्रेरणा से शुभ और अशुभ फल प्राप्त करते हैं। उन्हे कोई टाल नही सकता, जान पड़ता है मुझे फिर जुआ खेलना पड़ेगा" ऐसा कहकर युधिष्ठिर फिर द्यूत सभा के लिये चल दिये। युधिष्ठिर चाहते तो अब की बार द्यूत से निवृत्त हो सकते थे, किन्तु प्रबल दैव उन्हे घसीटकर वहाँ ले गया और पुनः द्यूत के परिणाम-स्वरूप बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञात-वास पाण्डवों को प्राप्त हुआ।[1]

महात्मा विदुर ने महाराज धृतराष्ट्र को युधिष्ठिर के कथनानुसार केवल पाँच ग्राम ही देने को बहुत समझाया जिससे कुरुकुल को नाश से बचाया जा सके और भीषण संग्राम न हो, किन्तु दैव की प्रबलता बताते हुये धृतराष्ट्र ने कहा "हे सौम्यविदुर! यद्यपि तुम मुझे नित्य उपदेश देते हो और मैं भी वैसा सोचता हूँ जैसी कि तुम्हारी सम्मति होती है। पाण्डवों के साथ सदा मेरी ऐसी बुद्धि होती है जैसी कि तुम्हारे द्वारा बताई जाती है, किन्तु दुर्योधन को प्राप्त कर पुनः परिवर्तित हो जाती है। इससे स्पष्ट है कि प्रारब्ध का उल्लंघन करने की शक्ति किसी भी प्राणी में नहीं है। मै तो प्रारब्ध को ही अचल मानता हूँ। उसके सामने पुरुषार्थ तो व्यर्थ है।"[2] *दैव की प्रबलता से ही लाख प्रयत्न करने पर भी महाभारत युद्ध* नहीं रुका और होकर ही रहा क्योंकि दैव को ऐसा ही होना स्वीकार था।

दुष्ट दुर्योधन को समझाने हेतु भगवान् वासुदेव जब हस्तिनापुर जा रहे थे तो अर्जुन ने श्रीकृष्ण से निवेदन किया "हे प्रभो! श्रीमान् ऐसा ही सत् प्रयास करें जिससे शत्रुओ के साथ शान्ति हो सके।" तब देवकीनन्दन ने दैव की प्रबलता बताते हुये इस प्रकार कहा "हे महाबाहो! जैसा तुम कह रहे तो वैसा ही करना *श्रेष्ठ है और मैं अपनी ओर से ऐसा ही प्रयत्न करूँगा जिससे पाण्डवों की कुशल हो। मैं शान्ति स्थापना के लिये वैसे ही प्रयास करूँगा जैसा कि एक कृषक परिश्रम* करके बीजों को बोता है, किन्तु जिस प्रकार दैववश वर्षाभाव में उसे अच्छी उपज नही मिलती, उसी प्रकार प्रयत्न करने पर भी यदि सफलता नहीं मिलती तो वहाँ पर भावी ही प्रधान कारण है जिसे मैं परिपूर्ण करने में समर्थ नहीं हूँ। इसलिये

---

1. सभा प. 67/2–21 पू., 76/2–24 गी.
2. उ. प. 40/28–30 पू., 40/30–32 गी.

पूर्वकाल के महात्माओं ने अपनी बुद्धि द्वारा यही निश्चय किया है कि लोक-हित का साधन दैव तथा पुरुषार्थ दोनों पर निर्भर है। "हे कुन्तीनन्दन ! सहोदरों के साथ जब तक दुर्योधन मृत्यु का आलिंगन नही करेगा तब तक राज्य-भाग देकर कदापि सन्धि नहीं करेगा। हे पार्थ ! दैवों का जो परमदिव्य (भू भार उतारने के लिये) निश्चित विधान है उसे कोई भी परिवर्तित करने में समर्थ नहीं है। इसलिये शत्रुओं के साथ सन्धि कैसे हो सकती है। हे पाण्डुनन्दन! जो कुछ भी मेरे द्वारा वाणी और कर्म से सम्भव है, उसे मै अवश्य करूँगा, किन्तु शत्रुओ के साथ सन्धि हो जायेगी ऐसी कोई आशा नही है। यह निश्चित समझो कि जहाँ तुमने कौरवो को पराजित करने का संकल्प किया वे वही पराजित हो गये। धर्मराज की आज्ञा से मैं वहाँ जाकर सर्वथा सन्धि हेतु प्रयास करूँगा, किन्तु यदि सफल न हुआ तो मुझे यह सोचना पडेगा कि उस दुरात्मा को किस प्रकार दण्डित किया जावे।[1] वासुदेव की निश्चित मति के अनुसार दैव की प्रबलता से उनके द्वारा सर्वथा प्रयास करने पर भी कौरवो के साथ पाण्डवो की सन्धि न हो सकी और महाभारत के युद्ध की धधकती हुई अग्नि मे सारा कुरुकुल स्वाहा हो गया।

महर्षि कण्व ने दुर्योधन को जब सन्धि हेतु समझाया तो दुराचारी दुर्योधन भावी युद्ध को प्रकट करता हुआ हाथी की सूँड के समान चढ़ाव-उतारवाली अपनी मोटी जाँघ पर हाथ पीटकर बोला "महर्षि ! मुझे ईश्वर ने जैसा बनाया है, जो होनहार है और जैसी मेरी अवस्था है मैं उसी के अनुसार व्यवहार कर रहा हूँ। आप लोगो का यह प्रलाप व्यर्थ है।"[2]

वस्तुतः भावीवश वही दुर्योधन सब का नाश कराकर महाभारत के समराङ्गण मे स्वयं भी सदैव के लिये सो गया क्योंकि ऐसा ही होना निश्चित था।

मृत्यु पर तुले हुये दुर्मति दुर्योधन को कंसनिषूदन श्री-कृष्ण ने बहुत समझाया, किन्तु समझने के स्थान पर अशिष्ट के समान अमर्यादित होकर श्रीकृष्ण की अवहेलना करता हुआ वह सभा भवन से बाहर चला गया। क्रोध मे भरे हुये दुर्योधन को भाईयों सहित सभा से उठकर जाते देख महात्मा भीष्म ने कहा "जो धर्म और अर्थ का परित्याग करके क्रोध का ही अनुसरण करता है, उसे विपत्ति में पड़ा देख उसके शत्रुगण हँसी उड़ाते है। दुरात्मा दुर्योधन लक्ष्य सिद्धि के उपाय के विपरीत कार्य करने वाला तथा क्रोध और लोभ के वशीभूत रहने वाला है। इसे

---

1. उ. प. 77/1–21 पू., 79/1–21 गी.
2. उ. प. 105/36–38 पू., 105/38–40 भी.

राजा होने का मिथ्याभिमान है। जनार्दन ! मैं समझता हूँ कि ये समस्त क्षत्रियगण काल से पके हुये फल की भांति मौत के मुँह में जाने वाले हैं। तभी तो ये सब के सब मोहवश अपने मन्त्रियों के साथ दुर्योधन का अनुसरण कर रहे हैं।"[1]

वस्तुतः दैवाधीन बात भीष्म ने ठीक ही कही। दुर्योधन के अनुगामियों ने राजसभा से जाने के लिये उसका अनुसरण नहीं किया था अपितु अपार संसार से उसके पूर्व ही प्रस्थान कर देने के लिये अनुगमन किया था जो 'महाभारत युद्ध' के द्वारा प्रत्यक्ष हो गया।

कुन्ती जब कर्ण को अपना ही पुत्र बताकर युधिष्ठिर की ओर उसे मिलाने गई तो कर्ण ने अपना वैर केवल धनंजय से बताया और यदि धनंजय को मैंने मार दिया तो मैं तुम्हारे पांचवें पुत्र के रूप में विद्यमान रहूँगा। यदि मैं मारा गया तो तेरे पांच पुत्र वैसे के वैसे रह ही जायेंगे। तब कुन्ती ने महाभारत के युद्ध को दैवाधीन अवश्यम्भावी मान कर कहा "कर्ण ! दैव बड़ा बलवान् है। इस युद्ध के द्वारा कौरवों का संहार होकर ही रहेगा। शत्रुसूदन ! तुमने चारों भाईयों को अभय दान दिया है। युद्ध में उन्हें छोड़ देने की प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहना।"[2]

माता कुन्ती के अनुसार दैवाधीन घोर संग्राम होकर ही रहा तथा कुरुकुल का नाश भी हुआ। कर्ण युद्ध में मारा गया और पांचों पाण्डव वैसे के वैसे जीवित बच रहे क्योंकि दैव को ऐसा ही कराना था।

6. अन्याय :—तत्वतः देखने पर ज्ञात है कि सम्पूर्ण कलहों का मूल अन्याय ही है। जब तक मानव न्याय से खाता है तो स्वयं भी सुखी रहता है **और** दूसरों को भी सुख से जीने देता है, किन्तु ज्योंही उसके हृदय में अन्याय राक्षस प्रविष्ट हुआ कि स्वयं तथा दूसरे सभी दुःखी हो जाते हैं। महाभारत ग्रन्थ में दूर-दृष्टि से देखें तो हमें पद-पद पर दुर्योधन या उसके पक्ष वालों का अन्याय ही अन्याय दृष्टिगत होता है। अतः हम केवल प्रधान दृष्टान्तों को लेकर ही इसे पुष्ट करेंगे।

धर्मराज युधिष्ठिर द्यूत खेलना भली प्रकार नहीं जानते थे और द्यूत के दुष्परिणाम को जानते हुये खेलना भी नहीं चाहते थे। फिर भी दुर्योधन ने धृतराष्ट्र

---

1. उ. प. 126/25–31 पू., 128/25–32 गी.
2. उ. प. 144/14–26 पू., 146/14–26 गी.

द्वारा उन्हें द्यूत खेलने हेतु बुलवाया और स्वयं द्यूत न खेलकर शकुनि द्वारा द्यूत खिलाया यह सब कुछ घोर अन्याय था, क्योंकि जो व्यक्ति समर्थ न हो उसे बाध्य नही करना चाहिये और यदि बाध्य करें तो बराबर वाले को करना चाहिये तथा स्वय को भाग लेना चाहिये, जबकि दुर्योधन ने ऐसा नही किया। जिसका कि वर्णन हम *धनलालसा नामक शीर्षक में कर चुके हैं।*

इस भांति युधिष्ठिर का सर्वस्व अपहरण कर लेने के बाद यहां तक कि उनके स्वयं के दांव पर हार जाने के बाद शकुनि उन्हें द्रौपदी को दांव पर लगाने के लिये उत्तेजित करता है और विह्वल मानव क्या करने पर उतारू नही होता। ठीक युधिष्ठिर भी द्रौपदी को दांव पर लगाकर उसे हार जाते है। यह सब कुछ अन्याय था। इतना ही नही साध्वी द्रौपदी के हार जाने पर उसे दुष्ट दुःशासन को घसीटकर सभा मे लाने हेतु भेजा। द्रौपदी सभा में ही नही लाई गई अपितु दुराचारी कर्ण के कहने से दुःशासन द्वारा उसका चीर-हरण किया गया। न केवल दुःशासन ने चीर-हरण ही किया अपितु भरी सभा मे दुर्योधन ने उसे अपनी वामजघा वस्त्रहीन करके दिखाई। यह सब अन्याय ही नही, घोर अन्याय था जिसका परिणाम हुआ महाभारत का महाघोर संग्राम, जिसे विश्व कभी नही भूलेगा।

इन सब अन्यायों को सहन करके भी युधिष्ठिर चाहते थे कि क्षत्रियकुल विनाशक महासमर न हो। अतः उन्होने केवल पांच ग्राम हेतु संजय को कहलाकर इस प्रकार भेजा। "हे दुर्योधन! यद्यपि तुमने अनेक अपराध किये है, किन्तु हम चाहते हैं कि कुरुकुल का नाश न हो, यह सोचकर ही सबको सहन कर गये। अब तो हे पुरुषर्भ हम अपना उचित भाग प्राप्त करना चाहते हैं। अतः पर-द्रव्य से अपनी लोभयुक्त दृष्टि हटालो। हे राजन्! ऐसा करने से शान्ति हो जायेगी और परस्पर प्रीति होना भी सम्भव हो सकेगा। शान्ति चाहने वाले हम लोगों को राज्य का एक भाग ही दे दो। अविस्थल, वृकस्थल, माकन्दी, वारणावत तथा कोई एक और पांचवां ग्राम हमे दे दो जिससे युद्ध का अवसान हो जाये। हे संजय! ऐसा करने पर शान्ति हो जायेगी। मै शान्ति चाहता हूँ तथा धर्म और अर्थ के लिये युद्ध करना भी भलीभांति जानता हूँ। समयानुसार कठोर तथा मधुर भी हूँ।"[1]

सजय ने जब यह सन्देश दुर्योधन तथा धृतराष्ट्र को जाकर कहा तो धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को समझाया और दुर्योधन ने यहां तक कह डाला "यहां तक कि मैं राज्य, धन और सम्पूर्ण जीवन छोड़ने के लिये उद्यत हूँ, किन्तु कभी भी पाण्डवों

1. उ. प. 31/17–23 पू., 31/17–23 गी.

के साथ नहीं रहूँगा और तो क्या यहाँ तक कि सूई के तीक्ष्ण अग्रभाग में विद्ध भूमि भी पाण्डवों को नहीं दूँगा।"[1]

यह था दुर्योधन का घोरातिघोर अन्याय जिसने महाभारत युद्ध रूपी रण यज्ञ को सजाया और उसमें अपनी तथा अन्य क्षत्रियों की आहुति देकर क्षत्रिय वंश को स्वाहा कर डाला।

7. प्रतिशोध एवं दण्ड :—अन्यायी के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त करने की जो भावना है, उसे प्रतिशोध कहते हैं। महाभारत का युद्ध इस प्रतिशोधात्मक भावना का ही प्रतीक था क्योंकि अन्यायी दुर्योधन ने पाण्डवों के प्रति जो दुर्व्यवहार किया उसे उन्होने प्रतिज्ञारूपी प्रतिशोधात्मक भावना के द्वारा प्रतिक्रिया के रूप में अभिव्यक्त किया। जिसका प्रधान रूप से इस प्रकार वर्णन उपलब्ध होता है।

कर्ण के कहने पर दुःशासन ने जब द्रौपदी का चीर-हरण करना प्रारम्भ किया तो श्रीकृष्ण-कृपा से वह थक भले ही गया, किन्तु द्रौपदी की साड़ी का छोर नहीं पा सका। सभासदों ने तब द्रौपदी की प्रशंसा और दुःशासन की घोर निन्दा की। इसी समय भयंकर भीम ने दुःशासन के उरस्थल को विदीर्ण कर कोष्णरक्त-पान की प्रतिज्ञा की। भीम की इस प्रतिज्ञारूपी प्रतिशोधात्मक भावना ने महाभारत के युद्ध को जन्म दिया क्योंकि इस भावना की पूर्ति महासमर में ही सम्भव थी जो कि आगे जाकर पूर्ण हुई।

इसी प्रकार निर्लज्ज दुर्योधन ने बहुत कुछ हो चुकने पर भी चुप्पी नहीं साधी और भरी सभा में द्रौपदी को वस्त्रहीन वामजंघा दिखायी, जिसका प्रतिकार करने के लिये भीम ने शोधात्मक भावना से यह प्रतिज्ञा की "हे दुर्योधन ! महासमर में यदि मैं अपनी गदा से तुम्हारी इस जंघा को न तोड़ूँ तो मुझे पूर्वजों की सद्गति प्राप्त न हो।"[2] भीम की यह प्रतिज्ञा महासमर का एक महान् कारण थी। इसी प्रतिशोध को महासमर में सुयोधन की उरू भंग कर वृकोदर ने पूर्ण किया। दुराचारी दुर्योधन के दुर्व्यवहार का यही महान् दण्ड था।

द्रौपदी के संतापवचनों को सुनकर भीम ने क्रोध करते हुये प्रतिशोध को युधिष्ठिर से क्षात्र धर्म बताया "हे राजन् ! आप दूरदर्शी है, समर्थ हैं और

---

1. उ. प. 57/17-18 पू., 58/17-18 गी.
2. सभा. प. 63/13-14 पू., 71/13-14 गी.

बुद्धिमान हैं। आपने हमारा पौरुष भी देख रखा है, फिर भी दया को अपनाकर अनर्थ को नही समझ रहे। क्षमाशील और सशक्त हम लोगों को महाराज धृतराष्ट्र के पुत्र युद्ध के प्रभाव मे अशक्त से मानते हैं। यदि हम युद्ध करते हुये मृत्यु को भी प्राप्त हो जावें तो भी हमारे लिये श्रेयस्कर ही होगा और यदि युद्ध में शत्रुओं को मारकर राज्य ग्रहण करेंगे तब भी हमारे लिये कल्याण-दायक ही कार्य होगा। इस क्षात्र-धर्म के अनुसार शत्रुओं से प्रतिशोध लेना चाहते हैं और संसार मे अपनी विपुलकीर्ति का विस्तार करना चाहते हैं। अतः हमें प्रतिशोध लेने के लिये युद्ध करना चाहिये। "[1] जो महाभारत युद्ध के रूप में होकर ही रहा।

युद्ध में अर्जुन से कई बार हारा हुआ कर्ण भी अर्जुन से प्रतिशोध लेना चाहता था। अतः विष्णु-यज्ञ की पूर्ति के बाद पाण्डवों को मारकर दुर्योधन के लिये राजसूय-यज्ञ की कामना करता हुआ, प्रतिशोधात्मक भावना से अर्जुन को मारने हेतु इस प्रकार प्रतिज्ञा करता है "हे राजन्! मैं जब तक अर्जुन को नही मार डालूँगा तब तक पैर नहीं धोऊँगा, केवल जल से उत्पन्न पदार्थ नही खाऊँगा, आसुरव्रतो (क्रूरतादि) को धारण नहीं करूँगा, और किसी के भी कुछ माँगने पर "नही है" ऐसा नही कहूँगा।"[2] कर्ण की इस प्रतिज्ञा ने प्रतिशोध को दृढ़ बनाकर महाभारत का युद्ध रचवाया।

जब भगवान् श्रीकृष्ण दुर्योधन को सन्धि करने हेतु समझाने जा रहे थे, तो द्रौपदी ने अपने खुले हुये केशों को दिखाते हुये प्रतिशोधात्मक भावना से कहा। "हे कमल-लोचन! शत्रुओं से सन्धि करते समय सभी कार्यो में इन केशो को मत भूलना।"[3]

द्रौपदी के कहने का तात्पर्य यह है कि दुष्ट दुःशासन ने जिन कठोर हाथों से इन केशो को खींचा था, उन्हे महासमर मे भीम अवश्य उखाड़ कर पापी दुःशासन से प्रतिशोध लेकर उसे अपने कुकृत्यों का अवश्य दण्ड दे सकें, ऐसे प्रयास करना अर्थात् आप युद्ध अवश्य करायें जिससे कि हम लोग कौरवो से प्रतिशोध लेकर उन्हें दण्डित कर सके।

8. कुमन्त्रणा :—'मन्त्रणा' का कार्य-सिद्धि से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि सुमन्त्रणा होगी तो कार्य का फल मधुर होगा और 'कुमन्त्रणा' होगी तो कार्य का फल

---

1. वन प. × ×/पू., 33/15–19 गी.
2. वन प. 243/9–16 पू., 257/10–17 गी.
3. उ. प. 82/33–36 पू., 82/33–36 गी

फलकटु होगा। महाभारत का युद्ध 'कुमन्त्रणा' का ही फल था। प्रथमतः दुर्योधन हो दुष्ट बुद्धिवाला था। अतः पाण्डवों के प्रति वह सद्विचार रखकर कभी अच्छी बात सोचता ही नहीं था। फिर जो उसके सम्मतिदाता थे वे भी एक से एक बढ़कर दुष्ट बुद्धि वाले थे। अतः दुर्योधन के खोटे विचारों के लिये उनकी खोटी सम्मतियाँ अग्नि में डाले गये घी की तरह कार्य करती थी।

दुर्योधन को कुमन्त्र पढ़ाने-वाला पहला गुरु था, उसका प्यारा मामा शकुनि। शकुनि ने ही दुर्योधन को द्यूत की कुमन्त्रणा पढ़ाई जिसका भयंकर परिणाम हम धनलालसा प्रकरण में प्रकट कर चुके। इसके बाद दूसरा सहायक था कर्ण और तीसरा प्रधान सहायक था दुःशासन। इन तीनों की कुमन्त्रणा से ही युधिष्ठिर के एक बार द्यूत क्रीड़ा में हार जाने के बाद भी पुनः उसे द्यूत क्रीड़ा हेतु घसीटा गया, जिसका वर्णन अनुद्यूत पर्व में इस प्रकार मिलता है।

महाराज धृतराष्ट्र से वरदान प्राप्त कर द्रौपदी ने अपने पाँचों पतियों को दुर्योधन के दासत्व से उन्मुक्त करा दिया और वे सब अपने अस्त्रशस्त्रों के साथ इन्द्रप्रस्थ को चल दिये। यह जानकर दुःशासन शीघ्र ही अपने अग्रज दुर्योधन के पास जो अपने मन्त्रियों (कर्ण व शकुनि) के साथ बैठा था, गया और दुःख से पीड़ित होकर इस प्रकार बोला "महारथियों! हमने जिस धन राशि को बड़े दुःख से प्राप्त किया था, उसे हमारे वृद्ध पिता ने नष्ट कर दिया। उसने सारा धन शत्रुओं के अधीन कर दिया।" यह सुनकर दुर्योधन कर्ण और शकुनि, जो बड़े ही अभिमानी थे, पाण्डवों से बदला लेने के लिये परस्पर मिलकर कुमन्त्रणा करने लगे। अपनी कुमन्त्रणा से योजना बनाकर फिर वे सब शीघ्रता के साथ मनीषी राजा धृतराष्ट्र के पास गये और उन्होंने मधुर-वाणी में महाराज धृतराष्ट्र को इस प्रकार कहा. "महाराज! हमने पाण्डवों का तिरस्कार किया है। अतः वे हमें कभी क्षमा नहीं करेंगे। द्रौपदी को जो कष्ट दिया है, उसे उनमें से कौन चुपचाप सह लेगा। पुरुष-श्रेष्ठ! आपका भला हो हम चाहते हैं कि वनवास की शर्त रखकर पाण्डवों के साथ एक बार पुनः द्यूत खेला जाय। जुए में हार जाने पर वे या हम मृगचर्म धारण करके महान् वन में प्रवेश करें और बारह वर्ष तक वन में ही रहें। यदि तेरहवें वर्ष में उन्हें कोई जान ले तो फिर पुनः बारह वर्ष तक वनवास करें। हम हारें तो हम ऐसा करें और वे हारें तो वे।[1]

इन तीनों की कुमन्त्रणा के वशीभूत होकर महाराज धृतराष्ट्र ने, पाण्डवों को पुनः द्यूत खेलने हेतु मार्ग में से बुला लिया और द्यूत में वही परिणाम रहा

1. सभा प. 66/2–20 पू., 74/2–20 गी.

जो वे चाहते थे। द्यूत से मिले वनवास के कष्टों ने पाण्डवों को इतना व्यथित कर दिया था कि वे अब कौरवों को जीवित नहीं छोड़ना चाहते थे। अतः इस कुमन्त्रणा के परिणाम-स्वरूप महाभारत का युद्ध होकर ही रहा।

महात्मा विदुर दुर्योधन के अपमान से रुष्ट होकर पाण्डवों के पास चले गये, किन्तु धतृराष्ट्र विदुर के बिना रह नहीं सके। अतः उन्होंने विदुर को वापिस बुला लिया। विदुर के वापस आ जाने पर दुर्योधन संतप्त हो उठा और उसने अपने कुमन्त्रियों से पाण्डवों के शीघ्र नाश हेतु उपाय पूछा। शकुनि ने कहा "हम लोग छिपे-छिपे पाण्डवो के छिद्र देखतें रहे और समय पाकर उन्हें नष्ट कर दें।" दुःशासन को भी शकुनि की सम्मति अच्छी लगी। तब कर्ण ने कहा "मेरी सम्मति यह है कि हम कवच पहिन कर अपने-अपने रथ पर आरूढ़ होकर अस्त्र-शस्त्र लेकर वनवासी पाण्डवों को मारने के लिये उन पर एक साथ धावा करें क्योंकि जबतक वे वनवास के दुःख से पीड़ित हैं तभी तक युद्ध में जीते जा सकते हैं।"[1]

महर्षि व्यास के सत्प्रयास से इन कुमन्त्रियों की यह कुमन्त्रणा सफल न हो पायी, किन्तु महाभारत का युद्ध अन्ततोगत्वा इन कुमन्त्रियों की ऐसी ही अनेक कुमन्त्रणाओं का फल था जो समय आने पर होकर रहा।

शकुनि और कर्ण की घोषयात्रा की कुमन्त्रणा भी महाभारत युद्ध को भड़काने में एक महत्वपूर्ण कारण थी, क्योकि शकुनि और कर्ण ने अवसर पाकर दुर्योधन को इस प्रकार कहा "महाराज सुनने में आया है कि पाण्डव लोग द्वैत वन में निवास कर रहे हैं। महाराज आप उत्कृष्ट राजलक्ष्मी से सुशोभित होकर जैसे सूर्य अपने तेज से जगत् को संतप्त करते है उसी प्रकार पाण्डुपुत्रों को संताप दो। इस समय आप राज-पद पर हो और वे राज्य से भ्रष्ट है, आप समृद्धिशाली है और वे निर्धन हैं। नृप-श्रेष्ठ ! मनुष्य को अपने शत्रुओं की दुर्दशा देखने में जो प्रसन्नता होती है, यह धन, पुत्र, और राज्य मिलने से भी नही होती। अतः इस समय वहाँ चल अपना वैभव दिखा-दिखा कर उन्हें संताप देना चाहिए।" नरेश्वर ! गौओं के रहने के सभी स्थान इस समय द्वैत वन में ही है। अतः घोषयात्रा के बहाने हम वहाँ निःसन्देह चल सकेंगे।[2]

दुर्योधन ने इस कुमंत्रणा के द्वारा घोषयात्रा की किन्तु अपने औद्धत्य से उसका गन्धर्वों के साथ युद्ध हुआ। जिसमें अर्जुन ने उसके प्राण बचाये। पाण्डवों से रक्षित होने की इसी ग्लानि ने भी महाभारत युद्ध करवाया।

---

1. वन प. 8/1–20 पू., 1/88, 1–20 गी.
2. वन प. × × पू., 237/13–23 गी.

9. सैन्यबल :—जिस राजा के पास सैन्य-बल अधिक होता है, उसे युद्ध करने की कामना होती रहती है। वह अपने सैन्यबल के आधार पर छोटे राजाओं को हराकर अपने अधीन कर लेना चाहता है, भले ही वह ऐसा करने में पूर्ण सफल न हो क्योंकि सैन्यबल अधिक होने से सदैव विजय होती हो ऐसी बात नहीं है। हमारी भारतीय संस्कृति के अनुसार तो 'यतो धर्मस्ततो जय'* होता है। यह सिद्धान्त महाभारत के युद्ध पर भी पूर्ण रूप से घटित होता है।

महाराज धृतराष्ट्र पाण्डवों के पराक्रम से भयभीत होकर दुर्योधन को पाण्डवों के साथ सन्धि कर लेने हेतु कहते हैं, किन्तु सुयोधन महाराज धृतराष्ट्र को इस प्रकार आश्वासन देता है "हे महाराज ! आप व्यर्थ में ही पाण्डवों से डरते हैं। प्रथम तो मैंने ही गदायुद्ध का उत्तमोत्तम अभ्यास किया है। मैं युद्ध में संकर्षण के समान हूँ। भीम भी युद्ध में मेरे गदा प्रहार को सहन नहीं कर सकता। पूज्य पिताजी ! धनंजय को जीतना कोई कठिन कार्य नहीं है। मैं मेरे अपार सैन्य बल के आधार पर अर्जुन को भी जीत लूँगा। मेरी समझ में नहीं आता कि राजाओं की समस्त सेना एक मात्र अर्जुन को परास्त करने में कैसे असमर्थ रहेगी ? भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा और कृपाचार्य जैसे महारथी निश्चित ही पार्थ को यमालय भेज देंगे। कर्ण तो एकाकी ही इनके समान है क्योंकि भगवान् परशुराम ने कर्ण को कहा था कि हे राधेय ! तुम मेरे समान हो। फिर उसके सहजकुण्डलों के न रहने पर भी कोई बात नहीं क्योंकि उसके पास अमोघ शक्ति है। इसके बाद भी राजन् ! हमारे योद्धाओं की संख्या पाण्डवों से विशिष्ट है, क्योंकि मेरे पास तो एकादश अक्षौहिणी सेना है जबकि पाण्डवों के पास केवल सात अक्षौहिणी ही सेना है। महाराज ! बृहस्पति ने कहा है कि यदि सेना का एक तिहाई भाग भी शत्रु सेना से अधिक हो तो युद्ध अवश्य करना चाहिये जबकि मेरी सेना तो शत्रुओं की सेना से चार अक्षौहिणी अधिक है जो कि एक तिहाई से भी अधिक है। भारतनन्दन ! सभी दृष्टियों से मेरा बल अधिक एवं गुणशाली है। अतः आपको कभी अधीर नहीं होना चाहिये।[1] इसी सेना के आधार पर दुर्योधन ने महाभारत की लड़ाई मोल ली।

10. हठधर्मिता :—हठधर्मी भी एक ऐसा दुर्गुण है जो कलह को उत्पन्न कर देता है। महाभारत का महायुद्ध दुर्योधन की हठधर्मी के कारण ही हुआ। धृतराष्ट्र ने दुर्योधन को समझाया "हे वत्स ! संजय हमारा विश्वासपात्र व्यक्ति है, इसके कथन में विश्वास करके संसार के सर्वपालक श्रीकृष्ण का आश्रय लेलो। सब

---

* यतो धर्मस्ततः कृष्णो, यतः कृष्णस्ततो जयः ॥ (श. प. 62/31 गी.)
1. उ. प. 54/33–68 पृ., 55/33–69 गा.

प्रकार उस की शरण चले जाओ" तब दुरात्मा दुर्योधन बोला "हे तात ! मैं मानता हूँ कि देवकीनन्दन जगन्नियन्ता हैं तथा संकल्पमात्र से ही संसार का संहार करने में समर्थ है, किन्तु वे अर्जुन के मित्र हैं । अतः मैं कदापि उनकी शरण नहीं जाऊँगा ।[1]

दुर्योधन चाहता तो श्रीकृष्ण की शरण लेकर अपना और संसार का कल्याण कर सकता था, क्योंकि वह श्रीकृष्ण की महिमा जानता था, किन्तु उसकी उपर्युक्त हठधर्मी ने उसे ऐसा नहीं करने दिया, जिसका भयंकर परिणाम हुआ महाभारत का महासमर ।

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को समझाते हुये कहा "दुर्योधन ! मैं जिसका सारथि बनकर साथ रहूँ और वह अर्जुन का प्रतिपक्षी होकर युद्ध के लिये आये, उस समय साक्षात् इन्द्र ही क्यों न हो, कौन अर्जुन के साथ युद्ध करना चाहेगा ? जो समर भूमि में अर्जुन को जीत सकता है, वह मानों अपनी दोनों भुजाओं पर पृथ्वी को उठा सकता है, कुपित होने पर इस समस्त प्रजा को दग्ध कर सकता है और देवताओं को भी स्वर्ग से नीचे गिरा सकता है । सुयोधन ! अपने इन भाईयों कुटुम्बी-जनों और सगे सम्बन्धियों की ओर तो देखो ये श्रेष्ठ भारत-वंशी तुम्हारे कारण नष्ट हो जायें । नरेश्वर ! कौरववंश बचा रहे, इस कुल का पराभव न हो और तुम भी अपनी कीर्ति का नाश करके कुलघ्न न कहलाओ । महारथी-पाण्डव तुम्हें ही युवराज पद पर स्थापित करेंगे और तुम्हारे पिता धृतराष्ट्र को महाराज के पद पर बनाये रखेंगे । गन्धारीनन्दन ! हठ मत करो, पाण्डवों के साथ सन्धि करके, अपने हितैषी सुहृदों की बात मानो तथा प्रसन्नता-पूर्वक रहते हुये दीर्घकालीन कल्याण के भागी बनो ।[2]

दुर्योधन को केवल भगवान् वासुदेव ने ही नहीं समझाया अपितु भीष्म, द्रोण कृप, परशुराम, नारद, विदुरादि ने अनेक बार समझाया, किन्तु उसने उनकी कोई शिक्षा व सम्मति ग्रहण नहीं की । वह तो ऐसा हठ करके बैठ गया कि मानो उसका जन्म युद्ध करवाने के लिये ही हुआ था । वस्तुतः दुर्योधन ही युद्ध का शरीरधारी कारण था, यदि वह नहीं चाहता तो युद्ध नहीं होता । किन्तु उसने तो युद्ध का पक्ष लेते हुये देवकीनन्दन को कहा "हे केशव ! आपको इस विषय में भलीभाँति सोचकर कहना चाहिये था, क्योंकि आप तो विशेषरूप से मुझे ही दोषी ठहराकर मेरी निन्दा कर रहे हैं । मैं देखता हूँ, आप, विदुरजी, पिताजी आचार्य तथा पितामह भीष्म

---

[1] उ प 67/6–7 पू., 69/6–7 गी.

[2] प. 122/56–61 पू., 124/56–62 गी

सभी लोग केवल मुझ पर ही दोषारोपण करते हैं। शत्रुदमन केशव ! मैं अत्यन्त सोचविचार कर दृष्टि डालता हूँ, तो भी मुझे अपना कोई सूक्ष्म से सूक्ष्म भी अपराध दृष्टिगोचर नहीं होता। हम लोग किसी के भयंकर कर्म अथवा भयानक वचन से भयभीत हो क्षात्रधर्म से च्युत होकर साक्षात् इन्द्र के सामने भी नतमस्तक नहीं हो सकते। शत्रुसंहारक श्रीकृष्ण ! मैं क्षत्रिय धर्म का अनुष्ठान करने वाले किसी भी ऐसे वीर को नहीं देखता जो युद्ध में हम लोगों को जीतने का साहस कर सके। मधुसूदन ! भीष्म कर्ण, कृपाचार्य और कर्ण को तो देवता भी युद्ध में नहीं जीत सकते, फिर पाण्डवों की तो बात ही क्या है ? जनार्दन हम क्षत्रियों का यही प्रधान धर्म है कि संग्राम में हमें शरशय्या पर सोने का अवसर प्राप्त हो। उत्तम कुल में उत्पन्न होकर क्षत्रियधर्म के अनुसार जीवन निर्वाह करने वाला कौन ऐसा महापुरुष होगा जो क्षत्रियोचित वृत्ति पर दृष्टि रखते हुये भी इस प्रकार भय के कारण शत्रु के सामने मस्तक झुकायेगा ? केशव ! मेरे पिताजी ने पूर्वकाल में जो राज्य भाग मेरे अधीन कर दिया है, उसे कोई मेरे जीते जी फिर कदापि नहीं पा सकता। वृष्णिनन्दन ! पहले भी जो पाण्डवों को राज्य का अंश दिया गया था, वह उन्हें देना उचित नहीं था, परन्तु मैं उन दिनों बालक एवं पराधीन था, अतः अज्ञान अथवा भय से जो कुछ उन्हें दे दिया गया था, उसे अब पाण्डव नहीं पा सकते। केशव ! इस समय मुझ महाबाहु दुर्योधन के जीते जी पाण्डवों को भूमि का उतना अंश भी नहीं दिया जा सकता जितना कि एक सूक्ष्मसूई की नोंक से छिद सकता है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि दुर्योधन को पाण्डव तथा कौरव पक्ष के सभी हितैषी एवं महारथी बहुत समझाते हैं, किन्तु वह तो बालक के समान बस एक ही हठ करके बैठ गया कि मैं तो सूई की नोक के समान भी भूमि पाण्डवों को नहीं दूँगा। जब कि द्यूत से पूर्व वह पाण्डवों को आधा आधा राज्य दे चुका था, जिसका पाण्डवों ने अपने भुजबल से विस्तार कर लिया था। दुर्योधन चाहता तो पाण्डवों को केवल पाँच ग्राम देकर भी महासमर को टाल सकता था, किन्तु उसकी हठधर्मी प्रवृत्ति ने उसे कोई सत्मार्ग नहीं अपनाने दिया और जिसके परिणामस्वरूप समस्त क्षत्रियकुल का नाश करने वाला महासंहारक महाभारत का युद्ध हुआ।

(द्वितीय कोटि)

1. धृतराष्ट्र का मोह :—'मोह' अज्ञान का रूप है। व्यक्ति जब विवेकहीन हो जाता है तो अनुचित को भी उचित ठहराने लग जाता है, जो कार्य नहीं

1 उ. प. 125/1–26 पृ., 127/1–25 गी.

करना चाहता उसे भी अज्ञानवश करने लग जाता है। मनुष्य में जो इस प्रकार की विवेकहीन वृत्ति उत्पन्न हो जाती है, उसे हम 'मोह' की संज्ञा देते हैं।

महाराज धृतराष्ट्र को भी दुर्योधन से इतना मोह हो गया था कि वे अपना विवेक खो बैठे थे। उन्होंने दुर्योधन के ज्येष्ठ पुत्रत्व के कारण उसके उन अनुचित कृत्यों का समर्थन किया, जो कदापि समर्थनीय नहीं थे।

महात्मा विदुर ने महाराज धृतराष्ट्र को द्यूत के दुर्गुण बताकर उसका बहिष्कार करवाना चाहा था, किन्तु मोहवश धृतराष्ट्र ने दुर्योधन के द्यूत प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और युधिष्ठिर का विदुर द्वारा द्यूतक्रीड़ा हेतु आह्वान किया। इस द्यूत के घोर परिणामस्वरूप पाण्डवों के सर्वस्व का अपहरण हुआ तथा कृष्णा का घोर अपमान हुआ, जिस अपमान ने महारण के बीज बोये।

एकबार द्यूतक्रीड़ा में हार जाने पर, उसके दुष्परिणाम को देख लेने पर भी महाराज धृतराष्ट्र ने अपने पुत्र-प्रेम के कारण जिसे कि हम मोह कहेंगे, पाण्डवों को पुनः द्यूत हेतु बुला भेजा।[1] इस पुत्रमोह ने ही पुनः कलह के मूल द्यूत को करवाया, जिसके परिणामस्वरूप पाण्डवों को बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञातवास मिला। वनवास के कष्टों ने पाण्डवों को व्यथित कर डाला था। अतः उन्होंने इन कष्टों का प्रतिशोध लेने हेतु महासमर को रचा।

माता गान्धारी ने भी धृतराष्ट्र से इस प्रकार दुर्योधन का त्याग करने के लिये प्रार्थना की "हे राजन्! यह दुर्योधन जन्म से ही कुलनाशक है, ऐसा विदुर का मत है - अतः इसे त्याग दीजिये और क्षत्रियवंश को नष्ट होने से बचा लीजिये। प्रमाद के वशीभूत होकर दुर्योधन का सम्मान मत कीजिये," किन्तु घोर मोहग्रस्त धृतराष्ट्र ने गन्धारी को कहा "भले ही कुल का नाश हो जावे, किन्तु मैं दुर्योधन को नहीं रोक सकता।"[2]

नीरक्षीर विवेकवान् विदुर ने महाराज युधिष्ठिर को आधा राज्य दे देने हेतु धृतराष्ट्र को बहुत समझाया, किन्तु धृतराष्ट्र के प्रबल-मोह ने विदुर का इस प्रकार घोर अपमान कर त्याग कर दिया। इस समय तुम जो कुछ कह रहे हो उससे यह भलीभांति निश्चित हो जाता है कि तुम पाण्डवों के हित के लिये ही यहाँ आये थे। तुम्हारे आज के व्यवहार से मैं समझ गया कि तुम मेरे हितैषी नहीं हो।

---

1. सभा प. 66/27 पू., 74/27 गी.
2. सभा प. 66/28–35 पू., 75/1–10 गी.

मैं पाण्डवों के लिये अपने पुत्रों को कैसे त्याग दूं ? इसमें सन्देह नहीं कि पाण्डव भी मेरे पुत्र हैं, पर दुर्योधन साक्षात् मेरे शरीर से उत्पन्न हुआ है। समता की ओर दृष्टि रखते हुये भी कौन किससे ऐसी बातें कहेगा कि तुम दूसरे के लिये अपने शरीर का त्याग कर दो। विदुर ! मैं तुम्हारा अधिक सम्मान करता हूं, किन्तु तुम मुझे सब कुटिलता-पूर्ण सलाह दे रहे हो। तुम्हारी जैसी इच्छा हो चले जाओ या रहो।[1]

इस प्रकार धृतराष्ट्र ने एक तटस्थ व्यक्ति पर जो कि न्याय का पूर्णज्ञाता था, अपने पुत्र-मोह के कारण पक्षपात का आरोप लगाया और यहां तक कि उसका त्याग कर डाला। धृतराष्ट्र के इसी पुत्र-मोह ने महाभारत का युद्ध करवाया। यदि वे पुत्र-मोह को त्याग कर दुर्योधन का त्याग कर देते या महाभारत युद्ध का समर्थन नहीं करते तो यह भीषण संग्राम टाला जा सकता था।

2. कुन्ती की प्रेरणा :—जो जननी अपने पुत्रों को उत्पन्न करके उन्हें दुःख से पीड़ित देखती है, उस दुःख की कल्पना का अनुमान हम पूर्णरूपेण लगाने में असमर्थ हैं। माता कुन्ती अपने ही शब्दों में इस प्रकार अपनी व्यथा को प्रकट करती हुई पाण्डवों को युद्ध हेतु प्रेरणा देती है। वस्तुतः कुन्ती की प्रेरणा ने महाभारत युद्ध के लिये अचूक औषधि का कार्य किया।

भगवान् देवकीनन्दन जब दुर्योधन को समझाकर हस्तिनापुर से लौट रहे थे तब कुन्ती श्रीकृष्ण को युद्ध करवाने के लिये ही इस प्रकार प्रेरित करती है—"हे यदुनन्दन ! कपटद्यूत के द्वारा प्रवंचित मेरे पुत्रों का यह चतुर्दशवां वर्ष पूर्ण होने जा रहा है। यदि सुख भोगने का अर्थ है पुण्य के फल का क्षय होना, तब तो पाप के फलस्वरूप दुःख भोग लेने के कारण अब हमें भी दुःख के बाद सुख मिलना ही चाहिये। मेरे हृदय में पाण्डव और धृतराष्ट्र के पुत्रों में कभी भेद नहीं रहा। मैं इस सत्य के प्रभाव से निश्चय ही देखूंगी कि तुम भावी संग्राम में शत्रुओं को मार कर पाण्डवों सहित संकट से मुक्त हो गये तथा राजलक्ष्मी ने तुम लोगों का ही वरण किया है। पाण्डवों में ऐसे सभी गुण विद्यमान है, जिनके ही कारण शत्रु उन्हें परास्त नहीं कर सकते। हे वत्स मधुसूदन ! वीर पुत्रों की माता होकर भी मैंने जो दुःख प्राप्त किये, वे अब असह्य है। अतः इन आततायियों को मार कर विजय प्राप्त करो।[2]

---

1. वन प 5/19–21 पू., 4/19–21 गी.
2. उ. प. 90/58–60, 85–88 पू., 90/60–61, 86–89 गी.

माता कुन्ती को उपदेश-काल में यह निश्चय हो गया था कि हठी दुर्योधन किसी भी प्रकार पाण्डवों को आधा राज्य नहीं देगा। अतः पाण्डवों के नियन्ता श्रीकृष्ण को महाभारत का भीषण संग्राम कराने हेतु ही प्रेरणा दी और इस प्रेरणा का फल भी युद्ध के रूप में निकल कर ही रहा। माता कुन्ती ने पाण्डव-सर्वस्व श्रीकृष्ण को युद्ध हेतु प्रेरणा देकर पाण्डवों के लिये भी सन्देश भेजा "युधिष्ठिर! तुम्हारे लिये भिक्षावृत्ति का तो सर्वथा निषेध है और खेती भी तुम्हारे योग्य नहीं है। तुम तो दूसरों को क्षति से त्राण देने वाले क्षत्रिय हो। तुम्हें तो बाहुबल से जीविका चलानी चाहिये। महाबाहो! तुम्हारा पैतृक राज्य-भाग शत्रुओं के हाथों पड़कर लुप्त हो गया है। तुम साम, दान भेद, अथवा दण्ड नीति से पुनः उसका उद्धार करो। हे शत्रुओं का आनन्द बढ़ाने वाले पाण्डव! इससे बढ़कर दुःख की बात और क्या हो सकती है कि मैं तुम्हें जन्म देकर भी बन्धुबान्धवों से हीन नारी की भाँति जीविका के लिये दूसरों के दिये हुये अन्न-पिण्डकी आशा लगाये ऊपर देखती रहती हूँ। अतः हे वत्स! तुम राजधर्म के अनुसार युद्ध करो। कापुरुष बनकर अपने पूर्वजों का नाम मत डुबाओ तथा भाइयों सहित पुण्य से वंचित होकर पापमयी गति को प्राप्त न होओ।[1]

ज्येष्ठ-पुत्र के अनन्तर माता कुन्ती ने कनिष्ठ-पुत्रों को भी इस प्रकार सन्देश भेजा "हे केशव! तुम अर्जुन तथा युद्ध के लिये सदा उद्यत रहने वाले भीमसेन से जाकर कहना—'क्षत्राणी जिसके लिये पुत्र को जन्म देती है, उसका यह उपयुक्त अवसर आ गया है। श्रेष्ठ मनुष्य किसी से वैर ठन जाने पर उत्साहहीन नहीं होते।" माद्रीकुमारों को भी कहना "हे वीरो! तुम प्राणों की बाजी लगाकर भी अपने पराक्रम से प्राप्त हुये भोगों का ही उपभोग करो। क्षत्रियधर्म से निर्वाह करने वाले मनुष्य के मन को पराक्रम द्वारा प्राप्त किये हुये पदार्थ ही सदा संतुष्ट रखते हैं। पाण्डवों! सब प्रकार से धर्म की वृद्धि करने वाले तुम सब लोगों के देखते-देखते पांचाल राजकुमारी द्रौपदी को जो कटुवचन सुनाये गये, उन्हें कौन वीर क्षमा कर सकता है। हे महाबाहो! समस्त शस्त्र-धारियों में श्रेष्ठ पुरुषसिंह अर्जुन से कहना कि तुम द्रौपदी के इच्छित पथ पर चलो। हे कृष्ण! द्रौपदी के अपमान को उन सभी को पौनःपुन्येन स्मरण करना।[2]

वीरमाता कुन्ती का सन्देश ऐसा सन्देश था जो कायरों को भी रण में युद्ध हेतु प्रस्तुत कर दें फिर पाण्डव तो सभी महावीर थे। अतः इस सन्देश ने पान्डवों

1. उ. प. 130/29–39 पू., 132/31–34
2. उ. प. 135/8–9, 13–15, 19–21 पू.
   ,, ,, 137/9–10, 14–16, 20–22 गी.

के लिये प्रज्वलित अग्नि में आज्याहुति के समान कार्य किया। पांडव युद्ध के लिये पहले से ही तैय्यार बैठे थे और जब जन्मदात्री की प्रेरणा मिल गयी तो युद्ध न होने की सम्भावना रह ही नहीं सकी। अतः हम यह कह सकते हैं कि कुन्ती की प्रेरणा ने महाभारत के युद्ध को रचवाने में अप्रतिम सहयोग दिया।

3. श्रीकृष्ण की प्रेरणाः—श्रीकृष्ण जैसा कूटनीतिज्ञ आज तक न तो धरा पर हुआ और न होगा। समस्त पाण्डुवंश जिस श्रीकृष्ण की अगुली के संकेत पर चलता था, उसने तब ही अपनी प्रेरणा से महाभारत युद्ध के बीज बो दिये थे, जब पाण्डव लोग काम्यक-वन में निवास कर रहे थे। काम्यक-वन में महाराज युधिष्ठिर को श्रीकृष्ण ने कहा, "राजन्! दशार्ह, कुकुर और अन्धकवंश के योद्धा जहाँ आप चाहें वहीं आपकी आज्ञा का पालन करते हुये खड़े रह सकते हैं। नरेन्द्र! मथुरा प्रान्तवासी गोपों की चतुरंगिणी सेना आपकी अभीष्ट सिद्धि के लिये निरन्तर तत्पर है। पाण्डुनन्दन! आप पापात्माओं के शिरोमणि धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन को उसके सुहृदों और सम्बन्धियों सहित उसी मार्ग पर भेज दीजिये, जहाँ भौमासुर और शाल्व गये है।" भगवान् श्रीकृष्ण के मत को जानकर धर्मराज ने केशव की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुये हाथ जोड़कर कहा "केशव! इसमें सन्देह नहीं कि आप पाण्डवों के अवलम्बन हैं। कुन्ती के हम सभी पुत्र आपकी शरण में हैं। जब समय आयेगा, तब आप पुनः अपने इस कथन के अनुसार सब कार्य करेंगे, इसमें सन्देह नहीं है।[1]

श्रीकृष्ण जो चाह लेते हैं वह होकर ही रहता है। वासुदेव ने महाभारत के युद्ध की प्रेरणा बहुत पहले ही दे दी थी और युधिष्ठिर ने भी स्वीकार कर लिया था, केवल समय की प्रतीक्षा थी जो समय आने पर पूर्ण हो गई।

दुर्योधन को समझाने के लिये जाने से पूर्व युधिष्ठिर ने पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण से यह निवेदन किया कि "हे वासुदेव! हम दोनों पक्षों के हित में जो बात हो वही करें चाहे वह कठोर हो या कोमल। तब श्रीकृष्ण ने कहा" हे परंतप धृतराष्ट्र के पुत्र बहुत लोभी हैं। ऐसा कोई उपाय नहीं देखता जिसके द्वारा कौरवों के साथ सन्धि हो सके। भीष्म, द्रोण, कृपादिकों के बल के सहारे वे अपने आपको बहुत बलवान् समझते हैं। अतः हे शत्रुदमन! जब तक आप इनके साथ कोमल व्यवहार करेंगे तब तक ये आपके राज्य का अपहरण करने की ही चेष्टा करेंगे। हे पाण्डु-नन्दन! कौरवों के साथ सन्धि न होने का यह भी कारण है कि उन्होंने आप लोगों

---

1. वन प. × × /पृ., ,, ,, 183/32-3

को कौपीन धारण करवाकर वनवास के अनेक कष्ट दिये, किन्तु कोई पश्चाताप नहीं किया। आपको द्यूत में कपट से जीतकर वे अपने कुकृत्य पर अब भी लज्जित नहीं हो रहे। हे राजन् ! ऐसे कुटिल स्वभाव और खोटे आचरण वाले दुर्योधन के प्रति प्रेम न दिखावें। भारत ! धृतराष्ट्र के पुत्र तो सभी लोगों के वध्य हैं, फिर आप उनका वध करें। इनके लिये तो कहना ही क्या है। राजन् ! जिसका चरित्र इतना गिरा हुआ है, उसका वध करना तो बहुत साधारण कार्य है। वह तो न्याय के अभाव में छिन्न-मूल-वृक्ष की भांति है। हम सब लोगों के लिये दुर्मति सर्प की भांति वध्य है। शत्रुओं का नाश करने वाले महाराज आप दुविधा में न पड़ें। इस दुष्ट को अवश्य मार डालें।[1]

देवकी-नन्दन की उपर्युक्त सम्मति स्पष्ट शब्दों में युद्ध को प्रस्तुत कर देती है। उन्होंने दुर्योधन को सर्व-अनिष्ट-कारी-सर्प बताकर सर्वथा वध्य बताया और यहाँ तक कह दिया कि किसी भी दुविधा में न पड़कर इस दुष्ट को तो अवश्य ही मार डालो। एकादश अक्षौहिणी सेना के स्वामी को बिना युद्ध के मारना कदापि समुचित या सम्भव नहीं था। अतः पाण्डवों ने दुर्योधन को मारने के लिये 'कुरुक्षेत्र को' युद्ध का रणस्थल बनाया।

भगवान् देवकी-नन्दन जब हस्तिनापुर जाकर सन्धि हेतु प्रयास कर आये और सफल नहीं हुये तब युधिष्ठिर द्वारा सम्बन्धित विषय में पूछने पर उन्होंने कहा "हे कुन्तीनन्दन ! तुम लोगों ने जो बातें मुझे कही थी, उन्हें यदि मैं पुनः कहूँ तो इससे क्या लाभ ? थोड़े में इतना ही समझ लीजिये कि वह दुरात्मा कौरव आपके प्रति न्याययुक्त व्यवहार नहीं कर रहा। आपकी सेनाओं में स्थित है, हम सब राजाओं में, जो पाप और अमंगलकारक भाव नहीं, वे सब अकेले दुर्योधन में विद्यमान है। हम लोग भी बहुत अधिक त्याग करके (सर्वस्व खोकर) कभी किसी भी दशा में कौरवों के साथ सन्धि की इच्छा नहीं रखते है। अतः अब हमारे लिये युद्ध ही करना उचित है।[2]

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की इस सम्मति ने पाण्डवों को निश्चित-रूप से रणांगण में ला खड़ा किया क्योंकि सन्धि हेतु सब प्रयास विफल हो जाने के बाद अब कोई दूसरा मार्ग नहीं रहा था, जिसके द्वारा पाण्डव अपना पैतृक राज्य लेते। अतः भगवान् वासुदेव की इस अन्तिम सम्मति से पाण्डवों को महाभारत के युद्ध में उतरना ही पड़ा।

---

1. उ. प. 71/6–22 पू., 73/6–27 गी.
   उ. प. 151/13–15 पू., 154/13–15 गी.

4. भीम की प्रेरणा :—माता कुन्ती के शब्दों में भीम तो स्वाभाविक रूप से ही युद्धप्रिय है। भगवान् श्रीकृष्ण ने जब उसे उत्तेजित किया तो उसने पहले ही वह दृश्य खेंच दिया, जो उसे रण भूमि में करके दिखाना था। भीम ने श्रीकृष्ण के उत्तेजित सन्देश पर भीम-भुजंग की भांति फूंकार कर कहा "हे गोविन्द ! पाण्डवों के प्रति आततायी बने हुये इन समस्त क्षत्रियों को, जो युद्ध के लिये उद्धत हुये हैं, नीचे भूमि पर गिरा कर पैरों तले रौंद डालूंगा। अच्युत ! आप मेरे पराक्रम से अपरिचित नहीं हैं। जनार्दन ! यदि कदाचित् आप मुझे या मेरे पराक्रम को न जानते हों तो जब भयंकर संहारकारी घमासान युद्ध प्रारम्भ होगा, उस समय उगते सूर्य की प्रभा के समान आप मुझे अवश्य जान लेंगे। पके हुये घाव को चाकू से चीरने या उकसाने वाले पुरुष के समान आप मुझे कठोर वचनों द्वारा तिरस्कृत क्यों कर रहे है ? मैं अपनी बुद्धि के अनुसार जो कुछ कर रहा हूँ उससे भी बढ़चढ़कर मुझे समझें। जिस समय योद्धाओं से खचाखच भरे हुये युद्ध में भयानक मार काट मचेगी, उस दिन आप मुझे देखियेगा। मैं कुपित होकर मतवाले हाथियों, रथियों तथा घुड़सवारों को धराशायी करना और फेंकना प्रारम्भ करूंगा एवं दूसरे श्रेष्ठ क्षत्रिय-वीरों का वध करने लगूंगा, उस समय आप और दूसरे लोग भी मुझे देखेंगे कि मैं किस प्रकार चुन-चुनकर प्रधान-प्रधान योद्धाओं का संहार कर रहा हूँ।"[1]

भीम के इन वीरोचित उद्‌गारों ने महाभारत युद्ध को भड़काने हेतु घृताहुति का कार्य किया, जिससे महाभारत रूपी अग्नि धधक उठी और उसने कुरुकुल को जलाकर भस्म बना डाला।

5. धनंजय की प्रेरणा :—धनंजय तो अपने अग्रजों तथा श्री वासुदेव का अनुसरण करने वाला था। श्रीकृष्ण के संकेत पर ही अर्जुन की जीवन नैय्या चलती थी। अतः युद्ध हेतु संकेत चाहते हुये पार्थ ने कहा "हे जनार्दन ! यदि आप कौरवों का वध ही श्रेष्ठ मानते हैं तो शीघ्रातिशीघ्र किया जाय। फिर इसके अतिरिक्त और किसी अन्य बात पर आपको विचार नहीं करना चाहिये। आप जानते हैं इस पापात्मा दुर्योधन ने भरी सभा में द्रुपद-कुमारी कृष्णा को कितना कष्ट पहुँचाया था, परन्तु हमने उसके इस महान् अपराध को भी चुपचाप सह लिया था। माधव ! वही दुर्योधन अब पाण्डवों के साथ सद्व्यवहार करेगा, ऐसी बात मेरी बुद्धि में बैठ नहीं रही है। उसके साथ सन्धि का सारा प्रयत्न ऊसर में बोये

---

1. उ, प. 74/11–16 पू., 76/11–18 गी.

हुये बीज की भांति व्यर्थ है। अतः आप पाण्डवों के लिये जो भी हितकर कार्य है उसे शीघ्र कीजिये।[1]

कहा जाता है कि जो वीर होते हैं वे कहते कम और करते अधिक है। धनंजय ने भी 'मितं च सारं वचो हि वाग्मिता' को चरितार्थ करने के लिये भगवान् श्रीकृष्ण को शीघ्र युद्ध प्रारम्भ कराने हेतु प्रेरणा दी। वसुदेवनन्दन अपने प्रिय सखा की आकांक्षा तथा प्रेरणा को व्यर्थ नहीं कर सकते थे। अतः महाभारत का महारण कराकर ही रहे।

6. सहदेव की प्रेरणा :—भगवान् केशव ने अर्जुन को यह आश्वासन दिया कि हे धनंजय जब तुमने कौरवों को पराजित करने का संकल्प किया, वे तो तभी पराभूत हो गये। तदनन्तर सहदेव मानों युद्ध के लिये बालहठ करते हुये वासुदेव से बोले "महाराज युधिष्ठिर ने यहाँ जो कुछ कहा है, वह सनातन धर्म है, किन्तु मेरा कथन यह है कि आपको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिसमें युद्ध होकर ही रहे। दशार्हनन्दन ! यदि कौरव पाण्डवों के साथ सन्धि करना चाहें तो भी आप उनके साथ युद्ध की ही योजना बनाइयेगा। जनार्दन ! पांचाल राजकुमारी को वैसी दशा में सभा के अन्दर लायी गयी देखकर दुर्योधन के प्रति बढ़ा हुआ मेरा क्रोध उसका वध किये बिना कैसे शान्त हो सकता है। यदि भीमसेन अर्जुन तथा धर्मराज धर्म का ही अनुसरण करते है, तो मैं उस धर्म को छोड़कर रण भूमि में दुर्योधन के साथ युद्ध ही करना चाहता हूँ।[2]

सहदेव तो मानो युद्ध के लिये रोके से भी न रुकने वाले सांड के समान गर्ज रहा था। उसे तो मानो पाण्डव पक्ष के लोग युद्ध से रोकते तो भी नहीं रुकता। अतः श्रीकृष्ण ने सब पाण्डवों के मतों का सार 'युद्ध' ही निकाला और उसे 'महाभारत' के रूप में रचवाया।

7. द्रौपदी की प्रेरणा :—"जिसके चोट लगती है वही दुःख का अनुभव करता है।" कृष्णा पर यह वाक्य पूर्णतः घटित होता है। दुर्योधन के द्वारा किया गया अभद्र व्यवहार द्रौपदी को रात-दिन ऐसे उष्ण बनाये रखता था मानो निरन्तर अग्नि दहक रही है। ऐसी दुःख संतप्त को बिना दुर्योधन की मृत्यु के कैसे शान्ति मिल सकती थी। अतः उसने भी अर्जुन की भांति शीघ्र ही महायुद्ध प्रारम्भ करने

---

1. उ. प. 76/16–20 पू., 78/16–19 गी.
3. उ. प. 79/1–4 पू., 81/1–4 गी.

के लिये इस प्रकार कहा "हे ग्रानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र ! ग्रापके द्वारा हस्तिनापुर जाने पर यदि दुर्योधन राज्य दिये बिना ही सन्धि करना चाहे तो ग्राप इसे किसी भी प्रकार स्वीकार न कीजियेगा। महाबाहो ! पाण्डव लोग सृंजयवीरों के साथ क्रोध में भरी हुई दुर्योधन की सेना का भलीप्रकार सामना कर सकते हैं। शत्रुसूदन ! धार्तराष्ट्रों के प्रति साम ग्रौर दान नीति का प्रयोग करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नही हो सकता। ग्रतः उन पर ग्राप को कभी कृपा नहीं करनी चाहिये। हे केशव ! ग्रपने जीवन की रक्षा करने वाले को चाहिये कि जो शत्रु साम ग्रौर दान से शान्त न हों, उन पर दण्ड का प्रयोग करें। ग्रतः महाबाहु ग्रच्युत। ग्रापको तथा सृंजयों सहित पाण्डवों को उचित है कि वे उन शत्रुग्रों को शीघ्र ही महान् दण्ड दें। यही कुन्तीकुमारों के योग्य कार्य है। यदि यह किया गया तो ग्रापके भी यश का विस्तार होगा ग्रौर समस्त क्षत्रिय समुदाय को भी सुख मिलेगा। दशार्हनन्दन ! ग्रपने धर्म का पालन करने वाले क्षत्रिय को चाहिये कि वह लोभ का ग्राश्रय लेने वाले मनुष्य को भले ही वह क्षत्रिय हो या ग्रक्षत्रिय, ग्रवश्य मार डाले। हे जनार्दन ! जैसे ग्रवध्य का वध करने पर महान् दोष लगता है, उसी प्रकार वध्य का वध न करने से भी दोष की प्राप्ति होती है। यह बात धर्मज्ञ पुरुष जानते है।

हे प्रभो ! ग्राप पर ग्रत्यन्त विश्वास होने के कारण मैं ग्रपनी कही हुई बात को पुनः दुहराती हूँ। केशव ! इस धरा पर मेरे समान स्त्री कौन होगी ? यज्ञवेदी के मध्य भाग से उत्पन्न हुई मैं धृष्टद्युम्न की भगिनी, द्रुपदराज की पुत्री ग्रौर ग्रौर ग्रापकी प्रिय सखी हूँ। महात्मा पाण्डु की मैं पुत्रवधु, ग्रजमीढ़ कुल वंशीय पांच इन्द्रियों के समान तेजस्वी पाण्डुपुत्रों की मैं पटरानी हूँ। हे केशव ! इतनी सम्मानित ग्रौर सौभाग्यशालिनी होने पर भी मैं पाण्डवों के देखते-देखते ग्रौर ग्राप के जीते जी केश पकडकर सभा में लायी गयी ग्रौर मेरा बारम्बर ग्रपमान किया गया। यह सब पाण्डुपुत्रों के द्वारा देखा गया, किन्तु हा। हन्त ! इन्होंने क्रोध भी प्रकट नही किया ग्रौर मुझे उनके हाथ से छुड़ाने की चेष्टा भी नहीं की। उस समय मैंने दीन होकर ग्राप ही को पुकारा "हे गोविन्द ! पाहि माम्" तब ग्रापने ही मेरी लाज बचायी। हे दीनबन्धो ! लोगों पर ऐसे दुःख ग्राते रहे है, जिन्हे ग्राप ग्रच्छी तरह से जानते है। ग्रतः हे कमल-नयन ! पति, कुटुम्बी तथा बान्धव-जनो सहित हम लोगो की ग्राप रक्षा करें। हे गोविन्द ! धर्मतः मैं भीष्म ग्रौर धृतराष्ट्र दोनों की पुत्रवधू हूँ, तो भी उनके सामने ही मुझे बलपूर्वक दासी बनाया गया। हे गोविन्द ! ऐसी दशा में यदि दुर्योधन एक मुहूर्त भी जीवित रहता है तो ग्रर्जुन के धनुर्धारण ग्रौर भीमसेन के बल को धिक्कार है। हे जनार्दन ! यदि मै ग्रापकी ग्रनुग्रह भाजन हूँ, यदि मुझ पर ग्रापकी कृपा है तो ग्राप धृतराष्ट्र के पुत्रों पर पूर्ण रूप से क्रोध कीजिये।

हे जनार्दन ! सन्धि करने के इच्छुक भीमसेन और अर्जुन यदि अपनी कायरता प्रकट करते हैं तो मेरे वृद्ध पिताजी अपने महारथी पुत्रों के साथ शत्रुओं से युद्ध करेंगे। मधुसूदन ! मेरे पांच महारथी पुत्र अभिमन्यु को प्रधान बनाकर धार्तराष्ट्रों के साथ संग्राम करेंगे। हे केशव ! दुःशासन की श्यामभुजा को कट कर धूल में लोटती न देखूं तो मेरे हृदय को क्या शान्ति मिलेगी ? "इतना कहने के अनन्तर विशाललोचना द्रुपदकुमारी का कण्ठ आंसुओं से रूंध गया। वह कांपती हुई अश्रु-गद्गद् वाणी में फूट-फूट कर रोने लगी। उसके परस्पर सटे हुये स्तनों पर नेत्रों से गरम-गरम आंसुओं की वर्षा होने लगी, मानो वह अपने भीतर द्रवीभूत क्रोधाग्नि को ही उन वाष्पबिन्दुओं के रूप में बिखेर रही हो।

अपनी क्रोधाग्नि से ही मानों धृतराष्ट्र पुत्रों के वन को भस्मसात् कर देने वाली पांचाली को श्रीमाधव ने युद्ध कराने हेतु इस प्रकार आश्वासन दिया "कृष्णे ! तुम शीघ्र ही भारतवंश की दूसरी स्त्रियों को भी इसी प्रकार रुदन करते हुये देखोगी। महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा तथा विधाता के रचे हुये अदृष्ट से प्रेरित हो भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव को साथ लेकर मैं भी वही करूंगा, जो तुम्हे अभीष्ट है"[1] इस प्रकार द्रौपदी की प्रदत्त प्रेरणा को श्रीकृष्ण ने स्वीकार कर लिया तथा महाभारत का युद्ध करवाकर ही दिखाया।

8. द्रुपद की प्रेरणा :—द्रुपद भी अपनी पुत्री द्रौपदी के साथ किये गये धार्तराष्ट्रों के दुर्व्यवहार से अत्यन्त दुःखी थे। अतः उन्होंने भी युद्ध हेतु ही इस प्रकार प्रेरणा दी "मुझे श्री बलदेवजी का कथन उपयुक्त नहीं जान पड़ता क्योंकि दुर्योधन मधुर व्यवहार से राज्य नही देगा। अपने उस पुत्र के प्रति आसक्त रहने वाले धृतराष्ट्र भी उसी का अनुसरण करेंगे। भीष्म और द्रोणाचार्य दीनतावश तथा कर्ण और शकुनि मूर्खतावश दुर्योधन का साथ देंगे। पापी एव मूर्ख मनुष्य मृदु-वचन बोलने वाले को शक्तिहीन समझता है और कोमलता से व्यवहार करने पर यह मानने लगता हैं कि मैंने इसके धन पर विजय पाली है। अतः हमें अपने मित्रों सहित सैन्य-संग्रह करके युद्ध प्रारम्भ कर देना चाहिये।"[2]

9. सात्यकि की प्रेरणा :—श्री हलधर के भाषण बाद महारथी सात्यकि ने युद्ध हेतु प्रेरणा देते हुये कहा "वनवास के बन्धन से मुक्त होकर पाण्डव लोग अब अपने पैतृक राज्य को पाने के न्यायतः अधिकारी हो गये हैं। धृतराष्ट्र के पुत्र

---

1. उ. पा. 82/10–49 पू., 82/10–49 गी.
2. उ. प. 4/1–7 पू, 4/1–7 गी.

भीष्म, द्रोण और विदुर के बहुत अनुनय करने पर भी पाण्डवों को उनका पैतृक धन वापिस देने का निश्चय अथवा प्रयास नहीं कर रहे हैं। मैं तो रण-भूमि में पैने बाणों से उन्हें बलपूर्वक मनाकर महात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर के चरणों में गिरा दूंगा। यदि वे गिरने का निश्चय नहीं करेंगे तो उन्हें अपने मंत्रियों सहित यमलोक भेज दूंगा। जैसे बड़े-बड़े पर्वत भी वज्र का वेग सहन करने में समर्थ नहीं हैं, उसी प्रकार धार्तराष्ट्रों में से कोई भी मेरे वेग को सहन करने वाला नहीं है। धार्तराष्ट्र-दल में ऐसा कौन है, जो जीवन की इच्छा रखते हुये भी युद्ध भूमि में गाण्डीवधन्वा अर्जुन, चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्ण, क्रोध से भरे हुये मुझ सात्यकि, दुर्धर्ष वीर भीमसेन यम और काल के समान तेजस्वी धनुर्धर नकुल-सहदेव यम और काल को भी तिरस्कृत करने वाले वीरवर विराट् और द्रुपद तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न का सामना कर सकता है। द्रौपदी की कीर्ति बढ़ाने वाले पांचों पाण्डवकुमार अपने-अपने पिता के समान ही आकृतिवाले, वैसे ही पराक्रमी तथा उन्हीं के समान रणोन्मत्त शूरवीर हैं। महाधनुर्धर सुभद्रा-नन्दन का वेग तो देवताओं के लिये भी दुःसह है। गद, प्रद्युम्न और साम्ब—ये काल, सूर्य और अग्नि के समान अजेय हैं। इन सब का सामना कौन कर सकता है। हम लोग शकुनि सहित दुर्योधन तथा कर्ण को भी युद्ध में मार कर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर का राज्याभिषेक करेंगे। आततायी शत्रुओं का वध करने में कोई पाप नहीं है। शत्रुओं के सामने याचना करना अधर्म और अपयश की बात है।"[1]

सात्यकि की हृदय से निकली हुई यथार्थ प्रेरणा कैसे असफल हो सकती थी। अतः हृदय की सच्ची प्रेरणा के अनुसार महाभारत युद्ध होकर ही रहा तथा सात्यकि के यथार्थ वचन सत्य सिद्ध हुये।

10. कर्ण की प्रेरणा :—कुरुकुल का क्षय किसी भी प्रकार बच जावे अथवा पाण्डवों की विजय अवश्य हो यह सोचकर दशार्हनन्दन श्रीकृष्ण जब कर्ण को समझाने गये तो युद्ध से विरत होने की अपेक्षा उसने 'सर्वक्षत्रियों' का कल्याण युद्ध में ही है। ऐसा कहकर युद्ध का समर्थन करते हुये वसुदेव-नन्दन को इस प्रकार युद्ध करवाने के लिये प्रेरणास्पद वचन कहे "वृष्णिनन्दन-श्रीकृष्ण! दुर्योधन ने मेरे ही भरोसे हथियार उठाने तथा पाण्डवों के साथ विग्रह करने का साहस किया है। मुझे द्वैरथ युद्ध में सव्यसाची के विरुद्ध लोहा लेने तथा उसका सामना करने के लिये उसने चुन लिया है। जनार्दन! इस समय मैं वध, बन्धन, भय अथवा लोभ से भी दुर्योधन के साथ मिथ्या व्यवहार नहीं चाहता। यदि मैं अर्जुन के साथ द्वैरथ युद्ध

---

1. उ. प. 3/9–23 प. 3/9–23 गी

न करूँ तो यह मेरे और अर्जुन दोनो के लिये अपयशजनक होगा। क्षत्रियशिरोमणि मधुसूदन! आपके इस शान्ति स्थापना के प्रयत्न से कहीं ऐसा न हो कि विद्यावृद्ध और वयोवृद्ध क्षत्रियगण व्यर्थ मृत्यु को प्राप्त हों अर्थात् युद्ध मे शस्त्रों से होने वाली मृत्यु से वंचित रह जावें। हे केशव! कुरुक्षेत्र तीनो लोकों के लिए परमपुण्यतम तीर्थ है। यह समृद्धिशाली क्षत्रिय समुदाय वहीं जाकर शस्त्रों के आघात से मृत्यु को प्राप्त हो। कमलनयन-वृष्णिनन्दन! आप भी इसी सिद्धि के लिये ही ऐसा मनोवांछित प्रयत्न करें, जिससे यह सारा का सारा क्षत्रिय-समूह स्वर्गलोक मे पहुंच जावे। जनार्दन जब तक ये पर्वत और सरिताये रहेंगी तब तक इस युद्ध की कीर्तिकथा अक्षय बनी रहेगी। अतः हे ऋषिकेश आप तो ऐसा ही पूर्णरूपेण प्रयास करें, जिससे कि कुन्तीकुमार अर्जुन मेरे साथ युद्ध करने अवश्य आवें।"[1]

कर्ण ने तो श्रीकृष्ण को ऐसी प्रेरणा दी कि मानों आगे होने वाली सभी बातों को वह जानता था और हृदय से यही चाहता था कि यह महान् रणयज्ञ अवश्य हो जिसमे सभी क्षत्रिय अवभृथ स्नान करके पवित्र होकर उच्च लोको की प्राप्ति कर सकें। सृष्टि का भार उतारने हेतु अवतरित हुये जनार्दन कर्ण जैसे महारथियो की कामना से उन्हें क्यों वंचित करते। अतः उन्होने वही करवाया जो सूतपुत्र कर्ण चाहता था।

11. दानवों की प्रेरणा :—पारस्परिक विरोधी प्रवृत्तियां अपने पक्ष की पुष्टि एवं शत्रुपक्ष का क्षय चाहती है। अतः विना आमंत्रण, प्रार्थना के ही वे प्रवृत्तियां अपनी वृद्धि करने वाले सहायकों की स्वतः सहायक बन जाती है। इस बात की पुष्टि दानवो द्वारा सुयोधन हेतु दी गई युद्ध प्रेरणा से हो जाती है। पाण्डवो द्वारा गन्धर्वों के बन्धन से मुक्त दुर्योधन को जब बहुत आत्मग्लानि हुई तो वह प्रायोपेशन करके प्राणत्याग देने को तैयार हुआ। कर्ण और शकुनि ने दुर्योधन को ऐसा न करने से बहुत मनाया; किन्तु वह न माना, तब दानवो ने एक यज्ञ करके एक कृत्या उत्पन्न की जो दुर्योधन को वहां से मुहूर्त-मात्र में उठाकर रसातल को ले गयी। वहां दानवो द्वारा दुर्योधन युद्ध के लिये इस प्रकार उत्साहित किया गया। दानवो ने कहा "हे राजन्! धर्म और अर्थ का नाशक, यश और प्रताप को नष्ट कर देने वाला तथा शत्रुओं के हर्ष को बढ़ाने वाला यह प्रायोपेशन का विचार आपके लिये उपयुक्त नहीं है। आप इसका विचार तुरन्त छोड़ दीजिये, क्योंकि श्रीमान् के शरीर का उर्ध्वभाग तो शिवकृपा से वज्रसमूह से बना हुआ है और अधोभाग देवी पार्वती द्वारा पुष्पमय बनाया गया है। इस प्रकार हे नृपोत्तम!

---

1. उ. प. 139/15–18, 52–57 पू., 141/15–18, 52–57 गी.

देवी पार्वती के साथ साक्षात् ईश्वर के द्वारा आपके शरीर की रचना की गई है, आपका यह शरीर किसी भी अस्त्र-शस्त्र से विदीर्ण नहीं हो सकता। साथ ही आपका अधोभाग कोमलता के कारण अपने सौन्दर्य से स्त्रियो के मन को मोहने वाला है। अतः हे राजसिंह ! आप मनुष्य नहीं दिव्य पुरुष है। वीर दानव आप की सहायतार्थ भूमि पर प्रकट हो चुके हैं। दूसरे भी अनेक असुर भीष्म द्रोण तथा कृपाचार्यादि के शरीरों मे प्रवेश करेंगे। जिनसे आविष्ट होकर वे लोग दया को त्याग कर शत्रुओं के साथ युद्ध करेंगे। दैव-प्रेरित महात्मा महाबली पाँचों पाण्डव भी इन भीष्मादि का सामना करते हुये इनका वध करेंगे। कृष्ण के द्वारा मारे गये नरकासुर की आत्मा कर्ण के शरीर में प्रवेश कर गयी है। वह नरकासुर पूर्व-वैर को स्मरण करके श्रीकृष्ण और अर्जुन से युद्ध करेगा। हे राजन् ! कर्ण निश्चय ही अर्जुन को जीत लेगा, क्योकि हमने एक लाख दैत्यो तथा राक्षसों को इस कार्य मे नियुक्त कर रखा है जो संशप्तक नाम से विख्यात है। वे वीर अर्जुन को मार डालेंगे। इसलिये हे कुरुनन्दन ! आप शोक न करें। यह आपके लिये उपयुक्त नहीं है। आपके नष्ट हो जाने पर तो हमारे पक्ष का ही नाश हो जावेगा। पाण्डवो के पक्ष में तो देवता है हमारी गति तो आप ही हैं।" इस प्रकार दैत्यों ने उसका पुत्र समान आलिंगन किया और-कृत्या द्वारा वही भेज दिया। दुर्योधन ने भी कर्ण से अर्जुन वध का समाश्वासन प्राप्त कर दानवों के कथन को स्मरण करके पाण्डवों के साथ युद्ध करने का निश्चय कर लिया।[1]

इस प्रकार दानवो की प्रेरणा ने भी युद्ध को प्रस्तुत कराने मे एक अचूक तीर का कार्य किया।

12 युधिष्ठिर की तत्परता :—जब सभी हितैषी अपने व्यक्ति को उसके हित के लिये कोई बात बार-बार कहते है तो वह भी उसे स्वीकार कर ही लेता है। यही बात महाराज युधिष्ठिर के लिये भी घटित होती है। महाराज युधिष्ठिर को भगवान् श्रीकृष्ण ने, द्रौपदी ने, भीम ने तथा धनजयादि ने बार-बार युद्ध हेतु प्रेरित किया तो अजातशत्रु ने भी इस प्रकार अपनी तत्परता समय समय पर दिखाई।

द्वैत वन मे निवास करते हुये जब द्रौपदी और भीम ने शत्रुओं से प्रतिशोध लेकर उन्हें दण्डित करने हेतु केवल युद्ध को ही एक मात्र उपाय बताया तो युधिष्ठिर ने भी उनकी बात को स्वीकार करते हुये अपनी तत्परता इस प्रकार

1. वन प. 240/4–40 पू., 252–4–45 गी.

दिखाई "मैं तुम दोनों की बात से सहमत हूँ किन्तु धर्म को छोड़कर समय से पूर्व ही युद्ध करना उपयुक्त नहीं है। यद्यपि भीष्म, द्रोण, कृपादि की हमारे ऊपर अनुकूल दृष्टि है, किन्तु वे दुर्योधन के द्वारा प्रदत्त अन्न को खाते हैं। अतः संग्राम में उसी के पक्ष को लेकर दुस्त्याज्य प्राणों को भी छोड़ देंगे। वे सब धर्मपरायण और दिव्यास्त्रज्ञाता हैं। यहाँ तक कि वे इन्द्रसहित देवों के लिये भी अजेय हैं। कर्ण के पास भी अभेद्य कवच है। इन सबके होते हुये हम एकाकी दुर्योधन को युद्ध में नही मार सकते। अतः समय की प्रतीक्षा करो।"[1]

देवकी-नन्दन श्रीकृष्ण ने भी जब इसी प्रकार महाराज युधिष्ठिर को युद्ध हेतु प्रेरित किया तो उन्होने तत्परता दिखाते हुये कहा "हे केशव! निसदेह पाण्डवों की आप ही गति है। पाण्डव आपकी ही शरण है। समय आने पर निश्चितरूप से आपके ही कथनानुसार सारा कार्य होगा।"[2]

धृतराष्ट्र की ओर से सन्धि हेतु आये संजय को लौटकर जाते हुये युधिष्ठिर ने युद्ध हेतु तत्परता दिखाते हुये कहा "हे संजय महाराज धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन को यह बात फिर कह देना तुम्हारे शरीर के भीतर मन में जो यह अभिलाषा उत्पन्न हुई है कि कौरवों का निष्कण्टक राज्य करूँ, वह तुम्हारे हृदय को पीडा दे रही है। उसकी सिद्धि का कोई उपाय नही है। हम ऐसे पौरुषहीन नही है कि तुम्हारा यह प्रियकार्य होने दें। भरतवंश के प्रमुखवीर! तुम इन्द्रप्रस्थपुरी मुझे फिर लौटा दो अन्यथा युद्ध करो।"[3]

जब भगवान् देवकीनन्दन दुर्योधन को समझाकर पाण्डवों के साथ सन्धि कराने हेतु शान्तिदूत बनकर जाने को उद्यत हुये तब युधिष्ठिर ने अपना मन्तव्य प्रकट करते हुये इस प्रकार युद्ध-तत्परता दिखाई "हे मधुसूदन! यह सब आपने मुझ मे प्रत्यक्ष देखा है कि मैं किस प्रकार राज्य से भ्रष्ट हुआ और कितने कष्ट के साथ इन दिनों रहा हूँ। अतः हम लोग किसी भी न्याय से अपनी पैतृक-सम्पत्ति का परित्याग करने के योग्य नहीं है। इसके लिये प्रयत्न करते हुये भी यदि हम लोगों का वध हो जाय तो वह भी अच्छा ही है। इस विषय में हमारा पहला ध्येय तो यही है कि हम शान्त-भाव से रहकर सम्पत्ति का समान भाव से उपभोग करें। दूसरा यह है कि रौद्रकर्म की पराकाष्ठा के द्वारा धार्तराष्ट्रों को मारकर राज्य को

---

1. वन प. 37/13–17 पू., 36/15–19 गी.
2. वन प. × × /पू., 183/32–38 गी.
3. उ प. 30/46–47 पू., उ. प. 30/48–49 गी.

अपने अधिकार में कर लें। हे गोविन्द ! क्षत्रियों का यह (युद्धरूप) धर्म पापरूप ही है। हम भी क्षत्रिय ही हैं, अतः हमारा स्वधर्म पाप होने पर भी हमें तो करना ही होगा, क्योंकि उसे छोड़कर दूसरी किसी वृत्ति को अपनाना भी निन्दनीय है। क्षत्रिय, क्षत्रिय को मारता है, मछली-मछली को खाकर जीती है और श्वान-श्वान को काटता है। हे दशार्हनन्दन ! यही परम्परा से चला आने वाला धर्म है। यद्यपि हम युद्ध की इच्छा न रखकर साम, दान और भेद सभी उपायों से राज्य की प्राप्ति के लिये प्रयत्न कर रहे हैं तथापि यदि हमारी सामनीति असफल रही तो युद्ध ही हमारा प्रधान कर्त्तव्य होगा। हम पराक्रम छोड़कर बैठ नही सकते, क्योंकि जब शान्ति के प्रयत्नों के बाधा आती है तो युद्ध स्वतः प्रारम्भ हो जाता है।[1]

इस प्रकार युधिष्ठिर ने अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया कि एक बार आप और प्रयत्न करके देख लें कि शान्ति से ही दुर्योधन राज्य लौटा दे बहुत उत्तम है, किन्तु मैं और आप जानते हैं कि वह ऐसा करने वाला नहीं है। अतः हमें युद्ध के लिये तत्पर हो जाना है। हम क्षत्रियों के लिये युद्ध ही कर्त्तव्य होने के नाते श्रेयस्कर हैं, इस प्रकार युधिष्ठिर की तत्परता ने महाभारत का युद्ध करवाया।

---

1. उ. प. 70/40/70 पू., 72/40-70 गी.

दिखाई "मैं तुम दोनों की बात से सहमत हूँ किन्तु धर्म को छोड़कर समय से पूर्व ही युद्ध करना उपयुक्त नहीं है । यद्यपि भीष्म, द्रोण, कृपादि की हमारे ऊपर अनुकूल दृष्टि है, किन्तु वे दुर्योधन के द्वारा प्रदत्त अन्न को खाते हैं । अतः संग्राम में उसी के पक्ष को लेकर दुस्त्याज्य प्राणों को भी छोड़ देंगे । वे सब धर्मपरायण और दिव्यास्त्रज्ञाता हैं । यहाँ तक कि वे इन्द्रसहित देवों के लिये भी अजेय हैं । कर्ण के पास भी अभेद्य कवच है । इन सबके होते हुये हम एकाकी दुर्योधन को युद्ध में नहीं मार सकते । अतः समय की प्रतीक्षा करो ।"[1]

देवकी-नन्दन श्रीकृष्ण ने भी जब इसी प्रकार महाराज युधिष्ठिर को युद्ध हेतु प्रेरित किया तो उन्होंने तत्परता दिखाते हुये कहा "हे केशव ! निसंदेह पाण्डवों की आप ही गति हैं । पाण्डव आपकी ही शरण हैं । समय आने पर निश्चितरूप से आपके ही कथनानुसार सारा कार्य होगा ।"[2]

धृतराष्ट्र की ओर से सन्धि हेतु आये संजय को लौटकर जाते हुये युधिष्ठिर ने युद्ध हेतु तत्परता दिखाते हुये कहा "हे संजय महाराज धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन को यह बात फिर कह देना तुम्हारे शरीर के भीतर मन में जो यह अभिलाषा उत्पन्न हुई है कि कौरवों का निष्कण्टक राज्य करूँ, वह तुम्हारे हृदय को पीड़ा दे रही है । उसकी सिद्धि का कोई उपाय नहीं है । हम ऐसे पौरुषहीन नहीं है कि तुम्हारा यह प्रियकार्य होने दें । भरतवंश के प्रमुखवीर ! तुम इन्द्रप्रस्थपुरी मुझे फिर लौटा दो अन्यथा युद्ध करो ।"[3]

जब भगवान् देवकीनन्दन दुर्योधन को समझाकर पाण्डवों के साथ सन्धि कराने हेतु शान्तिदूत बनकर जाने को उद्यत हुये तब युधिष्ठिर ने अपना मन्तव्य प्रकट करते हुये इस प्रकार युद्ध-तत्परता दिखाई "हे मधुसूदन ! यह सब आपने मुझ में प्रत्यक्ष देखा है कि मैं किस प्रकार राज्य से भ्रष्ट हुआ और कितने कष्ट के साथ इन दिनों रहा हूँ । अतः हम लोग किसी भी न्याय से अपनी पैतृक-सम्पत्ति का परित्याग करने के योग्य नहीं है । इसके लिये प्रयत्न करते हुये भी यदि हम लोगों का वध हो जाय तो वह भी अच्छा ही है । इस विषय में हमारा पहला ध्येय तो यही है कि हम शान्त-भाव से रहकर सम्पत्ति का समान भाव से उपभोग करें । दूसरा यह है कि रौद्रकर्म की पराकाष्ठा के द्वारा धार्तराष्ट्रों को मारकर राज्य को

---

1. वन प. 37/13–17 पू., 36/15–19 गी.
2. वन प. × × /पू., 183/32–38 गी.
3. उ. प. 30/46-47 पू., उ. प. 30/48-49 गी.

महात्मा विदुर युद्ध के मूल द्यूत के दुर्गुणों को पहले ही जानते थे। अतः उन्होंने प्रारम्भ से ही युद्ध के सूत्रपातों को रोकने का पुनः-पुनः प्रयास किया। कौरव (धार्तराष्ट्रों) और पाण्डवों का युद्ध न हो यह विचार कर विदुर धृतराष्ट्र से फिर इस प्रकार बोले" देवता-लोग जिसे पराजय देते है उसकी बुद्धि को पहले ही हर लेते हैं, निश्चय ही विनाशकाल उपस्थित होने पर मलिन बनी हुई बुद्धि में न्याय के समान प्रतीत होने वाला अन्याय हृदय से बाहर नही निकलता। हे भरतर्षभ! आपके पुत्रों की वह बुद्धि पाण्डवों के प्रति विरोध से व्याप्त हो गई है, आप इन्हें पहिचान नही रहे है। महाराज! राजलक्षणों से सम्पन्न युधिष्ठिर त्रिलोकी का स्वामी होने योग्य है, फिर वह आपका आज्ञाकारी युधिष्ठिर क्या इस भूमि का भी शासक होने योग्य नही है अर्थात् अवश्य है। वह धर्मार्थतत्ववेत्ता अपने तेज और बुद्धि से आपके सब पुत्रों से बढ़-बढ़कर है।[1] अतः उसे आप उसका पैतृक राज्य दे दो जिससे कि युद्ध न हो।

राजा धृतराष्ट्र ने भी यह स्वीकार किया कि मैंने धर्मज्ञ युधिष्ठिर के साथ मिथ्या व्यवहार किया। अतः वे युद्ध करके मेरे पुत्रों को मार डालेंगे। मेरा मन सदैव इसी भय से उद्विग्न रहता है, इसलिये जो उद्वेग शून्य और शान्त पथ हो, वही मुझे बताओ। तब विदुर ने कहा "राजन्! पहले द्यूत क्रीड़ा मे द्रौपदी को जीती गई देखकर मैंने आपसे कहा था" आप द्यूत क्रीड़ा में आसक्त दुर्योधन को रोकिये, विद्वान लोग इस प्रवंचना के लिये मना करते है, किन्तु आपने मेरा कहना नही माना। महाराज! आपके पुत्र पाण्डवों की रक्षा करें और पाण्डुपुत्र आपके पुत्रों की रक्षा करें। सब का एक ही कर्त्तव्य हो सभी सुखी और समृद्धिशाली होकर जीवन व्यतीत करें। कुरुराज! आप पाण्डवों के साथ सन्धि कर लें, जिससे शत्रुओं को आपका छिद्र देखने का अवसर न मिले। नरदेव! समस्त पाण्डव सत्य पर डटे हुये है, अतः आप अपने पुत्र दुर्योधन को रोकिये।[2]

"हे राजन्! पाण्डवों के साथ युद्ध करने मे जो दोष है उन पर दृष्टि डालिये, उनसे युद्ध छिड जाने पर इन्द्र आदि देवताओं को भी कष्ट उठाना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त पुत्रों के साथ वैर, नित्य उद्वेगपूर्ण जीवन, कीर्ति का नाश और शत्रुओं को अधिक आनन्द होगा। आकाश मे तिर्यक, उदितधूमकेतु जैसे सारे संसार मे अशान्ति और उपद्रव खड़ा कर देता है, उसी तरह भीष्म-आप, द्रोणाचार्य और राजा युधिष्ठिर का बढ़ा हुआ क्रोध इस ससार का संहार कर सकता है। मेरे मत

1. उ. प० 34/78–82 पू, 34/81–85 गी.
2. उ. प० 36/47–48, 69–72 पू, 36/49–50, 70–74 गी.

महाभारत युद्ध के निवारण हेतुकृत-प्रयत्न

महाभारत जैसे भयंकर युद्ध को टालने हेतु अनेक मनीषियों द्वारा अपनी ओर से गहरे प्रयत्न किये गये, किन्तु 'होनी होके ही रही' इस उक्ति के अनुसार वह महान् भीषण संग्राम होकर ही रहा। अब हम यह देखना चाह रहे है कि कौन-कौन ऐसे महापुरुष थे, जिन्होंने इस महासमर के निवारण हेतु प्रयास किये। विवेचनात्मक बुद्धि से देखने पर ज्ञात हुआ कि निवारण करने वाले महाजनों को हम तीन पक्षों मे बाँट सकते हैं और वे तीन पक्ष है (ख) कौरव पक्ष (क) पाण्डव पक्ष (छ) तटस्थ पक्ष। अतः हम प्रत्येक को क्रमशः इस प्रकार प्रस्तुत करते है—

(ख) कौरव (धार्तराष्ट्र) पक्ष :—

1 विदुर के प्रयत्न :—महात्मा विदुर ने द्यूत प्रारम्भ करने के पूर्व ही महाराज धृतराष्ट्र को इसे कलह का मूल बताकर प्रारम्भ न करने हेतु आग्रह किया था, किन्तु वे मोहग्रस्त होकर इसे प्रारम्भ करने से न रोक सके। जब द्यूत के द्वारा युधिष्ठिर का सर्वस्व अपहरण किया जाने लगा तब विदुर से न रहा गया और उन्होंने युद्ध की भावी आशंका से आशंकित होकर उसके टालने हेतु धृतराष्ट्र से पुनः इस प्रकार कहा "हे राजन्! भरतवंश का विनाश करने वाला पापी दुर्योधन जब गर्भ से बाहर निकला था, तब गीदड के समान जोर-जोर से चिल्लाने लगा था, अतः यह निश्चय ही आप लोगो के विनाश का कारण बनेगा। कुल के हित के लिये एक मनुष्य को त्याग दें, गाँव के हित के लिये कुल को छोड दें, देश की भलाई के लिये एक गाँव को त्याग दें और आत्मा के उद्धार के लिये सारी पृथ्वी का ही परित्याग कर दें। यह सोचकर इस दुरात्मा दुर्योधन का आप तत्काल त्याग कर दें अथवा किरीटी को आज्ञा दें कि वह सब बन्धु-बान्धवों के हित के लिये इसे बन्दी बनाले। कोयला जैसे कोयला बनाने वाले वृक्षों को समूल जलाकर भस्म कर देता है उसी तरह आप इन कुरुवंशियो को दुर्योधन रूपी अंगारे द्वारा समूल जलाने की चेष्टा न कीजिये। कही ऐसा न हो कि पाण्डवों के साथ विरोध करने के कारण आपको पुत्र, मंत्री और सेना के साथ यमलोक मे जाना पड़े।"[1]

---

1. सभा प. 55/2–16 पू., सभा प. 62/3–16 गो.

'महात्मा विदुर युद्ध के मूल द्यूत के 'दुर्गुणों को पहले ही जानते थे। अतः उन्होंने प्रारम्भ से ही युद्ध के सूत्रपातों को रोकने का पुनः-पुनः प्रयास किया। कौरव (धार्तराष्ट्रों) और पाण्डवो का युद्ध न हो यह विचार कर विदुर धृतराष्ट्र से फिर इस प्रकार बोले" देवता-लोग जिसे पराजय देते है उसकी बुद्धि को पहले ही हर लेते हैं, निश्चय ही विनाशकाल उपस्थित होने पर मलिन बनी हुई बुद्धि में न्याय के समान प्रतीत होने वाला अन्याय हृदय से बाहर नही निकलता। हे भरतर्षभ ! आपके पुत्रो की वह बुद्धि पाण्डवो के प्रति विरोध से व्याप्त हो गई है, आप इन्हें पहिचान नही रहे हैं। महाराज ! राजलक्षणो से सम्पन्न युधिष्ठिर त्रिलोकी का स्वामी होने योग्य है, फिर वह आपका आज्ञाकारी युधिष्ठिर क्या इस भूमि का भी शासक होने योग्य नही है अर्थात् अवश्य है। वह धर्मार्थतत्ववेता अपने तेज और बुद्धि से आपके सब पुत्रो से बढ़-बढ़कर है।[1] अतः उसे आप उसका पैतृक राज्य दे दो जिससे कि युद्ध न हो।

राजा धृतराष्ट्र ने भी यह स्वीकार किया कि मैंने धर्मज्ञ युधिष्ठिर के साथ मिथ्या व्यवहार किया। अतः वे युद्ध करके मेरे पुत्रो को मार डालेंगे। मेरा मन सदैव इसी भय से उद्विग्न रहता है, इसलिये जो उद्वेग शून्य और शान्त पथ हो, वही मुझे बताओ। तब विदुर ने कहा "राजन् ! पहले द्यूत क्रीड़ा मे द्रौपदी को जीती गई देखकर मैंने आपसे कहा था" आप द्यूत क्रीडा में आसक्त दुर्योधन को रोकिये, विद्वान लोग इस प्रवंचना के लिये मना करते है, किन्तु आपने मेरा कहना नहीं माना। महाराज ! आपके पुत्र पाण्डवों की रक्षा करें और पाण्डुपुत्र आपके पुत्रों की रक्षा करें। सब का एक ही कर्त्तव्य हो सभी सुखी और समृद्धिशाली होकर जीवन व्यतीत करें। कुरुराज ! आप पाण्डवों के साथ सन्धि कर लें, जिससे शत्रुओ को आपका छिद्र देखने का अवसर न मिले। नरदेव ! समस्त पाण्डव सत्य पर डटे हुये है, अतः आप अपने पुत्र दुर्योधन को रोकिये।[2]

"हे राजन् ! पाण्डवों के साथ युद्ध करने में जो दोष है उन पर दृष्टि डालिये, उनसे युद्ध छिड़ जाने पर इन्द्र आदि देवताओं को भी कष्ट उठाना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त पुत्रों के साथ वैर, नित्य उद्वेगपूर्ण जीवन, कीर्ति का नाश और शत्रुओं को अधिक आनन्द होगा। आकाश में तिर्यक, उदितधूमकेतु जैसे सारे संसार मे अशान्ति और उपद्रव खड़ा कर देता है, उसी तरह भीष्म-आप, द्रोणाचार्य और राजा युधिष्ठिर का बढा हुआ क्रोध इस ससार का संहार कर सकता है। मेरे मत

1. उ. प० 34/78–82 पू, 34/81–85 गी.
2. उ. प० 36/47–48, 69–72 पू, 36/49–50, 70–74 गी.

में आपके पुत्र वन के समान हैं और पाण्डव उसमें रहने वाले व्याघ्र हैं। आ व्याघ्रों सहित समस्त वन को नष्ट न कीजिये तथा वन से उन व्याघ्रों को दूर भगाईये, क्योंकि व्याघ्रों के बिना वन की रक्षा नहीं हो सकती और वन के बिन व्याघ्र नहीं रह सकते, क्योंकि व्याघ्र वन की रक्षा करते है और वन व्याघ्रों की हे नृपोत्तम ! अपने कुल में उत्पन्न वे अग्नि के समान तेजस्वी पाण्डव क्षमाभाव से युक्त और विकार शून्य हो काष्ठ में छिपी अग्नि की भाँति गुप्त रूप से (अपने गुण एवं प्रभाव को छिपाये हुये) स्थित है । आपके पुत्र तो लता के समान हैं और पाण्डव महान् शाल वृक्ष के सदृश हैं । लता तो कभी भी वृक्ष का आश्रय लिये बिना बढ़ नहीं सकती ।"[1]

"हे नरेश ! केवल जुआरी जिसकी प्रशंसा करते है नर्तक जिसकी प्रशंसा का गान करते हैं और वेश्यायें जिसकी बड़ाई किया करती हैं, वह मनुष्य जीवित ही मृतक के समान है । भारत ! आपने उन महान् धनुर्धर और अत्यन्त तेजस्वी पाण्डवों को छोड़कर यह महान् ऐश्वर्य का भार दुर्योधन के ऊपर रख दिया । इसलिये अतिशीघ्र ही उस ऐश्वर्यमद से मूढ़ दुर्योधन को त्रिभुवन के साम्राज्य से गिरे बलि की भाँति राज्य से भ्रष्ट होते हुये देखेंगे ।"[2]

हे राजन् ! आप समर्थ हैं । अतः वीर पाण्डवों पर कृपा कीजिये और उनकी जीविका के लिये कुछ ग्राम दे दीजिये । नरेश्वर ! ऐसा करने से आपको इस संसार में यश प्राप्त होगा । तात ! आप वृद्ध हैं, इसलिये आपको अपने पुत्रों पर शासन करना चाहिये । हे राजन् ! मुझे आप अपना हितैषी जानें । मै आपके ही हित की बात कह रहा हूँ । तात ! शुभ चाहने वाले को अपने जाति भाईयों के साथ झगड़ा नही करना चाहिये, अपितु उनके साथ मिलकर सुख का उपभोग करना चाहिये । जाति भाईयों के साथ परस्पर भोजन, बातचीत एवं प्रेम करना ही कर्त्तव्य है, उनके साथ कभी विरोध नहीं चाहिये । इस संसार में जाति भाई ही तारते और जाति भाई ही डुबोते हैं । उनमें जो सदाचारी हैं, वे तो तारते हैं और दुराचारी डुबो देते हैं । हे मानव ! आप पाण्डवों के साथ सद्व्यवहार करें । नरश्रेष्ठ ! आप पाण्डवों को अथवा अपने पुत्रों को मारे गये सुनकर पीछे संताप करेंगे, अतः इस बात का पहले ही विचार कर लीजिये । इस जीवन का कोई ठिकाना नही । अतएव जिस कर्म के करने से (अन्त में) खटिया पर बैठकर पछताना पड़े उसको पहले से नहीं करना चाहिये । हे राजन् ! बीत गया सो तो बीत गया

---

1. उ. प. 37/38–60 पू., 37/42–63 गी.
2. वही प. 38/12–44 पू., 38/45–47 गी.

शेष कर्त्तव्य का विचार आप जैसे बुद्धिमान् पुरुषों पर ही निर्भर है। हे नरेश्वर! दुर्योधन ने पहले यदि पाण्डवों के प्रति यह अपराध किया है तो आप इस कुल मे बड़े-बूढ़े है, आपके द्वारा उसका मार्जन हो जाना चाहिये। हे नरश्रेष्ठ! यदि आप उनको राज्यपाद पर प्रतिष्ठित कर देंगे तो संसार में आपका कलंक धुल जायेगा और आप बुद्धिमान् पुरुषों के माननीय हो जायंगे।"[1]

महात्मा विदुर धृतराष्ट्र के सुप्रसिद्ध सम्मत्ति दाता थे। इसका प्रमाण हम पहले दे चुके हैं कि धृतराष्ट्र उनके बिना एक दिन भी नहीं रह सकते थे। उनकी नीति इसी कारण बाद में 'विदुर नीति' से विख्यात हुई क्योंकि उनकी नीति जन हितैषिणी और न्यायानुकूल होती थी। उन कौरव हितैषी महात्मा विदुर ने धृतराष्ट्र को अपने ज्ञान भण्डार की अमूल्यमणियों के प्रकाश से प्रकाशित कर सुमार्ग पर चलाना चाहा, जिससे कि कुरुकुल युद्ध की ज्वाला में भस्म न हो, किन्तु मोहान्ध और जन्मान्ध धृतराष्ट्र सुमार्ग पर नही चले। अतः महायुद्ध होकर ही रहा।

2. भीष्म के प्रयत्न :—विदुर की विश्वस्तता के बाद धार्तराष्ट्रों के पक्ष के लिये महात्मा भीष्म बल में, बुद्धि में आयु में और अनुभव में उत्तम सम्मति दाता हैं। अतः उन्होंने धार्तराष्ट्रों का पक्ष लेते हुये भी उनको काल के गाल से बचाने हेतु इस प्रकार प्रयत्न किये।

सूतपुत्र संजय धृतराष्ट्र का सन्देश कहकर जब पाण्डवों के पास से लौटकर हस्तिनापुर आये तथा अर्जुन का सन्देश सभा मे कहकर सुनाया, तब शान्तनुनन्दन भीष्म ने भी युद्ध का निवारण करने के लिये दुर्योधन को इस प्रकार कहा "हे गान्धारिनन्दन! ये श्रीकृष्ण नारायण और यह फाल्गुन नर है। ये दोनों त्रिलोकी मे देवों और दानवों दोनों के द्वारा अजेय हैं। वत्स दुर्योधन! जब तुम देखोगे कि दोनो सनातन महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन एक ही रथ पर बैठे हैं, श्रीकृष्ण के हाथ मे शंख, चक्र और गदा है और भयंकर धनुष धारण करने वाले अर्जुन निरन्तर नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र लेते और छोड़ते जा रहे है, तब तुम्हें मेरी बाते याद आयेंगी। यदि तुमने मेरी बात नहीं मानी तो समझलो कि कुरुकुल का विनाश अवश्य ही होगा। तात! तुम्हारी बुद्धि अर्थ और धर्म दोनों से भ्रष्ट हो गयी है। यदि मेरा कहना नही मानेंगे अर्थात् पाण्डवों को अपना आधा राज्य

---

1. उ. प. 39/19–30 पू, 39/21–32 गी.

देकर युद्ध को नही बचाओगे तो एक दिन सुनोगे कि हमारे बहुत से सगे सम्बन्धी मार डाले गये, क्योंकि सब कौरव तुम्हारा ही अनुसरण कर मृत्यु का आलिंगन करेंगे।"[1]

भगवान् श्रीकृष्ण के समझाने पर भी दुर्योधन नही समझा और गोविन्द युद्ध को ही अवश्यम्भावी मानकर पाण्डवो के पास लौट गये। उनके जाने के पश्चात् भी भीष्म और द्रोण कुरुकुल के हित हेतु न चाहते हुये भी दुर्योधन को महासमर को टालने के लिये इस प्रकार बोले "कुरुनन्दन ! कुन्ती के पुत्र श्रीकृष्ण की सम्मति के अनुसार अब कदापि राज्य लिये बिना शान्त नही रह सकते। अब अस्त्र विद्या में पारंगत अर्जुन और युद्ध का दृढ़ निश्चय रखने वाले भीमसेन को पाकर, गाण्डीवधनुष अक्षयबाणो से भरे हुये दो तरकश, दिव्य रथ और ध्वज को हस्तगत करके, बल और पराक्रम से सम्पन्न नकुल और सहदेव को युद्ध के लिये उद्यत देखकर तथा भगवान् श्रीकृष्ण को भी अपनी सहायता के रूप में पाकर युधिष्ठिर तुम्हारे पूर्व अपराधो को क्षमा नही करेंगे। महाबाहो ! विराटनगर मे हुई हमारी पराजय को तुम भूले न होगे कपिध्वज अर्जुन ने भूतेश से पाशुपतास्त्र लेकर निपातकवचो को दग्ध कर डाला था। घोषयात्रा मे कर्ण और तुम्हारे हार जाने पर पाण्डवो ने ही तुम्हारी रक्षा की थी। उनकी शक्ति को समझने के लिये यही उदाहरण पर्याप्त है। अत. भरतश्रेष्ठ ! तुम अपने ही भाई पाण्डवो के साथ सन्धि करलो। यह सारी पृथ्वी मौत की दाढ़ो के बीच में जा पहुँची है। तुम सन्धि के द्वारा इसकी रक्षा करो। तुम अपने मन का सारा कलुष यही धोकर और बहाकर उन पुरुषसिंह युधिष्ठिर की शरण मे जाओ। भीम के बड़े भाई तुम्हे आते देख सौहार्दवश अपने दोनो हाथो से पकड़ कर हृदय से लगा लेंगे। सिंहस्कन्ध भीमसेन भी तुम्हे दोनो भुजाओ में भरकर वक्षस्थल से चिपका लेंगे। कमलनयन धनंजय तुम्हे हाथ जोडकर प्रणाम करेंगे। यमज नकुल सहदेव भी तुम्हे आदर-पूर्वक देखकर तुम्हारी सेवा मे उपस्थित हो जायेंगे। भूपाल ! तुम अभिमान छोड़कर अपने इन बिछुड़े हुये भाईयो से मिल जाओ और यह अपूर्वमिलन देखकर श्रीकृष्णादि सब नरेश अपने नेत्रों से आनन्द के आंसू बहावें। तदनन्तर तुम अपने भाईयो के साथ इस सारी पृथ्वी का शासन करो और ये राजा- लोग मिल-जुलकर हर्षपूर्वक यहां पधारें। राजेन्द्र ? इस युद्ध मे तुम्हे कोई लाभ नही होगा। तुम्हारे हितैषी सुहृद जो तुम्हे युद्ध से रोकते है, उनकी वह बात सुनो और मानो, क्योंकि युद्ध छिड़ जाने पर क्षत्रियो का निश्चय ही विनाश दिखाई दे रहा है।"[2]

---

1. उ. प. 48/20-26 प., 49/20-26 गी.
2. उ. प. 136/2-20 पू., उ. प. 138/3-20 गी.

अतः हे सुयोधन सर्वक्षत्रिय कुल के कल्याण हेतु तुम युद्ध से विरत हो जाओ
ही मे तुम्हारा भी कल्याण संनिहित है।

भीष्म-द्रोणादि द्वारा बहुत समझाने पर भी जब दुर्योधन नहीं माना तो युद्ध
रम्भ हो गया। युद्ध में महात्मा-भीष्म ने प्रतिदिन दसहजार वीरों का संहार
या, किन्तु दसवें दिन गाण्डीवधनुषधारी अर्जुन के द्वारा महात्मा-भीष्म रण भूमि
गिरा दिये गये। भीष्म-पितामह का शरीर बाणों से इतना बिंध गया था कि वह
मि का स्पर्श नहीं कर सके और शरशय्या पर ही स्थित हो गया। शरशय्या पर
यत रहते हुये भीष्म ने जल मागा तो अर्जुन ने अपनी अस्त्र विद्या के द्वारा उन्हें
मि से धारा निकाल कर जल पिलाया तथा उनके लटकते हुये सिर के लिये बाणों
ा उपधान लगाया। तब उन्होने दुर्योधन को इस क्षात्रविनाशकारी भयंकर युद्ध को
वारण करने के लिये इस प्रकार समझाया "हे तात! महात्मा अर्जुन को कोई
ी जीत नहीं सकता जिस महामनस्वी पुरुष के ये अलौकिक कर्म प्रत्यक्ष दिखायी
ते हैं, जो धैर्यवान् युद्ध में शूरता दिखाने वाले तथा संग्राम मे सुशोभित होने वाले
, राजन्! उन अस्त्रविद्या के विद्वान अर्जुन के साथ इस समरभूमि मे तुम्हारी
ीघ्र सन्धि हो जानी चाहिए। इसमें विलम्ब न हो। हे कुरुश्रेष्ठ! जब तक महा-
ाहु श्रीकृष्ण अपने लोगों के प्रेम के अधीन हैं तभी तक शूरवीर अर्जुन के साथ
ुम्हारी सन्धि हो जाय तो ठीक है। हे राजन्। इस समरभूमि में मरने से बचे हुये
ुम्हारे सहोदर जब तक विद्यमान हैं जब तक बहुत से नरेश जीवन धारण कर रहे
; तभी तक तुम अर्जुन के साथ सन्धि करलो। हे तात! जब तक युधिष्ठिर रण-
ूमि में क्रोध से प्रज्वलित नेत्र होकर तुम्हारी सारी सेना को भस्म नहीं कर डालते
ैं तभी तक उनके साथ तुम्हें सन्धि कर लेनी चाहिये। महाराज! नकुल सहदेव तथा
भीमसेन—सब मिलकर जब तक तुम्हारी सेना का सर्वनाश नहीं कर डालते हैं,
तभी तक पाण्डव वीरों के साथ तुम्हारा सौहार्द स्थापित हो जाय। हे वत्स। मेरे
अन्त के साथ ही इस युद्ध का भी अन्त हो जाय। अतः तुम पाण्डवों के साथ सन्धि
करलो। हे अनघ! मैंने जो बातें तुम से कही हैं वे तुम्हें रूचिकर प्रतीत हों। मैं
सन्धि को ही तुम्हारे तथा कौरवकुल के लिये कल्याणकारी मानता हूं।

हे तात! तुम क्रोध छोड़कर पाण्डवों के साथ सन्धि करलो। अर्जुन ने आज
तक जो किया है, उतना ही बहुत है। पाण्डवों को आधा राज्य दे दो जिससे धर्म-
राज युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ चले जायें। कौरवराज! ऐसा करने से तुम राजाओं में
मित्रद्रोही और नीच नहीं कहलाओंगे तथा तुम्हें पापपूर्ण अपयश भी प्राप्त नही
होगा। हे दुर्योधन! यदि तुम मोहवश अपनी मूर्खता के कारण मेरे इस समयोचित
वचन को नही मानोगे तो अन्त में पश्चाताप करोगे तथा युद्ध में तुम सब लोगों का

ग्रन्त हो जायेगा। किन्तु जिस प्रकार मरणासन्न पुरुष को कोई ग्रोषधि ग्रच्छी नहीं लगती उसी प्रकार महात्मा भीष्म का वह धर्म ग्रौर ग्रर्थ से युक्त परम हितकर ग्रौर निर्दोष वचन दुरात्मा दुर्योधन को रुचिकर नहीं लगा।[1]

संसार में मरणासन्न पुरुष की ग्राकांक्षायें पूर्ण की जानी चाहिये ऐसा महापुरुष तथा शास्त्र कहते है, किन्तु दुर्मति दुर्योधन ने महात्मा भीष्म की ग्रन्तिम इच्छा भी पूर्ण नहीं की। ग्राज वे उसी के कारण क्षण-क्षण शरविद्ध शरीर से कष्ट पा रहे है, किन्तु उस दुष्टात्मा ने भीष्म के द्वाराकृत सभी प्रयत्नों को व्यर्थ कर दिया। महात्मा भीष्म, शौर्य, धैर्य, ब्रह्मचर्य, ग्रनुभव ग्रौर दीर्घायु के ग्राधार पर कल्याण किस में है वह जानते थे। ग्रत: वे चाहते थे कि कुरुकुल का नाश करने वाला यह भयंकर रणयज्ञ ग्रब भी बन्द हो जाये ग्रौर क्षत्रियगण इसमें ग्राहूत न हो, किन्तु तुलसी के शब्दों में "मूरख हृदय न चेत् जो गुरुमिलहिं विरंचिसम" वाली बात चरितार्थ होकर रही ग्रौर भीष्म द्वारा बड़े प्रेम ग्रौर नम्रता से समझाने पर भी दुर्योधन ने एक न मानी। ग्रत. उनके द्वारा इस भयंकर रण को टालने हेतु किये गये उपर्युक्त सभी प्रयत्न उसी प्रकार व्यर्थ गये जैसे ऊषर भूमि में डाला गया बीज व्यर्थ चला जाता है ग्रौर होने वाला महासमर होकर ही रहा।

3. द्रोण के प्रयत्न :— भीष्म ग्रौर द्रोण दोनों ही कौरवों के शुभ चिन्तक एवं लगभग समान वीर्यवान्, ग्रायुष्मान् ग्रनुभवी ग्रौर तेजस्वी थे। ग्राचार्य द्रोण सकल धनुर्वेद के ज्ञाता थे ग्रौर कौरव-पाण्डवों के प्रात:वन्दनीय गुरुवर थे। वे दुर्योधन का ग्रन्न खाते थे। ग्रत: उसका हित विशेष चाहते थे ग्रौर उसे संकट से उन्मुक्त कराना चाहते थे। ग्रत: भीषण संग्राम को उपस्थित देख उन्होंने भी भीष्म का ही ग्रनुसरण करते हुये पापात्मा दुर्योधन से कहा "हे नरेश्वर! जो कुछ भीष्म ने कहा है तुझे वही करना चाहिये। जो लोग ग्रर्थ ग्रौर काम के लोभी हैं, उनकी बातें तुमको नहीं माननी चाहिये। मैं तो युद्ध की ग्रपेक्षा पाण्डवों के साथ सन्धि करना ही श्रेयस्कर मानता हूँ। ग्रर्जुन ने जो बात कही है ग्रौर संजय ने उनका जो सन्देश यहाँ सुनाया है, मैं वह सब जानता ग्रौर समझता हूँ। पाण्डुनन्दन ने जैसा कहा है वैसा करके ही दिखायेंगे। वत्स दुर्योधन! कुछ गम्भीरता से सोचो, क्योंकि पाण्डुनन्दन ग्रर्जुन के समान कोई धनुर्धर नहीं है।"[2]

जैसा कि हम भीष्म के प्रयत्नों में भी देख ग्राये है कि द्रोण ने ग्रपनी सम्मति भीष्म के साथ ही मिला दी है। ग्रत: दोनों ही ज्ञानवृद्ध ग्रौर वयोवृद्ध महानुभावों

---

1. भी. प. 116/39-52 पू. 121/43-57 गी.
2. उ. प. 148/43-45 पू, 149/44-46 गी.

की समान भी ही प्रवृत्ति इस महायुद्ध के निवारण हेतु रहीं, किन्तु जिस प्रकार चिकने घड़े पर जल की बूंद नहीं ठहरती वैसे ही मूर्ख दुर्योधन के हृदय में इन तीनों ही महानुभावों की एक भी बात नहीं बैठी और उसने क्षत्रियनाशक रण-यज्ञ रचाया ही।

4 धृतराष्ट्र के प्रयत्न :—ज्ञान-वृद्धों और वयोवृद्धों में महात्मा धृतराष्ट्र भी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। दुर्योधन इन्हीं का आत्मज था, जो युद्ध का मूल था। यदि धृतराष्ट्र दुर्योधन को मना लेते, उससे अपनी आज्ञा का पालन करवा लेते या उसे इस निन्दनीय कृत्य के लिये आज्ञा नहीं देते तो हो सकता था कि यह भीषण संग्राम नहीं होता, फिर भी धृतराष्ट्र ने समय-समय पर इस महासमर को टालने हेतु अनेक प्रयत्न किये, जिनका प्रमाण इस प्रकार प्रस्तुत है :—

महाराज धृतराष्ट्र और विदुर के बहुत समझाने पर भी जब दुर्योधन नहीं माना और धृतराष्ट्र को आत्मविनाश का भय दिखाकर द्यूत में प्रवृत्त हो ही गया, तब द्यूत के दुष्परिणाम सामने आने लगे। दुर्योधन ने जब भरी सभा में द्रौपदी को अपनी वाम जंघा वस्त्रहीन करके दिखाई तो भीमसेन ने महासमर में उस जंघा को तोड़ देने की प्रतिज्ञा की। भीम की भीषण प्रतिज्ञा सुनकर विदुर ने धार्तराष्ट्रों को कहा "भीम की यह प्रतिज्ञा तुम लोगों के नाश का मूल है" ऐसा कहने के अनन्तर उस समय बहुत से अपशकुन हुये जिन्होंने इस बात की पुष्टि कर दी। महाराज धृतराष्ट्र भी तब अमंगल शब्दों को सुनकर भयभीत हो उठे और उन्होंने दुर्योधन की भर्त्सना करते हुये द्रौपदी की प्रशंसा की। साथ ही भावी संग्राम के निवारण करने के लिये उन्होंने द्रौपदी को वरदान मांगने हेतु कहा "हे पांचाली! मुझसे यथेच्छ वरदानों का वरण करलो।" तब द्रौपदी ने पहला वरदान यह मांगा कि महाराज युधिष्ठिर को दासत्व से मुक्त कर दिया जावे। महाराज धृतराष्ट्र ने फिर कहा "कल्याणी! अब मैं तुम्हें दूसरा वरदान देना चाहता हूं" हे भद्रे! तुम पुनः वरदान मांगो।" तब द्रौपदी ने दूसरा वरदान यह मांगा कि भीमसेन, धनंजय तथा नकुल सहदेव अपने रथों और आयुधों सहित स्वतन्त्र हो जावें। धृतराष्ट्र ने यह वरदान भी दे दिया। इन वरदानों के द्वारा चारों ओर शान्ति हो गई और उस समय जो भावी युद्ध की आशंका बन गई थी वह दूर हो गई।[1]

किन्तु पाण्डवों को पुनः बुलाकर द्यूत द्वारा बारह वर्ष का वनवास और एक वर्ष का अज्ञात वास दे डाला। वीर पाण्डव इसे भी भोग कर जब अपने पैतृक राज्य

---

1. सभा प. 63/10–32 पू., 71/10–32 गी.

की माँग करने लगे तो दुर्योधन ने सूई की नोक के समान भूमि देने से भी मनाकर दिया। तब धृतराष्ट्र ने यह सोचकर कि कैसे भी सन्धि हो जाय और युद्ध टल जावे। इसके लिये संजय को दूत बनाकर पाण्डवों के पास भेजा।

संजय अपने प्रयास करके जब लौटकर आये तो उन्होने भरी सभा में पाण्डवों के सन्देश कह सुनाये। पाण्डवों के सन्देशों को पाकर भीष्म और द्रोण ने दुर्योधन को बहुत समझाया, किन्तु जब वह युद्ध करने से नहीं माना तो स्वयं जनक धृतराष्ट्र ने उसे इस प्रकार कहा "हे कौरव। मैं पाण्डवों के साथ युद्ध न करने को ही कल्याणमय मानता हूँ। तुम्हें यह भलीभांति समझ लेना चाहिये कि यदि युद्ध हुआ तो सम्पूर्ण कुल का नाश निश्चित है। मेरी बुद्धि का तो यही सर्वोत्तम निश्चय है कि युद्ध न हो। मुझे इसी निर्णय से शान्ति मिलती है। अतः तुम भी यही अभीष्ट बनाकर युद्ध का निवारण करने हेतु युधिष्ठिर के पास शान्ति प्रस्ताव प्रस्तुत करो। युधिष्ठिर हमें क्लेश (युद्ध की चर्चा) में पड़े देखकर हमारी उपेक्षा नही करेंगे। वे तो मुझे अधर्म पूर्वक कलह बढ़ाने में कारण मानकर मेरी निन्दा करते है। अतः हमारे द्वारा शान्ति प्रस्ताव उपस्थित किये जाने पर वे अवश्य सहमत होंगे।[1]

संजय ने धृतराष्ट्र की राजसभा में जब धृष्टद्युम्न का सन्देश कहा तो धृतराष्ट्र ने धृष्टद्युम्न के सारवचन सुनकर युद्ध न करने हेतु दुर्योधन से इस प्रकार कहा "हे भरत सत्तम दुर्योधन! तुम युद्ध से निवृत्त हो जाओ। श्रेष्ठ पुरुष किसी भी दशा में युद्ध की प्रशसा नही करते। हे शत्रुदमन पुत्र! तुम पाण्डवो को उनका यथोचित राज्य भाग दे दो। हे वत्स! मंत्रियों सहित तुम्हारे जीवन निर्वाह के लिये तो आधा राज्य ही पर्याप्त है। समस्त कौरव यही धर्मानुकूल समझते हैं कि तुम महात्मा पाण्डवों के साथ सन्धि करके आपस मे शान्ति बनाये रखने की बात स्वीकार कर लो। हे पुत्र। तुम अपनी सेना की ओर दृष्टिपात करो। यह तुम्हारा विनाशकाल ही उपस्थित हुआ है, किन्तु तुम मोहवश इस बात को समझ नही रहे हो। देखो मैं बाह्लीक, भीष्म, द्रोण, द्रौणि, संजय सोमदत्त, शल, कृपाचार्य, सत्यव्रत, पुरुमित्र जय और भूरिश्रवा भी युद्ध के पक्ष में नही है।"[2] अतः हे तात! किसी के द्वारा भी अनुमोदन न मिलने पर तुम्हें युद्ध से विरत हो जाना चाहिये। इसी में सब का कल्याण है।

---

1. उ. प. 52/14–16 पू., 53/14–16 गी.
2. उ. प. 57/2–7 पू., 58/2–7 गी.

आचार्य द्रोणकृप विकर्णादि जब सब दुर्योधन को समझा चुके तो धृतराष्ट्र उसकी पराजय के ठोस प्रमाण देते हुये बोले "वत्स मैं कुरुकुल का सर्वथा हित चाहता हूँ। आचार्यादि भी निश्चय ही तुम्हारे हितैषी है, अतः मेरे ही समान तुम्हें इनका भी आदर करना चाहिये। तुम्हें याद होगा कि विराटनगर में अपने भाइयों सहित तुम्हारी जो सारी सेना युद्ध हेतु गई थी, वह वहाँ सारी गायों को छोड़कर भयभीत होकर पलायन कर गई। वहाँ फिर एकाकी अर्जुन का बहुतों के साथ अत्यन्त अद्भुत युद्ध हुआ। मैं सोचता हूँ जब एक अर्जुन ने ही इतना अद्भुत कार्य कर डाला तब वे सब भाई मिलकर क्या नहीं कर सकते। अतः तुम पाण्डवों को अपना भाई ही समझो और उनकी वृत्ति (स्वत्व) उन्हें देकर उनके साथ भ्रातृत्व बढ़ाओ और युद्ध की भीषण ज्वाला से सबकी रक्षा करो।"[1]

महर्षि नारद के द्वारा समझाने पर भी जब दुर्योधन युद्ध न करने को राजी न हुआ तो धृतराष्ट्र ने अपने प्रयत्नों को विफल देखकर यह चाहते हुये कि किसी भी प्रकार दुर्योधन युद्ध न करने के लिये मान जावे, जगन्नियन्ता श्रीकृष्ण से दुर्योधन को समझाने हेतु प्रार्थना की "हे जनार्दन मैं अपने वश मे नही हूँ। दुर्योधन द्वारा जो कुछ किया जा रहा है वह मुझे रुचिकर नहीं है किन्तु क्या करूँ? मेरे दुरात्मा पुत्र मेरी बात नहीं मानते। महाबाहु पुरुषोत्तम! शास्त्र की आज्ञा का उल्लंघन करने वाले मेरे इस मूर्ख पुत्र दुर्योधन को आप ही समझा बुझाकर ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न कीजिये। हे हृषीकेश! यह सत्पुरुषों की कही हुई बातें नहीं सुनता गान्धारी, बुद्धिमान् विदुर तथा हित चाहने वाले भीष्म आदि अन्यान्य सुहृदों की भी बातें नही सुनता है। जनार्दन! दुरात्मा दुर्योधन की बुद्धि पाप में लगी हुई है। यह पापी क्रूर और विवेक शून्य है। आप इसे समझाइये। यदि आप इसे सन्धि के लिये प्रसन्न कर लें तो आपके द्वारा सुहृदों का यह बहुत बड़ा कार्य सम्पन्न हो जायेगा।"[2]

जिसका जिसके साथ रक्त का सम्बन्ध होता है उसे उस व्यक्ति के लिये उतनी ही दुःख-सुख की अनुभूति होती है जितनी अपने लिये। दुर्योधन के अन्धकार-मय भविष्य को देखकर धृतराष्ट्र को बहुत दुःख होता था क्योंकि वह उसका निजी पुत्र था। अतः अपने पुत्र-मरण के दुख से संतप्त होकर वह यह चाहता था कि यह महाभयंकर महाभारत का युद्ध न हो, इसके लिये उसने अपने द्वारा किये जाने वाले सब प्रयत्न किये, किन्तु जब वह कृतकार्य न हो सका तो उसने जगन्नियन्ता

1. उ. प. 63/12-16 पू., 65/12-16 गी.
1. उ. प. 122/2-6 पू., 124/2-6 गी.

आनन्दकन्द श्रीकृष्ण से उसे समझाकर सुपथ पर लाने की प्रार्थना की। भगवान् कमलनयन ने भी पूरा प्रयास किया किन्तु महामूर्ख दुर्योधन ने किसी की भी न मानी तथा अपने साथ अन्यों को भी महासमर में घसीट ले गया तथा सदैव के लिये रणभूमि में सुलवा दिया।

5. गान्धारी के प्रयत्न :—माता को पुत्र पिता से भी अधिक प्यारा होता है। कहा जाता है "कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।" यह उक्ति दुर्योधन और माता गान्धारी पर पूर्णरूपेण घटती है। गान्धारी के वास्तव में ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधन कुपुत्र था, किन्तु माता गान्धारी कुमाता नहीं थी। अतः वह चाहती थी कि मेरा कुपुत्र दुर्योधन जैसा भी है रहे, किन्तु पाण्डवों से विग्रह करके पंचत्व को प्राप्त न हो और उसके पथ के पथिक अन्य सहोदर भी यम के अतिथि न बनें। अतः उसने समय-समय पर दुर्योधन को बार-बार समझाकर महायुद्ध से विरत हो जाने के लिये प्रेरणा दी।

भगवान् श्रीकृष्ण ने जब धृतराष्ट्र को यह सम्मति दी कि कुरुकुल के कल्याण के लिये महासमर न हो। अतः दुर्योधन को बन्दी बनाकर पाण्डवों से सन्धि कर लो। श्रीकृष्ण का यह कथन सुनकर राजा धृतराष्ट्र ने विदुर को दूरदर्शिनी गान्धारी को बुलाने भेजा। विदुर धृतराष्ट्र के आदेश से दूरदर्शिनी गान्धारी को सभा में बुला लाये। उसी समय धृतराष्ट्र ने कहा "गान्धारी! तुम्हारा दुरात्मा पुत्र गुरुजनो की आज्ञा का उल्लंघन अशिष्ट पुरुष की भांति कर पापी साथियो के साथ सभा से बाहर निकल गया है।" तब गान्धारी ने कहा "महाराज! राज्य की कामना से आतुर हुये अपने पुत्र को शीघ्र बुलवाइये।" तब पिता धृतराष्ट्र और माता गान्धारी की आज्ञा से महात्मा विदुर असहिष्णु दुर्योधन को पुनः सभा में बुला ले आयें। दुर्योधन की आँखें लाल हो रही थी, वह फुफकारते हुये सर्प की भांति स्वांस खीचता हुआ सभा मे पुनः प्रविष्ट हुआ। अपने कुमार्गगामी पुत्र को पुनः सभा में आया देख गान्धारी उसकी निन्दा करती हुई युद्ध को टालने तथा शान्ति स्थापना के लिये इस प्रकार बोली। "भरतश्रेष्ठ! तुम्हारे माता-पिता पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण, कृपाचार्य और विदुर तुमसे जो कुछ कहते हैं उसे सुहृदता के नाते मान लो, क्योकि जिसने अपनी इन्द्रियों को वश में नही किया है वह दीर्घकाल तक राज्य का उपभोग नही कर सकता। तात्! पाण्डव परस्पर संगठित हो गये हैं वे परमज्ञानी, शूरवीर तथा शत्रुसंहार में समर्थ हैं। तुम उनके साथ मिलकर सुखपूर्वक पृथ्वी का राज्य भोग सकोगे।

तात्! युद्ध करने में कल्याण नही है। उससे धर्म और अर्थ की प्राप्ति नही सकती, फिर सुख तो मिल ही कैसे सकता है? युद्ध मे सदैव विजय ही हो, यह

भी निश्चित नहीं है, अतः उसमें मन न लगाओ। हे शत्रुदमन पुत्र यदि तुम अपने मन्त्रियों सहित राज्य भोगना चाहते हो तो पाण्डवों को उनका यथोचित भाग—आधा राज्य दे दो। भारत ! भूमण्डल का आधा राज्य ही तुम्हारे जीवन निर्वाह के लिये पर्याप्त है। तुम सुहृदों की आज्ञा के अनुसार चलकर सुयश प्राप्त कर लोगे। तात् ! पाण्डवों के साथ होने वाला कलह तुम को महान् सुख से वंचित कर देगा। पुत्र। पाण्डवों को तेरह वर्ष के लिये निर्वासित कर दिया गया, यही उनका महान् उपकार हुआ है। महामते ! तुम्हारे काम और क्रोध से इस उपकार की ओर भी वृद्धि हुई है। अतः अब सन्धि करके इसे शान्त कर दो। जिस समय भीष्म द्रोण, कृपाचार्य, कर्ण, भीमसेन, अर्जुन और धृष्टद्युम्न अत्यन्त कुपित होकर परस्पर युद्ध करेंगे, उस समय सारी प्रजा का विनाश अवश्यम्भावी होगा। तात् ! तुम क्रोध के वशीभूत होकर समस्त कौरवों का वध न कराओ। तुम्हारे लिये इस सम्पूर्ण भूमण्डल का विनाश नहीं होना चाहिये। तात् ! भरतश्रेष्ठ ! इस संसार में केवल लोभ करने से किसी धन की प्राप्ति होती नहीं दिखाई देती। अतः लोभ से कुछ सिद्ध होने वाला नहीं है। इसलिये पाण्डवों के साथ सन्धि करके सबको शान्ति प्रदान करो।"[1]

महाराज धृतराष्ट्र भी अन्य सभी बुद्धिमान् हितैषियों के साथ यह चाहते थे कि किसी भी प्रकार कुरुकुल का संहारक यह भीषण संग्राम न हो। अतः भीष्म द्रोणादिकों के द्वारा समझाने पर भी दुर्योधन जब युद्ध न करने के लिये प्रसन्न नहीं हुआ तो उन्होंने माँ के स्नेह का महत्त्व समझकर महारानी गान्धारी को दुष्ट दुर्योधन को समझाने हेतु बुलवाया। गान्धारी ने सभा में आकर दुर्योधन को अपने स्नेह का प्रदर्शन करते हुये वस्तुतः ऐसे समझाया कि जैसे एक बड़ी विदुषी एवं दूरदर्शिनी माता अपने पुत्र को नियन्त्रित करने के लिये पूर्ण प्रयत्न कर रही। गान्धारी का प्रयत्न एक आदर्शमाता के रूप में स्तुत्य है, किन्तु कुपुत्र यदि आज्ञा पालन कर ले तो फिर उसे कुपुत्र कौन समझे। अतः कुलगार नीच दुर्योधन ने अपनी जननी के वचनों का भी अनादर कर दिया क्योंकि उसके शीश पर तो मृत्यु नृत्य कर रही थी। अतः उसने तो अपने साथ-साथ अन्य क्षत्रियों को भी महायुद्ध में मरवा डाला।

6 संजय के प्रयत्न :—संजय महाराज धृतराष्ट्र के मंत्री थे। वे स्वामिभक्त, बुद्धिमान, नीतिज्ञ एवं धर्मज्ञ थे। वे सत्यवादी एवं निर्भीक थे। वे धृतराष्ट्र

---

2. उ. प. 127/1–53 पू., 129/1–54 श्री.

को उत्तम सम्मति देते थे और उनकी हित की दृष्टि से कभी-कभी कड़ी बातें भी कह दिया करते थे। अतः महाराज धृतराष्ट्र ने भीषण संग्राम को टालने के लिये मतिमान् संजय को पाण्डवों के पास सन्धि प्रस्ताव देकर भेजा। संजय ने धृतराष्ट्र का सन्धि हेतु प्रस्ताव रखते हुये संग्राम की निन्दा करते हुये उसके निवारण हेतु इस प्रकार प्रयत्न किये। पाण्डवों की भरी सभा में संजय ने कहा. "पाण्डुपुत्रों! जिसमें सबका विनाश दिखायी देता है जिससे पूर्णतः पाप का उदय होता है, जो नरक का हेतु है, जिससे अन्त में अभाव ही हाथ लगता है तथा जिसमें जय और पराजय दोनों समान है उस युद्ध जैसे कठोर कर्म के लिये कौन मतिमान् मनुष्य कभी उद्योग करेगा। जिन्होंने जाति और कुटुम्ब के हितकर कार्यों का साधन किया है, वे धन्य हैं। वे ही वस्तुतः पुत्र मित्र तथा बान्धव कहलाने योग्य हैं। धृतराष्ट्रो को चाहिये कि वे निंदित जीवन का परित्याग कर दें, जिससे कौरवकुल का अभ्युदय हो सके। हे कुन्तीनन्दनों! यदि आप लोग समस्त कौरवों को निश्चित रूप से अपना शत्रु मानकर उन्हें दण्ड देंगे कैद करेंगे अथवा उनका वध कर डालेंगे तो उस दशा में आपका जीवन कुटुम्बियों के वधकर्त्ता के नाते अच्छा नहीं समझा जावेगा और निन्दनीय जीवन तो मृत्यु तुल्य होता है। श्री केशव एवं सात्यकि आप लोगों के सहायक है। महाराज द्रुपद के बाहुवल से भी सुरक्षित हैं। ऐसी स्थिति मे देवताओं को सहायक के रूप में पाकर भी ऐसा कौन मनुष्य होगा जो आप लोगों को जीतने का साहस करे। राजन्! इसी प्रकार द्रोणाचार्य, भीष्म, अश्वत्थामा, शल्य, कृपाचार्य आदि वीरों तथा अन्य राजाओं सहित कर्ण के द्वारा सुरक्षित कौरवों को युद्ध में जीतने का साहस कौन कर सकता है। राजा दुर्योधन के पास एक विशाल वाहिनी एकत्र हो गयी है। कौन ऐसा वीर है, जो स्वयं क्षीण न होकर उस सेना का विनाश कर सके? मैं तो इस युद्ध में किसी भी पक्ष की जय हो या पराजय; कोई कल्याण की बात नहीं देखता।

उच्चकुलोद्भव कुन्ती-पुत्रों! आप अधम मनुष्यों के समान ऐसा निन्दित युद्ध जैसा कर्म कैसे कर सकते है? जिससे न तो धर्म की सिद्धि होने वाली है और न अर्थ की ही। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण तथा वृद्ध पांचालराज भी उपस्थित हैं। मैं इन सबको प्रणाम करके प्रसन्न करना चाहता हूँ, हाथ जोड़कर आप लोगो की शरण में आया हूँ। आप स्वयं विचार करें कि कुरु तथा सृंजयवंश का कल्याण कैसे हो? मुझे विश्वास है कि भगवान् श्रीकृष्ण अथवा अर्जुन इस प्रकार प्रार्थनापूर्वक कही हुई मेरी किसी भी बात को ठुकरा नहीं सकते। इतना ही नहीं मेरे मांगने पर अर्जुन अपने प्राण तक दे सकते हैं, फिर दूसरी किसी वस्तु के लिये तो कहना ही क्या है? विद्वान राजा युधिष्ठिर! मैं सन्धि-कार्य की सिद्धि के लिये ही

यह सब कुछ कर रहा हूँ। भीष्म तथा धृतराष्ट्र का भी यही अभिमत है और इसी से सब लोगों को उत्तम शान्ति प्राप्त हो सकती है।[1]

संजय के वचनों को सुनकर युधिष्ठिर ने दुर्योधन के कुकृत्यों पर प्रकाश डाल कर कहा "संजय अब भी पहले के समान सब कुछ हो सकता है, मैं अवश्य शान्ति धारण कर लूँगा, किन्तु इन्द्र-प्रस्थ पर पूर्ववत् मेरा ही राज्य रहे और दुर्योधन मेरा राज्य लौटा दे।" तब संजय ने युधिष्ठिर की प्रशंसा करते हुये कहा "राजन्। इस संसार में आपने बहुदक्षिणा-वाले यज्ञादि कर्म करके बहुत ख्याति अर्जित की है। पाण्डुकुमारों। यदि आप लोगों को राज्य के लिये चिरस्थायी विद्वेष के रूप में युद्धरूप पाप कर्म ही करना है, तब तो मैं यही कहूँगा कि आप बहुत वर्षों तक दुःखमय वनवास का कष्ट ही भोगते रहें। कुन्तीकुमारो। यह वनवास ही आप लोगों के लिये धर्मरूप होगा। हे पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर! अज्ञानी अथवा पापी मनुष्य भी युद्ध करके सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है और धर्मज्ञ तथा बुद्धिमान् पुरुष भी दुर्दैव-वशात् पराजित होकर ऐश्वर्य को हाथ से धो बैठता है। हे कुन्तीनन्दन। आपकी बुद्धि कभी अधर्म में नहीं लगती, आपने क्रोध में भी पापकर्म नहीं किया है, तो बताइये, कौनसा ऐसा प्रबल कारण है, जिसके लिये अब आप अपनी बुद्धि के विरुद्ध यह युद्ध जैसा भयंकर पापकर्म करना चाह रहे है? हे राजन्। समुद्र पर्यन्त सारी पृथ्वी को प्राप्त करके भी आप जरा मृत्यु, प्रिय अप्रिय तथा सुख-दुःख से छुटकारा नहीं पा सकते। आप इन सब बातों को भली प्रकार जानते हैं। अतः मेरी प्रार्थना है कि आप युद्ध न करें।"[2]

इसी प्रकार धनंजय और धृष्टद्युम्न के सन्देश धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन को कहकर संजय ने प्रयास किया कि युद्ध न हो, किन्तु हठी दुर्योधन ने किसी की न मानी। वस्तुतः संजय धृतराष्ट्र का एक बहुत ही बुद्धिमान् एवं दूरदर्शी मन्त्री था। उन्होंने समय-समय पर दुर्योधन के अत्याचारों का प्रतिवाद कर उसे मौत के मुँह से बचाना चाहा। इसी प्रकार महाराज धृतराष्ट्र को भी दुर्योधन का समर्थन करने पर कई बार फटकारा और चाहा कि यदि धृतराष्ट्र दुर्योधन को आज्ञा न दें, सह-मति न दें तो युद्ध टल जावे। संजय साम नीति के बड़े पक्षपाती थे। उन्होंने युद्ध को रोकने की बहुत चेष्टा की और दोनों ही पक्षों को युद्ध की बुराइयाँ बतलाकर तथा आपस की फूट के दुष्परिणाम की ओर ध्यान आकर्षित करते हुये समझाया। पाण्डवों ने इनकी बात मानली, किन्तु दुर्योधन ने इनके सन्धि प्रस्ताव को तिरस्कार

1. उ. प. 25/7–15 पू., 25/7–15 गी.
2. उ. प. 27/1–26 पू., 27/11–26 गी.

पूर्वक ठुकरा दिया। जिससे युद्ध का होना अनिवार्य हो गया। दैव का विधान ही ऐसा था। अतः युद्ध होकर ही रहा।

7. कृपाचार्य के प्रयत्न :—कृपाचार्य भी जब युद्ध करते-करते थक गये और दुर्योधन की युद्ध में हानि ही देखने लगे तो जितना युद्ध हो चुका उसके आगे अब युद्ध न हो तो श्रेष्ठ है, ऐसा सोचकर उन्होंने दुर्योधन को युद्ध से विरत होने हेतु कहा "हे दुर्योधन ! पाण्डव साधु पुरुष हैं तो भी तुम लोगों ने अकारण ही उनके साथ जो अभद्र व्यवहार किये उन्ही का यह फल तुम्हें मिला है। भरत श्रेष्ठ ! तुमने अपनी रक्षा के लिये प्रयत्नपूर्वक सारे जगत् के लोगों को एकत्र किया था, किन्तु तुम्हारा ही जीवन संशय में पड़ गया है। दुर्योधन ! अब तुम अपने शरीर की रक्षा करो, क्योंकि शरीर ही समस्त सुखों का भाजन है। जैसे पात्र के फूट जाने पर उसमे रखा हुआ जल चारों ओर बह जाता है। उसी प्रकार शरीर के नष्ट हो जाने पर उस पर अवलम्बित सुखों का भी अन्त हो जाता है। बृहस्पति की यह नीति है कि जब अपना बल कम या बराबर जान पड़े तो शत्रु के साथ सन्धि कर लेनी चाहिये। विग्रह तो उसी समय करें जब अपनी शक्ति शत्रु से बढ़ीचढ़ी हो।

हम लोग बल और शक्ति में पाण्डवों से हीन हो गये हैं। अतः इस अवस्था में पाण्डवों के साथ सन्धि कर लेना ही उचित है। हे राजन् ! यदि राजा युधिष्ठिर के सामने नतमस्तक होकर हम अपना राज्य प्राप्त करलें तो यही श्रेयस्कर होगा। मूर्खतावश पराजय स्वीकार करने वाले का कभी भला नहीं हो सकता। युधिष्ठिर दयालु है। वे राजा धृतराष्ट्र और श्रीकृष्णचन्द्र के कहने पर तुम्हे राज्य पर प्रतिष्ठित कर सकते है। राजन् ! मैं इस सन्धि को ही तुम्हारे लिये कल्याणकारी मानता हूँ, पाण्डवो के साथ किये जाने वाले युद्ध को नही। मैं यह सब कायरता या प्राण रक्षा की भावना से नही कर रहा अपितु तुम्हारे हित के लिये कह रहा हूँ। यदि बात मानोगे नही तो मरणासन्न अवस्था में मेरी यह बात याद करोगे।"[1]

धनुर्वेद के ज्ञाता कृपाचार्य जितने युद्ध विद्या में कुशल थे उतने ही राजनीति विशारद भी थे। अतः दुर्योधन के प्राणो को अधिक मूल्यवान् समझकर उसे सन्धि हेतु प्रेरित कर बचाना चाहते थे, क्योंकि प्राण रहने पर राज्य तो फिर भी प्राप्त किया जा सकता था, किन्तु प्राण ही न रहे तो राज्य किस काम का ? और ऐसी अवस्था में जबकि प्रायः सुयोधन के सब योद्धा मारे जा चुके थे तथा पाण्डवों को जीतना नितान्त असम्भव था, ऐसे समय सन्धि ही दुर्योधन के लिये सबसे उपयुक्त

1. श. प. 4/40–50 गी.

बात थी, किन्तु हठी दुर्योधन ने उनकी सम्मति भी नहीं मानी और दुर्दशा को प्राप्त होकर रणभूमि में सदैव के लिये सो गया।

8. द्रौणि के प्रयत्न :—आचार्य द्रोण ने अश्वत्थामा को अपनी सब विद्यायें दी थी। यहाँ तक कि नारायणास्त्र का प्रयोग केवल द्रौणि ही जानता था, आचार्य के प्रिय शिष्य धनंजय को इसका ज्ञान नहीं था। ऐसे महाधनुर्धर ने भी जब अर्जुन के द्वारा दुर्योधन की बहुत सी सेना को विनष्ट देखा तो दुर्योधन के हाथ को अपने हाथ में दबाकर उसे सान्त्वना देते हुये कहा "दुर्योधन अब प्रसन्न हो जाओ। पाण्डवों से सन्धि करलो। विरोध से कोई लाभ नहीं है। परस्पर के इस झगड़े को धिक्कार है। तुम्हारे गुरुदेव अस्त्रविद्या के महान् पण्डित थे। साक्षात् ब्रह्माजी के समान थे तो भी इस युद्ध में मारे गये और यही दशा भीष्मादि महारथियों की भी हुई। मैं और मेरे मामा कृपाचार्य तो अवश्य हैं। इसलिये अब तक बचे हुये हैं। अतः पाण्डवों के साथ मिलकर चिर-काल तक राज्य शासन करो। अर्जुन मेरे मना कर देने पर शान्त हो जायेंगे। श्रीकृष्ण भी तुम लोगों से विरोध नहीं चाहते। युधिष्ठिर तो सभी प्राणियों के हित में ही लगे रहते हैं। अतः वे मेरी बात मान लेंगे। भीम और नकुल सहदेव तो युधिष्ठिर के वश में है। इस प्रकार पाण्डवों के साथ तुम्हारी सन्धि हो जाने पर सारी प्रजा का कल्याण होगा। फिर तुम्हारी इच्छा से शेष सगे सम्बन्धी भाई बन्धु अपने अपने नगर को लौट जावें और समस्त सैनिकों को युद्ध से छुटकारा मिल जावे। हे नरेश्वर! यदि मेरी बात नहीं मानोगे तो निश्चय ही युद्ध में शत्रुओं के हाथ से मारे जाओगे और उस समय तुम्हें बड़ा पश्चाताप होगा।"[1]

अश्वत्थामा ने एक अन्यतम सुहृद के नाते दुर्योधन को युद्ध की प्रज्वलित ज्वाला में से निकालना चाहा था, किन्तु वह तो जैसे रणयज्ञ में जलना ही चाह रहा हो। अतः उसने अश्वत्थामा की बात को स्वीकार नहीं किया। दुर्योधन वस्तुतः हठी और मूर्ख था, उसके सिर पर काल नाच रहा था। अतः उसने किसी के भी हितकर वचनों को नहीं सुना और कर्ण पर भरोसा करके युद्ध पर ही दृढ़ रहा, जिसका परिणाम यह हुआ कि धार्तराष्ट्र कुल में पानी देने वाला भी नहीं बचा।

(फ) पाण्डव पक्ष

1. युधिष्ठिर के प्रयत्न :—महात्मा युधिष्ठिर एक उच्चकोटि के महापुरुष थे। वे धर्म के मूर्तिमान् स्वरूप थे। इनमें धैर्य, स्थिरता, सहिष्णुता, नम्रता,

---

1. कर्ण प. 88/20-24 गी.

दयालुता और अविचल-प्रेम आदि अनेक लोकोत्तर गुण थे। युधिष्ठिर जैसे सदाचार सम्पन्न थे वैसे ही विनयी भी थे। ये समयोचित व्यवहार में बड़े कुशल थे। गुरुजनों की मान मर्यादा का सदा ध्यान रखते थे। कठिन से कठिन समय में भी शिष्टाचार की मर्यादा को नहीं भूलते थे। युधिष्ठिर माता कुन्ती के ज्येष्ठ पुत्र थे। इनकी श्रेष्ठता स्पृहणीय थी। इनके सब भाई इनके अनुशासन में चलते थे। यह एक बहुत ही बड़ा गुण था। इस गुण के कारण ही सहिष्णु महात्मा युधिष्ठिर ने महाभारत के युद्ध को वर्षों तक रोके रखा, अन्यथा द्रौपदी और भीम तो इस रणयज्ञ को बहुत पहिले ही प्रारम्भ कर देना चाहते थे, किन्तु महात्मा युधिष्ठिर ने महान् धैर्य के साथ महाभारत के महा संग्राम को समय-समय पर रोकने के लिये सहिष्णुता के साथ इस प्रकार प्रयत्न किये।

महाराज धृतराष्ट्र के सन्देश को सुनकर महात्मा युधिष्ठिर ने गवलाण कुमार संजय के सामन युद्ध का बहिष्कार करने के लिये अपने प्रस्ताव इस प्रकार रखे "हे संजय तुमने मेरी ऐसी कौनसी बात सुनी है, जिससे मेरी युद्ध की इच्छा हुई है, जिसके कारण तुम भयभीत हो रहे हो? युद्ध करने की अपेक्षा युद्ध न करना ही श्रेष्ठ हैं। सूत! युद्ध न करने का अवसर पाकर भी कौन मनुष्य कभी युद्ध में प्रवृत्त होगा? सजय मेरा तो यह मत है कि युद्ध किये बिना यदि थोड़ा भी लाभ प्राप्त होता है तो उसे बहुत समझना चाहिये। जो इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले विषयो का अनुगामी होता है, वह सुख को पाने और दुःख को नष्ट करने की इच्छा से कर्म करता है, परन्तु वस्तुतः उसका सारा कर्म दुःखरूप ही है क्योंकि वह कष्टदायक उपायों से ही साध्य है। हे मतिमान् संजय! दूसरो का मानमर्दन करके अपना मान चाहने वाले ईर्ष्यालु, क्रोधी, अर्थ और धर्म का उल्लघन करने वाले कटुभाषी, दैत्यवशवर्ती, पापियों से प्रशंसित कामात्मा (भोगासक्त) धृष्ट, भाग्यहीन, मित्रद्रोही, तथा पापात्मा दुर्योधन का प्रिय चाहने वाले राजा धृतराष्ट्र ने समझते हुये भी धर्म और काम का परित्याग कर दिया। जब तक धार्तराष्ट्र विदुर की सम्मति से चले तभी तक वे समृद्धि को प्राप्त हुये। जब उन्होने विदुरसम्मति त्याग कर दिया तभी उनपर विपत्ति का पहाड आ टूटा। समस्त कौरव वहां एकत्र हुये और अन्य भूपाल भी इस बात को जानते है कि शत्रुदमन अर्जुन के उपस्थित रहते हुये दुर्योधन ने किस प्रकार छल से हमारा राज्य हर लिया। इसलिये धार्तराष्ट्र तब तक ही जीवित है, जब तक कि वे युद्ध में गाण्डीव धनुष का टन्कारघोष नही सुन रहे हैं। जब तक क्रोध मे भरे हुए भीमसेन को दुर्योधन नहीं देख रहा तब तक ही वह अपने राज्य प्राप्ति सम्बन्धी मनोरथ को सिद्ध हुआ समझे। हे सूत! यदि राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रो के साथ यह अच्छी तरह समझ लेगे कि पाण्डवों को राज्य न देने में कुशल नहीं

है तो धृतराष्ट्र के सभी पुत्र समरांगण में पाण्डवों की क्रोधाग्नि से दग्ध होकर नष्ट होने से बच जायेंगे। हे संजय! तुम यह भलीभांति जानते हो कि धृतराष्ट्रों का हमारे साथ कैसा व्यवहार रहा और हमारा उनके साथ कैसा? अब भी मैं शान्ति धारण कर लूंगा, किन्तु मेरा पूर्ववत् राज्य मुझे लौटा दिया जावे।"[1]

आनन्दकन्द श्रीकृष्ण ने जब महासमर को टालने के लिये कुछ उपाय सुझाये तो कुन्तीनन्दन धर्मराज ने अति विनम्र वाणी में इनसे युद्ध का विराम लगाने हेतु इस प्रकार स्वरवाधिकार प्रदान किया "हे केशव! जैसे आपको रुचिकर हो वैसा ही आप करें। हम तो केवल यह चाहते हैं कि हमें धर्म और अर्थ से वञ्चित न होना पड़े। हे मधुसूदन! ऐसे महान् संकट मे हम आपको छोड़कर किससे बात पूछें? आपका कल्याण हो। आप प्रसन्नतापूर्वक कौरवों के पास जाईये। हे विष्वक्सेन प्रभो! आप धृतराष्ट्रों के पास जाकर भरतवंशियो को शान्त कीजिये, जिससे हम सब लोग शुद्ध हृदय से प्रसन्नचित्त होकर एक साथ रह सकें। आप हमें लोगों के भाई और मित्र हैं। अर्जुन के तथा मेरे भी प्रीति-भाजन है। आपके सौहार्द के विषय में हमारे मन में कोई शंका नहीं है। आप उभय-पक्ष की भलाई के लिये वहां पधारिये। हे केशव! जो बात धर्मसंगत, युक्तियुक्त और हितकर हो, वह चाहे कठोर हो या कोमल आप अवश्य कहें क्योंकि आप हम दोनों के स्वार्थों से परिचित हैं। अतः जिस बात से हमारा और उनका हित हो वह आप दुर्योधन को बतावें।[2]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि महात्मा-युधिष्ठिर अत्यन्त धैर्यवान् और सहिष्णु थे। उनमे दुर्योधन के समान किसी भी प्रकार का हठ नही था। यहाँ तक कि वे तो अपने पांचों के लिये केवल पांच ग्राम प्राप्त करके भी सन्तुष्ट हो जाना चाहते थे। उन्होने परमर्धामान् श्रीकृष्ण को अपनी ओर से इसीलिये 'शान्तिदूत' बनाकर भेजा कि किसी भी प्रकार यह महारण टल जावे और इसीलिये उन्होने अपनी ओर से कोई शर्त न लगाकर, जैसे भी हितकर कार्य सिद्ध हो सके, श्रीकृष्ण पर ही सब कुछ छोड़ दिया। श्रीकृष्ण ने भी युधिष्ठिर की ओर से दोनों पक्षो के हित की बात दुर्योधन को भलीभांति समझाई, किन्तु जैसे चिकने घड़े पर बूंद नहीं ठहरती वैसे ही दुर्योधन के निष्ठुर और कलुषित हृदय पर एक भी बात नही बैठी और होनी होकर ही रही।

---

1. उ. प. 26/1-29 पू., 26/1-29 गी.
2. उ. प. 70/89-93 पू., 72/89-93 गी.

2. भीम के प्रयत्न :—यद्यपि ज्येष्ठता के नाते जो कुछ युधिष्ठिर कर देते थे वही सब पाण्डव स्वीकार कर लेते थे, किन्तु सभी को समयानुसार अपने-अपने विचार अभिव्यक्त करने का अधिकार था। अतः निजाधिकार का सदुपयोग करते हुये भीम ने भी भीषण संग्राम को टालने के लिये श्रीकृष्ण से इस प्रकार निवेदन किया "हे गोविन्द ! यह सुयोधन हमारे कुल के लिये कुलांगार है। काल से प्रेरित हुये इसने इस द्वापर युग के अन्त में जन्म लिया। अत. हे पराक्रमी श्रीकृष्ण ! जो कुछ भी आप उसे कहें, वह कोमल मधुर वाणी से ही कहें। आपका कथन धर्म और अर्थ से संयुक्त हो, उसमे उग्रता न हो। प्रायः श्रीमान् का सारा ही व्यवहार उसे रुचिकर हो, आपको इस प्रकार का प्रयत्न करना चाहिये। गोविन्द ! हम सब लोग नीचे पैदल चलकर, अत्यन्त नम्र होकर दुर्योधन का अनुकरण करते रहेंगे, परन्तु हमारे कारण से भरतवंशियों का नाश नही होना चाहिये। हे वासुदेव। कौरवो के साथ हमारा उदासीनता एवं तटस्थता का भाव बना रहे और किसी प्रकार भी कौरवो को अन्याय का स्पर्श न हो। आप वहाँ वृद्ध पितामह भीष्म एवं अन्य सभासदों से ऐसा करने के लिये ही कहें, जिससे सब भाईयों में सौहार्द बना रहे और दुर्योधन भी शान्त हो जावे। मैं इस प्रकार श्रीमान् से शान्ति स्थापना हेतु प्रार्थना कर रहा हूँ। महाराज युधिष्ठिर भी शान्ति की प्रशंसा करते हैं तथा अर्जुन भी युद्ध के इच्छुक नही है क्योंकि इनमे दया का प्राबल्य है।[1]

युद्धप्रिय भीमसेन से स्वप्न में भी यह आशा नही थी कि वह भी युद्ध को टालने के लिये शान्ति का समर्थन कर श्रीकृष्ण से निवेदन करेगा, किन्तु धर्मराजानुज भीम ने भी सब क्षत्रियों का कल्याण चाहते हुये भगवान् श्रीकृष्ण को बड़े ही विनम्र शब्दों में विनम्रता के ही साथ सब कुछ हल कर लेने हेतु प्रार्थना की। अच्युत पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण तो बहुत ही नीतिविशारद थे। अतः उन्होंने सभी उपायों को काम मे लिया किन्तु दुष्ट के सामने सफल न हो सके।

3. धनंजय के प्रयत्न :— भीम के शान्ति वचनों को सुनकर मितभाषी धनंजय ने भी इस प्रकार कुरुकुल के कल्याण हेतु विनम्रता से भरे वचन मुकुन्द को कहे "हे प्रभो ! जो कार्य सम्यक् सम्पादित किया जाता है वह सफलता को प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण आप ऐसा ही प्रयत्न करें जिससे शत्रुओं के साथ सन्धि हो जाये। वीरवर। जैसे प्रजापति ब्रह्मा देवताओं तथा असुरो के भी प्रधान हितैषी हैं, उसी प्रकार आप हम पाण्डवों तथा धार्तराष्ट्रों के भी प्रधान सुहृद हैं। अतः श्रीमान् ऐसा ही प्रयत्न करें जिससे उभयपक्षों का दुःख निवृत्त हो जाय। मेरा विश्वास है कि

1. उ. प. 72/18–23 पू., 74/18–23 गी.

हमारे लिये हित कर कार्य करना आपके लिये असाध्य नही है। जनार्दन! मुझे विश्वास है कि आप वहाँ जाने मात्र से यह कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न कर लेंगे।"[1]

धनंजय अत्यन्त पराक्रमी और विश्वविख्यात धनुर्धर थे, किन्तु मिथ्याभिमान तो उन्हें छू तक नहीं गया था। वे भगवान् श्रीकृष्ण के परमभक्त, सखा एवं प्रेमी थे तथा उनके हाथ के एक उत्तम यन्त्र थे। वासुदेव और अर्जुन में परस्पर खुला व्यवहार और अभिन्नहृदयता थी। अतः उन्होने श्रीकृष्ण से इसीलिये शान्तिस्थापना हेतु विशेष न कह कर बहुत ही कम शब्दों मे सब कुछ कह डाला तथा संक्षिप्त में ही दिखा दिया कि जैसे भी हो महासमर टाला जाना चाहिये, क्योकि इससे पृथ्वी वीरो से रिक्त हो जायेगी।

4. बलदेव के प्रयत्न :— अमित तेजस्वी बलदेव ने जब श्रीकृष्ण के युद्ध हेतु उत्साह भरे वचन सुने तो समुद्र के समान गम्भीरता को धारण करते हुये बड़े ही गम्भीर शब्दों में सभी सभासदो से युद्ध का निवारण करने हेतु इस प्रकार बोले -पुरुषों में श्रेष्ठ पाण्डव आधा राज्य पाकर दूसरे पक्ष की ओर से सद्व्यवहार होने पर अवश्य शान्त रहकर ही कही सुखपूर्वक निवास करेंगे इससे समस्त कुरुकुल को शान्ति मिलेगी और प्रजावर्ग का भी हित होगा। अतः दुर्योधन के पास ऐसा दूत भेजा जाय जो कौरवों को शान्ति वचनों द्वारा वश में करके पाण्डवों को आधा राज्य दिलाने मे सफल हो जाये। कौरवों और पाण्डवों का युद्ध हो ऐसी आकांक्षा मत करो, सन्धि या समझौते की भावना से ही दुर्योधन को आमन्त्रित करो। मेल-मिलाप से समझा-बुझाकर जो प्रयोजन सिद्ध किया जाता है, वही परिणाम मे हितकर सिद्ध होता है। युद्ध में तो दोनो पक्षों की ओर से अन्याय अर्थात् अनीति का ही व्यवहार होता है तथा अन्याय से इस संसार मे किसी भी प्रयोजन की सिद्धि सम्भव नहीं है। अतः किसी भी दशा मे धार्तराष्ट्रों को उत्तेजित या कुपित नही करना चाहिये, क्योकि उन्होने बलवान् होकर ही पाण्डवों के राज्य पर अधिकार जमाया है। युधिष्ठिर भी सर्वथा निर्दोष नही है ये जुए को प्रिय मानकर उसमें आसक्त हो गये थे। तभी इनके राज्य का अपहरण हुआ।

अजमीढ़वंशी-कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर जुए का खेल नही जानते थे। इसीलिये समस्त सुहृदों ने इन्हें मना किया था, किन्तु इन्होने किसी की बात नही मानी। दूसरी ओर धूर्त शकुनि जुए के खेल में निपुण था। यह जानते हुए भी ये उसी के

1. उ. प. 76/6–9 पू, 78/6–9 गी.

साथ बार-बार द्यूत खेलते रहे। इन्होंने कर्ण और दुर्योधन को छोड़कर शकुनि को ही जुआ खेलने हेतु ललकारा था। उस सभा में दूसरे भी हज़ारों जुआरी विद्यमान थे, जिन्हें युधिष्ठिर जीत सकते थे, किन्तु उन सबको छोड़कर उन्होंने शकुनि को ही बुलाया। अतः द्यूतक्रीड़ा में उनकी हार हुई। जब ये खेलने लगे और प्रतिपक्षी की ओर से फेंके हुये पासे जब इनके प्रतिकूल पड़ने लगे, तब ये और भी रोषावेश में आकर खेलने लगे इन्होंने हठपूर्वक खेल को संलग्न रखा और अपने को हराया, इसमें शकुनि का क्या अपराध था ? इसलिये जो दूत यहाँ से जाय, वह धृतराष्ट्र को प्रणाम करके अत्यन्त विनय के साथ सामनीति युक्त वचन कहे। ऐसा करने से ही धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन को वह पुरुष अपने प्रयोजन की सिद्धि में लगा सकता है।"[1]

नीतिज्ञ बलरामजी गम्भीर और स्पष्ट तथा निर्भीक वक्ता थे। उन्होंने युद्ध को वास्तव में टालने हेतु ऐसे सुन्दर मार्ग का प्रदर्शन किया जिसकी शत्रु भी प्रशंसा कर सकते थे। उनके गम्भीर चिन्तन और यथार्थ दृष्टि से उपर्युक्त मार्ग वस्तुतः सही था, किन्तु कोई भी 'शान्तिदूत' उनके मार्ग का पूर्णरूपेण पालन कर कौरवों और पाण्डवों मे सन्धि नही करा सका। अतः वह प्रलयंकारी भीषण संग्राम होकर ही रहा।

5. श्रीकृष्ण के प्रयत्न :—जगन्नियन्ता, देवाधिदेव, अखिललोकपति भगवान् नारायण ही वासुदेव श्रीकृष्ण के रूप मे पृथ्वी पर अवतीर्ण हुये थे। देवर्षि नारद के शब्दो में "श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति और प्रलय के स्थान हैं। यह सारा चराचर विश्व इन्ही के लिये प्रकट हुआ है। ये ही अव्यक्त प्रकृति, सनातन कर्त्ता तथा सम्पूर्ण भूतों से परे है।"[2] अतः उनमें वे अचिन्त्य गुण थे, जो साधारण मानवों में नहीं मिलते। आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र पाण्डवों के सर्वस्व, अर्जुन के स्वामी, सखा, कूटनीति-विशारद, योगीराज, कमलनयन, प्रसन्नवदन सौन्दर्यसागर, महामनीषी, दूरदर्शी, अद्भुत योद्धा, ज्ञानी तथा श्रेष्ठतम गुरु थे। उनका पाण्डव तथा कौरवों दोनों ही पक्षों से निकटतम सम्पर्क तथा सम्बन्ध था। अतः उन्होने कुरुकुल को भयंकर युद्ध रूपी विस्फोट से बचाने के लिये अद्भुत प्रयत्न किये जिनका महाभारत में इस प्रकार मिलता है।

युधिष्ठिर का सन्धि प्रस्ताव लेकर कमलनयन गोविन्द हस्तिनापुर जा पहुँचे। वे वहाँ दुर्योधन की दुर्भावना के कारण उसके अतिथि न बनकर विदुर के

1. उ. प. 2/16 पू., 2/3-14 गी.
2. आदि प. 64/23-24 गी.

अतिथि बने। दुर्योधन की दुर्विनीतता के ज्ञाता विदुर ने भगवान् श्रीकृष्ण को दुर्योधन के पास समझाने जाने के लिये मना कर दिया, किन्तु देवकीनन्दन ने अपने जाने के औचित्य को प्रकट करते हुये विदुर से कहा "हे विदुर! संसार के पापी मनुष्य, मूढ़ और शत्रुभाव रखने वाले लोग मेरे विषय में यह न कहें कि श्रीकृष्ण ने समर्थ होते हुये भी क्रोध से भरे हुये कौरव—पाण्डवों को युद्ध से नहीं रोका। अतः मैं सन्धि करवाने का प्रयत्न अवश्य करूंगा। मैं दोनों पक्षों का स्वार्थसिद्ध करने के लिये ही यहाँ आया हूँ। इसके लिये पूर्ण प्रयत्न कर लेने पर लोगों में निन्दा का पात्र नहीं बनूंगा। यदि मूर्ख सुयोधन मेरे कष्टनिवारक एवं धर्म तथा अर्थ के अनुकूल वचनों को सुनकर भी उन्हें ग्रहण नहीं करेगा तो उसे दुर्भाग्य के अधीन होना पड़ेगा। महात्मन्! यदि मैं पाण्डवों के स्वार्थ में बाधा न देकर कौरव तथा पाण्डवों में यथायोग्य सन्धि करा सकूंगा तो कौरव मृत्युपाश से मुक्त हो जायेंगे और तत्स्वरूप मुझे महान् पुण्य प्राप्त होगा।"[1] अतः शान्ति कराने हेतु मैं अवश्य यत्नशील हूंगा।

तदनन्तर कंसनिषूदन, केशिहन्ता हृषीकेश ने कौरव सभा (दुर्योधन की सभा) में जाकर युद्ध को बचाने हेतु अत्यन्त प्रभावशील भाषण उस समय प्रारम्भ किया जब कौरव सभा में सब राजा लोग चुपचाप बैठे हुये थे। यदुकुलतिलक वासुदेव ने ग्रीष्मकाल के पश्चात् गर्जना करने वाले मेघ के समान गम्भीरगिरा से धृतराष्ट्र को लक्ष्य बनाकर कहा "हे भरतनन्दन! मैं आपसे यह प्रार्थना करने के लिये यहाँ आया हूँ कि क्षत्रियवीरों का संहार हुये बिना ही कौरवों और पाण्डवों में शान्ति की स्थापना हो जाय। इसके अतिरिक्त मैं क्या हूँ? आप सब जानते हैं। हे राजन्! यह कुरुकुल सम्प्रति समस्त राजवंशों में श्रेष्ठ है। इसमें दया दाक्षिण्यादि सब गुण उपलब्ध होते हैं। अतः हे नरेश्वर ऐसे उत्तम और गुणसम्पन्न एवं अत्यन्त प्रतिष्ठित कुल के होते हुए भी यदि इसमें आपके कारण कोई अनुचित घटना घटे तो यह कदापि ठीक नहीं है। हे कुरुनन्दन! दुर्योधनादि आपके पुत्र धर्म और अर्थ को पीछे करके क्रूर मनुष्यों के समान आचरण करते है। हे राजन्! आप जानते हैं कि लोभ से हृतचित्त वाले, मर्यादाहीन ये अशिष्ट कौरव अपने ही बन्धुओं के साथ दुर्व्यवहार करते हैं। हे कुरुश्रेष्ठ! इस समय यह महाघोर विपत्ति कौरवों में ही प्रकट हुई है। भूमण्डल का विध्वंश कर डालेगी। भारत का अब भी निवारण किया जा सकता है, क्योंकि इन दोनों पक्षों में शान्ति स्थापित होना कठिन कार्य नहीं

1. उ. प. 91/16–19 पू., 93/16–19 गी.

मानता । प्रजापालक ! इन दोनों की यह सन्धि आप पर तथा मुझ पर आश्रित है। आप अपने पुत्रों को मर्यादा मे रखिये और मैं पाण्डवों को नियन्त्रण में रखूँगा। हे राजन् ! आपका और पाण्डवों का इस समय सन्धि में ही हित है। हे विशाम्पते ! वैर और विवाद का दुष्परिणाम सोचकर शीघ्र सन्धि कर लीजिये। ऐसा करने से भरतवंशी पाण्डव आपके ही सहायक होंगे।

महात्मा पाण्डवों के द्वारा सुरक्षित हो जाने पर देवो सहित इन्द्र भी आपको जीत नहीं सकते, अन्यों का तो कहना ही क्या ? हे अमित्रघ्न ! आप पाण्डव और कौरवों के साथ पुनः अजेयता एवं लोकेश्वरत्व को प्राप्त कर लेंगे तथा पुत्र, पौत्र, पिता, भाई और सुहृदों के साथ सुख से जीवन बिता सकेंगे। महाराज ! युद्ध प्रारम्भ हो जाने पर तो महान् संहार दिखायी देता है। आप इस प्रकार दोनों पक्षो का संहार करने में कौनसा धर्म देखते हैं ? हे भरतश्रेष्ठ ! पाण्डव यदि युद्ध मे मारे गये अथवा आपके महाबली पुत्र ही नष्ट हो गये तो उस दशा में आपको कौनसा सुख मिलेगा ? पाण्डव तथा आपके पुत्र सभी शूरवीर, अस्त्रविद्या विशारद तथा युद्धाभिलाषी है। आप इन सबकी महान् भय से रक्षा कीजिये। युद्ध के परिणाम पर विचार करने से हमे समस्त कौरव और पाण्डव नष्ट प्रायः दिखायी देते है। दोनो ही पक्षों के शूरवीर रथीरथियो से ही मारे जाकर नष्ट हो जायेंगे। हे नरेश ! आप इस जगत् की रक्षा कीजिये, जिससे इन समस्त प्रजाओं का नाश न हो। राजन् ! आप ऐसा प्रयत्न कीजिये जिससे समस्त एकत्र ये भूपाल परस्पर मिलकर तथा एक साथ खा-पीकर कुशलतापूर्वक अपने घर लौट जावें। भरतश्रेष्ठ ! अब आपकी आयु भी क्षीण हो चली है, इस वृद्धावस्था में आप पाण्डव से वैसा ही स्नेह करें जैसा कि पहले करते थे। हे भरतर्षभ ! आपको पाण्डवों की सदैव रक्षा करनी चाहिये। विशेषतः संकटकाल में तो आपकी रक्षा उनके लिये अत्यन्त आवश्यक है। कही ऐसा न हो कि पाण्डवों के वैर के कारण आपके धर्म और अर्थ नष्ट हो जावें। अतः आप उनके साथ अवश्य सन्धि कर लें।"

मनुजेश्वर ! पाण्डवों ने आपको प्रणाम करके प्रसन्न करते हुये यह सन्देश कहलाया है—"तात आपकी आज्ञा से अनुचरों सहित हमने भारी दु:ख सहन किया है, बारह वर्षों तक हमने निर्जन वन मे निवास किया है और तेरहवां वर्ष जन-समुदाय से भरे हुये नगर में अज्ञात रहकर बिताया है। माननीय नरेश ! हम अपनी प्रतिज्ञाओं पर दृढ़तापूर्वक स्थित रहे है, अतः आपको भी हमारे साथ की हुई प्रतिज्ञा पर अवश्य डटे रहना चाहिये। राजन् ! आप लोगों की दुर्भावना से हमने सदा क्लेश उठाया है। अतः अब हमारा राज्य हमे प्राप्त हो जाना चाहिये।"

भरतश्रेष्ठ ! आपके पुत्र पाण्डवों ने इस सभा के लिये भी यह सन्देश दिया है—' आप समस्त सभासदगण धर्म के ज्ञाता है। आपके रहते हुये यहाँ कोई अयोग्य

कार्य हो, यह उचित नहीं है, क्योंकि जहाँ सभासदों के देखते-देखते अधर्म के द्वारा धर्म का और मिथ्या के द्वारा सत्य का गला घोंटा जाता हो, वहाँ वे सभासद नष्ट हुये ही माने जाते हैं। राजन्! पाण्डव सदा धर्म की ओर ही दृष्टि रखते हैं और उसी का विचार करके वे चुपचाप बैठे हैं, वे जो आपसे राज्य लौटा देने का अनुरोध करते हैं, वह सत्य धर्मसम्मत और न्यायसंगत हैं। जनेश्वर! आपसे पाण्डवों का राज्य लौटा देने की अपेक्षा दूसरी कौन सी बात यहाँ कही जा सकती है। इस सभा में जो भूमिपाल बैठे है, वे धर्म और अर्थ का विचार करके स्वयं बतावें, मैं ठीक कहता हूँ नहीं। पुरुषरत्न! आप इन क्षत्रियों को मृत्युपाश से बचा लें। अतः शान्त हो जाइये और क्रोध के वशीभूत न होइये। परन्तप! पाण्डवों को यथोचित पैतृक राज्य-भाग देकर अपने पुत्रों के साथ सफल मनोरथ हो मनोवांछित भोग भोगिये। प्रजानाथ! आपके पुत्र लोभ में अत्यन्त आसक्त हो गये है। उन्हे नियन्त्रित कीजिये। शत्रुदमन! पाण्डव आपकी सेवा हेतु भी प्रस्तुत हैं और युद्ध हेतु भी सन्नद्ध हैं। अतः जो आपके लिये विशेष हितकर जान पड़े उसी मार्ग का अवलम्बन कीजिये।" भगवान् श्रीकृष्ण के गम्भीर प्रभावशाली भाषण का राजाओं पर अद्भुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने उनके कथन का हृदय से आदर किया और उसके प्रतिरोध में किसी ने कुछ भी नहीं कहा।[1]

गोविप्रवृन्दप्रिय गोविन्द के पश्चात् श्री परशुरामजी ने भी धृतराष्ट्र को समझाया। फिर महर्षि कण्व ने दुर्योधन को युद्ध से विरत होने के लिये प्रेरणा दी। कण्व के बाद देवर्षि नारद ने भी भविष्य बताते हुये दुर्योधन को महासमर से बचाने का प्रयत्न किया, किन्तु निष्फल जाने पर धृतराष्ट्र ने कहा "मनीषियों! आप जैसा कहते है बात ठीक वैसी ही है। मैं यह स्वीकार करता हूँ और ऐसा ही चाहता भी हूँ, किन्तु मैं ऐसा करने में समर्थ नहीं हूँ। अतः केशव से ही दुर्योधन को नियन्त्रित करने हेतु प्रार्थना करता हूँ।" धृतराष्ट्र की प्रार्थना सुनकर कुरुकुल के कल्याण हेतु आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र ने अमर्षशील दुर्योधन की ओर घूमकर मधुर-वाणी में इस प्रकार कहा "कुरुश्रेष्ठ दुर्योधन! मैं तुम्हारे तथा विशेषतः तुम्हारे सगे-सम्बन्धियों के कल्याण के लिये तुम्हे कुछ परामर्श दे रहा हूँ। तुम परमज्ञानी महापुरुषों के कुल में उत्पन्न हुये हो। स्वयं भी शास्त्रों के ज्ञान तथा सद्व्यवहार से सम्पन्न हो। तुम में सभी उत्तम गुण विद्यमान हैं, अतः तुम्हें मेरा सद्परामर्श अवश्य मानना चाहिये। तात! जिसे तुम ठीक समझते हो, ऐसा अधर्म कार्य तो वे लोग करते हैं जो नीच कुल में उत्पन्न हुये हैं तथा जो दुष्टचित्त, क्रूर एवं निर्लज्ज हैं। हे भारत!

1. उ. प. 93/1–62 पू., 95/1–63 गो.

इस समय तुम्हारे अन्दर सज्जनों द्वारा गर्हित विपरीत वृत्ति बारम्बार देखने में आ रही है और तुम्हारा यह दुराग्रह घोर अनिष्टकारक तथा प्राणनाशक है। परंतप ! तुम यदि इस अनर्थकारी दुराग्रह को नहीं छोड़ोगे तो केवल अपना ही नहीं भाई, मित्र और अनुचरों का भी कल्याण नहीं कर पाओगे। अतः हे भरतकुलभूषण ! विद्वान शूर, उत्साही, मनस्वी एवं अनेक शास्त्रों के ज्ञाता पाण्डवों के साथ सन्धि कर लो। यह कार्य भीष्म द्रोण कृपादि को भी रुचि-कर है। हे भारत ! पिता जैसी शिक्षा देता है, श्रेष्ठ पुरुष उसी के अनुसार चलने में अपना कल्याण मानते हैं। यहाँ तक कि भारी आपत्ति में पड़ने पर सब लोग अपने पिता के उपदेश का ही स्मरण करते है। हे तात ! मन्त्रियो सहित तुम्हारे पिता को पाण्डवों के साथ सन्धि कर लेना ही रुचिकर जान पड़ता है। अतः तुम्हें भी यह पसन्द आना चाहिये, क्योंकि जो मनुष्य सुहृदों के मुख से शास्त्र सम्मत उपदेश सुनकर भी उसे स्वीकार नहीं करता तब उसी शोकदग्धावस्था को प्राप्त हो जाता है, जो इन्द्रायण फल के पाचन के अन्त में प्राप्त होती है। जो मोहवश अपने हित की बात भी नहीं मानता वह दीर्घसूत्री मनुष्य अपने स्वार्थ से भ्रष्ट होकर केवल पश्चाताप का भागी होता है। जो राजा अपने मुख्य मंत्रियों को छोड़कर नीच-प्रकृति के लोगों का सेवन करता है, वह भयंकर विपत्ति मे फँसकर अपने उद्धार का कोई मार्ग नही देख पाता है। हे भारतभूषण ! विद्वान एवं बुद्धिमान् पुरुषों का प्रत्येक कार्य धर्म, अर्थ और काम—इन तीनों की सिद्धि के अनुकूल ही होना है। यदि तीनों की सिद्धि असम्भव हो तो बुद्धिमान् धर्म और अर्थ का ही अनुसरण करते हैं। पृथक् रूप से स्थित हुये धर्म, अर्थ और काम में से किसी एक को चुनना हो तो धीर पुरुष धर्म का ही अनुसरण करता है, मध्यम श्रेणी का मनुष्य कलह के कारणभूत अर्थ को ही ग्रहण करता है और अधमश्रेणी का अज्ञानी पुरुष काम को ही पाना चाहता है। जो अधम मनुष्य इन्द्रियों के वशीभूत होकर लोभवश धर्म को छोड़ देता है, वह अयोग्य उपायों से अर्थ और काम की लिप्सा में पड़कर नष्ट हो जाता है। हे भरतनन्दन ! मनस्वी पुरुष को चाहिये कि वह तीनो लोकों में किसी प्राकृत (निम्न श्रेणी के) पुरुष का भी अपमान न करें, फिर इन श्रेष्ठ पाण्डवो के अपमान की तो बात ही क्या है ? ईर्ष्या के वश मे रहने वाला मनुष्य किसी बात को ठीक से समझ नही पाता। उसके समक्ष रक्खे हुये सम्पूर्ण विस्तृत प्रमाण भी उच्छिन्न से हो जाते है। तात ! किसी दुष्ट मनुष्य का साथ करने की अपेक्षा पाण्डवों के साथ संगमन करना विशेष कल्याणकारी है। हे गान्धारिनन्दन ! तुम दुःशासन दुर्विषह, कर्ण और शकुनि इन सब पर अपने ऐश्वर्य का भार रखकर उन्नति की इच्छा करते हो। यह व्यर्थ है क्योंकि ये लोग तुम्हें ज्ञान, धर्म और अर्थ की प्राप्ति कराने में समर्थ नही हैं और पाण्डवों के सामने पराक्रम प्रकट करने मे भी ये असमर्थ ही हैं। तुम्हारे सहित ये सब राजा लोग भी युद्ध में कुपित हुये भीमसेन के मुख की ओर

आँख उठाकर भी नहीं देख सकते। तात ! तुम्हारे निकट जो यह समस्त राजाओं की सेना एकत्र हुई है, यह तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृप, भूरिश्रवा, द्रौणि और जयद्रथ—ये सभी मिलकर भी अर्जुन का सामना करने में समर्थ नहीं हैं। अर्जुन सम्पूर्ण असुर, देवों, गन्धर्वों तथा समस्त मनुष्यों द्वारा भी अजेय है। अतः तुम युद्ध का विचार मत करो। भरतश्रेष्ठ ! नरसंहार करने में तुम्हें क्या लाभ होगा ? तुम अपने पक्ष में किसी ऐसे पुरुष को ढूंढ़ निकालो, जो उस अर्जुन पर विजय पा सके, जिसके जीते जाने पर तुम्हारे पक्ष की विजय मान ली जाय। जिसने खाण्डव वन में गन्धर्वों, यक्षों, असुरों और नागों सहित सम्पूर्ण देवताओं को जीत लिया था, उस अर्जुन के साथ कौन मनुष्य युद्ध कर सकेगा ? इसके अतिरिक्त विराटनगर में जो बहुत से महारथी योद्धाओं के साथ एक अर्जुन के युद्ध की अत्यन्त अद्भुत घटना सुनी जाती है, वह एक ही युद्ध भावी परिणाम को बताने के लिये पर्याप्त है। जिन्होंने युद्ध में साक्षात् महादेवजी को अपने पराक्रम से संतुष्ट किया है, अपनी मर्यादा से कभी च्युत न होने वाले उस अजेय, दुर्धर्ष एवं विजयशील वीर अर्जुन को तुम युद्ध में जीतने की आशा रखते हो, यह बड़े आश्चर्य की बात है। फिर मैं जिसका सारथी बन कर रहूँ और इन्द्र भी प्रतिपक्षी बनकर आये तो अर्जुन को जीत नहीं सकता। हे दुर्योधन ! कहीं ऐसा न हो कि समस्त भरतवंशी तुम्हारे ही कारण नष्ट हो जावें। नरेश्वर कुल का पराभव कराकर अपनी कीर्ति का नाश करके कुलघाती मत बनो। अतः अविलम्ब पाण्डवों के साथ सन्धि करके दीर्घ-काल तक कल्याण के भागी बनो।"[1]

महाराज धृतराष्ट्र और दुर्योधन को समझाने का जो उपक्रम देवकीनन्दन ने किया वैसा कोई भी नहीं कर सका। उन्होंने बहुत ही उपयुक्त तर्कों से, बहुत ही सरल ढग से, अपना मन्तव्य दोनों के सामने इस ढंग से स्पष्ट किया कि महामूर्ख भी विषय के प्रत्येक अंग को समझ जावे और तो और केशव का यह एक वाक्य ही युद्ध से निवृत्त कर देने के लिये पर्याप्त था "दुर्योधन तुम्हारे पक्ष के व्यक्तियों में से केवल एक ही व्यक्ति ऐसा दिखा दो जो युद्ध में अर्जुन को जीत ले। यदि वह एकाकी ही अर्जुन को जीत लें तो हम हार मान लेंगे।" किन्तु दुर्योधन के पास इसका कोई उत्तर नहीं था, क्योंकि धनंजय विराटनगर में सबको पराजित कर अद्भुत उदाहरण प्रस्तुत कर चुके थे। हमारी सम्मति में श्रीकृष्ण की सम्मति एक ऐसी सम्मति थी जिसे आबालवृद्धों ने स्वीकार किया और वस्तुतः दुर्योधन ने भी हृदय से स्पष्ट स्वीकार किया, किन्तु काल की प्रेरणा से वह हठ पर उतर गया और चाहते हुये भी उसने श्रीकृष्ण के अमृतमय उपदेश का पान नहीं किया, क्योंकि

---

1. उ. प. 122/2–61 पू., 124/2–62 गी.

यदि वह पान कर हृदयंगम कर लेता तो फिर मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। एक भी सभासद् ने श्रीकृष्ण के उपदेश का किंचित्मात्र भी प्रतिरोध नहीं किया अपितु भूरि-भूरि प्रशंसा की। यही उनके कथन की सार्थकता थी। अतः हम यह कह सकते हैं कि श्रीकृष्ण ने बहुत ही मधुर ढंग से बहुत ही तथ्ययुक्त एवं सारगर्भित बातें दोनों पिता पुत्रों को बताई जिन्हें स्वीकार किये बिना वे रह नहीं सकते थे, किन्तु यहां दैव को ही प्रबल मानकर यह कह देना होगा कि जगन्नियन्ता के प्रयत्न के बाद भी दुर्योधन ने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा। अतः कुरुकुल का नाश उस महासमर के द्वारा होना अवश्यम्भावी हो गया।

अच्युतानन्द गोविन्द ने तो यहां तक चाहा कि यदि दुर्योधन अपनी बालक सी हठ नहीं छोड़ता तो इसे बन्दी बनाकर पाण्डवों को दे दिया जावे। अतः जब दुर्योधन ने अपना अपराध स्वीकार नहीं किया और उसे भीष्म, द्रोणादि सभी गुरुजन भली प्रकार समझा चुके तो अन्त में कहा "हे अनघ कौरवों! अब मैं इस विषय में समायोचित कर्त्तव्य निश्चित करता हूं, जिसके पालन से सबका कल्याण हो जायेगा। जिस प्रकार कुल की रक्षार्थ मेरे द्वारा दुष्ट कंस का वध किया, जैसे ब्रह्माजी ने दैत्य और दैवों के युद्ध में दैत्यों को धर्म से बंधवाकर वरुण को दिला दिया, ठीक उसी भांति इस दुरात्मा दुर्योधन को अपने क्रूरकर्मी कर्ण, दुःशासन तथा शकुनि सहयोगियों के साथ बन्दी बनाकर पाण्डवों के हाथ में दे दो। क्योंकि नीति कहती है "कुल के कल्याण के लिये दुष्ट पुरुष का त्याग कर देना चाहिये। ग्राम के हित के लिये कुल का त्याग कर देना चाहिये। जनपद के हितार्थ ग्राम को त्याग देना चाहिये और आत्म कल्याण के लिये समस्त भूमण्डल को त्याग दें।"[1] अतः दुर्योधन को बान्धकर पाण्डवों को शान्त करें जिससे पृथ्वी पर होने वाला यह महान् नरसंहार रोका जा सके।

दुर्योधन के न मानने पर वासुदेव ने उसके दुष्टमंत्री कर्ण को ही आते-आते पाण्डव पक्ष में करके युद्ध को रोकना चाहा, क्योंकि यदि कर्ण भी पाण्डवों के साथ मिल जाता तो युद्ध बच सकता था। अतः श्रीकृष्ण ने कर्ण के पास जाकर कहा "हे तात! तुम मेरे साथ पाण्डवों के पास चलो ऐसा करने से पाण्डवों को ज्ञात हो जायेगा कि तुम कुन्ती के ज्येष्ठ पुत्र हो। पांचों पाण्डव, द्रौपदी के पांचों पुत्र तथा किसी से परास्त न होने वाला अभिमन्यु ये सभी तुम्हारे चरणों का स्पर्श करेंगे। इसके अतिरिक्त पाण्डवों की सहायतार्थ आये हुये समस्त राजा, राजकुमार तथा अन्धक और वृष्णिवंश के योद्धा भी तुम्हारे चरणों में नतमस्तक होंगे। बहुत से राजपुत्र और राजकन्यायें तुम्हारे लिये सोने चांदी तथा मिट्टी के बने हुये कलश, ओषधसमूह, सब प्रकार के बीज, सम्पूर्णरत्न और लतादि अभिषेकसामग्री लेकर

जायेंगी। विशुद्धात्मा द्विजश्रेष्ठ धौम्य आज तुम्हारा अभिषेक करें। इसी प्रकार पाँचों पाण्डव द्रोपदी के पुत्र, पाँचाल और चेदिदेश के नरेश तथा मैं—ये सब लोग तुम्हें पृथ्वीपालक सम्राट् के पद पर अभिषिक्त करेंगे। इसलिये हे कौन्तेय! पार्थों से घिरे हुये तुम नक्षत्रों से घिरे हुये चन्द्रमा के समान सुशोभित होकर राज्य पालन करो और कुन्ती को आनन्दित बना दो।"[1]

उपर्युक्त प्रसंग यह स्पष्ट कर देता है कि श्रीकृष्ण हृदय से महाभारत के महासमर को रोकना चाहते थे। अतः उस महाकूलनीतिज्ञ ने हस्तिनापुर से जाते-जाते भी एक ऐसा अनूठा अस्त्र फेंका जिससे साधारण राज्यलोभी प्राणी तो अवश्य ही वशीभूत होकर उनके प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता, किन्तु यह था सूर्यपुत्र, अर्जुन का प्रतिद्वन्द्वी दानवीर कर्ण जिसने अपने यश को कलंकित नही होने दिया और वीरों के लिये स्वर्गदायी महायुद्ध को ही प्रस्तुत कराने हेतु निवेदन किया। अतः भगवान् ने भी उसकी इच्छा को पूर्ण करके ही दिखाया।

6. द्रुपद के प्रयत्न :—द्रुपद पाण्डवों के धर्मपिता के रूप में थे, क्योंकि पाँचाली पाण्डवों की पत्नी थी और ये पाँचाली के पिता थे। अस्तु द्रुपद पाण्डवों के साथ गहरा सम्बन्ध था। महाराज द्रुपद अपने बलवान् पुत्रों के साथ सम्पन्न थे, किन्तु फिर भी वे साम-नीति के दारा ही पाण्डवों का राज्य उन्हें दुर्योधन से पुनः दिलवाना चाहते थे। अतः उन्होंने महायुद्ध को टालने हेतु श्रीकृष्ण की सम्मति से पुरोहित को दूत बनाकर कौरवों के पास शान्ति हेतु भेजा। पुरोहित ने राजा द्रुपद का सन्देश इस प्रकार कहा "आप सब जानते हैं कि धृतराष्ट्र और पाण्डु का पैतृक सम्मति में समान अधिकार है। अब धृतराष्ट्र के पुत्रों ने तो अपना पैतृक धन प्राप्त कर लिया फिर पाण्डवो को अपनी पैतृक सम्पत्ति क्यो प्राप्त न हो? धृतराष्ट्र तथा उनके पुत्रो ने सारा धन अपने ही अधिकार में कर लिया, इसलिये पाण्डुपुत्रों को पैतृक धन नही मिला। दुर्योधन आदि धार्तराष्ट्रो ने तो प्राणान्तकारी उपायों द्वारा अनेक बार पाण्डवों को नष्ट करने का प्रयत्न किया परन्तु इनकी आयु शेष थी इसलिये वे इन्हें यमलोक न पहुँचा सके। फिर पाण्डवों ने अपने बाहुबल से नूतन राज्य की प्रतिष्ठा करके उसे बढ़ा लिया, किन्तु शकुनि सहित क्षुद्र धृतराष्ट्र-पुत्रों ने जुये मे छलकपट का आश्रय लेकर उसका हरण कर लिया। तत्पश्चात् धृतराष्ट्र ने भी उस द्यूतकर्म का अनुमोदन किया और उन्होंने जैसा आदेश दिया, उसके अनुसार पाण्डव महान् वन मे तेरह वर्षों तक निवास करने के लिये विवश हुये। पत्नी सहित वीर पाण्डवो को कौरवसभा मे भारीक्लेश पहुँ[illegible]

1. उ. प. 138/11-27 पू., 140/[illegible]

नाना प्रकार के भयंकर कष्ट भोगने पड़े। इतना ही नहीं, दूसरी योनि में पड़े हुये पापियों की भांति विराटनगर में इन महात्माओं को महान् क्लेश सहन करना पड़ा। पहिले किये हुये इन सब अत्याचारों को भुलाकर वे कुरुश्रेष्ठ पाण्डव अब भी इन धार्तराष्ट्रों के साथ मेलजोल ही रखना चाहते हैं।

पाण्डवों के आचार-व्यवहार को तथा दुर्योधन के व्यवहार को जानकर (उभयपक्ष का हित चाहने वाले) सुहृदों का यह कर्त्तव्य है कि वे दुर्योधन को समझावें वीर पाण्डव कौरवों के साथ युद्ध नहीं कर रहे हैं वे जनसंहार किये बिना ही अपना राज्य चाहते है। दुर्योधन जिस हेतु को सामने रखकर युद्ध के लिये उत्सुक है, उसे यथार्थ नहीं मानना चाहिये, क्योंकि पाण्डव इन कौरवों से अधिक बलिष्ठ हैं। धर्मराज के पास सात अक्षौहिणी सेनायें भी एकत्र हो गयी हैं, जो कौरवों के साथ युद्ध की अभिलाषा रखकर उनके आदेश भर की प्रतीक्षा कर रही हैं। इसके अतिरिक्त सात्यकि, भीमसेन तथा महाबली नकुल सहदेव आदि जो दूसरे पुरुषसिंह वीर हैं, वे अकेले हजार अक्षौहिणी सेनाओं के समान हैं। ये कौरवों की ग्यारह अक्षौहिणी सेनायें एक ओर से आवें और दूसरी ओर से केवल एकाकी अर्जुन की तीव्रवेग के कारण अनेक रूपों में दिखाई देते हुये इन सबके लिये पर्याप्त है। जैसे किरीटधारी अर्जुन अकेले ही इन सब सेनाओं से बढ़कर है उसी प्रकार महातेजस्वी महाबाहु श्रीकृष्ण भी हैं। युधिष्ठिर की सेनाओं के बाहुल्य, किरीट के पराक्रम तथा श्रीकृष्ण की बुद्धिमत्ता को जान लेने पर कौन मनुष्य पाण्डवों के साथ युद्ध कर सकता है ? अतः आप लोग अपने धर्म और पहिले की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार पाण्डवो को उनका आधा राज्य जो उन्हे मिलना चाहिये दे दीजिये, जिससे कि भीषण रक्तपात होकर क्षात्रवंश का नाश न हो।"[1]

महाराज द्रुपद का सन्देश बहुत ही उपयुक्त एवं सारगर्भित था। यदि कौरव इस सन्देश का सम्मान कर लेतें तो वस्तुतः महाभारत का महायुद्ध टल सकता था। वीरवर द्रुपद तो यह चाहते थे कि साम-नीति से ही कार्य हल हो जायें तो बहुत उत्तम है क्योंकि युद्ध में दोनों ही पक्षों को भारी हानि उठानी पड़ती है। अतः उन्होंने पुरोहित के माध्यम से युद्ध टालने हेतु अपने सद्प्रयत्न किये।

धृष्टद्युम्न के प्रयत्न :—धृष्टद्युम्न पाण्डवों के साले एवं द्रौपदी के भाई थे। अतः पाण्डवों का दुःख इनका ही दुःख था। बहुत दिनों से पीड़ित पाण्डवों को धृष्टद्युम्न उनका राज्य वापिस दिलाकर उनके दुःखों का शीघ्र अन्त कर देना

1. उ. प. 20/4–21 पू., 20/4–21 गी.

चाहते थे, किन्तु वे यह भी चाहते थे कि यदि युद्ध के बिना ही पाण्डवों को अपना पैतृक राज्य मिल जावे तो बहुत उत्तम। अतः पाण्डवों के प्रधान सेनापति के नाते उन्होंने संजय द्वारा धार्तराष्ट्रों के पास अपना सन्देश इस प्रकार भेजा "हे धार्तराष्ट्रों! राजा युधिष्ठिर सद्व्यवहार से ही वश में किये जा सकते हैं युद्ध से नहीं। ऐसा अवसर न आने दो कि देवताओं के द्वारा सुरक्षित वीरवर अर्जुन तुम लोगों का वध कर डालें। धर्मराज युधिष्ठिर को शीघ्र उनका राज्य सौंप दो और विश्वविख्यात वीर पाण्डुकुमार अर्जुन से क्षमा याचना कर लो। सव्यसाची अर्जुन जैसे सत्य-पराक्रमी हैं वैसा योद्धा इस भूमण्डल में दूसरा कोई नहीं है। गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन का दिव्य-रथ देवताओं द्वारा सुरक्षित है। कोई भी मनुष्य उन्हें जीत नहीं सकता, अतः तुम लोग अपने मन को युद्ध की ओर न जाने दो।"[1]

(छ) तटस्थ-पक्ष

1. नारद के प्रयत्न :—देवर्षि नारद का स्वार्थवश न पाण्डवों से सम्बन्ध था और न धार्तराष्ट्रों से ही। वे तो त्रिलोक-कल्याण-कारी महर्षि थे। दूसरे को दुःखी देखकर द्रवित हो जाना उनका स्वाभाव था। भविष्य-वेत्ता भक्तप्रवर नारद के द्वारा दुर्योधन का भावी दुःख नहीं देखा जा सकता था। अतः उन्होंने भी अन्यों के साथ-साथ दुर्योधन को ज्ञान की घूँट पिलाकर मृत्यु के मुख से रोकने के लिये इस प्रकार कहा "राजन्! पूर्वकाल में राजा ययाति अपने अभिमान के कारण संकट में पड़ गये थे और अत्यन्त आग्रह और हठ के कारण महर्षि गालव को भी महान् क्लेश सहना पड़ा था। अतः दुराग्रह का त्याग करके तुम्हें तुम्हारे हित की इच्छा रखने वाले सुहृदों की बात अवश्य सुननी और माननी चाहिये। दुराग्रह कभी नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह विनाश के पथ पर जाने वाला है। अतः गान्धारिनन्दन! तुम भी अभिमान और क्रोध को त्याग दो। वीर नरेश! तुम पाण्डवों के साथ सन्धि करके अपना और कुरुकुल का नाश बचालो तथा क्रोध के आवेश को सर्वहित हेतु सदा के लिये छोड़ दो।[2]

2. महर्षि व्यास के प्रयत्न :—महर्षि व्यास का पाण्डवों के साथ रक्त का सम्बन्ध था क्योंकि महाराज धृतराष्ट्र पाण्डु तथा विदुर इन्हीं के वीर्य से उत्पन्न हुये थे। दुर्योधनादि समस्त धार्तराष्ट्र भी इन्हीं महर्षि के वरदान तथा कृपादृष्टि से उत्पन्न हुये थे किन्तु कृष्णद्वैपायन व्यास का इनके साथ वस्तुतः कोई ममत्व नहीं

---

1. उ. प. 56/58–60 पू., 57/60–62 गी.
2. उ. प. 121/18–22 पू., 123/19–21 गी.

था। वे मोहशील गृहस्थियों की भांति मोहान्ध होकर अपनी सन्तति में आसक्त नहीं थे। ज्ञान के महासमुद्र महर्षि व्यास को इन लोगों की आसक्ति तो छू तक भी नहीं गई थी, किन्तु 'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्' को लेकर दुःखी प्राणी को देखकर, उसके दुःख को अपना ही दुःख मानकर उसके दुःख को दूर करने की इनमे सहज प्रवृत्ति थी उन्होंने महाभारत के युद्ध के पूर्व जब अनेक उत्पात और अपशकुन देखें तो संसार के हित की दृष्टि से इन्होंने महाराज धृतराष्ट्र को अपशकुनो का दुष्परिणाम बताया तथा दुष्परिणाम पर गहरा विचार करके धृतराष्ट्र से कहा "भारत ! तुम इस अवसर के अनुरूप कोई ऐसा उपाय करो, जिससे यह संसार विनाश से बच जाय। राजन् ! तुम अपने जाति भाई, कौरवों, सगे-सम्बन्धियों तथा हितैषी सुहृदों को धर्मानुकुल मार्ग का उपदेश करो, क्योंकि तुम उन सबको रोकने में समर्थ हो। जातिवध को अत्यन्त नीच कर्म बताया गया है। वह मुझे अत्यन्त अप्रिय है। अतः तुम यह अप्रिय कार्य न करो। महाराज यह काल तुम्हारे पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ है। वेद में हिंसा की प्रशंसा नहीं की गई है, क्योंकि हिंसा से किसी प्रकार हित नहीं हो सकता। कुलधर्म अपने शरीर के ही समान है। जो इस कुलधर्म का नाश करता है, उसे वह धर्म ही नष्ट कर देता है। अभी तक तुम्हारे लिये धैर्य का पालन करना सम्भव है, क्योंकि अभी तुम पर कोई महान् आपत्ति नही आई है। फिर भी तुम काल से प्रेरित होकर धर्म की अवहेलना करके कुमार्ग पर चल रहे हो। राजन् ! तुम्हारे कुल का तथा अन्य राजाओं का विनाश करने के लिये यह तुम्हारे राज्य के रूप में अनर्थ ही प्राप्त हुआ है। तुम्हारा धर्म अत्यन्त लुप्त हो गया है। तुम अपने पुत्रो को धर्म का मार्ग दिखाओ। दुर्धर्षवीर ! तुम्हें राज्य लेकर क्या करना है ? जिसके लिये अपने ऊपर पाप का बोझ लाद रहे हो। तुम मेरी बात मानने पर यश, धर्म और कीर्ति का पालन करते हुये स्वर्ग प्राप्त कर लोगे। पाण्डवो को उनका राज्य प्राप्त हो और समस्त कौरव परस्पर सन्धि करके शान्त हो जावे।"[1]

महाराज धृतराष्ट्र यदि चाहते तो अपने पुत्रो को अवश्य युद्ध से रोक सकते थे, यही सोचकर महर्षि व्यास ने उन्हे युद्ध को रोकने हेतु कहा था, किन्तु धृतराष्ट्र ने तो दैव को प्रबल बताकर अपनी असमर्थता प्रकट कर दी। अतः फिर भीषण रणयज्ञ धधक उठा।

3. परशुराम के प्रयत्न :—जमदग्निनन्दन परशुराम युद्धप्रिय थे। यहाँ तक कि उन्होंने स्यमन्तपंचक में पाँच रक्त के कुण्ड भरकर पितरों का तर्पण किया

1. भीष्म प. 3/43, भीष्म प. 4/4–9 पू., 3/46, 3/53–58 गी.

था, किन्तु युद्ध के भीषण अत्याचारों से उनका हृदय भी क्षुब्ध हो उठा था और वे भी अब युद्ध से घृणा करने लगे थे। अतः भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के भाषणान्तर तटस्थ होकर उन्होंने भी श्रीकृष्ण और अर्जुन की महिमा बताते हुये धृतराष्ट्र को युद्ध से रोकने के लिये इस प्रकार कहा "महाराज! अर्जुन में असंख्य गुण हैं एवं भगवान् जनार्दन तो उनसे भी बढ़कर हैं। तुम भी कुन्तीपुत्र अर्जुन को भलीभांति जानते हो, जो दोनों महात्मा नर और नारायण के नाम से प्रसिद्ध हैं, वे ही अर्जुन और श्रीकृष्ण हैं। तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि वे दोनों पुरुषरत्न सर्वश्रेष्ठ वीर हैं। भारत यदि तुम इस बात को इस रूप में जानते हो और मुझ पर तनिक भी सन्देह नहीं है तो मेरे कहने से श्रेष्ठ बुद्धि का आश्रय लेकर पाण्डवों के साथ सन्धि कर लो। भरतश्रेष्ठ! यदि तुम्हारी यह इच्छा हो कि हम लोगों में फूट न हो और इसी में तुम अपना कल्याण समझो, तब तो सन्धि करके शान्त हो जाओ और युद्ध में मन न लगाओ।"[1]

महर्षि कण्व के प्रयत्न:—महर्षि कण्व का भी भरतवंशियों के साथ धर्मपुत्रों का सम्बन्ध था, क्योंकि भरत कण्व द्वारा पालिता पुत्री शकुन्तला के पुत्र थे और कौरव तथा पाण्डव दोनों ही भरतवंश में उत्पन्न हुये थे तथा दुरात्मा दुर्योधन अपनी हठधर्मी से युद्ध के द्वारा भरतवंशियों का नाश करवाने पर तुला हुआ था। अतः वीतराग महर्षि होते हुये भी उनसे न रहा गया और उस सभा में विद्यमान होने के कारण उन्होंने भी दुरात्मा दुर्योधन को युद्ध की अपेक्षा सन्धि करने के लिये ही इस प्रकार कहा "राजन्! आपको धर्मपुत्र युधिष्ठिर से सन्धि कर लेनी चाहिये। मैं चाहता हूँ कि पाण्डव तथा कौरव दोनों मिलकर इस पृथ्वी का पालन करें। पुरुष-रत्न सुयोधन! तुम्हें यह नहीं मानना चाहिये कि मैं ही सबसे अधिक बलवान् हूँ, क्योंकि संसार में बलवानों से भी बलवान् पुरुष देखे जाते हैं। कुरुनन्दन! बलवानों के बीच में सैनिक बल को बल नहीं समझा जाता। समस्त पाण्डव देवताओं के समान पराक्रमी हैं, अतः वे ही तुम्हारी अपेक्षा बलवान् हैं।"[2] अतः समझौते में ही लाभ है, युद्ध में नहीं।

सभी गणमान्य व्यक्तियों द्वारा अपनी ओर से भरसक प्रयत्न करने पर भी महाभारत का महासमर क्यों नहीं रुक सका? इसके कारणों पर हम पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं। अन्त में केवल यही कह सकते हैं कि विधि के विधान अटल होते हैं और उन्हें कोई नहीं टाल सकता।

---

1. उ. प. 94/41–44 पू., 96/48–51 गी.
2. सभा प. 95/8–10 पू., 97/8–10 गी.

महाभारत में क्षात्रधर्म

'धारणात् धर्म इत्याहुः' मानव के जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिये जिन नियमों को वह अपने जीवन में धारण करता है उसे 'धर्म' कहते हैं। इसे ही महर्षि कणाद् अपने शब्दों में कहते हैं "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः" जिससे मानव के अभ्युदय और कल्याण की सिद्धि हो उसे धर्म कहते है। हमें यहां विचार करना है क्षात्रधर्म पर। अतः ब्राह्मण वर्ण के पश्चात् क्षत्रिय के लिये जो अवश्य-धारणीय नियम हैं ये क्षात्रधर्म के अन्तर्गत आ जाते है। अतः अब हम 'क्षात्रधर्म' पर महाभारत-ग्रन्थाध्ययनाधार पर संचित सामग्री इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं।

(ए) सामान्य-क्षात्र-धर्म

1. पुरुष :—जिसमें पौरुष, पुरुषार्थ या शक्ति हो उसे 'पुरुष' कहते है। शक्ति का अभाव होने के कारण ही स्त्री को 'अबला' कहा जाता है। यद्यपि किसी किसी स्त्री में पुरुष से भी अधिक शक्ति होती है, किन्तु अपवाद सर्वत्र त्याज्य है। अतः माता विदुला के शब्दों में "पर अर्थात् शत्रु का सामना करके उसके वेग को सह लेता हैं, वही उस पुरुषार्थ के कारण पुरुष कहलाता है। जो इस जगत् में स्त्री की भांति जीवन व्यतीत करता है, उसका पुरुष नाम व्यर्थ है।"[1]

2. क्षत्रिय :—माता विदुला के शब्दों मे पौरुषवान् व्यक्ति 'पुरुष' कहलाता है। अतः मानव मात्र को पुरुषार्थी उद्यमी या उत्साही होना चाहिये, किन्तु जिसका पौरुष अपने 'स्वं' की रक्षा करता हुआ दूसरों के हितों की भी रक्षा करें उसे 'क्षतात् त्रायते' इति क्षत्रियः', कहते है। माता कुन्ती महाराज युधिष्ठिर को श्री कृष्ण द्वारा सन्देश भेजते हुये कहती है "तुम तो दूसरों को क्षति से त्राण देने वाले

---

1. परं विपहते यस्मात्तस्मात् पुरुष उच्यते।
   तमाहु र्व्यर्थनामानं स्त्रीवद् य इह जीवति॥

   उ. प. 31/55 पू., उ. प. 33/35 गी.

क्षत्रिय हो। तुम्हें तो बाहुबल से जीविका चलानी चाहिये।"[1] द्रौपदी भी 'क्षरते इति क्षत्रम्' जो दुष्टों का क्षरण (नाश) करता है, वही क्षत्रिय है। ऐसी क्षत्रिय की व्युत्पत्ति बताती है।[2] वीर क्षत्राणी के वीर पुत्र भीमसेन भी महात्मा अर्जुन को इस प्रकार क्षत्रिय का लक्षण बताते हैं "जो क्षति (संकट) से अपना तथा दूसरों का त्राण करता है, युद्ध में शत्रुओं को क्षति पहुँचाना ही जिसकी जीविका है तथा जो स्त्रियों और साधु पुरुषों पर क्षमाभाव रखता है, वही क्षत्रिय है और उसे ही शीघ्र इस धरा पर राज्य, धर्म, यश और लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।"[3] महाराज युधिष्ठिर भीम की बात सहर्ष स्वीकार करते हैं, अतः वे भी दुर्योधन को उलूक द्वारा सन्देश भेजते हुये इस प्रकार क्षत्रिय का लक्षण करते हैं। "पापी दुर्योधन तू पाण्डवों से सदा कुटिल व्यवहार करता रहा है। पापात्मन्! जो किसी से भयभीत न होकर अपने वचनों का पालन करता है और अपने ही बाहुबल से पराक्रम प्रकट करके शत्रुओं को युद्ध हेतु बुलाता है, वही पुरुष क्षत्रिय है।"[4]

3. **क्षत्रियोत्पत्ति** :—कौन्तेय अर्जुन तो क्षत्रिधर्म को ब्राह्मण के लिये भी धारणीय बताते हुये युधिष्ठिर को कहते हैं "राजन्! ब्राह्मण भी यदि क्षत्रियधर्म के अनुसार जीवन निर्वाह करता है तो लोक में उसका जीवन उत्तम ही माना गया है, क्योंकि क्षत्रिय की उत्पत्ति ब्राह्मण से हुई है।"[5] धनंजय क्षत्रिय को ब्राह्मण से पैदा हुआ बताते हैं और वस्तुतः यह सत्य भी है क्योंकि परशुरामजी ने जब इक्कीस बार क्षत्रियों का नाश कर दिया तो क्षत्राणियों ने ब्राह्मणों से ही अपनी अभीष्ट सन्तानें प्राप्त कीं। महाभारत मे इस विषय के कई दृष्टान्त मिलते हैं, किन्तु हम केवल एक ही ज्वलन्त उदाहरण देकर इसकी पुष्टि कर देते हैं। महाराज शान्तनु के सत्यवती से दो पुत्र उत्पन्न हुये एक चित्रांगद और दूसरा विचित्रवीर्य। चित्रांगद को वन में एक गन्धर्व ने मार डाला और विचित्रवीर्य क्षय रोग से ग्रसित होकर स्वर्गसिधार गया। जब सत्यवती के दोनों ही पुत्रों का देहान्त हो गया और कुल मे कोई सन्तान नही रही तो माता को बड़ी चिन्ता हुई। उन्होंने महात्मा भीष्म को बुलाकर विचित्रवीर्य की पत्नियों (अम्बिका और अम्बालिका) से सन्तान पैदा करने हेतु आज्ञा दी, किन्तु भीष्म ने अपनी दृढ प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ना चाहा। उन्होने

---

1. उ. प. 130/29 पू., 132/31 गी.
2. वन प. 28/34 पू., 27/37 गी.
3. द्रो प. 168/4 पू., 197–4 गी.
4. उ. प. × × पू., 162/52 गी.
5. शा. प. 22/6 गी., × × पू.

कहा "मैं तीनों लोकों का राज्य देवताओं का साम्राज्य अथवा इन दोनों से भी अधिक महत्व की वस्तुओं को भी एक साथ त्याग कर सकता हूँ, परन्तु सत्य को किसी प्रकार नहीं छोड़ सकता।" माता सत्यवती के बहुत आग्रह करने पर भीष्म जब प्रसन्न नहीं हुये तब सत्यवती ने उनसे शान्तनु की सन्तान परम्परा बनाये रखने के लिये धर्मयुक्त उपाय पूछा और महात्मा भीष्म ने इस प्रकार धर्मयुक्त उपाय बताया।[1]

भीष्म ने कहा "माता भरतवंश की सन्तान परम्परा को बढ़ाने और सुरक्षित रखने के लिये नियत उपाय बता रहा हूँ। आप किसी गुणवान्X ब्राह्मण को धन देकर बुलाओ, जो विचित्रवीर्य की स्त्रियों के गर्भ से सन्तान उत्पन्न कर सके।" तब माता सत्यवती ने कहा "महाबाहु भीष्म! तुम जैसा कहते हो वही ठीक है। तुम पर विश्वास होने से अपनी कुल की संतति की रक्षा के लिये मैं तुम्हें एक बात बतलाती हूँ। अतः मेरी बात सुनकर जो कर्त्तव्य हो उसे करो" इसके बाद माता सत्यवती ने अपनी और कृष्णद्वैपायन व्यास की उत्पत्ति बताई और कहा कि महर्षि व्यास उत्पन्न होते ही पिता के साथ चले गये थे। मेरे और तुम्हारे अनुग्रह से वे तेजस्वी व्यास अवश्य ही अपने भाई के क्षेत्र में कल्याणकारी सन्तान उत्पन्न करेंगे। माता सत्यवती ने श्री कृष्णद्वैपायन व्यास का आह्वान कर उन्हें सारी

---

1. आदि प. 97/1–20 पू., 10./1–26 गी.

X यहाँ गुणवान् का अर्थ है—नियोग की विधि को जानने वाला संयमी पुरुष। मनु महाराज ने स्त्रियों के आपद्धर्म के प्रसंग मे लिखा है—

> विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि।
> एकमुत्पादयेत् पुत्रं न द्वितीयं कथंचन॥ (मनु. स्मृ. 1/61)

(विधवा स्त्री के साथ सहवास के लिये (पतिपक्ष के गुरुजनों द्वारा) नियुक्त पुरुष अपने शरीर पर घी चुपड़कर (सौन्दर्य बिगाड़ कर) वाणी को संयम में रखकर (चुपचाप रहकर) रात्रि में सहवास करें। इस प्रकार वह एक ही पुत्र उत्पन्न करे दूसरा कभी न करें।)

> विधवायां नियोगार्थे निर्वृत्ते तु यथाविधि।
> गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम्॥ (मनु. स्मृ. 9/63)

(विधवा मे नियोग के लिये विधि के अनुसार (अर्थात् कामवश न होकर बुद्धि से) चित्त को संयमित और इन्द्रियों को अनासक्त रखते हुये नियोग का प्रयोजन सिद्ध हो जाने पर दोनों परस्पर पिता और पुत्रवधू के समान बर्ताव करें।)

बात बता दी। महर्षि व्यास ने नियोग विधि के अनुसार अम्बिका से जन्मान्ध* धृतराष्ट्र, अम्बालिका से पीतवर्णपाण्डु** और शूद्रा दासी*** से विदुर की उत्पत्ति की।[1]

अर्जुन भी ब्राह्मणवंशीय इन्द्र के स्पर्श से पैदा हुये थे और गर्भस्थान क्षत्राणी का था। अतः अर्जुन को अपने ही आधार पर यह गम्भीर सोचकर कहना उपयुक्त था कि क्षत्रिय ब्राह्मणों से पैदा हुये हैं। देवाधिदेव इन्द्र महर्षि कश्यप और अदिति की सन्तान थे। अतः ब्राह्मण पुत्र तो थे ही, किन्तु दुष्टदलन का कठोर कर्म करने से अर्जुन के शब्दों में क्षत्रिय हो गये थे, क्योंकि क्षात्र कर्म में स्थित होकर ही उन्होंने पाप में प्रवृत्त हुये अपने ही भाई बन्धुओं को (दैत्यों को) मार डाला था।[2]

श्रुति भी क्षत्रिय को ब्राह्मण के बाद विराट् पुरुष की जंघाओं से उत्पन्न होना प्रमाणित करती है "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहुराजन्यः कृतः।"(ऋ. पु. सू./11) अतः क्षत्रिय का महत्व उसी प्रकार रक्षा करने से है जिस प्रकार हमारे हाथ हमारे सम्पूर्ण शरीर की रक्षा करते हैं। माता कुन्ती ने भी इसी आधार पर युधिष्ठिर को बाहुबल से जीवन यापन हेतु सन्देश भेजा है "हे पुत्र ! ब्रह्माजी ने तुम्हारे लिये जिस धर्म की सृष्टि की है, उसी पर दृष्टिपात करो। उन्होंने अपनी दोनों भुजाओं से क्षत्रिय को उत्पन्न किया है, अतः 'क्षत्रिय बाहुबल से ही जीविका चलाने वाले होते हैं।"[3]

अब हम त्रिलोकी में सर्वमान्य अखिललोकनायक, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र, सर्वसमर्थ, सर्वथा प्रामाणिक, योगीराज, आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र के शब्दों में गीतोक्त क्षात्रधर्म

* व्यास जी के सहवासकाल में अम्बिका ने उनकी भीषण आकृति (काली) से डर कर आँखें बन्द करली थी और व्यास जी नियोगविधि के अनुसार कुछ कह नहीं सकते थे अतः अन्धे पैदा हुये।

** अम्बालिका भी उनकी भीषण कृति को देखकर पीली हो गई अतः पाण्डु पैदा हुये।

*** तीसरी बार अम्बिका ने अपने स्थान पर शूद्रा दासी को भेज दिया अतः विदुर शूद्रा से पैदा हुये।

1. आदि प. 98/1–50 पू., 104/1–54 गी.
2. शान्ति प. × × पू., 12/22/11 गी.
3. उ. प. 130/7 पू., 132/7 गी.

को सर्वप्रथम प्रस्तुत करते हैं, जिससे आगे के वक्ताओं का कथन भी प्रामाणिक माना जा सके।

4. गीतोक्त क्षात्र धर्म :—योगीराज श्रीकृष्ण अर्जुन को गीता का पूरा ज्ञान देकर यही बताते हैं कि प्रत्येक मनुष्य अपने-अपने स्वाभाविक धर्म से बन्धा हुआ होता है। ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन सबके कर्म स्वभाव से उत्पन्न गुणों द्वारा विभक्त किये गये है। "शूरवीरता,× तेज,×× धैर्य,* चतुरता** युद्ध***

× बड़े-बडे बलवान् शत्रु का न्याययुक्त सामना करने में भय न करना तथा न्याय-युक्त युद्ध करने के लिये सदा ही उत्साहित रहना और युद्ध के समय साहस पूर्वक गम्भीरता से लड़ते रहना "शूरवीरता" है। भीष्मपितामह का जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

×× जिस शक्ति के प्रभाव से मनुष्य दूसरों का दबाव मानकर किसी भी कर्त्तव्य-पालन से कभी विमुख नहीं होता और दूसरे लोग न्याय के और उसके प्रतिकूल व्यवहार करने में डरते रहते है, उस शक्ति का नाम 'तेज' है। इसी को प्रताप और प्रभाव भी कहते है।

* बड़े से बड़े संकट के उपस्थित हो जाने पर—युद्ध स्थल में शरीर पर भारी से भारी चोट लग जाने पर अपने पुत्र पौत्रादि के मर जाने पर, सर्वस्व का नाश हो जाने पर या इसी तरह अन्य किसी प्रकार की भारी विपत्ति आ पड़ने पर भी व्याकुल न होना और अपने कर्त्तव्य पालन से कभी विचलित न होकर न्यायानुकूल कर्त्तव्य पालन में से कभी विचलित न होकर न्यायानुकूल कर्त्तव्य पालन में संलग्न रहना—इसी का नाम 'धैर्य' है।

** परस्पर झगड़ा करने वाले का न्याय करने में, अपने कर्त्तव्य का निर्णय और पालन करने में युद्ध करने में तथा मित्र, वैरी और मध्यस्थो के साथ यथा-योग्य व्यवहार करने मे जो कुशलता है, उसी का नाम 'चतुरता' है।

*** युद्ध करते समय भारी से भारी संकट आ पड़ने पर भी पीठ न दिखाना, हर स्थिति मे न्यायपूर्वक सामना करके अपनी शक्ति का प्रयोग करते रहना और प्राणों की परवाह न करके युद्ध में डटे रहना ही 'युद्ध में न भागना' है। इसी धर्म को ध्यान में रखते हुये वीर बालक अभिमन्यु ने छः महारथियों से अकेले युद्ध करके प्राण दे दिये किन्तु रण-स्थल नहीं छोड़ा।

में न भागना दान देना और स्वामिभाव× सब के सब क्षत्रिय के स्वाभाविक धर्म है।[1]

उपर्युक्त कर्मों में क्षत्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, इनका पालन करने मे उन्हें किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। इन कर्मों में भी जो धृति, दान आदि सामान्य धर्म हैं, उनमे सबका अधिकार होने के कारण, अन्य धर्म-वालों के लिये अधर्म या परधर्म नहीं है, किन्तु स्वाभाविक न होकर प्रयत्न साध्य है।

5. क्षात्रधर्म की श्रेष्ठता :—भगवान् श्रीनन्दनन्दन जब जरासंध वध हेतु अर्जुन तथा भीम के साथ गिरिव्रज में विपरीत मार्ग से प्रवेश कर जरासन्ध के सामने उपस्थित हुये और उन्होंने अपना वैर स्मरण दिलाया, तब जरासन्ध ने क्षत्रिय धर्म पर प्रकाश डालते हुये तथा उसे त्रिलोकी मे श्रेष्ठ बतलाते हुये कहा "जो क्षत्रिय लोक के विरुद्ध आचरण करके निरपराध के लिये धन और धर्म के नाश का दोषारोपण करता है, वह कष्टमयी गति को प्राप्त करता है और कल्याण से वंचित हो जाता है। त्रिलोकी में सत्कर्म करने वाले क्षत्रियों के लिये क्षत्रियधर्म ही श्रेष्ठ है। धर्मज्ञ पुरुष क्षत्रिय के लिये अन्य धर्म की प्रशंसा नहीं करते।[2]

जैसा कि हमने 'क्षत्रियोत्पत्ति' प्रसंग में बताया कि इन्द्र ब्राह्मण-पुत्र होते हुये भी क्षात्रधर्म को श्रेष्ठ समझते थे। अतः उन्होंने क्षात्र धर्म को धारण कर दुष्टों का दलन किया। दैत्य-गुरु शुक्राचार्य भी इस मत का समर्थन करते हुये कहते है "आपत्ति पड़ने पर (जीविका अभाव होने पर) क्षत्रियोचित जीविका द्वारा जीवन धारण करते हुये ब्राह्मण का जीवित रहना भी लोक में उत्तम माना जाता है। क्योंकि क्षत्रिय की उत्पत्ति ब्राह्मण से हुई है। अतः ब्राह्मण के लिये क्षत्रिय कर्म करना विरुद्ध नहीं है।[3] धनंजय भी शुक्र के मत का समर्थन करते हुये युधिष्ठिर को क्षत्रियोत्पत्ति प्रसंग में कह चुके हैं" यहाँ तक कि राजन्! ब्राह्मण भी यदि क्षात्र धर्म को धारण कर लें तो लोक में उसका जीवन प्रशंसनीय माना जाता है। क्षत्रिय ब्राह्मण से उत्पन्न हुआ है। इससे क्षात्रधर्म की श्रेष्ठता स्पष्ट हो जाती हैं।

× शासन के द्वारा लोगों को अन्यायाचरण से रोककर सदाचार में प्रवृत्त करना, दुराचारियों को दण्ड देना, लोगों से अपनी आज्ञा का न्याय-युक्त-पालन करवाना तथा समस्त प्रजा का हित सोचकर निःस्वार्थभाव से प्रेमपूर्वक पुत्र की भांति उसकी रक्षा और पालन-पोषण करना 'स्वामिभाव' है।

1. भीष्म प. गीता 18/43 पू., 18/43 गी.
2. सभा प. 20/3–5 पू., 22/3–5 गी.

'राजधर्म' जो कि क्षत्रिय धर्म का विशेष स्वरूप है, उसे महात्मा भीष्म ने अपने शब्दों में इस प्रकार युधिष्ठिर को अन्य धर्मों से श्रेष्ठतम बताया है—"हे राजन् ! राजधर्म भुजाओं के आश्रित रहता है, वह क्षत्रिय के लिये संसार में श्रेष्ठतम धर्म है, क्योंकि इस धर्म का सेवन करता हुआ क्षत्रिय मानव मात्र की रक्षा करता है। अतः तीनों वर्णों के उपधर्मों सहित जो अन्यान्य समस्त धर्म हैं वे राजधर्म से ही सुरक्षित रह सकते हैं, यह मैंने वेद शास्त्रों से सुना है। हे नरेश्वर ! जैसे हाथी के पद चिन्ह में सभी प्राणियों के पद चिन्ह विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार सबधर्मों को सभी अवस्था में राजधर्म के अन्दर समाविष्ट हुआ समझो। धर्मज्ञ आर्य पुरुषों का कथन है कि अन्य समस्त धर्मों का आश्रय तो अल्प ही है, फल भी अल्प ही है, किन्तु क्षात्रधर्म का आश्रय भी महान् है और उसके फल भी बहुसंख्य एवं परमकल्याण-रूप हैं, अतः इसके समान दूसरा कोई धर्म नहीं है। सभी धर्मों में राजधर्म ही प्रधान है। क्योंकि उसके द्वारा सभी वर्णों का पालन होता है। राजन् ! राजधर्म में सभी प्रकार के त्याग का समावेश है और ऋषिगण त्याग को सर्वश्रेष्ठ एवं प्राचीन धर्म बताते है, पुरातन राजधर्म जिसे क्षात्रधर्म भी कहते हैं, यदि लुप्त हो जाय तो आश्रमों के सम्पूर्ण धर्मों का लोप हो जायेगा। अतः सर्वरक्षकत्व के कारण राजधर्म सब धर्मों में श्रेष्ठतम है।[1]

पितामह भीष्म ने युधिष्ठिर को फिर इन्द्र-रूपधारी विष्णु द्वारा मान्धाता हेतु प्रदर्शित क्षात्रधर्म की श्रेष्ठता को इस प्रकार बताया "आदिदेव भगवान् विष्णु के द्वारा सर्वप्रथम राजधर्म का ही प्रवर्तन किया गया, अन्य सब धर्म तदनन्तर प्रवृत्त हुये। वस्तुतः क्षात्रधर्म ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। शेष धर्म तो असंख्य है, और उनक फल भी विनाशशील है। इस क्षात्रधर्म में सभी धर्मों का समावेश हो जाता है अतः इसी धर्म को श्रेष्ठ कहते है। पूर्वकाल में भगवान् नारायण ने क्षात्र-धर्म के द्वारा ही शत्रुओं का दमन करके देवताओ तथा अमिततेजस्वी समस्त ऋषियों की रक्षा की थी। यदि वे भगवान् विष्णु शत्रु राक्षसो को नही मारते तो न ब्राह्मणों का पता लगता न जगत् के आदि कर्ता ब्रह्मा ही दिखाई देते। न यह धर्म रहता और न आदि धर्म का ही पता लग सकता था। वे शाश्वत धर्म सैकडो बार नष्ट हो चुके हैं परन्तु क्षात्रधर्म ने उनका पुनः उद्धार एवं प्रसार किया। युग-युग से आदि धर्म (क्षात्रधर्म) की प्रवृत्ति हुई है, इसलिये इस क्षात्र-धर्म को लोक मे सबसे श्रेष्ठ बताते है। युद्ध में अपने शरीर की आहुति देना, समस्त प्राणियों पर दया करना, लोक व्यवहार का ज्ञान प्राप्त करना, प्रजा की रक्षा करना, विषादग्रस्त एवं पीडित मनुष्यो को दुःख और कष्ट से छुड़ाना—ये सब बातें राजाओ के क्षात्रधर्म मे ही

---

[1] शान्ति प. 62/24–30 पू., 63/24–30 गी.

विद्यमान है। जो लोग कामक्रोध में फँसकर उच्छृंखल हो गये हैं, वे भी राजाओं के भय से ही पाप नहीं कर पाते हैं तथा जो सब प्रकार के धर्मों का पालन करने वाले श्रेष्ठ पुरुष हैं वे राजा से सुरक्षित हो सदाचार का सेवन करते हुये धर्म का सदुपदेश करते हैं। राजाओं से राजधर्म के द्वारा पुत्र की भांति पालित होने वाले जगत के सम्पूर्ण प्राणी निर्भय विचरते है, इसमें संशय नहीं है। इस प्रकार संसार में क्षात्र धर्म ही सब धर्मों से श्रेष्ठ, सनातन, नित्य, अविनाशी और मोक्ष तक पहुँचाने वाला सर्वतोमुखी है।[1]

6. **क्षात्रधर्म की व्याख्या** :—क्षात्रधर्म की श्रेष्ठता बता देने के अनन्तर इन्द्र रूपधारी भगवान् विष्णु ने मान्धाता के लिये क्षात्रधर्म की व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की "राजन्! क्षात्रधर्म सब धर्मों में श्रेष्ठ और शक्तिशाली है। यह सभी धर्मों से सम्पन्न बताया गया है। तुम जैसे लोकहितैषी पुरुषों को सदा इस क्षात्रधर्म का ही पालन करना चाहिये। यदि इसका पालन नहीं किया तो प्रजा का नाश हो जायेगा। समस्त प्राणियों पर दया करने वाले राजा को उचित है कि वह निम्न कार्यों को ही श्रेष्ठ धर्म समझे। वह पृथ्वी का संस्कार करावे, राजसूय, अश्वमेधादि यज्ञों में अवभृथस्नान करें, भिक्षा का आश्रय न ले, प्रजा का पालन करें और संग्राम भूमि में शरीर को त्याग दे। ऋषि मुनि त्याग को ही श्रेष्ठ बताते हैं। उसमें भी युद्ध में राजा लोग अपने शरीर का त्याग करते हैं वह सबसे श्रेष्ठ त्याग है। क्षत्रिय ब्रह्मचारी धर्मपालन की इच्छा रखकर अनेक शास्त्रों का ज्ञान का उपार्जन तथा गुरु-शुश्रूषा करते हुये अकेला ही नित्य ब्रह्मचर्याश्रम के धर्म का आचरण करे। यह बात ऋषि लोग परस्पर मिलकर कहते हैं। जनसाधारण का व्यवहार आरम्भ होने पर राजा प्रिय और अप्रिय की भावना का प्रयत्नपूर्वक परित्याग करे। भिन्न-भिन्न उपायों, नियमों, पुरुषार्थों तथा सम्पूर्ण उद्योगों के द्वारा चारों वर्णों की स्थापना एवं रक्षा करने के कारण क्षात्रधर्म एवं गृहस्थ आश्रम को ही सबसे श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण धर्मों से सम्पन्न बताया है, क्योंकि सभी वर्णों के लोग इस क्षात्रधर्म के सहयोग से ही अपने-अपने धर्म का पालन करते हैं। क्षत्रिय-धर्म के न होने से इन सब धर्मों का प्रयोजन विपरीत होता है। ऐसा कहते हैं जो लोग सदा अर्थसाधन में ही आसक्त होकर मर्यादा छोड़ बैठते हैं, उन मनुष्यों को पशु कहा गया है। क्षत्रिय धर्म अर्थ की प्राप्ति कराने के साथ-साथ उत्तम नीति का ज्ञान प्रदान करता है, अतः वह आश्रम-धर्मों से भी श्रेष्ठ है। समस्त वर्णों में स्थित हुये जो धर्म हैं, उन्हें क्षत्रियों को उन्नति के शिखर पर पहुँचाना चाहिये। यही क्षत्रिय धर्म है, इसलिये राज-धर्म श्रेष्ठ है। दूसरे धर्म इस प्रकार श्रेष्ठ नहीं है। मेरे मत में वीर-क्षत्रियों के धर्मों में बल और पराक्रम की प्रधानता है।

---

1. शान्ति प. 64/19–29 पू., 64/20–30 गी.

भगवान् प्रजापति ने जब इस सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि की थी, उस समय लोगों को सत्कर्म में लगाने और दुष्कर्म से निवृत्त करने के लिये उन्होंने धर्मरक्षा के हेतु क्षात्रबल को प्रतिष्ठित करने की अभिलाषा की थी। जो पुरुष प्रवृत्त-धर्म की गति को अपनी बुद्धि से विचार करता है, वही मेरे लिये माननीय और पूजनीय है, क्योंकि उसी में क्षात्र-धर्म प्रतिष्ठित है।"[1]

7. क्षात्रधर्म की कठोरता :—बाहुबलाश्रित होने के कारण क्षात्रधर्म का वही अवलम्बन कर सकता है जिसमे शक्ति हो और जिसमें शत्रु से भी अधिक शक्ति होगी वही अपनी शक्ति के आधार पर दुष्ट शत्रु को पराजित कर सकता है। अतः आवश्यक है कि क्रूर शत्रु को पराजित करने हेतु क्षत्रिय को शत्रु से भी अधिक क्रूर बनना पड़ता है। इसलिये स्पष्ट है कि क्षात्रधर्म एक कठोर धर्म है जिसकी पुष्टि भीमसेन युधिष्ठिर को युद्ध हेतु प्रेरणा देते हुये इस प्रकार करते हैं "हे महाराज! आप क्षत्रिय के सनातन धर्म को जानते हैं आप कठोर कर्म करने वाले, क्षत्रियकुल मे उत्पन्न हुये हैं, जिससे सब लोग भयभीत रहते हैं, अतः अपने स्वरूप और कर्त्तव्य की ओर ध्यान दीजिये।"[2]

भीम की माता कुन्ती भी बाहुबल से क्षत्रिय का घनिष्ठ सम्बन्ध बताकर श्रीकृष्ण द्वारा युधिष्ठिर के पास क्रूरकर्म संयुक्त युद्ध में प्रवृत्त होने हेतु सन्देश भेजती है "हे वत्स युधिष्ठिर! क्षत्रिय बाहुबलाश्रित होने के कारण युद्ध रूपी कठोर-कर्म के लिये रचे गये है तथा सदा प्रजापालन रूपी धर्म में प्रवृत्त होते हैं।"[3] इस प्रकार माता कुन्ती की दृष्टि में भी क्षात्रधर्म एक कठोर धर्म है।

माता विदुला का पुत्र संजय रणकर्कशता से भयभीत होकर घर पर आकर सो जाता है तो वीर क्षत्राणी माता विदुला जब उसकी बड़ी ही कठोर शब्दों में भर्त्सना करती है तब संजय इस प्रकार क्षात्रधर्म की कठोरता बतलाता है "माँ तुझ क्षत्राणी का हृदय ऐसा कठोर है कि मानो काले लोहे के पिण्ड में से ठोक-पीटकर बनाया गया हो। तू मेरी माता होकर भी इतनी निर्दयी है। तेरी बुद्धि वीरों के समान है और तू सदा अमर्ष में भरी रहती है। अहो!, क्षत्रियों का आचार-व्यवहार कैसा आश्चर्यजनक है, जिसमें स्थित होकर तू मुझे इस प्रकार क्रूरकर्मा युद्ध में लगा रही है, मानो मैं दूसरे का बेटा होऊं और तू दूसरे की माँ

---

1. शान्ति प. 65/1–7, 12, 30–31 पू., 65/1–7, 12, 30–31 गी.
2. वन. प. 34/52 पू., 33/54 गी.
3. उ. प. 130/8 पू., 132/8 गी.

हो। मुझ इकलौते पुत्र से तू ऐसी निष्ठुर बात करे, आश्चर्य है, मुझे न देखने पर यह सारी पृथ्वी भी तुझे मिल जाय तो इससे तुझे क्या सुख मिलेगा? मैं विशेषतः तेरा प्रिय पुत्र यदि युद्ध में मारा जाऊँ तो तुझे आभूषणों से, भोग सामग्रियों से तथा अपने जीवन से भी कौनसा सुख प्राप्त होगा?" इस पर क्षात्रधर्म की कठोरता से उत्पन्न हुयी पत्थरहृदया माता ने अपने पुत्र से क्षात्रधर्म को कठोर रूप से स्वीकार करते हुये भी यही कहा "तात! संजय! विद्वानों की सारी अवस्था भी धर्म और अर्थ के निमित्त ही होती है उन्हीं दोनो की ओर दृष्टि रखकर मैंने तुझे युद्ध के लिये प्रेरित किया है। यह तेरे लिये दर्शनीय पराक्रम दिखाने का मुख्य समय प्राप्त हुआ है। ऐसे समय में भी यदि तू अपने कर्त्तव्य का पालन नही करेगा और तुझ से जैसी सम्भावना थी, उसके विपरीत स्वभाव का परिचय देकर शत्रुओं के प्रति क्रूरतापूर्ण व्यवहार नही करेगा तो उस दशा में सब ओर तेरा अपयश फैल जायेगा। संजय! ऐसे अवसर पर यदि मैं तुझे कुछ न कहूँ तो मेरा वह वात्सल्य गदही के स्नेह के समान शक्तिहीन तथा निरर्थक होगा। अतः वत्स! साधुपुरुष जिसकी निन्दा करते है और मूर्ख मनुष्य ही जिस पर चलते हैं, उस मार्ग को त्याग दे।"[1]

माता विदुला और पुत्र संजय का संवाद क्षात्र-धर्म की कठोरता को प्रत्यक्ष कर देता है। एक जननी जिसे अपना पुत्र प्राणो से भी अधिक प्रिय होता है, अपने क्षात्रधर्म की कठोरता के कारण इतनी क्रूरहृदय बनती है कि युद्ध में प्राण बचाकर आये पुत्र को हृदय से लगाने के स्थान पर कठोर वचनों से प्रताड़ित करती है और यहाँ तक कि कठोर वचनों के प्रभाव में अपनी तुलना गदही के स्नेह से करती है। पुत्र संजय वस्तुतः माता के इन्हीं कठोर शब्दों से चोट खाये हुये सर्प के समान फुंफकार उठता है और क्षत्रिय से कठोर धर्म की पालना कर अर्थात् युद्ध में शत्रु को पराजित कर माँ से आकर अभिनन्दन कराता है।

क्षात्रधर्म इतना कठोर है कि वह अपने गुरुजनो तक को युद्ध में मार देने की आज्ञा देता है। पितामह भीष्म तो शस्त्रग्रहण कर युद्ध में आये ब्राह्मण को मार देना भी शास्त्रसम्मत बताते हुये जामदग्नि परशुराम जो उनके ही गुरु हैं, उन्हें इस प्रकार क्षात्रधर्म की कठोरता बताते है—"आप मेरे गुरु हैं; यह समझकर मैंने प्रेमपूर्वक आपका अधिक से अधिक सम्मान किया है; परन्तु आप गुरु का सा व्यवहार नही जानते, अतः मैं आपसे युद्ध करूँगा। एक तो आप गुरु हैं, उसमें भी विशेषतः ब्राह्मण है उस पर भी विशेष बात यह है कि आप तपस्या में बढ़े चढ़े हैं। अतः आप जैसे पुरुषों को मैं कैसे मार सकता हूँ। यही सोचकर मैंने अब तक आपके

1. उ. प. 153/1–7 पू., 135/1–8 गी.

तीक्ष्ण व्यवहार को चुपचाप सह लिया। यदि ब्राह्मण भी क्षत्रिय की भाँति धनुष बाण उठाकर युद्ध में क्रोधपूर्वक सामने आकर युद्ध करने लगे और पीठ दिखाकर भागे नहीं तो उसे इस दशा में देखकर जो योद्धा मार डालता है, उसे ब्रह्महत्या का दोष नहीं लगता, यह धर्मशास्त्रों का निर्णय है। तपोधन ! मैं क्षत्रिय हूँ और क्षत्रियों के धर्म में स्थित हूँ। जो जैसा व्यवहार करता है, उसके साथ वैसा ही व्यवहार करने वाला पुरुष न तो अधर्म को प्राप्त होता है और न अमंगल का ही भागी बनता है।"[1]

भगवान् श्रीकृष्ण तो अर्जुन को वृद्ध-भीष्म-वध हेतु प्रेरणा देते हुये यहाँ तक कहते है "हे पार्थ ! कोई बड़े से बड़े गुरुजन, वृद्ध, बालक और सर्वगुण सम्पन्न पुरुष ही क्यों न हो, यदि शस्त्र उठाकर अपना वध करने के लिये आ रहे हों तो उस आततायी को अवश्य मार डालना चाहिये।"[2] शुक्राचार्य भी श्रीकृष्ण की सम्मति का ठीक इन्हीं शब्दों में समर्थन करते हैं।[3]

इस प्रकार श्रीकृष्ण की दृष्टि में क्षात्रधर्म इतना कठोर है कि वह गुरुजन, सर्वगुण सम्पन्न और यहाँ तक कि वृद्ध को भी युद्ध में मार डालने की आज्ञा देता है।

संजय भी क्षात्रधर्म की कठोरता बतलाते हुये धृतराष्ट्र को कहते हैं "राजन् ! समर भूमि में द्रोणाचार्य अर्जुन को अपना प्रिय नहीं समझते और अर्जुन भी क्षत्रियधर्म को आगे रखकर युद्धस्थल में गुरु को अपना प्रिय नहीं मानते। क्षत्रिय लोग रण-क्षेत्र में आपस में किसी को नहीं छोड़ते हैं। वे पिता और भाईयों के साथ भी मर्यादा* शून्य होकर युद्ध करते हैं।"[4] इस प्रकार कठोर क्षात्रधर्म माता भाई, गुरुजन आदि के प्रति जो आदर की दृष्टि से मर्यादा होती है, उसे भी युद्ध-स्थल में त्याग देने को अपना कर्त्तव्य समझता है।

महाराज युधिष्ठिर महासमर के बाद जब अत्यन्त शोकग्रस्त हो गये तब अर्जुन युधिष्ठिर को क्षात्रधर्म को अत्यन्त कठोर बताकर धैर्य धारण करने तथा

---

1. उ. प. 178/25–29 पू., 178/49–53 गी.
2. भीष्म. प. 103/95 पू., 107/101 गी.
3. शु. नी. 4/47 प्र./318, 325–327 गी.

* यहाँ पर 'मर्यादा' शब्द सम्बन्ध की मर्यादा के लिये प्रयुक्त हुआ है।

4. भीष्म. प. 98/4–6 पू., 102/4–6 गी.

शोक का परित्याग करने के लिये कहते हैं "भरतश्रेष्ठ ! क्षत्रियों का धर्म महारौद्र है। (महाभयंकर है) उसमें सदा शस्त्र से ही काम पड़ता है और समय आने पर युद्ध में शस्त्र द्वारा उनका वध भी हो जाता है।"[1] अतः जो क्षत्रिय युद्ध में काम आ गये उनके लिये आपको शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि वीर जो क्षात्रधर्म को भलीभांति जानता है, मृत्यु को अपने करस्थ करके चलता है। यदि वह मृत्यु से डरे तो युद्ध की ओर मुँह ही नहीं कर सकता अर्थात् उसे ज्ञात होता है कि युद्ध में या तो मैं मारा जाऊँगा या शत्रु मुझे मार देगा। इस प्रकार सारे ही क्षत्रिय वीर अपनी मृत्यु को पहले ही मानकर युद्ध में उतरे थे और अब यदि मृत्यु को प्राप्त हो गये तो कोई दुःख का विषय नही है, क्योंकि यह तो पहले ही निश्चित था। यहाँ तक कि स्वयं महाराज युधिष्ठिर भी क्षत्रिय धर्म को पापपूर्ण बताते हुये भीष्म को कहते हैं। "हे नरश्रेष्ठ ! क्षत्रिय धर्म से बढ़कर पापपूर्ण दूसरा कोई धर्म नहीं है, क्योंकि राजा किसी देश पर चढ़ाई करने और युद्ध छेड़ने के द्वारा महान् जनसंहार कर डालता है।"[2]

8 क्षत्रिय के उत्थान और पतन के मूल कारण :—क्षत्रिय साधारणतः जब अपने धर्म को सांगोपांग धारण कर लेता है तो उसका उत्थान होता ही रहता है, किन्तु जैसा कि हम ऊपर बता आये हैं कि क्षत्रिय की उत्पत्ति ब्राह्मण से हुई है, अतः ब्राह्मण के सहयोग के बिना क्षत्रिय की पूर्ण उन्नति सम्भव नही है। क्षात्रधर्म के सब अंगों को धारण कर लेने के बाद भी यदि ब्राह्मण का क्षत्रिय को सहयोग नही मिलेगा तो उसका उत्थान अधूरा ही रहेगा।

महर्षि दल्भपुत्र बक ने क्षत्रिय के उत्थान हेतु ब्राह्मण का सहयोग इस प्रकार प्रदर्शित किया "हे कुन्तीनन्दन ! जब ब्राह्मण क्षत्रिय से और क्षत्रिय ब्राह्मण से मिल जाय तो दोनों प्रचण्ड शक्तिशाली होकर उसी प्रकार अपने शत्रु को भस्म कर देते हैं, जैसे अग्नि और वायु मिलकर सारे वन को जला देते है। तात ! इहलोक और परलोक पर विजय पाने की इच्छा रखने वाले राजा किसी ब्राह्मण को साथ लिये बिना अधिक काल तक न रहे। जिसे धर्म और अर्थ की शिक्षा मिली हो तथा जिसका मोह दूर हो गया हो, ऐसे ब्राह्मण को पाकर राजा अपना सर्वतोमुखी उत्थान कर सकता है। राजा बलि को प्रजापालनजनित कल्याणकारी धर्म का आचरण करने के लिये ब्राह्मण का आश्रय लेने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नही जान पड़ा था। ब्राह्मण के सहयोग से पृथ्वी का राज्य पाकर विरोचन पुत्र बलि

---

1. शान्ति प. × × पू., 22/5 गी.
2. शान्ति प. 98/1 पू., शान्ति प. 97/1 गी.

नामक दैत्य का जीवन सम्पूर्ण आवश्यक कामोपभोग की सामग्री से सम्पन्न हो गया और उसे राजलक्ष्मी प्राप्त हो गयी।

जिसे ब्राह्मण का सहयोग प्राप्त नहीं है, ऐसे क्षत्रिय के पास ऐश्वर्यपूर्ण भूमि दीर्घकाल तक नहीं रहती। जिस नीतिज्ञ राजा को श्रेष्ठ ब्राह्मण का उपदेश प्राप्त है, उसके सामने समुद्रपर्यन्त पृथ्वी नतमस्तक होती है। ब्राह्मणों के पास अनुपम दृष्टि (विचार शक्ति) होती है और क्षत्रिय के पास अनुपम बल होता है, तब सारा जगत् सुखी होता है। बुद्धिमान् क्षत्रिय को चाहिये कि वह अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त की वृद्धि हेतु ब्राह्मणों से बुद्धि ग्रहण कर अपना उत्थान करे।"[1]

जिस प्रकार ब्राह्मण के सहयोग से क्षत्रिय की उन्नति निर्भर है उसी प्रकार सहयोगाभाव में पतन भी सम्भव है, फिर चाहे क्षत्रिय अपनी ओर से क्षात्रधर्म-पालन का पूर्ण प्रयत्न ही क्यों न कर रहा हो, किन्तु उसका पतन अवश्यम्भावी होता है। महर्षि बक ने युधिष्ठिर को बताया "विरोचन पुत्र बलि ने ब्राह्मण सहयोग से अक्षय राजलक्ष्मी प्राप्त की थी, किन्तु उसने ब्राह्मणों के साथ दुर्व्यवहार किया तो वह नष्ट हो गया और उसका राजलक्ष्मी से वियोग हो गया। जिसे ब्राह्मण का सहयोग प्राप्त नहीं है, ऐसे क्षत्रिय के पास वह ऐश्वर्यपूर्ण-भूमि दीर्घकाल तक नहीं रहती। जैसे संग्राम में हाथी को महावत से अलग कर देने पर उसकी सारी शक्ति व्यर्थ हो जाती है, उसी प्रकार ब्राह्मण रहित क्षत्रिय का सारा बल क्षीण हो जाता है।"[2]

इस बात की पुष्टि इन्द्र और लक्ष्मी संवाद से भलीभांति हो जाती है। ब्राह्मणों के साथ दुर्व्यवहार करने पर जब लक्ष्मी राजा बलि को त्याग कर उसके शरीर से एक कान्तिमयी सुन्दरी के रूप में पृथक् खड़ी हो जाती है तब इन्द्र ने लक्ष्मी से पूछा "सुन्दरी! बलि के शरीर से निकलकर खड़ी हुई तुम कौन हो?" तब लक्ष्मी ने कहा "वासव! जानकर मनुष्य मुझे भूति, लक्ष्मी और श्री भी कहते है।" तब इन्द्र ने पूछा "वेणी-धारण करने वाली लक्ष्मी! तुमने बलि का कैसे और किस लिये त्याग किया है? तब लक्ष्मी ने कहा "देवेन्द्र! ये बलि पहले ब्राह्मणों के हितैषी, सत्यवादी और जितेन्द्रिय थे, किन्तु आगे चलकर ब्राह्मणों के प्रति इनकी दोषदृष्टि हो गयी और जहां ब्राह्मणों का अपमान होता है मैं वहां नहीं ठहर सकती। अतः अब मैंने बलि का त्याग कर दिया।"[3]

---

1. वन प. 27/10–18 पू., 26/10–18 गी.
2. वन प. 27/13–15 पू., 26/13–15 गी.
3. शान्ति प. 226/5/13 पू., 225/5–13 गी.

9. क्षात्रधर्म से पतन :—महाराज युधिष्ठिर ने भीष्मपिता-मह से जब यह पूछा कि क्षत्रिय अपने धर्म से कब गिरा हुआ माना जाता है ? तब भीष्म ने महर्षि वासुदेव और राजा वसुमना का संवाद प्रस्तुत करते हुये महर्षि वामदेव के शब्दों में इस प्रकार कहा "राजन् ! जो क्षत्रिय राज्य में रहने वाले विजित या अविजित मनुष्यों की अत्यन्त आचरण में लायी हुई वृत्ति का अनुवर्तन नहीं करता अर्थात् उन लोगों को अपने परम्परागत आचार-विचार का पालन नहीं करने देता, वह क्षत्रिय धर्म से गिर जाता है। यदि कोई राजा पहले उपकारी हो और किसी कारण-वश वर्तमान में द्वेषवश उसका सम्मान नहीं करता. वह भी क्षात्रधर्म से गिर जाता है। जो मन के प्रतिकूल होने के कारण अपने ही प्रयोजन की सिद्धि चाहने वाले सुहृद की बात नहीं सहन करता और अपनी अर्थ सिद्धि के विरोधी वचनों को भी सुनता है, सदा अनमना सा रहता है, जो बुद्धिमान् शिष्ट पुरुषों द्वारा आचरण में लाये हुये व्यवहार का सदा सेवन नहीं करता एवं पराजित या अपराजित व्यक्तियों को उनके परम्परा-गत आचार का पालन नही करने देता, वह क्षत्रिय धर्म से गिर जाता है।"[1]

जो क्षत्रिय अपने धर्म से गिर जाता है उसे भीष्म महर्षि उतथ्य के शब्दों में 'वृषल' कहते हैं। 'वृष' का तात्पर्य है धर्म और जिस क्षत्रिय से धर्म का लोप (लय) हो गया है। उसे 'वृषल' कहेंगे अथवा वृष अर्थात् धर्म के विषय में जो अलम् (बस) कह देता है, उसे देवता 'वृषल' समझते हैं।"[2]

अतः क्षत्रिय को सदैव अपने धर्म में स्थित रहते हुये समस्त वर्णों की सुरक्षा करनी चाहिये तथा अपने धर्म की वृद्धि करनी चाहिये। क्योंकि क्षात्रधर्म की वृद्धि से सभी धर्मों की वृद्धि होती है।

(ओ) विशिष्ट-क्षात्र-धर्म (राजधर्म)

ऊपर हम क्षात्रधर्म के सामान्य विषय पर पूर्ण प्रकाश डाल चुके अब हम राजधर्म को लेते है, जो क्षत्रिय का एक विशिष्ट-धर्म है और जिसे महात्मा भीष्म ने भी विशिष्टता प्रदान करते हुये 'पुरातन-राजधर्म' कहकर क्षत्रिय धर्म ही बताया है। वस्तुतः राजधर्म विशेषतः राजा के लिये होता है और राजा वह क्षत्रिय होता है जो प्रजा में विधि और व्यवस्था बनाने का कार्य करता है। अतः राजधर्म क्षात्र-धर्म के ही अन्तर्गत अपना एक विशेष महत्त्व रखता है, जिस पर हम निम्न प्रकार से प्रकाश विशेष डालते हैं।

---

1. शान्ति प. 94/5–6, 29–30 पू., 93/5–6, 29–30 गी.
2. शान्ति प. 91/15/16 पू., 90/15–16 गी.

1. राजा की उत्पत्ति :—महात्मा भीष्म ने युधिष्ठिर को महर्षि उतथ्य के शब्दों में बताया कि लोक और परलोक दोनों को दृष्टि में रखकर महर्षियों ने स्वयं ही राजा नामक महान् शक्तिशाली मनुष्य की सृष्टि की। अतः जिसमें धर्म विराज रहा हो उसी को राजा कहते हैं, ब्रह्माजी ने प्राणियों के कल्याणार्थ ही धर्म की सृष्टि की है, इसलिये राजा को चाहिये कि अपने देश में प्रजाजनों पर अनुग्रह करने के लिये धर्म का प्रचार करें। पुरुषप्रवर! जो सद्धर्म के पालन-पूर्वक प्रजा का शासन करता है, वही राजा है।[1]

"राजा के लिये यह परमावश्यक है कि वह समस्त प्रजाओं को अपने-अपने धर्म में स्थापित करके उनके द्वारा शान्तिपूर्ण समस्त कर्मों का धर्म के अनुसार अनुष्ठान करावे। युधिष्ठिर! राजा दूसरा कर्म करे या न करे, केवल प्रजा की रक्षा करने मात्र से वह कृतकृत्य हो जाता है। उसमें इन्द्र देवता सम्बन्धी बल की प्रधानता होने से राजा ऐन्द्र कहलाता है।"[2] अतः 'राजा प्रकृतिरंजनात्' यह राजा की व्युत्पत्ति सार्थक है।

2. राजा का महत्व :—राजा का प्रजा-रक्षण की दृष्टि से अत्यन्त गौरव-पूर्ण महत्त्व है। पितामह भीष्म महाराज युधिष्ठिर को देवगुरु बृहस्पति के शब्दों में इस प्रकार राजा का महत्त्व प्रतिपादित करते है "राजा प्रजा में सुख शान्ति रखने के लिये पाँचरूप धारण करता है। वह कभी अग्नि, कभी सूर्य, कभी मृत्यु, कभी कुबेर और कभी यमराज बन जाता है। जब पापात्मा मनुष्य राजा के साथ मिथ्या व्यवहार करके उसे ठगते हैं, तब वह अग्निस्वरूप हो जाता है और अपने उग्र तेज से समीप आये हुये उन पापियों को जलाकर भस्म कर देता है। जब राजा गुप्तचरों द्वारा समस्त प्रजाओं की देखभाल करता है और उन सबकी रक्षा करता हुआ चलता है तब तक सूर्य रूप होता है। जब राजा कुपित होकर अशुद्धाचारी सैकडों मनुष्यों का उनके पुत्र, पौत्र और मन्त्रियो सहित संहार कर डालता है, तब वह मृत्युरूप होता है। जब वह कठोर दण्ड के द्वारा समस्त अधार्मिक पुरुषों को वश में करके सन्मार्ग पर चलाता है और धर्मात्माओं पर अनुग्रह करता है, उस समय वह यमराज माना जाता है।"[3]

---

1. शान्ति प. 91/14–15, 19–20 पू., 90/14–15, 19–20 गी.
2. शान्ति प. 60/19–20 पू., 60/19–20 गी.
3. शान्ति प. × × पू., 68/41–45 गी.

इन्द्ररूप-धारी भगवान् विष्णु ने भी महाराज मान्धाता को राजा का महत्व प्रकट करते हुये कहा "जो मनुष्य सम्पूर्ण लोकों में गुरुस्वरूप राजा का अपमान करता है, उसके लिए दान, होम और श्राद्ध कभी सफल नहीं होते है। राजा मनुष्यों का अधिपति, सनातन-देवस्वरूप तथा धर्म की इच्छा रखने वाला होता है। देवता भी उसका अपमान नहीं करते है।"[1]

महर्षि उतथ्य और मान्धाता के संवाद को प्रस्तुत करते हुए भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा "राजा प्रजा के चरित्र-दोषों को उसी प्रकार दूर कर देता है जिस प्रकार रजक वस्त्रों के मैल को। अतः वह प्रजावर्ग का पिता और अधिपति कहलाता है। भरत श्रेष्ठ! सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग—ये सब के सब राजा के आचरण में स्थित हैं राजा ही युगों का प्रवर्तक होने के कारण 'युग' कहलाता है। जब राजा प्रमाद करता है, तब चारों वर्ण, चारों वेद और चारों आश्रम सभी मोह में पड़ जाते हैं। जब राजा प्रमादी हो जाता है, तब गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणा—ये तीन अग्नियाँ ऋक्, साम और यजु ये तीन वेद एवं दक्षिणाओं के साथ सम्पूर्ण यज्ञ भी विकृत हो जाते हैं। राजा ही प्राणियो का जीवन दाता और उनका विनाशक होता है। जो धर्मात्मा है वह प्रजा का जीवनदाता है और जो पापात्मा है, वह उसका विनाशक है। राजा के प्रमाद करने पर उसकी स्त्री, पुत्र, बान्धव तथा सुहृद सब मिलकर शोक करते है। राजा के पापपरायण हो जाने पर उसके हाथी, घोड़े, गौ, ऊंट, खच्चर और गदहे आदि सभी पशु दुःख पाते हैं। मान्धाता कहते हैं कि विधाता ने दुर्बल प्राणियों की रक्षा के लिये ही बल सम्पन्न राजा की सृष्टि की है। निर्बल-प्राणियों का महान् समुदाय राजा के बल पर टिका हुआ है।"

"मान्धाता! राजा दुष्टों को दण्ड देने के कारण यम तथा धार्मिकों पर अनुग्रह करने के कारण उनके लिये परमेश्वर के समान है। पुरुष-प्रवर! राजा की उपमा सब प्रकार से हजार-नेत्रों वाले इन्द्र से दी जाती है, अतः राजा जिस धर्म को भलीभांति समझकर निश्चित कर देता है वही धर्म श्रेष्ठ धर्म माना जाता है।"[2]

3. राजधर्म की व्याख्या :—भीष्म पितामह ने महाराज युधिष्ठिर को महर्षि उथ्तय द्वारा मान्धाता को अभिहित राजधर्म की व्याख्या इस प्रकार बताई "राजन्! राजा जब सब को यथायोग्य विभाग देकर स्वयं उपभोग करता है,

---

1. शान्ति प. 65/28-29 पू., 65/28-29 गी.
2. शान्ति प. 92/5-12 पू., 42-45 पू. 91/5-12 गी. 42-45 गी.

मंत्रियों का अनादर नहीं करता और बल के घमण्ड में चूर रहने-वाले दुष्ट-पुरुष या शत्रु को मार डालता है, तब उसका यह सब कार्य 'राजधर्म' कहलाता है। जब वह मन वाणी और शरीर के द्वारा सब की रक्षा करता है और पुत्र के भी अपराध को क्षमा नहीं करता, तब उसका वह व्यवहार भी 'राजधर्म' कहा जाता है। जब राजा दुर्बल मनुष्यों को यथावश्यक वस्तुयें देकर पीछे स्वयं भोजन करता है, तब वे दुर्बल मनुष्य बलवान् हो जाते हैं। वह त्याग राजा का धर्म कहा गया है। जब राजा सम्पूर्ण राष्ट्र की रक्षा करता है, डाकू और लुटेरों को मार भगाता है तथा संग्राम में विजयी होता है, तब वह सब राजा का धर्म कहा जाता है। प्रिय से प्रिय व्यक्ति भी यदि क्रिया अथवा वाणी द्वारा पाप करें तो राजा को चाहिये कि उसे भी क्षमा न करें अर्थात् उसे भी यथायोग्य दण्ड दे। जो ऐसा व्यवहार है वह राजा का धर्म कहलाता है जब राजा व्यापारियों की पुत्र के समान रक्षा करता है और धर्म की मर्यादा को भंग नहीं करता, तब वह भी राजा का धर्म कहलाता है। जब वह राग और द्वेष का अनादर करके पर्याप्त दक्षिणा वाले यज्ञों द्वारा श्रद्धा पूर्वक यजन करता है, तब वह राजा का धर्म कहा जाता है। जब वह दीन अनाथ और वृद्धों के आँसू पोंछता है और इस व्यवहार के द्वारा सब लोगों के हृदय में हर्ष उत्पन्न करता है, तब उसका वह सद्भाव राजा का धर्म कहलाता है। वह जो मित्रो की वृद्धि शत्रुओं का नाश और साधु पुरुषों का समादर करता है, उसे राजा का धर्म कहते हैं। राजा जो प्रेमपूर्वक सत्य का पालन करता है, प्रतिदिन भूदान देता है और अतिथियों तथा भरणपोषण के योग्य व्यक्तियों का सत्कार करता है, वह राजा का धर्म कहलाता है। जिसमे निग्रह* और अनुग्रह** दोनो प्रतिष्ठित हो, वह राजा इस लोक और परलोक मे मनोवाछित फल पाता है।"[1]

धर्मज्ञ भीष्म ने राजधर्म के लक्षण बताकर धर्मराज युधिष्ठिर के समक्ष राजधर्म और भी साररूप मे इस प्रकार प्रस्तुत किया "भूपाल! क्षत्रिय के लिये सबसे श्रेष्ठ धर्म माना गया है, 'समस्त प्राणियों की रक्षा करना' परन्तु यह रक्षा का कार्य कैसे किया जाय उसे सावधान होकर सुनो। जैसे सर्पभक्षी मयूर विचित्र पंख धारण करता है, -उसी प्रकार धर्मज्ञ राजा को समय-समय पर अपना अनेक प्रकार का रूप प्रकट करना चाहिए। सरलता तथा श्रेष्ठभाव का अवलम्बन करे। ऐसा करने से ही वह सुख का भागी होपा होता है। जिस कार्य के लिये जो हितकर हो उसमें वैसा ही रूप प्रकट करे। उदाहरणार्थ अपराधी को दण्ड देते समय उग्ररूप

---

* दुष्टों को दण्ड देने का स्वभाव।

** दीन दुखियो तथा साधुपुरुषों के प्रति दया एवं सहानुभूति।

1. शा. प. 92/31–41 पू., शा. प. 91/31–41 गी.

ग्रौर दीनों पर अनुग्रह करते समय शान्त एवं दयालु का रूप प्रकट करे। इस प्रकार अनेक रूप धारण करने वाले राजा का छोटा सा कार्य भी बिगड़ने नहीं पाता है। जैसे शरद् ऋतु का मयूर बोलता नहीं, उसी प्रकार राजा को भी मौन रहकर सदा राजकीय गुप्त विचारों को सुरक्षित रखना चाहिये। वह मधुर वचन बोले, सौम्य-स्वरूप से रहे, शोभासम्पन्न होवे ग्रौर शास्त्रों का विशेष ज्ञान प्राप्त करें। बाढ़ के समय जिस ग्रोर जल बहकर गावों को डुबो देने का संकट उपस्थित कर दे, उस स्थान पर जैसे लोग दृढ़ बांध-बांध देते हैं, उसी प्रकार जिन मे संकट ग्राने की संभावना हो, उन्हें सुदृढ़ बनाने ग्रौर बन्द करने के लिये राजा को सतत् सावधान रहना चाहिये। जैसे पर्वतो पर वर्षा होने से जो पानी एकत्र होकर नदी या तालाब के रूप में रहता है, उसका उपयोग करने के लिये लोग उसका ग्राश्रय लेते हैं, उसी प्रकार राजा को सिद्ध ब्राह्मणों का ग्राश्रय लेना चाहिये तथा जिस प्रकार धर्म का ढोंगी सिर पर जटा धारण करता है, उसी प्रकार राजा को भी ग्रपना स्वार्थ करने की इच्छा से उच्च लक्षणों को धारण करना चाहिये। वह सदा ग्रपराधियो को दण्ड देने के लिये उद्यत रहे, प्रत्येक कार्य सावधानी के साथ करें, लोगों के ग्राय व्यय देखकर ताड़ के वृक्ष से रस निकालने की भांति उनसे धनरूपी रस ले ग्रर्थात् जैसे उस रस के लिये पेड़ को काट नही दिया जाता उसी भांति प्रजा का उच्छेदन न करे।"[1]

कुन्तीनन्दन! चारों ग्राश्रमों के धर्मों का पालन करने वाले सदाचारपरायण पुरुषों को जिन फलों की प्राप्ति होती है वे ही सब राग द्वेष छोड़कर दण्डनीति के ग्रनुसार व्यवहार करने वाले राजा को भी प्राप्त होते हैं। हे राजन्! राजा यदि सब प्राणियों पर समान दृष्टि रखने वाला है तो उसे सन्यासियों को प्राप्त होने वाली गति प्राप्त होती है। जो राजा युद्ध मे प्राणों की बाजी लगाकर इस निश्चय के साथ शत्रुग्रों का सामना करता है कि 'या तो मैं मर जाऊँगा या देश की रक्षा करके ही रहूँगा, उसे भी ब्रह्माश्रम ग्रर्थात् सन्यास ग्राश्रम के पालन का ही फल प्राप्त होता है।"[2]

*4. राजा के कार्य साधन :—सारुतिनन्दन हनुमान ने ग्रपने भ्राता भीम-*सेन के द्वारा क्षात्र धर्म के विषय में पूछने पर उन्होंने सम्बन्धित विषय पर विस्तृत प्रकाश डालते हुये राजा के कार्य साधनों पर इस प्रकार प्रकाश डाला "जब राजा निग्रह ग्रौर ग्रनुग्रह के द्वारा प्रजावर्ग के साथ यथोचित व्यवहार करता है, तभी लोक

---

1. शा. प. 120/3–9 पू. शा, प. 120/3-9 गी.
2. शान्ति प. 66/4–5, 14 पू., 66/4–5, 16 गी.

की सम्पूर्ण मर्यादायें सुरक्षित होती हैं । इसलिये राजा को उचित है कि वह देश और दुर्ग में अपने शत्रु और मित्रों के सैनिकों की स्थिति, वृद्धि और क्षय का गुप्तचरों द्वारा सदा पता लगाता रहे । साम, दान, दण्ड, भेद ये चार उपाय, गुप्तचर, उत्तमबुद्धि, सुरक्षितमन्त्रणा, पराक्रम, निग्रह, अनुग्रह और चातुर्य—ये राजाओं के लिये कार्य सिद्धि के साधन हैं । साम, दान भेद, दण्ड और उपेक्षा इन नीतियों में से एक दो के द्वारा या सबके एक साथ प्रयोग द्वारा राजाओं को अपने कार्य सिद्ध करने चाहिये । भरतश्रेष्ठ ! सारी नीतियों और गुप्तचरों का मूल आधार है मन्त्रणा को गुप्त रखना । उत्तम मन्त्रणा या विचार से जो सिद्धि प्राप्त होती है, उसके लिये द्विजों के साथ गुप्त परामर्श करना चाहिये । स्त्री, मूर्ख, बालक, लोभी और नीच पुरुषों के साथ तथा जिसमें उन्माद का लक्षण दिखायी दे, उसके साथ कभी गुप्त परामर्श न करे । विद्वानों के साथ ही गुप्त मन्त्रणा करनी चाहिये, जो शक्तिशाली हो, उन्हीं से कार्य करवाने चाहिये । जो स्नेही (सुहृद) हो उन्ही के द्वारा नीति के प्रयोग का काम करना चाहिये । मूर्खों को तो सभी कार्यों से अलग रखना चाहिये ।"[1]

5. राजा के लिये धर्म पालन की आवश्यकता :—भीष्म पितामह ने महाराज युधिष्ठिर को धर्मपालन हेतु महर्षि उतथ्य द्वारा मान्धाता के लिये प्रदत्त व्याख्यान पर इस प्रकार प्रकाश डाला "राजा धर्म पालन और प्रचार करने के लिये ही होता है, विषय सुखों का उपभोग करने के लिये नहीं । तुम्हें यह जानना चाहिये कि राजा सम्पूर्ण जगत का रक्षक है । यदि राजा धर्माचरण करता है तो देवता बन जाता है और यदि वह अधर्माचरण करता है तो नरक में गिरता है । सम्पूर्ण प्राणी धर्म के ही आधार पर स्थित हैं और धर्म राजा के ऊपर प्रतिष्ठित है । जो राजा भलीभांति धर्म का पालन और उसके अनुकूल शासन करता है वही दीर्घकाल तक इस भूमि का स्वामी बना रहता है । परम धर्मात्मा और श्रीसम्पन्न राजा धर्म का साक्षात् स्वरूप कहलाता है । यदि वह धर्म का पालन नहीं करता तो लोग देवताओं की निन्दा करते है और वह धर्मात्मा नही, पापात्मा कहलाता है । जो अपने धर्म के पालन में तत्पर रहते हैं, उन्हीं से अभीष्ट मनोरथ की सिद्धि होती देखी जाती है । सारा संसार उसी मंगलमय धर्म का अनुसरण करता है ।"[2] अतः पाप कृत्यों एवं पापियों को हटाकर राजा को स्वधर्माचारण करते हुये दूसरों के धर्मों की भी रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि प्रजा की सुखशान्ति ही राजा की सुखशान्ति

---

1. वन प. 159/39–45 पू., 150/39–45 गी.
2. शान्ति प. 91/3–7 पू., 90/3–7 गी.

है। धर्म-पालन के प्रभाव में प्रजा में अराजकता, भय और अशान्ति व्याप्त हो जाती है। अतः राजा अवश्य धर्म का पालन करें।

6. राजा की शासन-विधि :—पवनपुत्र हनुमान ने कुन्तीनन्दन भीम को राजा के लिये आवश्यक शासन-विधि इस प्रकार बताई "राजा को चाहिये कि वह धर्म के कार्यों में धार्मिक पुरुषों को, अर्थसम्बन्धी कार्यों में अर्थशास्त्र के पण्डितों को, स्त्रियों की देखभाल हेतु नपुसंकों की और कठोर कार्यों में क्रूर स्वभाव के मनुष्यों को लगावे। बहुत से कार्यों को आरम्भ करते समय अपने अपने तथा शत्रुपक्ष के लोगों से भी यह सलाह लेनी चाहिये कि अमुक काम करने योग्य है या नहीं। साथ ही शत्रु की प्रबलता और दुर्बलता को भी जानने का प्रयत्न करना चाहिये। बुद्धि से सोच समझकर अपनी शरण में आयें हुये श्रेष्ठ कर्म करने वाले पुरुषों पर अनुग्रह करना चाहिये और मर्यादा-भंग करने वाले दुष्ट पुरुषों को दण्ड देना चाहिये। जब राजा निग्रह और अनुग्रह में ठीक ढंग से प्रवृत्त होता है तभी लोक की मर्यादा सुरक्षित रहती है। निग्रहानुग्रह का यथोचित प्रयोग करने वाला राजा स्वर्गलोक में जाता है। जिनके द्वारा दण्ड-नीति का उचित रीति से प्रयोग किया जाता है, जो राग द्वेष से रहित, लोभ शून्य तथा क्रोधहीन है, वे क्षत्रिय (राजा) सत्पुरुषों को प्राप्त होने वाले लोकों में जाते है।'[1]

7. राजा के लिये दण्ड धारण की आवश्यकता :—क्षत्रिय जीवन भुजबल पर आश्रित है। अपनी भुजाओं की शक्ति से वह दुष्टों का दमन करके प्रजा में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखता है। महाराज युधिष्ठिर ने जब महासमर में विजय प्राप्त करली और भीषण रक्तपात तथा सम्बन्धियों की मृत्यु से जब वे घोर उदासीन हो गये, राज्यसिंहासन पर आरूढ होने को तैयार नहीं हुये तो द्रौपदी ने प्रजा की शान्ति और सुव्यवस्था हेतु महाराज युधिष्ठिर को इस प्रकार दण्डधारण के लिये प्रेरणा दी "महाराज! जो कायर और नपुंसक है, वह पृथ्वी का उपभोग नही कर सकता। वह न तो धन का उपार्जन कर सकता है और न उसे भोग ही सकता है जैसे केवल कीचड़ मे मछलियाँ नही होती, उसी प्रकार नपुसक के घर में पुत्र नहीं होते। जो राजा दण्ड देने की शक्ति नहीं रखता, उस राजा की शोभा नही होती, दण्ड न देने वाला राजा इस वसुन्धरा का उपभोग नही कर सकता। भारत! दण्डहीन राजाओं की प्रजाओं को कभी सुख नहीं मिलता है। नृपश्रेष्ठ! समस्त प्राणियो के प्रति मैत्रीभाव, दान लेना, दानदेना, अध्ययन और तपस्या – यह ब्राह्मण का ही धर्म है, राजा का नही। राजाओ का परम धर्म तो यही है कि वे दुष्टों

---

1. वन प. 149/46–52 पू., 150/46–52 गी.

को दण्ड दें, सत्पुत्रों का पालन करें और युद्ध में कभी पीठ न दिखावे। जिसमें समयानुसार क्षमा और क्रोध दोनों प्रकट होते हैं, जो दान देता और कर लेता है, जिसमें शत्रुओं को भय दिखाने और शरणागतों को अभय देने की शक्ति है, जो दुष्टों को दण्ड देता और दीनों पर अनुग्रह करता है, वही धर्मज्ञ कहलाता है। आपको यह धरा न तो शास्त्र श्रवण से मिली है, न दान में प्राप्त हुई है, न किसी को समझाने बुझाने से उपलब्ध हुई है। न यज्ञ करने से और न ही भीख माँगने से ही प्राप्त हुई है। वह जो शत्रुओं की पराक्रम सम्पन्न एवं श्रेष्ठ सेना हाथी, घोडे, रथ और पदाति इन चारों अंगो से सम्पन्न थी तथा द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा और कृपाचार्य जिसकी रक्षा करते थे, उसका आपने वध किया है, तब यह पृथ्वी आपके अधिकार में आयी हैं। अतः वीर दण्डनीति को धारण कर आप इस पर सुव्यवस्था बनाकर इसका अवश्य उपभोग करें।"[1]

कौन्तेय अर्जुन भी उदासीन महाराज युधिष्ठिर को कार्पण्य का त्याग कर दण्डधारण हेतु ही इस प्रकार प्रेरित करते हैं— "राजन् ! दण्ड समस्त प्रजाओं का शासन करता है, दण्ड ही उनकी सब ओर से रक्षा करता हैं, सब के सो जाने पर भी दण्ड जागता रहता है, इसलिये विद्वान् पुरुषों ने दण्ड को राजा का धर्म माना हैं। दण्ड से धान्य की रक्षा होती है, उसी से धन की रक्षा होती है, ऐसा जानकर आप भी दण्डधारण कीजिये और जगत् के व्यवहार पर दृष्टि डालिये।"[2] दण्ड के बिना राजा चल नही सकता। अतः दण्डधारण करना उसके लिए परमावश्यक है। इन्द्र रूपधारी भगवान् विष्णु भी महाराज मान्धता को दण्डनीति के लिये इस प्रकार उपदेश देते है "निष्पाप नरेश ! जब राजा की दुष्टता के कारण दण्डनीति नष्ट हो जाती है और राजधर्म तिरस्कृत हो जाता है, तब सभी प्राणी मोहवश कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विवेक खो बैठते है। जब महामनस्वी राजा लोग दण्डनीति के द्वारा पापी को पाप करने से रोकते रहते हैं, तब सतृस्वरूप परमोत्कृष्ट सनातन धर्म का ह्रास नहीं होता है।"[3] अतः धर्म रक्षा और सुखशान्ति हेतु राजा को अवश्य दण्डनीति का आश्रय लेना चाहिये।

8. राजा की दस्यु नियन्त्रण विधि :— दस्यु अथवा लुटेरे आज के युग मे ही है ऐसी बात नही है, ये तो बहुत प्राचीन काल से चले आ रहे है। इन्द्ररूपधारी भगवान् विष्णु को महाराज मान्धाता ने अपने काल में पूछा "भगवान् ! मेरे

1.. शान्ति प. 14/13–20 पू., 14/13–20 गी.
2. शान्ति प. 15–2–4 पू., 15/2–4 गी.
3. शान्ति प. 65/24–27 पू., 65/24–27 गी.

राज्य में यवन, किरात, गान्धार, चीन शबर, बर्बर, शक, तुषार, कंक, पह्लव, आन्ध्र, मद्रक, पौंड्, पुलिन्द, रमठ और काम्बोज देशों के निवासी म्लेच्छगण सब ओर निवास करते हैं, कुछ ब्राह्मणों और क्षत्रियों की भी सन्तानें हैं, कुछ वैश्य और शूद्र भी हैं, जो धर्म से गिर गये हैं। ये सबके सब चोरी और डकैती से जीविका चलाते हैं। ऐसे लोग किस प्रकार धर्मों का आचरण करेंगे ? मेरे जैसे राजाओं को इन्हें किस तरह मर्यादा के भीतर स्थापित करना चाहिये।

महाराज मान्धाता का प्रश्न सुनकर इन्द्रवेषधारी भगवान् विष्णु ने उन्हें इस प्रकार इन दस्युओं को नियन्त्रित करने की विधि बताई "राजन्! जो लोग दस्युवृत्ति से जीवन निर्वाह करते हैं, उन सब को स्नेह के साथ अपने माता, पिता, आचार्य गुरु तथा आश्रमवासी मुनियों की सेवा हेतु प्रेरित करना चाहिये, इसमें उनके मन की मनोवृत्ति परिवर्तित होकर सद्‌कार्य की ओर मुड़ सकती है। दस्युओं को भूपालों की सेवा करना भी अपना कर्त्तव्य बताना चाहिये, जिससे लूटा हुआ धन वे राजाओं को दे दें और राजा लोग उस धन का सदुपयोग कर सकें। उन लोगों को माननीय पुरुषों के द्वारा धर्म-कर्मों के अनुष्ठान के लिये प्रेरित कराना चाहिये क्योंकि ये अनुष्ठान उनके लिये शास्त्र समान हैं और उनके करने से उनका मानस सद्‌प्रवृत्ति की ओर अग्रसर हो सकता है। उनके द्वारा लाये गये धन को सदु-पयोग में लगवाना चाहिये जैसे, पितरों का श्राद्ध करवाना, कुआँ खुदवाना, जलक्षेत्र चलवाना, लोगों के ठहरने के लिये धर्मशालायें बनवाना, आदि। उन्हें यह प्रेरणा भी देनी चाहिये कि ब्राह्मणों के दान का बहुत बड़ा महत्व है। अतः वे यथा समय ब्राह्मणों को दान देते रहें। ऐसा करने से उनके द्वारा लाये गये धन का सदुपयोग होगा और राज्य के निराश्रित व्यक्तियों को सहारा मिलेगा तथा राज्य की आव-श्यकताओं की भी पूर्ति होगी। सभी दस्युओं को अधिक खर्चवाला पाकयज्ञ करना चाहिये क्योंकि इसका महत्व पितरों को भी तार देने वाला होता है। यह बात उनके मस्तिष्क में बैठा देनी चाहिये, जिससे दूषित वातावरण नष्ट हो जावे और सद्‌वातावरण का प्रसार हो।". मान्धाता ने फिर पूछा "भगवान्! मनुष्य लोक में सभी वर्णों तथा चारों आश्रमों में भी डाकू और लुटेरे देखे जाते हैं जो विभिन्न वेश-भूषाओं में अपने को छिपाये रखते हैं। इसका क्या कारण है ?" तब इन्द्रवेषधारी विष्णु ने कहा "जब राजा की दुष्टता के कारण दण्डनीति नष्ट हो जाती है और राजधर्म तिरस्कृत हो जाता है तब सभी प्राणी मोहवश कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विवेक खो बैठते हैं और मनमाने ढंग से कार्य करने लग जाते हैं।"[2]

---

1. शान्ति प. 65/13–24 पू., 65/13–24 गी.

आज के प्रजातान्त्रिक राज्य में भी ठीक ऐसा ही हो रहा है जो मान्धाता के काल मे हो रहा था। वर्णव्यवस्था का भंजन वर्णसंकरता का प्राबल्य, भ्रष्टाचार डाकू और लुटेरों, चोरों और गुण्डों का प्रबल-आतंक। इन सबका कारण है धार्मिक प्रवृत्ति का ह्रास। मानव जब इस धर्म पर चलता है तब सब कार्य सुचारू रूप से चलते रहते हैं, किन्तु ज्योंही वह धर्म का अवलम्बन छोड़ देता है तो चारों ओर लुटेरे, गुण्डे और बदमाश पैदा होकर जनता को लूट लेते हैं। अतः इनके लिये आवश्यक है कि इन लोगों को धर्म की ओर मोड़ा जावे। देखा भी गया है कि न्यायालय और आरक्षीदल मे सबसे पहले धर्म का ही आश्रय लेकर प्रत्येक बदमाश को वश में लेने के प्रयास किये जाते है और मंत्री आदि को भी धर्म और ईश्वर की शपथ दिलाई जाती है। अतः धर्म का प्रसार उसकी रक्षा और उसके उत्थान से ही सर्वसुख शान्ति समृद्धि होना संभव है। अतः दस्युओं को भी इस ओर मोड़ना चाहिये जिससे उन पर नियन्त्रण किया जा सके।

(ऐ) क्षात्रधर्म के आह्यांग

1. प्रजापालन :—प्रजापालन क्षात्र धर्म का प्रमुख लक्षण है। जो राजा प्रजा से कर रूप षष्ठमांश तो ग्रहण करता है, किन्तु प्रजा की सुरक्षा व्यवस्था नहीं करता वह सम्पूर्ण लोक मे पापाचारी कहलाता है। राजा अपने आपको भी किस प्रकार संकट में डालकर प्रजापालन में तत्पर रहे ? इस प्रश्न की पुष्टि ब्राह्मण और अर्जुन के प्रसंग से हो जाती है सुन्दोपसुन्द की कथा को कहकर महर्षिनारद पाण्डवों के लिये द्रौपदी के विषय में ऐसी व्यवस्था निर्धारित करते है, जिससे भाइयों में कलह न हो, किन्तु एक दिन एक वृद्ध ब्राह्मण धनंजय के पास आकर निवेदन करने लगा कि मेरा सम्पूर्ण गोधन चोरों ने चुरा लिया है। हे राजन्! पाण्डवसदृश सिंहों के होते हुये मेरे गोधन का चोर जम्बुक उपभोग करना चाहते हैं, यह ठीक नही है। हे पार्थ! यह आपका कर्त्तव्य है कि आप मेरे गोधन को शीघ्र मुझे उपलब्ध करावें। उस समय अर्जुन के आयुध उस प्रकोष्ठ में स्थित थे, जहाँ द्रौपदी युधिष्ठिर के साथ रहती थी। महर्षि नारद द्वारा पूर्वकृत व्यवस्थानुसार अर्जुन का इस समय वहाँ जाना निषिद्ध था, यदि वह जाता है तो मर्यादा भंगापराध के कारण उसे द्वादश वर्ष तक वन में निवास करना पड़ता है, किन्तु क्षात्रधर्म के प्रजापालन के कर्त्तव्य को भली प्रकार विचारकर गुडाकेश उस प्रकोष्ठ में प्रवेश कर, आयुधों को लेकर चोरों से उस ब्राह्मण के गोधन को लाकर उसे अर्पित कर देता है। तदनन्तर वही वीर क्षत्रिय द्वादश वर्ष तक वनवास की दीक्षा अंगीकार करके नियमोल्लंघन का प्रायश्चित्त करता है, किन्तु वन के महान् कष्टों की परवाह न कर वह प्रजा-

पालन रूप क्षात्रधर्म की पालना अवश्य करता है। अतः प्रजापालन क्षत्रिय धर्म का प्राथमिक रूप से ग्राह्यांग है।[1]

आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र भी संजय के हस्तिनापुर लौटते समय महाराज धृतराष्ट्र के लिये प्रजापालन हेतु इस प्रकार चेतावनी देते हैं "क्षत्रिय सावधान होकर प्रजाजनों की रक्षा करें, दान दें, यज्ञादि करें। प्रत्येक वर्ण का पालन करते हुये उन्हें अपने-अपने धर्म में लगावे, काम भोगों में आसक्त न होकर समस्त प्रजाओं के साथ समानभाव से व्यवहार करे और पापपूर्ण इच्छाओं का कदापि अनुसरण न करे।"[2] इससे भी ज्ञात होता है कि प्रजापालन क्षत्रिय के लिये प्रधान कर्म है।

महात्मा विदुर भी धृतराष्ट्र को श्रीकृष्ण के ही समान प्रजापालन की महत्ता इस प्रकार प्रतिपादित करते हैं "जो राजा नेत्र, मन, वाणी और कर्म इन चारों से प्रजा को प्रसन्न करता है, उसी से प्रजा प्रसन्न रहती है। जैसे व्याघ्र से हरिन् भयभीत होते है, उसी प्रकार जिससे समस्त प्राणी डरते हैं वह समुन्द्रपर्यन्त पृथ्वी का राज्य पाकर भी प्रजाजनों के द्वारा त्याग दिया जाता है। अन्याय में स्थित हुआ राजा पूर्वजों का राज्य पाकर भी अपने कर्मों से उसे इस प्रकार भ्रष्ट कर देता है जैसे वायु वारिद को छिन्न-भिन्न कर देती है। परम्परा से सज्जन पुरुषों द्वारा किये हुये धर्म का आचरण करने वाले राजा के राज्य की पृथ्वी धन-धान्यों से पूर्ण होकर उन्नति को प्राप्त होती है और उसके ऐश्वर्य को बढ़ाती है।"[3]

प्रजा को कठिनाईयों से बचकर प्रसन्न रखने से ही राज्य का ऐश्वर्य बढ़ता है। राजा तब ही प्रसन्न रह सकता है जबकि वह प्रजा को प्रसन्न कर दे। अतः उसे प्रजापालन हेतु पूर्व पुरुषों के सदाचरण का अनुसरण करना चाहिये।

माता कुन्ती भी प्रजापालन को क्षत्रिय के लिये अनिवार्य अंग बताती हुई श्रीकृष्ण द्वारा युधिष्ठिर को सन्देश भेजती है "हे केशव! तुम धर्मात्मा युधिष्ठिर के पास जाकर इस प्रकार कहना—बेटा! तुम्हारे प्रजापालनरूपधर्म की बड़ी हानि हो रही है। तुम उस धर्मपालन के अवसर को व्यर्थ न खोओ, क्योंकि राजा के द्वारा सुरक्षित हुई प्रजा यहाँ जिस धर्म का अनुष्ठान करती है, उसका चतुर्थांश

---

1. आदि प. 205/5–33 पू., 212/4–35 गी.
2. उ. प. 29/23, 25 पू., 29/25–28 गी.
3. उ. प. 34/25–28 गी.

राजा को मिल जाता है। राजा को धर्म पालन से दैवत्य और अधर्म करने से नरक प्राप्त होता है।[1]

इस प्रकार प्रजापालन राजा (क्षत्रिय) का अनिवार्य अंग है, राजा प्रजा के बिना राजा ही नहीं। अतः प्रजापालन के अभाव में उसे पाप का भागी होना पड़ता है इसलिये प्रजापालन को प्राथमिकता दे।

महात्मा भीष्म भी प्रजापालन कर्म से उपराम हुये युधिष्ठिर को इस प्रकार प्रजापालन का महत्त्व प्रतिपादित कर प्रजापालन कर्म में प्रवृत्त होने को प्रेरित हैं—"राजा जो प्रजा की रक्षा करता है, यही उसका सबसे बड़ा धर्म है। समस्त प्राणियों की रक्षा तथा उनके प्रति परम दया ही महान् धर्म है। इसलिये जो राजा प्रजापालन में तत्पर रहकर प्राणियों पर दया करता है, उसके इस व्यवहार को धर्मज्ञ पुरुष परमधर्म मानते हैं। राजा प्रजा की भय से रक्षा न करने के कारण एक दिन मे ही जिस पाप का भागी होता है, उसका परिणाम उसे एक हजार वर्षों तक भोगना पड़ता है और प्रजा का धर्मपूर्वक पालन करने के कारण राजा एक दिन में जिस धर्म का भागी होता है, उसका फल वह दस हजार वर्षों तक स्वर्गलोक में रहकर भोगता है। उत्तम यज्ञ के द्वारा गृहस्थ धर्म का, उत्तम स्वाध्याय के द्वारा ब्रह्मचर्य का तथा श्रेष्ठ तप के द्वारा वानप्रस्थ धर्म का पालन करने वाला पुरुष जिन पुण्यलोकों पर अधिकार प्राप्त करता है, धर्मपूर्वक प्रजापालन करने वाला राजा उन्हें क्षणभर में पा लेता है।"[2]

महात्मा भीष्म के उपदेश से स्पष्ट है कि क्षत्रिय के लिये प्रजापालन एक अनिवार्य एवं सर्वश्रेष्ठ धर्म है। प्रजापालन के द्वारा वह उत्तम से उत्तम फल को भी बहुत ही सरलता से प्राप्त कर लेता है। अतः राजा (क्षत्रिय) को चाहिये कि वह अपनी प्रजा का पुत्रवत् परिपालन कर अपना जीवन सार्थक बनावे।

2. कर लेना :—जिस प्रकार राजा के लिये प्रजारक्षण आवश्यक है कर ग्रहण भी उसी के साथ जुटा हुआ है। प्रजा की रक्षा करने वाले राजा को प्रजा के रक्षासाधनों को जुटाने के लिये धन की भी अत्यन्तावश्यकता है। बिना धन के वह प्रजा के सुरक्षा के साधनों को नहीं जुटा सकता और साधनों के अभाव में प्रजारक्षण भी नही कर सकता। अत. राजा प्रजा से कर के रूप में धन अवश्य

1. उ. प. 130/5, 12–13 गी.
2. शान्ति प. 72/26–30 पू., 71/26–30 गी.

ग्रहण करे, किन्तु कर ग्रहण करने की योजना ऐसी बनाइये जिससे प्रजा दुःखी न हो। प्रजा को कर भारस्वरूप न लगे और राजकार्य भी सुचारुरूप से चल सके। नीतिज्ञ विदुर ने प्रजा से कर ग्रहण करने का बड़ा ही सुन्दर प्रकार महाराज धृतराष्ट्र को इस प्रकार बतलाया है "जैसे भ्रमर पुष्पों की रक्षा करता हुआ ही उनके मधु का ग्रहण करता है, उसी प्रकार राजा भी प्रजाजनों को कष्ट दिये बिना ही उनसे धन ले। जैसे माली बगीचे में एक-एक फूल तोड़ता है, उसकी जड़ नहीं काटता, उसी प्रकार राजा प्रजा की रक्षापूर्वक उससे कर ले, कोयला बनाने वाले की भांति जड़ से नहीं काटे।"[1]

अब प्रश्न यह होता है कि प्रजा से कर किस अंश में लेना चाहिये? जिसका विवरण हम ऊपर प्रजापालन के प्रसंग में कर चुके हैं। उपर्युक्त वर्णन के आधार पर राजा को प्रजा से षडांश में कर ग्रहण करना चाहिये। उसके लिये यही स्वाभावतः पर्याप्त है। यदि षडांश के रूप में कर ग्रहण करके भी राजा प्रजा की रक्षा नहीं करता तो पापाचारी होकर नरकगामी होता है और न्याय से विपरीत प्रजा पर कर भार बढ़ाता है तो वह भी पापाचार करता है, जिसका फल उसके भविष्य के लिये कदापि अच्छा नहीं हो सकता।

3. आर्तत्राण और शरणागत रक्षा :—क्षत्रिय का जन्म श्रुतिवचनानुसार विराट् पुरुष की भुजाओं से अभिहित है। भुजायें जैसे हमारे सम्पूर्ण शरीर की रक्षा करती हैं वैसे ही भुजाओं से उत्पन्न क्षत्रिय भी सर्ववर्णों की तथा जीवन से सम्बन्धित आवश्यक साधनों की रक्षा करे। क्षत्रिय के लिये आवश्यक नहीं कि आर्तव्यक्ति क्षत्रिय को शरण आकर पुकार करे तब ही वह उसकी रक्षा करे, अपितु यह भी आवश्यक है कि आर्त की क्षत्रिय बिना पुकार ही रक्षा कर उसके प्राण बचाये। भगवान् देवकीनन्दन जरासन्ध से इसी बात को इस प्रकार कह कर पुष्ट करते हैं "हे बृहद्रथकुमार! तुमने भूलोकवासी क्षत्रियों को कैद कर लिया है। ऐसे क्रूरअपराध का आयोजन करके भी तुम अपने को निरपराध कैसे मानते हो? नृपश्रेष्ठ! एक राजा दूसरे श्रेष्ठ राजाओं की हत्या कैसे कर सकता है? तुम राजाओं को कैद करके उन्हें रुद्रदेवता की भेंट चढ़ाना चाहते हो। हे राजन्! तुम्हारे द्वारा किया हुआ यह पाप हम सब लोगों पर लागू होगा, क्योंकि हम धर्म की रक्षा करने में समर्थ और धर्म का पालन करने वाले हैं। किसी भी देवता की पूजा के लिये मनुष्यों का वध कभी नहीं देखा गया। फिर तुम कल्याणकारी देवता भगवान् शिव की पूजा मनुष्यों की हिंसा द्वारा कैसे करना चाहते हो! जरासन्ध

---

1. उ. प. 34/17–18 गी.

तुम्हारी बुद्धि मारी गई है, तुम भी उसी वर्ण के हो, जिस वर्ण के राजा लोग हैं। क्या तुम अपने ही वर्ण के लोगो को पशुनाम देकर उनकी हत्या करोगे ? फिर तुम्हारा जैसा क्रूर और कौन होगा ? तुम अपने ही जाति-भाईयो के हत्यारे हो और हम लोग संकट में पड़े हुये दीन दुःखियो की रक्षा करने वाले हैं, अतः सजातीय बन्धुओं की रक्षा करने के उद्देश्य से हम तुम्हारा वध करने के लिये आये है।"[1]

जनार्दन श्रीकृष्ण के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि आर्तत्रण क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म है, उसे इसके लिये आर्त द्वारा प्रार्थना की जाने की आवश्यकता नहीं है। जहाँ दीन-दुःखी संकटापन्न हों वहाँ क्षत्रिय उन्हे स्वतः ही सकट से बचावे। जैसा कि उन्होने जरासन्ध का वध करवाकर उसके कैद में पड़े हुये आर्त-क्षत्रियों की रक्षा करके स्पष्ट किया, जबकि वे दुःखी क्षत्रिय उनके प्रार्थना करने नहीं गये थे।

जहाँ आर्तत्राण ही क्षत्रिय का स्वाभाविक धर्म है वहाँ पर शरणागत की रक्षा करना तो और भी अधिक महत्त्व रखता है। अशरण-शरण-त्रयन्तापहरण क्षत्रियशिरोमणि मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम ने विभीषण के शरण आने पर अपने विभिन्न हितचिन्तको की सम्मति के बाद वानरराज श्री सुग्रीव के इस प्रकार शरणागत रक्षा का महत्त्व प्रतिपादित किया "परंतप यदि शत्रु भी शरण आये और दीनभाव से हाथ जोड़कर दया की याचना करे तो उस पर प्रहार नहीं करना चाहिये। शत्रु दुःखी हो या अभिमानी, यदि वह अपने विपक्षी की शरण में जाय तो शुद्ध हृदयवाले श्रेष्ठ पुरुष को अपने प्राणों का मोह छोड़कर उसकी रक्षा करनी चाहिये। यदि वह भय, मोह अथवा किसी कामना से न्यायानुसार यथाशक्ति उसकी रक्षा नहीं करता तो उसके उस पापकर्म की लोक में बडी निन्दा होती है। यदि शरण मे आया हुआ पुरुष संरक्षण न पाकर उस रक्षक के देखते-देखते ही नष्ट हो जाय तो वह उसके सारे पुण्य को अपने साथ ले जाता है। इस प्रकार शरणागत की रक्षा न करने का महान् दोष बताया गया है। शरणागत का त्याग स्वर्ग और सुयश की प्राप्ति को मिटा देता है तथा मानव के बल और वीर्य का नाश करता है।"[2] शुक्राचार्य तो शरणागत की रक्षा न करने पर यहाँ तक कहते है "विश्वास करके शरण मे रक्षार्थ आये हुये को जो दुष्टबुद्धि वाला (मनुष्य) क्षत्रिय लौटा देता है, वह चौदह इन्द्र के बदलने तक घोर नरक में निवास करता है।"[3]

---

1. सभा प. 20/8-14 पू., 22/8-14 गी.
2. वा. मी. रा. युद्ध का. 18/27-?1 गी.
३. शु. नी. 4/331 चौ.

महाराज युधिष्ठिर के वनवास काल में जब दुर्योधन घोष यात्रा के मिस से युधिष्ठिर को अपना ऐश्वर्य दिखाकर जलन उत्पन्न करने हेतु आया तो अपनी अभद्रता से उसका गन्धर्वों के साथ युद्ध हो गया। गन्धर्व चित्रसेन ने दुर्योधन को बन्दी बना लिया। अपने को महा संकटापन्न प्राप्त कर दुर्योधन के सेवकों ने महाराज युधिष्ठिर की शरण ली। महाबली भीमसेन ने जब क्रोधयुक्त हो दुर्योधन के लिये गन्धर्वों के व्यवहार को उपयुक्त ठहराते हुये कुछ भी सहायता करना नहीं चाहा तो धर्मराज युधिष्ठिर ने भीमसेन को शरणागत रक्षा का महत्व प्रतिपादित करते हुये कहा "भीमसेन ! जो कोई साधारण क्षत्रिय भी क्यो न हो शरण लेने के लिये आये हुये मनुष्यों की यथाशक्ति रक्षा करता है। फिर तुम जैसे वीर पुरुष शरणागत की रक्षा करे इसके लिये तो कहना ही क्या है ? अतः समस्त पाण्डववीरों ! शरणागत को रक्षा करने और कुल की लाज बचाने के लिये तुम लोग शीघ्र उठो और युद्ध हेतु तैय्यार हो जाओ, विलम्ब न करो।"[1]

शरणागत रक्षा का क्षत्रिय कुल से गहरा सम्बन्ध है क्योंकि क्षत्रिय जन्म क्षतात् (सकट से) त्राण करने हेतु ही हुआ है। यदि शरणागत पालन क्षत्रिय न कर सके तो उसके लिये यह महान्तम कलंक है जो इस लोक और परलोक में भी अपयश को देने वाला है।

युद्ध मे भगे हुये, भयभीत, दीन और आर्त-शरणागतों को किस प्रकार क्षत्रिय को अभयदान देना चाहिये इसका उदाहरण हमें क्षात्रधर्मज्ञ अर्जुन से मिलता है। वनवास के बाद अज्ञात्-वास काल मे जब पाण्डव विराटनगर में रह रहे थे तथा अपना अज्ञातवास का समय व्यतीत कर चुके थे तो दुर्योधन ने गुप्तचरों से पाण्डवों के यहां निवास का समाचार सुना। इस समाचार का परीक्षण करने के लिये राजा विराट् की गायों को कौरवों ने चुरा लिया। अर्जुन ने समस्त कौरवदल को परास्त कर विराट् के गोधन को पुनः प्राप्त कर लिया। उस समय कौरव दल के लोग चले गये या इधर-उधर सब दिशाओं में भाग गये, उस समय बहुत से कौरव सैनिक जो घने जंगल मे छिपे हुये थे, वहाँ से निकलकर डरते-डरते अर्जुन के पास आये। उनके मन में भय समा गया था। वे भूखे-प्यासे और थके-मांदे थे। परदेश में होने के कारण उनके हृदय की व्याकुलता और भी बढ गई थी। वे उस समय केश खोले और हाथ जोड़े हुये दिखायी दिये। वे सब के सब अर्जुन को प्रणाम करके घबराये हुये बोले "कुन्तीनन्दन आपकी क्या सेवा करें ? अर्जुन ! हम आप से हृदय के भीतर छिपे हुये अपने प्राणों की रक्षा के लिये याचना करते हैं। हम लोग

---

1. वन प. 232/10, 5 पू., वन प. 243/11, 6 गी.

आपके दास और अनाथ हैं, अतः आपको सदा हमारी रक्षा करनी चाहिये।" शरणागतवत्सल महावीर अर्जुन ने उन्हें अभयदान देते हुये कहा "सैनिको ! जो लोग अनाथ दीन दुःखी, दुर्बल, वृद्ध पराजित, अस्त्रशस्त्रों को नीचे डाल देने वाले, प्राणों से निराश एवं हाथ जोड़कर शरणागत होते है, उन सबको मैं मारता नहीं हूँ। तुम्हारा भला हो। तुम कुशलतापूर्वक घर लौट जाओ। तुम्हें मेरी ओर से किसी भी प्रकार का भी भय नहीं होना चाहिये, क्योंकि मैं संकट में पड़े हुये मनुष्यों को नहीं मारना चाहता। इस बात के लिये मैं तुम्हें पूरा-पूरा विश्वास दिलाता हूँ।"[1]

इससे स्पष्ट है कि सच्चा क्षत्रिय शरणागत को प्राण देकर भी रक्षा करता है क्योंकि शरणागत का पालन क्षात्रधर्म का प्रमुख अंग है।

4. प्रतिज्ञा पालन :—प्रतिज्ञापालन भी क्षत्रिय वीरो के धर्म का एक प्रमुख अंग है। वीर जो कुछ कह देता है वह करके ही दिखाता है। वह अपने प्राणो को भले ही त्याग दे, किन्तु वचनों को नही त्यागता। क्षत्रियशिरोमणि महाराज दशरथ का उदाहरण इस बात की पुष्टि करता है कि उन्होने भले ही श्रीराम के अभाव में अपने प्राणों का परित्याग कर दिया, किन्तु कैकयी के सामने दो वरदान देने की सत्य प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ा। इस प्रकार क्षत्रियों द्वारा सत्य प्रतिज्ञा के पालन के उदाहरण महाभारत मे स्थान-स्थान पर भरे पड़े हैं, जिन्हे हम संक्षिप्त रूप मे इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं।

(अ) युधिष्ठिर :—वनवास के असह्य कष्टों को पाकर जब भीम विह्वल हो उठे तो उन्होने महाराज युधिष्ठिर को ही कष्टों का मूल कारण बताते हुये कहा "हे राजन् जिस राज्य को दुर्योधन ने अनुचित साधनो से हस्तगत कर लिया वह उस राज्य के कदापि उपयुक्त नहीं है और हम समर्थ होकर भी व्यर्थ ही कष्ट पा रहे हैं। अतः हमें शीघ्र दुर्योधन पर आक्रमण करके उससे राज्य छीन लेना चाहिये। इस पर युधिष्ठिर ने कहा "भरतनन्दन ! तुम मुझे वाग्बाणो से पीड़ा देते हुये जो मेरे हृदय को विदीर्ण कर रहे हो यह निसन्देह ठीक है। मेरे प्रतिकूल होने पर भी मैं इन बातों के लिये तुम्हारी निन्दा नहीं करता, क्योंकि मेरे ही कारण तुम लोगों पर यह विपत्ति आयी है। वीर भीमसेन ! द्यूत के समय जब तुमने मेरी दोनों बाहों को जला डालने की इच्छा की और अर्जुन ने तुम्हें रोका, उस समय तुम शत्रुओं पर आघात करने के लिये अपनी गदा पर हाथ फेरने

---

1. विराट् प. 62/2–5 पू., विराट् प. 67/2–5 गी.

लगे थे। यदि उसी समय तुमने शत्रुओं पर आघात किया होता तो कितना अनर्थ हो जाता। जब मैं पूर्वोक्त प्रकार की प्रतिज्ञा करने लगा उससे पहले ही तुमने ऐसी बात क्यों नहीं कही? जब प्रतिज्ञा के अनुसार वनवास का समय स्वीकार कर लिया, तब पीछे चलकर इस समय क्यो मुझसे अत्यन्त कठोर बातें कहते हो? भरतवंश के प्रमुख वीर कौरव वीरों के मध्य मैंने जो प्रतिज्ञा की है, उसे स्वीकार कर लेने के बाद अब इस समय आक्रमण नहीं किया जा सकता। प्रिय भ्राता भीमसेन! मेरी यह सच्ची प्रतिज्ञा सुनो। मैं जीवन और अमरत्व की अपेक्षा धर्म को ही बढ़कर समझता हूँ, राज्य, पुत्र, यश और धन—ये सब के सब सत्यधर्म की सोलहवीं कला को भी नहीं पा सकते।"[1]

भरतकुलावतंस महाराज युधिष्ठिर पुत्र धनादि को सत्यधर्म की सोलहवी कला के भी बराबर न मानकर अपनी सत्य-प्रतिज्ञा का विशेष महत्त्व मानते हैं और भीम के कटु वचन सह कर भी अपनी सत्य प्रतिज्ञा को न तोड़कर वनवास के महान् कष्ट उठाकर भी सत्य प्रतिज्ञा का पालन कर क्षात्रधर्म की प्रतिष्ठा को स्थापित करते है। अतः प्रतिज्ञा पालन क्षत्रिय के लिये प्राणों से भी बढ़कर है।

(इ) धनंजय :—क्षात्रधर्म वेत्ता धनंजय भी समय-समय पर प्रतिज्ञा पालन कर उसे क्षत्रिय के नाते पूर्ण करके दिखाते हैं। दुर्योधन को घोष यात्रा में जब चित्रसेन गन्धर्व बांध लेता है और दुर्योधन के सेवक युधिष्ठिर की शरण में आते हैं तो वीर अर्जुन प्रतिज्ञा करते हैं "हे महाराज! यदि गन्धर्व सामनीति से दुर्योधन को नहीं छोड़ेंगे तो आज ही यह भूमि गन्धर्व राज के शोणित का पान कर अपनी प्यास बुझायेगी।"[2] इसके अनन्तर चित्रसेन के साथ घोर युद्ध कर अर्जुन दुर्योधन को छुड़ाकर अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते हैं।

महाभारत के घोर संग्राम में भीष्म पितामह प्रचण्ड सूर्य के समान पाण्डव सेना को संतप्त कर हजारो वीरों को मौत के घाट उतारने लगे तो भगवान् श्रीकृष्ण से यह न देखा जा सका और वे चाँदी के समान श्वेतरंग वाले अर्जुन के घोडों को छोड़कर उस विशाल रथ से कूद पड़े और केवल भुजाओं का ही आयुध लिये, हाथों में चाबुक (प्रतोद) उठाये बारम्बार सिंह नाद करते हुये तेज वेग से भीष्म की ओर दौड़े। यह देखकर अर्जुन वेग से दौडे और उन्होंने जनार्दन के दोनों चरण पकड़ कर कहा "हे केशव! आपने जो पहले यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं

---

1. वन प. 35/2, 15–18, 21 पू., 34/2, 16–19, 22 गी.
2. 232/20 पू., 243/21 गी.

युद्ध नही करूँगा । उस वचन की आप रक्षा कीजिये अन्यथा लोग आपको मि
वादी कहेंगे । हे महाबाहो ! आप अपनी प्रतिज्ञा को झूँठे करने योग्य नही
अतः जनार्दन लौट जाईये । हे प्रभो ! यह सब भार मुझ पर हैं । मैं शस्त्र,
और पुण्य की शपथ खाकर कहता हूँ "निश्चय ही पितामह भीष्म को
डालूँगा ।" भगवान् श्रीकृष्ण भी अर्जुन की सत्य प्रतिज्ञा सुनकर क्रोधावेश से
रथारूढ़ हो गये ।"[1]

प्रतिज्ञा का पूर्ण महत्त्व जानने वाले गुडाकेश ने न चाहते हुये भी शिख
को सामने कर भीष्म पितामह को धराशायी कर अपनी प्रतिज्ञा को निभाया
प्रतिज्ञा की प्रतिष्ठा हेतु श्रीकृष्ण को युद्ध क्षेत्र में नही उतरने दिया ।

इसी भांति जब द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर को जीवित ही पकड़ने की घोष
की तो धनंजय ने भयभीत युधिष्ठिर को आश्वासन देते हुये सत्य प्रतिज्ञा की."
राजन् ! नक्षत्रों सहित आकाश फटपड़े और पृथ्वी के टुकड़े-टुकड़े हो जायें, तो
मेरे जीते जी द्रोणाचार्य आपको पकड़ नही सकते, यह ध्रुव सत्य है । राजेन्द्र
यदि रणक्षेत्र में साक्षात् वज्रधारी इन्द्र अथवा भगवान् विष्णु सम्पूर्ण देवताओ
साथ आकर दुर्योधन की सहायता करें तो भी मेरे जीते जी वह आपको पकड़ न
सकेगा । अतः आपको गुरुवर द्रोणाचार्य से भयभीत नही होना चाहिये । महाराज
मैं अपनी दूसरी निश्चल प्रतिज्ञा भी आपको सुनाता हूँ । मैंने कभी झूँठ कहा
इसका स्मरण नही है । मेरी कहीं पराजय हुई हो इसकी भी याद नही है औ
मैने प्रतिज्ञा करके उसे तनिक भी झूँठी कर दिया हो, इसका भी मुझे स्मरण न
है ।"[2]

वस्तुतः धनंजय ने अपने जीवित रहते हुये महाराज युधिष्ठिर को द्रोणाचा
द्वारा नही पकड़ने दिया और भीषण से भीषण प्रतिज्ञा को भी धनंजय श्रीहरि क
कृपा से किस प्रकार पूर्ण कर पाये, अब हम इस बात को प्रस्तुत करते है ।

महासमर में दुर्योधन को प्रसन्न करने के लिये संशप्तकवीरों ने जब य
प्रतिज्ञा की "हे राजेन्द्र ! दुर्योधन आज हम आपके सामने यह सत्य प्रतिज्ञापूर्व
कहते हैं कि यह भूमि तो अर्जुन से सूनी हो जायेगी या त्रिगर्तों में से कोई इस
भूतल पर नही रह जायेगा ।" तब क्षत्रिय धर्मानुसार अर्जुन ने भी सशप्तको से

1. भीष्म प. 102/50–52, 62–70 पू., 106/55–57, 68–75 गी.
2. द्रोण प. 12/10–13 पू., 13/10–14 गी.

युद्ध करने के लिये इस प्रकार युधिष्ठिर के सामने प्रतिज्ञा की "हे राजन् ! मेरा यह निश्चित व्रत है कि यदि मुझे कोई युद्ध के लिये बुलाता है तो बुलाया गया मैं कभी युद्ध में पीछे नहीं हटता। ये संशप्तकगण आज मुझे युद्ध हेतु ललकार रहे हैं अतः इन शत्रुओं के इस आह्वान को सहन नहीं कर सकता। मैं आपके सामने यह सत्यप्रतिज्ञा करता हूँ कि आप इन शत्रुओं को युद्ध में मारा गया हो समझिये।"[1]

संशप्तकगणों ने युद्ध में मरकर और अर्जुन ने उन्हें मारकर दोनों ने ही अपनी-अपनी प्रतिज्ञाओं का पालन किया।

इसी प्रकार जब युद्ध में सात महारथियों ने अन्याय के द्वारा वीरशिरोमणि अभिमन्यु को मार डाला तो उसकी मृत्यु के मूल कारण जयद्रथ को मारने हेतु धनंजय ने यह घोर प्रतिज्ञा की "मैं आप लोगों के सामने सच्ची प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, कल जयद्रथ को अवश्य मार डालूँगा। महाराज यदि वह मारे जाने के भय से डरकर धृतराष्ट्र पुत्रों को छोड़ नहीं देगा, मेरी पुरुषोत्तम अथवा आपकी शरण में नहीं आयेगा तो कल उसे अवश्य मार डालूँगा। राजन् ! युद्ध में जयद्रथ की रक्षा करते हुये जो कोई मेरे साथ युद्ध करेंगे, वह द्रोणाचार्य और कृपाचार्य ही क्यों न हो, उन्हें अपने बाणों के समूह से आच्छादित कर दूँगा। पुरुषश्रेष्ठ ! यदि संग्राम भूमि मे मैं ऐसा न कर सकूँ, तो पुण्यात्मा पुरुषो के उन लोकों को, जो शूरवीरो को प्रिय है न प्राप्त करूँ साथ ही मैं यह भी दूसरी प्रतिज्ञा करता हूँ कि यदि इस पापी जयद्रथ के मारे जाने से पहले ही सूर्यदेव अस्ताचल को पहुँच जायेंगे तो मैं यहीं प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश कर जाऊँगा।"[2] हे मधुसूदन ! यदि साध्य, रुद्र, वसु, अश्विनी-कुमार, इन्द्र सहित मरुद्गण, विश्वदेव, देवेश्वरगण, पितर्गान्धर्व, गरुड, समुद्र, पर्वत, स्वर्ग, आकाश, यह पृथ्वी, दिशायें, दिक्पाल गाँवों तथा जंगलों में निवास करने वाले प्राणी और सम्पूर्ण चराचर जीव भी सिन्धुराज जयद्रथ की रक्षा के लिये उद्यत हो जायें तो भी मैं सत्य की शपथ खाकर और अपना धनुष छू कर कहता हूँ कि कल युद्ध में आप मेरे बाणों द्वारा जयद्रथ को मारा गया देखेंगे। हे जनार्दन ! जैसे चन्द्रमा में कालाचिन्ह स्थिर है, जैसे समुद्र मे जल की सत्ता सुनिश्चित है उसी प्रकार आप मेरी इस प्रतिज्ञा को भी सत्य समझें।"[3]

---

1. द्रोण प. 16/16, 39–41 पू., 17/16, 39–41 गी.
2. द्रोण प. 51/20–24, 37–38 पू., 73/20–24, 46–47 गी.
3. द्रोण प. 53/34–37, 51 पू., 76/4–7, 22 गी.

अर्जुन की जयद्रथ वध की प्रतिज्ञा बड़ी विकट थी क्योंकि सूर्यास्त के पहले उसके न मारे जाने पर अर्जुन स्वयं अग्नि दाह कर लेते। इसके साथ ही जयद्रथ को पिता वृहद्रथ का यह वरदान था कि जो उसके शिर को भूमि पर गिरायेगा उसके शिर के सौ टुकडे हो जावेंगे। दोनों ही बातें बड़ी विचित्र थी। इन बातों को पूरा करना प्राणो से खेलना था किन्तु भक्तवत्सल गोविन्द की कृपा से इस सकट के महासमुद्र को अर्जुन गोपद के समान पार कर गये और क्षात्रधर्म के प्रतिज्ञा-पालन कर्म को पूर्ण करके ही दिखाया अर्थात् जयद्रथ को सूर्यास्त से पहले ही मार गिराया और अपने शिर को सौ टुकड़ों में विभक्त होने से बचा लिया। इसी भांति धनुर्धारियों में श्रेष्ठ अर्जुन से कर्ण-वध हेतु युधिष्ठिर के समक्ष यह प्रतिज्ञा की "हे राजन् ! छः हजार राजकुमार स्वर्ग लोक में जाने के लिये युद्ध के सागर में मग्न हो गये है। हे राजन् ! यदि आज मैं बन्धुओं सहित युद्ध मे तत्पर हुये कर्ण को हठपूर्वक न मार डालूं तो प्रतिज्ञा करके उसका पालन न करने वालों को जो दुःखदायी गति प्राप्त होती है उसी को मैं पाऊंगा।"1 श्रीकृष्ण की कृपा से अर्जुन के लिये ऐसा कभी न हुआ कि उसने अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण न की हो। उसने यह प्रतिज्ञा पूर्ववत् पूर्ण करके दिखायी।

(ण) अभिमन्यु की प्रतिज्ञा :—सौभद्र भी जो अभी कुमारावस्था में आया ही था अपने माता-पिता के कुल को उज्ज्वल करने के लिये क्षात्रधर्म के अनुसार युधिष्ठिरादि पाण्डवों के समक्ष इस प्रकार प्रतिज्ञा करता है "यदि आज मेरे साथ युद्ध करके कोई भी सैनिक जीवित बच जाये तो मैं अर्जुन का पुत्र नही और सुभद्रा की कोँख से मेरा जन्म नही। यदि मैं युद्ध में एकमात्र रथ की सहायता मे सम्पूर्ण क्षत्रियमण्डल के आठ टुकड़े न कर दूं तो अर्जुन का पुत्र नही।"2

वस्तुतः अभिमन्यु ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार जो कार्य करके दिखाया वह विश्व मे सदैव के लिये चिरस्मरणीय बन गया। उसने हाथ में शस्त्र रहते हुये और जीते जी अपने सामने आने वाले योद्धा को जीवित नही छोड़ा, क्योंकि क्षत्रिय को अपने प्राणो की अपेक्षा अपने वचनों पर अधिक ध्यान रहता है।

(त्र) दुर्योधन की प्रतिज्ञा :—क्षात्रकुलोत्पन्न दुर्योधन भी प्रतिज्ञा को क्षत्रियधर्म का एक प्रधान अंग मानते हुये आचार्य द्रोण के सामने इस प्रकार प्रतिज्ञा करता है "समस्त शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ गुरुदेव ! आज मैं अपने यज्ञ–याज्ञादि तथा

---

1. कर्ण प. 47/10–13 पू., 67/21 गी.
2. द्रोण प. 34/26 पू., 35/26–28 गी.

कुओं, बावली बनवाने आदि शुभ कर्मों की, पराक्रम की तथा पुत्रों की शपथ खाकर आपके सामने सच्ची प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब मैं पाण्डवों के सहित समस्त पांचालों को युद्ध में मारकर शान्ति पाऊँगा अथवा मेरे वे सुहृद, युद्ध में मरकर जिन लोकों में गये हैं, उसीमें मैं भी चला जाऊँगा।"[1]

दुर्योधन ने भी प्रतिज्ञापालन को क्षात्रधर्मानुसार पूर्ण करना अपना प्रधान कर्त्तव्य माना और अन्त तक न कायरता से, न राज्य लोभ से, तथा न प्राणों के लोभ से ही युद्ध से विरत हुआ अपितु युद्धस्थल में प्राण देकर अपनी प्रतिज्ञा को सफल बनाया क्योंकि प्रतिज्ञापालन क्षत्रियों का प्रधान धर्म माना जाता है।

(लृ) सोमदत्त और सात्यकि की प्रतिज्ञायें :—क्षात्रधर्म के विरुद्धाचरण कर अनशन व्रत लेकर बैठे हुये भूरिश्रवा को जब सात्यकि ने रणस्थल में मौत के घाट उतार दिया तो भूरिश्रवा का पिता सोमदत्त क्रोध से तमतमा उठा और उसने सात्यकि को मारने के लिये यह प्रतिज्ञा की "वृष्णिकुलकलंक सात्वत ! मैं अपने दोनों पुत्रों की तथा यज्ञ और पुण्यकर्मों की शपथ खाकर कहता हूँ कि यदि आज रात्रि व्यतीत होने के पहले ही कुन्तीपुत्र अर्जुन से अरक्षित रहने पर अपने को वीर मानने वाले तुम्हें पुत्रों और भाइयों सहित न मार डालूँ तो घोर नरक में पड़ूँ।"

शिनि पौत्र सात्यकि ने भी सोमदत्त की प्रतिज्ञा को विफल करने हेतु वाग्बाणों से प्रताड़ित कर अपनी प्रतिज्ञा इस प्रकार सुनाई "मैं श्रीकृष्ण के चरणों तथा अपने इष्टापूर्त कर्मों की शपथ खाकर कहता हूँ कि यदि मैं युद्ध में क्रुद्ध होकर तुम जैसे पापी को पुत्रोंसहित न मार डालूँ तो मुझे उत्तम गति न मिले।"[2]

पारस्परिक इन दोनों वीरों की प्रतिज्ञाओं में से एक ही वीरवर सात्यकि की प्रतिज्ञा पूरी हो सकी और सोमदत्त सात्यकि के बाणों से पहले ही स्वर्ग चले जाने के कारण प्रतिज्ञा पूरी न कर सका, किन्तु व्यक्ति की प्रतिज्ञा उसके जीवन के साथ होती है यदि वह जीवित रहते हुये ऐसा न कर पाता तो प्रतिज्ञा भंग के दोषों को प्राप्त होता किन्तु रणांगण में प्राणों को त्याग कर सोमदत्त ने अपने क्षात्रधर्म का पूर्ण निर्वाह किया और सात्यकि ने भी।

(क) धृष्टद्युम्न की प्रतिज्ञा :—गुरू द्रोणाचार्य ने जब विराट् और द्रुपद को पानीदार भल्लों से मारकर यमराज के पास भेज दिया तब दुःख से भरे

1. द्रोण प. 161/35-37 पू., 150/26-27 गी.
2. द्रोण प. 131/6-7, 14 पू, 156/7-8, 19 गी.

हुये महामनस्वी धृष्टद्युम्न ने रथियों के बीच में द्रोणाचार्य के वध हेतु इस प्रकार प्रतिज्ञा की "आज जिसके हाथ से द्रोणाचार्य जीवित छूट जाय अथवा जिसे वे पराजित करदें, वह यज्ञ करने तथा कुआं बावली बनवाने एवं बगीचे लगाने आदि के पुण्यों से वंचित हो जाय तथा क्षत्रियत्व और ब्राह्मणत्व* से भी गिर जाय।[1]

पाण्डव-सेना-नायक धृष्टद्युम्न ने भी रण स्थल में अवसर का लाभ उठाकर समाधिस्थ द्रोणाचार्य को मार डाला और अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर दिखाया।

(ङ) **भीम की प्रतिज्ञा** :—भीमकर्मा वृकोदर ने भी द्यूत काल में दुर्योधन की उरुभंग करने की प्रतिज्ञा की थी जिसका वर्णन हम 'महाभारत' के युद्ध के कारणों में कर चुके हैं। अब यहाँ यह प्रदर्शित कर रहे हैं कि भीम ने अपनी की हुई प्रतिज्ञा की पूर्ति जब रणस्थल में दुर्योधन की उरुभंग द्वारा पूर्ण कर ली तब अच्युतानन्द गोविन्द ने अग्रज बलराम द्वारा आपत्ति प्रकट करने पर इस प्रकार भीम के उरुभंग कर्म की पुष्टि की "मैं समझता हूँ कि इस जगत् में अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना क्षत्रिय के लिये धर्म ही है। पहले सभा में भीमसेन ने यह प्रतिज्ञा की थी कि 'मैं युद्ध में अपनी गदा से दुर्योधन की दोनों जाँघे तोड़ डालूँगा।' साथ ही महर्षि मैत्रेय ने भी दुर्योधन को यह शाप दे रखा था कि भीमसेन तेरी दोनों जाघें तोड़ डालेगा। अतः प्रलम्बहन्ता बलभद्रजी। मैं इसमें भीमसेन का कोई दोष नहीं देखता, इसलिये आप क्रोध न कीजिये।"[2] इसके बाद बलरामजी शान्त हो गये।

उपर्युक्त समस्त वर्णन से स्पष्ट है कि कोई ही प्रमुख क्षत्रिय वीर महाभारत के युद्ध में रहा हो जिसने प्रतिज्ञा नही की और प्रतिज्ञा के बाद अपनी प्रतिज्ञा पूर्ति न की हो। यह अवश्य हुआ कि प्रतिज्ञा चाहे उचित रूप से पूर्ण हुई या अनुचित रूप से, किन्तु प्रत्येक प्रतिज्ञा करने वाले क्षत्रिय ने अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति करना क्षात्रधर्म का एक प्रधान अंग समझा और उसे जैसे-तैसे यहाँ तक कि प्राण देकर भी पूर्ण करने का प्रयास किया। अतः प्रतिज्ञा पालन क्षात्रधर्म के प्रमुख ब्राह्मअंगों मे से एक अंग हैं।

---

* द्रुपद कुल में उत्पन्न होने के कारण धृष्टद्युम्न का क्षत्रिय होना प्रसिद्ध ही है, किन्तु याज और उपयाज नामक दो तपस्वी ब्राह्मणों की तपस्या से उनकी उत्पत्ति हुई थी तथा परमेश्वर के मुख से प्रकट हुये ब्राह्मणस्वरूप अग्नि से उनका प्रादुर्भाव हुआ था। इससे उनमे ब्राह्मणत्व भी था।

1. द्रोण प. 161/35–37 पू., 186/43–46 गी.
2. शल्य प. 59/14–16 पू., 60/17–19 गी.

5. कन्याहरण :—स्वयंवरादि की प्रतिज्ञा न करके क्षत्रिय अपने बाहुबल के आधार पर अन्य राजाओं (क्षत्रियों) को हराकर वरणीय कन्या का अपहरण करले यह उसके लिये क्षात्र धर्मानुसार बड़ा प्रशंसनीय माना जाता है। कुरुकुल के सर्ववयोवृद्ध महात्मा भीष्मपितामह ने कन्याहरण के कर्म को क्षत्रिय के लिये सर्वश्रेष्ठ कर्म बताते हुये कहा "क्षत्रिय स्वयंवर की प्रशंसा करते हैं और उसमें जाते भी है, किन्तु उसमे भी समस्त राजाओ को परास्त करके जिस कन्या का अपहरण किया जाता है, धर्मवादी विद्वान् क्षत्रिय के लिये उसे सबसे श्रेष्ठ मानते हैं। अतः भूमिपालों! मैं इन कन्याओं को यहाँ से बलपूर्वक हर लेना चाहता हूँ। तुम लोग अपनी सारी शक्ति लगाकर विजय अथवा पराजय के लिये मुझे रोकने का प्रयत्न करो।"[1]

क्षत्रिय शिरोमणि भीष्म ने ऐसा कहकर अपने कथन को सत्य सिद्ध करते हुये काशिराज की तीनों कन्याओं (अम्बा-अम्बिका, अम्बालिका) का बलपूर्वक अपहरण कर लिया और सब भूपालों को परास्त कर उन कन्याओं को लेकर हस्तिनापुर पहुँच गये। जिसका वर्णन हम 'स्त्री प्राप्ति हेतु युद्ध' नामक प्रसंग में पहले कर ही कर चुके है।

नीति धर्मतत्व स्वयं आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द अपने अन्यतम सखा अर्जुन को अपनी बहिन सुभद्रा का अपहरण करने हेतु इस प्रकार कहते हैं "हे नरश्रेष्ठ पार्थ! क्षत्रियों के लिये स्वयंवर विवाह का एक प्रकार है, परन्तु उसका परिणाम संदिग्ध होता है, क्योकि स्त्रियों का स्वभाव अनिश्चित हुआ करता है। (पता नही वे स्वयंवर में किस का वरण करे) बल पूर्वक कन्या हरण भी शूरवीर क्षत्रियों के लिये विवाह का उत्तम हेतु कहा गया है ऐसा धर्मज्ञ पुरुषो का मत है अतः अर्जुन! मेरी सम्मति तो यह है कि तुम मेरी कल्याणमयी बहिन को बलपूर्वक हर ले जाओ। कौन जानता है, स्वयंवर मे उसकी क्या चेष्टा होगी—वह किसे वरण करना चाहेगी?"[2]

अर्जुन तो श्रीकृष्ण के ही संकेत पर सदा चलते थे। अतः उनकी ही आज्ञा के अनुसार उन्होने सुभद्रा का हरण कर लिया। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने भी रुक्मणी का हरण ही किया था। अतः भीष्म, कृष्ण, और अर्जुन जैसे क्षत्रिय-शिरोमणि वीरों के आचरण से स्पष्ट है कि 'कन्याहरण' क्षत्रियों के लिये प्रशसनीय ग्राह्य क्षात्रधर्म है।

---

1. आदि प. 96/15–16 पू., 101/16–17 गी.
2. आदि प. 211/21–23 पू., 218/21–23 गी.

6. तेज की प्रधानता :—तेज के बिना मानवमात्र का समाज में आदर नही होता। तेजस्वी पुरुष ही अपने तेज के द्वारा अज्ञानियों या संमूढों में प्रकाश कर अपना मार्ग दिखाने में समर्थ होता है। क्षत्रिय को जिसका कि शासक के नाते समाजव्यवस्था से विशेष सम्बन्ध है तेजस्वी होना ही चाहिये अर्थात् क्षत्रिय में तेज की प्रधानता होनी ही चाहिये। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भी गीता के अठारहवें अध्याय में 'शौर्य तेजो, धृतिर्दाक्ष्यं' कह कर क्षत्रिय में तेज की प्रधानता बताई है। तेज वह शक्ति है जिसके प्रभाव से मनुष्य दूसरों का दबाव मानकर किसी भी कर्त्तव्य पालन से कभी विमुख नही होता और दूसरे लोग न्याय के और उसके प्रतिकूल व्यवहार करने में डरते रहते है। इसी को दूसरे शब्दों में प्रताप और प्रभाव भी कह सकते है।

महारानी द्रौपदी महाराज युधिष्ठिर को वन के कष्टों से दुःखी होकर तेजस्वी होने के लिये इस प्रकार कहती है "हे कुन्तीनन्दन ! जो क्षत्रिय समय आने पर अपने प्रभाव को नहीं दिखाता उसका सब प्राणी सदा तिरस्कार करते हैं। महाराज ! आपको शत्रुओं के प्रति (धार्तराष्ट्रो के प्रति) किसी भी प्रकार क्षमा-भाव धारण नही करना चाहिये। तेज से ही उन सबका वध किया जा सकता है, इसमे तनिक भी सन्देह नही है।"[1]

महाबली भीम जब धार्तराष्ट्रों के साथ किसी भी प्रकार से सन्धि करने पर श्रीकृष्ण से आग्रह करने लगे तो केशव ने भीम को क्षात्रतेज का महत्व बताते हुये कहा "भारत ! तुम अपने कर्मों की ओर देखकर और जिसकुल मे तुम्हारा जन्म हुआ है, उस पर भी दृष्टिपात करके खडे हो जाओ। वीरवर ! विषाद न करो और अपने क्षत्रियोचित कर्म पर डटे रहो। शत्रुदमन ! तुम्हारे चित्त मे जो ग्लानि उत्पन्न हुई है यह तुम्हारे जैसे शूरवीर के लिये कदापि योग्य नहीं है, क्योकि क्षत्रिय जिसे ओज एवं पराक्रम से प्राप्त नही करता उसे अपने उपयोग में नही लाता है।[2]

जिस प्रकार तेजस्वी वनराज का अपने वन मे स्वभाव से ही प्रभाव होता है वैसे ही क्षत्रिय का समाज पर स्वतः ही प्रभाव होता है, जिस प्रकार सिंह अपने ही पराक्रम से शिकार मारकर खाता है वैसे ही क्षत्रिय भी अपने ही पराक्रम से उपार्जित वस्तु का उपभोग करता है। सिंह सदृश गुणो से युक्त होने के कारण ही आधुनिक काल में क्षत्रियों के नाम के आगे सिंह, शब्द का प्रचलन प्रारम्भ हुआ जो

---

1. वन प. 28/35–36 पू., 27/28–39 गी.
2. उ. प. 73/22–23 पू., 75/22–23 गी.

सिंह सदृश तेजस्विता का सूचक है। अतः क्षत्रिय को अपने अन्दर तेज की प्रधानता रखनी चाहिये।

माता कुन्ती भी श्रीकृष्ण की ही बात की पुष्टि करती हुई उन्ही के द्वारा अपने पुत्रों को सन्देश भेजते हुये कहती है "गोविन्द ! तुम सदा क्षत्रिय धर्म मे तत्पर रहने वाले माद्रीनन्दन नकुल सहदेव से भी कहना—'पुत्रों ! तुम प्राणों की बाजी लगाकर भी पराक्रम से प्राप्त हुये भोगों को ही ग्रहण करना। पुरुषोत्तम ! क्षत्रियधर्म से जीवन निर्वाह करने वाले मनुष्य के मन को पराक्रम से प्राप्तधन ही सदा सन्तुष्ट रखता है।"[1]

वीरांगना क्षत्राणी विदुला भी रण से लौटकर आये हुये अपने पुत्र संजय को तेज धारण करने के लिये इस प्रकार कहती है "हे वत्स ! जो क्षत्रिय अपने जीवन के लोभ से यथाशक्ति पराक्रम प्रकट करके अपने तेज का परिचय नहीं देता है, उसे सब लोग चोर मानते है।"[2]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि तेज के अभाव में क्षत्रिय, क्षत्रिय कहलाने का अधिकारी नहीं है, क्योंकि तेज के बिना वह प्रजा पर या समाज पर अपना प्रभाव नहीं डाल सकता और प्रभाव के बिना शासन कार्य चल नहीं सकता। अतः क्षत्रिय के लिये तेज प्रधान रूप से ग्राह्यांग है।

7. उत्साह :—'उत्साह' मानव जीवन का मूलमंत्र है, जिस व्यक्ति में उत्साह नही उसे यदि 'मृत' कह दिया जावे तो कोई अत्युक्ति नहीं। 'उत्साह' एक उन्नत भाव है जिससे भावित हो जाने पर पुरुष बड़े से बड़े बलवान् शत्रु का भी सामना करने मे भयभीत नही होता। हमारा भारतीय इतिहास उत्साह के अनेक ज्वलन्त उदाहरणों से भरा पड़ा है—जैसे राम का खरदूषण के साथ युद्ध करना, लक्ष्मण का परशुराम के सामने हो जाना, अभिमन्यु का कुमारावस्था में ही चक्रव्यूह में उतर पड़ना आदि।

उत्साह का क्षेत्र बड़ा विशाल है। महाभारत का युद्ध तो उत्साह पर ही टिका हुआ था। प्रत्येक वीर में यदि उत्साह न होता तो युद्ध का होना ही असम्भव था। हम महाभारत के सभी प्रमुख पात्रों जैसे भीष्म, द्रोण, कृप, द्रौणि दुर्योधन,

---

1. उ. प. 88/77–78 पू., 90/78–79 गी.
2. उ. प. 1 2/2 पू., 134/2 गी.

कर्ण, भीम, अर्जुन,नकुल,सहदेव,सात्यकि, धृष्टद्युम्नादि में उत्साह कूटकूट कर भरा हुआ पाते है । हमारे दृष्टिकोण से सम्पूर्ण महाभारत में से यदि विदुलोपाख्यान को ही ले लें तो इस प्रसंग की भलीभाँति पूर्ति हो जायेगी । अतः केवल उत्साह प्रिय और जगन्नियन्ता श्रीकृष्ण को छोड़कर अन्य सबकी पूर्ति हम विदुला और संजय के उपाख्यान के द्वारा ही इस प्रकार करते हैं ।

वनवास-काल में अनेक कष्टों से संतप्त वृकोदर महाराज युधिष्ठिर को उत्साह धारण कर युद्ध हेतु इस प्रकार प्रेरित करते है "क्षत्रियश्रेष्ठ ! क्षत्रिय के लिये न तो भीख माँगने का विधान है और न वैश्य और शूद्र की जीविका अपनाने का ही । उसके लिये तो बल और उत्साह ही विशेष धर्म है । अतः हे कुरुनन्दन ! अपने हृदय को क्षत्रियोचित उत्साह से भरकर मन से इस शिथिलता को दूर करके पराक्रम का आश्रय ले आप एक धुरन्धर वीर पुरुष की भाँति युद्ध का भार वहन कीजिये । पाण्डुनन्दन ! अत्यन्त बलवान् पुरुष भी आत्म बल से युद्ध करता है, इसलिये आप सावधानीपूर्वक महान् उत्साह और आत्मबल का आश्रय लीजिये ।"[1]

मोहावृत धनंजय को भी रणस्थल में श्रीकृष्ण कायरता को छोड़कर उत्साह धारण करने हेतु इस प्रकार कहते है "हे उत्साहशील पार्थ ! तुझे इस असमय में यह मोह किस कारण से प्राप्त हुआ । क्योंकि न तो यह श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा आचरित है न स्वर्ग को देने वाला है और न कीर्ति को करने वाला है । इसलिये नपुंसकता को प्राप्त मत हो, यह तुझमें उचित नही जान पड़ती । हे परतप ! हृदय की तुच्छ दुर्बलता को त्याग कर उसे उत्साह से परिपूर्ण कर तू युद्ध के लिये खड़ा हो जा ।"[2]

युधिष्ठिर और धनंजय दोनों ही यदि उत्साहहीन रहते तो महाभारत का महायुद्ध कर अपनी पैतृक संपत्ति नहीं पा सकते थे । उत्साह के आधार पर ही पाण्डवो ने सब कुछ प्राप्त किया । अतः क्षत्रियों के लिये उत्साह प्राथमिक धारणीय वस्तु है ।

माता विदुला का उपदेश तो उत्साह का मानो साक्षात् स्वरूप ही है । युद्ध से भागकर आने वाले निरुत्साही संजय में उत्साह का संचार करती हुई क्षत्राणी विदुला बोली "हे पुत्र सजय ! यदि तुझे जीवन के प्रति अधिक आसक्ति न हो तो तू

---

1. वन प. 34/49, 55, 61 पू., 33/51, 57, 63 गी.
2. भीष्म प. 24/2–3 पू., 26/2–3 गी.

अपने सभी शत्रुओं को परास्त कर सकता है और यदि इस प्रकार विषादग्रस्त एवं हतोत्साह होकर ऐसी कायरों की सी वृत्ति अपना रहा है तो तुझे इस पापपूर्ण जीविका को त्याग देना चाहिये।"[1] जो कर्मों का आरम्भ नहीं करते वे तो कभी भी अपने अभीष्ट की सिद्धि में सफल नहीं होते, अतः कर्मों को छोड़कर निश्चेष्ट बैठने का यह एक ही परिणाम होता है कि मनुष्यों को कभी अभीष्ट मनोरथ की प्राप्ति नहीं हो सकती, अपितु कर्मों मे उत्साहपूर्वक लगे रहने पर तो दोनों प्रकार के परिणामों की सम्भावना रहती है—कर्मों का वांछनीय फल प्राप्त भी हो सकता है और नहीं भी। अतः हे पुत्र! सफलता प्राप्त होगी ही ऐसा मन में उत्साह के साथ दृढ़ विश्वास धारण कर तुझे निरन्तर विषाद रहित सजग होकर ऐश्वर्य की प्राप्ति कराने वाले कर्मों में लग जाना चाहिये। बेटा! मैंने तुझे अनेक प्रकार के दृष्टान्त, बहुत से उपाय और कितने ही उत्साहजनक वचन सुनाये हैं। लोक वृत्तान्त का भी बार-बार दिग्दर्शन कराया है। अतः अपने में उत्साह को भरकर तू अब पुरुषार्थ कर, मैं तेरा पराक्रम देखूँगी।"[2] हे वत्स! मैं तेरे प्रभाव, पुरुषार्थ और बुद्धिबल को जानना चाहती थी, अतः तुझे आश्वासन देते हुये तेरे उत्साह की वृद्धि के लिये मैंने उपर्युक्त बातें कही है। संजय! यदि मैं यह सब ठीक कह रही हूँ और यदि तू भी मेरी इन बातों को ठीक समझ रहा है तो अपने आपको उग्र सा बनाकर विजय के लिये खड़ा हो।"[3]

मृतक में भी प्राण भर देने वाले माता के उत्साहयुक्त वचनों को सुनकर संजय ने कहा "माँ! मैं बार-बार तेरी नयी-नयी बातें सुनना चाहता था। इसीलिये बारम्बार बीच-बीच मे कुछ-कुछ बोलकर फिर मौन हो जाता था। तेरे ये अमृततुल्य वचन बड़ी कठिनाई से सुनने को मिले थे। उन्हें सुनकर मैं तृप्त नहीं होता था। यह देखो अब मैं शत्रुओं का दमन और विजय की प्राप्ति करने के लिये बन्धुबान्धवों के साथ उद्योग कर रहा हूँ।"[4]

विदुला के उत्साह भरे वचनों से संजय जग उठा। उसने अपना कर्त्तव्य पहिचाना और शत्रु पर विजय प्राप्त कर माता से अभिनन्दित हुआ। यदि माता द्वारा उसमे उत्साह न भरा जाता तो यह सब कुछ असम्भव था। अतः प्रत्येक क्षत्रिय को लक्ष्यप्राप्ति हेतु उत्साह को अवश्य धारण करना चाहिये, क्योंकि

1. उ. प. 132/22-23 पू., 134/22-23 गी.
2. उ. प. 133/27-32 पू., 135/27-32 गी.
3. उ. प. 134/7-8 पू., 136/7-8 गी.
4. उ. प. 134/14-15 पू., 136/14-15 गी.

उत्साह के बिना क्षत्रिय किसी भी कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकता ग्रौर कर्म में ही प्रवृत्त नहीं होगा तो सिद्धि कहाँ से मिलेगी। ग्रतः उत्साह क्षत्रिय के लिये ग्रनिवार्य रूप से धारणीय ग्रंग है।

8. क्रोध तथा क्षमा :—शासन करना जिसका स्वाभाविक धर्म है उस क्षत्रिय को शासन चलाने हेतु समयानुसार क्रोध ग्रवश्य करना चाहिये ग्रौर ग्रवसरानुसार क्षमा दान भी देना चाहिये। वनवास के कष्टों से दुःखी हुई द्रौपदी महाराज युधिष्ठिर को शत्रुग्रों के प्रति क्रोधित होकर उनसे प्रतिशोध लेने के लिये इस प्रकार कहती है "महाराज ! संसार में कोई क्षत्रिय क्रोध रहित नहीं होता, 'क्षरते इति क्षत्रम्' जो दुष्टों का क्षरण-(नाश) करता है, वह क्षत्रिय है। व्युत्पत्ति के ग्रनुसार क्षत्रिय का सक्रोध होना सूचित होता है, किन्तु ग्राप जैसे क्षत्रिय में मुझे इस क्रोध का ग्रभाव क्षत्रियत्व के विपरीत सा दिखायी देता है। कुन्तीनन्दन ! जो क्षत्रिय समय ग्राने पर क्रोध करके ग्रपने प्रभाव को नहीं दिखाता उसका सब प्राणी सदा तिरस्कार करते है।※ इसी प्रकार जो क्षत्रिय क्षमा करने के योग्य समय ग्राने पर शान्त नही होता, वह सब प्राणियों के लिये ग्रप्रिय हो जाता है ग्रौर इहलोक तथा परलोक में भी उसका विनाश हो जाता है।"[1]

इस प्रकार द्रौपदी के कथनानुसार क्षत्रिय के लिये ग्रवसरानुसार क्रोध करना क्षात्रधर्म का एक ग्रावश्यक ग्रंग प्रदर्शित किया है ग्रौर उसी प्रकार ग्रवसरानुसार क्षमा भी वीर का भूषण बताया गया है।

9. कूटनीति :—शासनकर्त्ता क्षत्रिय को प्रजा ग्रौर ग्रपने सुख समृद्धि के लिये कूटनीति का ग्राश्रय लेकर ग्रपने राज्य की प्राप्ति तथा वृद्धि भी करनी चाहिये। वनवासकाल के दुःखों से दुःखी होकर भीमसेन महाराज युधिष्ठिर से कहते है "महाराज ! केवल धर्म में ही लगे रहने वाले किसी भी नरेश ने ग्राज तक न तो कभी पृथ्वी पर विजय पायी है न ऐश्वर्य तथा लक्ष्मी को ही प्राप्त किया है। जैसे बहेलिया लुब्ध हृदय वाले छोटे-छोटे मृगों को कुछ खाने की वस्तुग्रों का लोभ देकर छल से उन्हें पकड लेता है, उसी प्रकार नीतिज्ञ राजा शत्रुग्रों के प्रति कूटनीति का प्रयोग करके उनसे राज्य को प्राप्त कर लेता। नृपश्रेष्ठ ! ग्राप जानते हैं कि ग्रसुरगण देवताग्रों के बड़े भाई है, उनसे पहले उत्पन्न हुये हैं ग्रौर सब प्रकार

※ महाकवि भारवि ने इसी कथन को 'ग्रवन्ध्य कोपस्य' पद्य के द्वारा प्रदर्शित किया है। (किरात्. 1/33)

1. वन प. 28/34–35, 37 पू.; 27/37–38, 40 गी.

वे बहुबुद्धिशाली हैं जो भी देवताओं ने छल से उन्हें जीत लिया। महाराज! इस प्रकार बलवान् का ही सब पर अधिकार होता है, यह समझकर आप भी कूटनीति का आश्रय ले अपने शत्रुओं को मार डालिये।[1]

क्षत्रिय (राजा) के लिये छल कपट से युक्त कूटनीति का आश्रय लेना भी एक भारतीय धर्म माना गया है क्योंकि दुष्टों को यदि सीधे रास्ते से नहीं तो छल-कपट अथवा टेढ़े रास्ते से भी अर्थात् जैसे भी हो जीत लेना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण की जरासन्ध वध हेतु काम में ली गई कूटनीति इस बात को पूर्णरूप से पुष्टि कर देती है। इसलिये नीतिज्ञों ने कहा है—'वारांगनेव नृपनीतिरनेकरूपा'। महर्षि उशना भी इस मत की पुष्टि करते हुये कहते हैं—"बलवान् शत्रु को नष्ट करने के लिये कूटयुद्ध के समान कोई दूसरा युद्ध नहीं है। क्योंकि प्राचीनकाल में राम, कृष्ण तथा इन्द्रादि देवताओं ने भी बलवान् असुरों के साथ लड़ने में कूटयुद्ध का ही आश्रय लिया था। कूटयुद्ध के द्वारा ही उन सबों ने क्रम से बालि, कालयवन तथा नमुचि दैत्य का संहार किया था।"[2]

10. युद्ध करना :—युद्ध करना क्षत्रिय का स्वाभाविक धर्म है भगवान् श्रीकृष्ण ने भी 'युद्धे चाप्यपलायनम्' कहकर यह प्रदर्शित किया है कि युद्ध तो क्षत्रिय को करना ही चाहिये। महर्षि शुक्र भी अपना मत अभिव्यक्त करते हुये कहते हैं "किसी के ललकारने पर क्षत्रिय को युद्ध अवश्य करना चाहिये। प्रजा पालन करता हुआ राजा (क्षत्रिय) अपने समान या अपने से उत्तम किंवा हीन बल वाले किसी शत्रु के ललकारने पर क्षत्रियधर्म का ध्यान रखता हुआ उसके साथ युद्ध करने से न हटे।"[3] साथ ही युद्ध में मर भले ही जावे किन्तु शत्रु को पीठ देकर रणक्षेत्र से कभी न भागे। युद्ध किस-किस के मत से क्षात्र धर्म का प्रधान अंग है? इस विषय पर प्रकाश डालने के पूर्व युद्ध का हम क्षत्रिय के लिये क्या महत्व है? इस अंश पर प्रकाश डालते हुये युद्ध सम्बन्धित सभी अंशों पर क्रमशः इस प्रकार प्रकाश डालते हैं।

(ह) युद्ध का महत्व :—क्षत्रिय के लिये युद्ध से बढ़कर अन्य वस्तु का विशेष महत्व नहीं है। भीमसेन महाराज युधिष्ठिर को युद्ध करने हेतु प्रोत्साहित करते हुये युद्ध का महत्व बताते हैं 'धर्मराज! क्षत्रिय तपस्या के द्वारा वैसे पुण्य लोकों

---

1. वन प. 34/5759 पू., 33/58–61 गी.
2. शु. नी. 4/7 प्र./363–363 चौ.
3. शु. नी. 4/301 चौ.

को प्राप्त नहीं होता जिन्हें वह अपने द्वारा विजित युद्ध के द्वारा विजय अथवा मृत्यु को अंगीकार करने से प्राप्त करता है।[1] इस प्रकार भीष्म के मत में युद्ध का महत्त्व क्षत्रिय के लिये तप से भी बढ़कर है।

गांगेय भीष्म धृतराष्ट्र पुत्रों की सेना के प्रधान सेनापति थे। अतः युद्ध करने के पूर्व उन्होने समस्त सैनिकों को इस प्रकार युद्ध का महत्त्व बताया "क्षत्रियों ! यह युद्ध तुम्हारे लिये स्वर्ग का खुला हुआ विशाल द्वार है। तुम लोग इसके द्वारा इन्द्र अथवा ब्रह्माजी का सलोक्य प्राप्त करो। यह तुम्हारे पूर्ववर्ती पूर्वजों द्वारा स्वीकार किया हुआ सनातन मार्ग है। तुम सब लोग शान्त-चित्त होकर युद्ध में शौर्य का परिचय देते हुये अपने आपको सुयश और सम्मान का भागी बनाओ। नाभाग, ययाति, मान्धाता नहुष नृग ऐसे ही कर्मों द्वारा सिद्धि को प्राप्त होकर उत्कृष्ट लोकों में गये।"[2]

आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र भी युद्ध से उपराम हुये कौन्तेय अर्जुन को इस प्रकार युद्ध का महत्त्व प्रदर्शित करते हैं "पार्थ ! क्षत्रिय के लिये धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याण-कारी कर्त्तव्य नही है। अपने आप प्राप्त हुये और खुले हुये स्वर्ग के द्वार रूप इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रिय लोग ही पाते हैं। तू युद्ध मे मारा जाकर या तो स्वर्ग को प्राप्त होगा अथवा संग्राम को जीतकर पृथ्वी का राज्य भोगेगा। इस प्रकार युद्ध तुम्हारे लिये दोनों ही, प्रकार से श्रेयस्कर हैं। अतः हैं कौन्तेय ? तू युद्ध का निश्चय कर खड़ा हो जा।"[3]

महात्मा भीष्म और श्री गोविन्द के मत में युद्ध का महत्त्व क्षत्रिय के लिये सबसे बढ़कर कल्याणकारी है। क्षत्रिय का युद्ध से ही कल्याण है चाहे वह उसमें युद्ध करता हुआ मर जाये या शत्रु को जीतकर उसका राज्य प्राप्त करें। रण में मृत्यु स्वर्गदा होती है और रण की विजय भूमिभोग की दात्री होती है। अतः युद्ध का क्षत्रिय हेतु विशेष महत्त्व है।

(य) युद्ध (क्षत्रिय) का सनातन धर्म :—महात्मा भीष्म ने तो क्षत्रियों को युद्ध को उनके धर्म के रूप मे प्रदर्शित करते हुये कहा है "घर में रोगी होकर पड़े-पड़े प्राण त्याग करना क्षत्रिय के लिये अधर्म माना गया है। वह युद्ध में

1. वन प. 34/71 पू. 33/73 गी.
2. भीष्म प. 17/8–10 पू., 17/8–10 गी.
3. भीष्म प. 24/31–32, 37 पू., 26/31–32, 37 गी.

लोहे के अस्त्र शस्त्रों द्वारा आहत होकर जो मृत्यु को अंगीकार करता है, वही उसका सनातन धर्म है।[1]

भगवान् वासुदेव भी भीष्म के ही समान युद्ध को क्षत्रिय का सनातन धर्म बताते हुये युधिष्ठिर तथा अर्जुन से कहते हैं महाराज ! क्षत्रिय के लिये विधाता ने यही सनातन कर्त्तव्य बताया है कि वह संग्राम मे विजय प्राप्त करें अथवा वहीं प्राण दे दें।[2] हे अर्जुन ! क्षत्रिय को किसी के भी प्रति दोषदृष्टि न रखकर सदा युद्ध, प्रजाओं की रक्षा और यज्ञ करते रहना चाहिये, क्योंकि यह क्षत्रियों का निश्चित सनातन धर्म है।[3] अभिमन्यु की रण मृत्यु पर शोकसंतप्त अर्जुन को इसी धर्म की सनातनता बताते हुये वासुदेव बोले "पुरुष सिंह ! शोक न करो। प्राचीन धर्मशास्त्रकारो ने संग्राम में वध होना क्षत्रियों का सनातन धर्म नियत किया है।"[4]

(ब) रणमृत्यु की श्रेष्ठता :—क्षत्रिय का युद्ध करना स्वाभाविक कर्म है। अतः उसके लिये रणमृत्यु सर्वश्रेष्ठ एवं गृह पर रोग मृत्यु अत्यन्त निन्दित मानी गई है। इस विषय में सारे ही माननीय महाभारत के पात्र अपना-अपना मत इस प्रकार प्रस्तुत करते है।

रणस्थल में कर्ण के सारथी शल्य जब अर्जुन की प्रशंसा करते हैं तो कर्ण मद्र देश के निवासियों की निन्दा करते हुये अपने लिये रण मृत्यु को श्रेष्ठ बताते है। "हे मद्रराज ! हम क्षत्रिय वीर युद्ध से डरने वाले नहीं हमने सुना है कि क्षत्रिय के लिये सबसे श्रेष्ठ धर्म यह है कि वह युद्ध मे मारा जाकर रणभूमि में सो जाय और सत्पुरुषों के आदर का पात्र बने। मैं अस्त्र-शस्त्रों द्वारा किये जाने वाले युद्ध में अपने प्राणों का परित्याग करूं यही मेरे लिये प्रथम श्रेणी का कार्य है। क्योंकि मैं मृत्यु के पश्चात् स्वर्ग पाने की अभिलाषा रखता हूँ।"[5]

दुर्योधन भी रण मृत्यु की वरीयता बताता हुआ अपने सैनिकों को कहता है "क्षत्रिय धर्म के अनुसार युद्ध करने वाले वीरों की संग्राम मे सुखपूर्वक मृत्यु होती

1. भीष्म प. 17/11 पू. 17/11 गी.
2. उ. प. 71/4 पू. 72/4 गी.
3. भीष्म प. 103/96 पू. 107/102 गी.
4. द्रोण प. 50/67 पू. 72/72 गी.
5. कर्ण प. 27/92–93 पू. 40/43–44 गी.

है ? वहां मरे हुये को मृत्युदुःख का अनुभव नहीं होता और परलोक में जाने पर उसे अक्षय सुख की प्राप्ति होती है।"[1]

धनुर्धर-श्रेष्ठ धनंजय भी महाराज युधिष्ठिर को क्षत्रिय के लिये रणमृत्यु को श्रेष्ठ बताते हुये कहते हैं "हे प्रभो! तप और त्याग ब्राह्मणों के धर्म है, जो मृत्यु के पश्चात् परलोक में धर्मजनित फल देने वाले है, क्षत्रियों के लिये संग्राम में प्राप्त हुई मृत्यु ही पारलौकिक पुण्यफल की प्राप्ति कराने वाली है। क्षत्रिय शिरोमणि! ऐसी अवस्था में आप तनिक भी शोक न कीजिये। युद्ध में मारे गये वे सभी वीर क्षत्रियधर्म के अनुसार शस्त्रों से पवित्र होकर परमगति को प्राप्त हो गये है।"[2] महर्षि शुक्र भी अर्जुन का समर्थन इन्हीं शब्दों में करते है।[3]

इन्द्ररूप धारी भगवान् विष्णु भी मान्धाता को रण में शरीर त्याग को ही श्रेष्ठ बताते हुये कहते है। "समस्त प्राणियों पर दया करने वाला राजा (क्षत्रिय) अपनी प्रजा की रक्षार्थ समर भूमि में प्राण भी त्याग दें तो यह उसके लिये सर्वश्रेष्ठ है। ऋषिमुनि त्याग को ही श्रेष्ठ बताते है। उसमे भी युद्ध भूमि मे क्षत्रिय लोग (राजालोग) जो अपने शरीर का त्याग करते है, वह सबसे श्रेष्ठ त्याग है।"[4]

महात्मा-भीष्म युधिष्ठिर को क्षत्रियों के लिये रणमृत्यु की श्रेष्ठता बताते हुये कहते है। "राजन्! क्षत्रिय को तो चाहिये कि अपने सजातीय बन्धुओं से घिर कर समरांगण में महान् संहार मचाता हुआ तीखे शस्त्रों से अत्यन्त पीड़ित होकर प्राणों का परित्याग करें, वह ऐसी ही मृत्यु के योग्य है। शूरवीर क्षत्रिय विजय की कामना और शत्रु के प्रति रोष से युक्त हो बड़े वेग से युद्ध करता हैं। शत्रुओं द्वारा क्षतविक्षत किये जाने वाले अपने अंगों की उसे सुधबुध नहीं रहती, वह युद्ध में लोकपूजित सर्वश्रेष्ठ मृत्यु एवं महान धर्म को पाकर इन्द्र लोक मे चला जाता है।"[5]

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारत के सभी प्रमुख पात्र रणमृत्यु की ही प्रशंसा करते है। अतः क्षत्रिय के लिये रणमृत्यु के समान परमगति अन्य नहीं गिनी जाती।

---

1. कर्ण प. × × पू. 93/55 गी.
2. शान्ति प. × × पू., 22/2-14, गी.
3. मुनिभिर्दीर्घतपसा प्राप्यते यत् पदं महत् ॥3॥
   युद्धाभिमुख निहतैःशूरैस्तद् द्रागवाप्यते। (शु. नी. 4/7 प्र./1)
4. शान्ति प. 65/2-3 पू., 65/2-3 गी.
5. शान्ति प. 98/28-30 पू., 97/28-30 गी.

(र) युद्ध–क्षात्रधर्म :—जैसा कि हम पहले कह आये हैं कि युद्ध करना क्षत्रिय धर्म का एक प्रमुख अंग है। युद्ध का क्षत्रिय के लिये कितना महत्त्व है इस विषय पर हम ऊपर उपांगों सहित विस्तृत प्रकाश डाल चुके हैं। अब हम इस विषय को सिद्ध करेंगे कि युद्ध करना किस प्रकार क्षात्रधर्म का एक प्रमुख प्राह्यांग है ?

वनवास के दु:खों से विह्वल होकर भीमसेन ने महाराज युधिष्ठिर को क्षत्रिय के सर्वश्रेष्ठ प्राह्यांग युद्ध के लिये इस प्रकार कहा "महाराज हम लोग बहुत दुःख पा चुके हैं आप अब शत्रुओं का वध करने का निश्चय कीजिये, क्योंकि समस्त क्षत्रियों के लिये युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई धर्म नहीं है।"[1]

वीरांगना विदुला भी अपने पुत्र संजय को युद्ध के पूर्व परम्परागत क्षात्रधर्म का अनिवार्य अंग बताती हुई कहती है "संजय युद्ध से हमारे पूर्वजों का अथवा मेरा कोई लाभ हो या हानि, युद्ध करना क्षत्रियों का अनिवार्य कर्म है, ऐसा समझकर उसी में मन लगा, युद्ध बन्द मत कर।"[2]

विदुला ही के समान माता कुन्ती भी अपने पुत्र युधिष्ठिर को युद्ध को क्षत्रिय का अनिवार्य कर्म बताती हुई श्री वासुदेव के द्वारा युद्ध करने हेतु इस प्रकार सन्देश भेजती है "पुत्र ब्रह्माजी ने तुम्हारे लिये जिस धर्म की सृष्टि की है, उसी पर दृष्टि-पात करो। उन्होने अपनी दोनो भुजाओं से क्षत्रियों को उत्पन्न किया है, अतः क्षत्रिय को बाहुबल से अर्थात् युद्ध से ही जीविका चलानी चाहिये। क्षत्रिय युद्ध-रूपी कठोर कर्म के लिये रचे गये हैं तथा सदा प्रजापालन रूपी धर्म मे प्रवृत्त होते हैं।[3]

माता कुन्ती तो क्षत्रिय की उत्पत्ति ही युद्ध हेतु मानती है। अतः युद्ध क्षत्रिय का जन्मजात कर्म है। राजा जो क्षत्रिय ही होगा यदि वह युद्ध करना नहीं जानता तो प्रजा की रक्षा किस प्रकार कर सकता है। अतः समाज की सुरक्षा और सुव्यवस्था हेतु क्षत्रिय को तो युद्ध प्रिय होना ही चाहिये। इसलिये युद्ध क्षत्रिय का प्राथमिक रूप से प्राह्यांग है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण युद्ध को स्वर्ग का खुला हुआ द्वार बताते हुये मोहग्रस्त अर्जुन से क्षत्रिय के लिये युद्ध की अनिवार्यता इस प्रकार प्रकट करते हैं "हे पार्थ !

---

1. वन प. 36/34 पू., 35/35 गी.
2. उ. प. 132/11 पू., 134/11 गी.
3. उ. प. 130/7–8 पू., 132/7–8 गी.

युद्ध क्षत्रिय का स्वाभाविक धर्म है अतः युद्ध को अपने धर्म के रूप में देखते हुये तुझे युद्ध से कम्पित नहीं होना चाहिये, क्योंकि धर्मयुद्ध से बढ़कर अन्य कर्म क्षत्रिय के लिये कल्याणकारी नही है। यदि तुम इस धर्मयुद्ध को नहीं करोगे तो महापाप के भागी बनोगे।"[1] इसलिये हे धनंजय ! तुम अपने धर्म (युद्ध) का अवश्य पालन करो। क्योंकि अपना धर्म दूसरों के धर्म से कम गुण वाला होते हुये भी श्रेष्ठ है। अपने धर्म का पालन करते हुये मर जाना भी कल्याणकारक है, दूसरे के धर्म का आश्रय भय का देने वाला होता है।"[2]

इस प्रकार पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के शब्दों में भी युद्ध क्षत्रिय का एक स्वाभाविक धर्म है, वह इस धर्म को चाहे तब भी छोड़ नही सकता और यदि क्षत्रिय होकर युद्ध से उपराम होता है तो वह महापाप का भागी होता है। अतः क्षत्रिय को युद्ध करना तो स्वीकार करना ही होगा, वह इससे बच नही सकता।

11. दस्युवध :—आज हम इन्दिरा गान्धी के राज्य में दस्युओं का प्राबल्य देखते है, किन्तु यह दस्यु प्रवृत्ति आज की ही नही, अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। इन्द्ररूपधारी भगवान् विष्णु से महाराज मान्धाता दस्यु नियन्त्रणविधि पूछते है, जिसका कि हम पहले विवेचन कर चुके है। भगवान् श्रीकृष्ण भी संजय को दस्युवध पुण्यकर्म बताते हैं और धार्तराष्ट्रो को दस्युओ की संज्ञा देते हुये कहते है "हे संजय क्षत्रियों (राजाओ) को लुटेरों का वध करने से पुण्य की प्राप्ति होती है। धार्तराष्ट्रों में यह लुटेरेपन का दोष तीव्र रूप से प्रकट हो गया है, जो अच्छा नहीं है। वे अधर्म के तो पूरे पण्डित है, किन्तु धर्म की बात बिल्कुल नहीं जानते। राजा धृतराष्ट्र अपने पुत्रो के साथ मिलकर सहसा पाण्डवों के धर्मतः प्राप्त उनके पैतृक राज्य का अपहरण करने को उतारू हो गये है। अन्य समस्त कौरव भी उन्ही का अनुसरण कर रहे है। वे प्राचीनधर्म की ओर नहीं देखते हैं। चोर छिपा रहकर धन चुरा ले जाय अथवा सामने आकर डाका डाले, दोनों ही दशाओ में वे चोर डाकू निन्दा के पात्र हैं। हे संजय ! तुम्ही कहो धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन और उन चोर डाकूओं में क्या अन्तर है ? अतः हे सूत ! इस राज्यसभा की प्राप्ति के लिये युद्ध करते हुये हम लोगों का वध भी हो जाय तो वह भी हमारे लिये स्पृहणीय है।"[3]

---

1. भीष्म प. 24/31–33 पू., 26/31–33 गी.
2. भीष्म प. 25/35 पू., 27/35 गी.
3. उ. प. 29/29–33 पू., 29/31–35 गी.

केशव के शब्दों से स्पष्ट है कि चोर लुटेरे कोई नीच जाति के ही नहीं होते अपितु अपने आचरणों से भ्रष्ट होकर उच्चकुलीन और उच्चवर्ण के व्यक्ति भी दस्यु बन जाते हैं जैसे भगवान् के ही शब्दों में धृतराष्ट्र के साथ सारे धार्तराष्ट्र एवं उनके अनुयायी दस्यु ही थे। दस्युओं को मार देना क्षत्रिय के लिये पुण्य कर्म माना जाता है इसलिये जनार्दन श्रीकृष्ण ने पाण्डवों के माध्यम से इन दस्युओं का विनाश कराकर पृथ्वी पर शान्ति की स्थापना करवाई।

महात्मा भीष्म भी श्रीकृष्ण-सम्मति का अनुमोदन करते हुये दस्युवध को क्षात्रधर्म का ग्राह्यांग बताते हुये कहते हैं "क्षत्रिय लुटेरों और डाकुओं का वध करने के लिये सदा तैय्यार रहे और रण भूमि में उनके साथ पराक्रम प्रकट करें।"[1]

इस प्रकार उपर्युक्त दोनों ही महापुरुषों के शब्दों में दस्युवध पुण्य होने के कारण क्षत्रिय के लिये आवश्यक धारणीयांग है।

12. धर्म और धनुष धारण :—ऊपर हम विस्तार के साथ बता चुके हैं कि युद्ध क्षत्रिय का अनिवार्य धर्म है और युद्ध के लिये शरीर के सुरक्षात्मक साधनों तथा आयुधों की परमावश्यकता है। अतः इन दोनों वस्तुओं को क्षत्रिय को सदैव धारण करना चाहिये। आनन्दकन्द श्रीकृष्ण तो वर्म और धनुष की उत्पत्ति दस्युओं के वध के लिये ही हुई है ऐसा संजय को बताते हुये कहते हैं "जब कोई क्रूर मनुष्य दूसरे की धनसम्पत्ति में लालच रखकर उसे ले लेने की इच्छा करता है और विधाता के कोप से परपीड़न के लिये सेना संग्रह करने लगता है, उस समय राजाओं के युद्ध का अवसर उपस्थित होता है। इस युद्ध के लिये ही कवच, अस्त्र-शस्त्र और धनुष का आविष्कार हुआ। स्वयं देवराज इन्द्र ने ऐसे लुटेरों का वध करने के लिये कवच, अस्त्रशस्त्र और धनुष का आविष्कार किया है।[2]

13. उद्यम पौरुष और अनतमस्तकता :—युद्ध के स्वाभाविक धर्म को धारण करने वाले क्षत्रिय उद्योगशील तो होना ही चाहियें, क्योंकि बिना उद्योग वह न शत्रुओं को मार सकता है, न राज्य, ऐश्वर्य और सुव्यवस्था ही प्राप्त कर सकता है। इसके साथ-साथ उसमें पौरुष अर्थात् पुरुषत्व, बल या शक्ति भी अवश्य होनी चाहिये। क्योंकि यदि क्षत्रिय बलशाली नहीं होगा तो किसी भी कार्य को

---

1. शान्ति प. 60/14 पू., 60/14 गी.
2. उ. प. 29/27–28 पू, 29/29–30 गी.

साध नहीं सकेगा। अतः उसके कर्म के साथ बल का समवाय सम्बन्ध है। इसके साथ ही साथ क्षत्रिय धर्म और विप्र को छोड़कर किसी के भी सामने न झुके अर्थात् अपनी पराजय स्वीकार न करें भले ही प्राण दे दे। इन्ही वातो को पुष्ट करती हुई अद्‌भुत क्षत्राणी माता विदुला अपने पुत्र संजय को कहती है "हे संजय ! इस जगत् में कोई भी क्षत्रिय उत्पन्न हुआ है और क्षत्रिय धर्म को जानने वाला है वह भय मे अथवा आजीविका की और दृष्टि रखकर भी किसी के सामने नतमस्तक नही हो सकता। सदा उद्यम करे, किसी के आगे शिर न झुकावे। उद्यम ही पुरुषार्थ है। असमय मे नष्ट भले ही हो जाय किन्तु किसी के आगे नतमस्तक न हो। संजय ! महामनस्वी क्षत्रिय मदमत्त हाथी के समान सर्वत्र निर्भय विचरण करे और सदा ब्राह्मणों तथा धर्म को ही नमस्कार करे। क्षत्रिय ससहाय हो अथवा असहाय वह अन्य वर्ण के लोगों को वश में रखता और समस्त पापियो को दण्ड देता हुआ जीवन भर वैसा ही उद्यमशील बना रहे।"[1]

14. सन्ध्योपासन :—'सन्ध्योपासन' द्विज मात्र का अनिवार्य कर्म है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य द्विज कहलाते हैं क्योकि इनका दो बार जन्म होता है, जैसा कि कहा जाता है "जन्मतो जायते शूद्रः संस्कारात् द्विवज उच्यते" जब तक उपर्युक्त वर्ण यज्ञोपवीत संस्कार से संस्कृत नही होते उन्हे सन्ध्यादि वैदिक कर्म करने का अधिकार नही होता। अतः क्षत्रियों के लिये सन्ध्योपासन अनिवार्य कर्म है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण महाभारत में मिलता है, धृतराष्ट्र के मन्त्री संजय महाराज धृतराष्ट्र को युद्धस्थल का वर्णन करते हुये कहते है "महाराज ! सूर्योदय के समय जब सभी सैनिक सन्ध्योपासन कर रहे थे, बिना बादल के ही पानी की बूँदो के साथ हवा चलने लगी उसके साथ मेघ की सी गर्जना भी होती थी।"[2]

महाभारत के महासंग्राम मे समस्त क्षत्रियगण ऐसे संलग्न थे कि भोजनपानी भी भूल चुके थे, किन्तु धर्मयुद्ध करने वाले क्षत्रिय अपने नित्य "सन्ध्योपासन" कर्म को नही भूले थे। सूर्योदय से पूर्व ही वे लोग रणक्षेत्र में ही सन्ध्या में संलग्न थे। इससे स्पष्ट है कि सन्ध्या क्षत्रिय का एक अनिवार्य धारणीय कर्म है प्राण भले ही छूट जावे, किन्तु वह इस नित्य कर्म का प्राण रहते हुये परित्याग नहीं कर सकता।

---

1. उ. प. 132/37–40 पू., 134/38–41 गी.
2. भीष्म प. 19/36 पू., 19/37 गी.

(ओ) क्षात्रधर्म के त्याज्य–अंग

1 युद्ध न करना :—जैसा कि हम पूर्व प्रसंग में यह बता आये हैं कि युद्ध करना क्षत्रिय का स्वभाव है यदि वह युद्ध नहीं करेगा तो अपने आपको क्षत्रिय कहलाने का अधिकार नहीं रखेगा। जगन्नियन्ता श्रीकृष्ण ने युद्ध न करने से माननीय शूरवीरों के लिये जो हानियाँ होती है उनका वर्णन गीता में बडे ही मार्मिक ढंग से किया है। आइये हम भी उन हानियों का एकैकशः अवलोकन कर लें।

(ट) अपयश :—क्षत्रिय का स्वभाव ही युद्ध करना है, यदि वह युद्ध में प्रवृत्त होता है या युद्ध में रुचि लेता है तो लोक में क्षत्रिय नाम से समादृत होता है और यदि युद्ध करने से डरता है तो उसे न पुरुष कहा जाता है और न स्त्री अपितु वह व्यर्थनाम वाला नपुसंक कहलाता है। अतः पुरुष होकर भी क्षत्रिय प्राण जाने के भय से डरकर यदि युद्ध न करे तो उसे महा अपयश की प्राप्ति होती है। भगवान् श्रीकृष्ण यही बात अर्जुन से कहते है "हे पार्थ! यदि तू युद्ध नही करेगा तो संसार के लोग तुझे युद्ध से उपराम हुआ कायर मानेंगे और तू कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगा। निश्चय ही सब लोग तेरी बहुत काल तक रहने वाली अपकीर्ति का कथन करेंगे और माननीय पुरुषों के लिये अपकीर्ति मरण से भी बढ़ कर है।"[1]

(ल) लघुत्व :—संसार में सुपूजित योद्धा जिसने कई बार युद्ध में शत्रुओं को परास्त किया है, वह यदि एक बार भी युद्ध करने से मना कर दे तो उसकी महानता को कलंक लग जाता है। लोग फिर उसे महान् न मानकर लघु मानने लग जाते है। जनार्दन श्रीकृष्ण भी अर्जुन को यही कहते है "हे पार्थ! तू जिनकी दृष्टि में पहले बहुत सम्मान पा चुका है वे ही लोग तुझे अब लघुता की दृष्टि से देखेंगे। निश्चय ही वे लोग बन्धुबान्धवों के रक्तपात को दोष न मानकर तुझे भय से युद्ध से हटा हुआ मानेंगे।

(ण) कल्याण, स्वर्ग और ऐश्वर्य से वंचित :—क्षत्रिय जब अपने युद्ध रूपी स्वधर्म से च्युत हो जाता है तो उसे कर्त्तव्यपालन न करने से पाप का भागी होना पड़ता है और पाप के कारण वह अपने उत्थान तथा कल्याण से वंचित हो जाता है, क्योंकि शुक्राचार्य के मत में युद्ध से पीछे हटने वाले–राजा एवं प्रवास से मुख मोड़ने वाला ब्राह्मण को पृथ्वी उसी भांति निगल जाती है, जिस भांति सर्प बिल

---

1. भीष्म प. 24/33–34 पू., 26/33–34 गी.

में रहने वाले मुसे आदि को निगल जाता है।"[1] क्षत्रिय यदि शत्रु से युद्ध करके विजय भी प्राप्त न करे और युद्ध में काम आ जाये तो उसे स्वर्ग में दिव्य लोकों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यदि वह शत्रु को न जीतकर युद्ध में लड़ता हुआ मरने भी नही जाता तो उसे वे स्वर्ग के दिव्य लोक नहीं मिल पाते। इसी प्रकार यदि क्षत्रिय युद्ध में मरता नहीं और शत्रु को परास्त कर विजय प्राप्त करता है तो उसे विजित भूमि का ऐश्वर्य, राजसुख और सम्मान मिलता है। यदि वह युद्ध करने नहीं जायेगा तो न तो युद्ध में मरेगा और न शत्रु पर विजय ही पा सकेगा, अतः स्वर्ग और राजसुख के ऐश्वर्य दोनों से ही वंचित हो जायेगा। इसी बात को समझाते हुये वासुदेव अर्जुन को कहते हैं "हे पार्थ! अपने युद्ध रूपी स्वधर्म को देखकर तुझे भयभीत नही होना चाहिये, क्योंकि क्षत्रिय के लिये युद्ध से बढ़कर कोई कल्याण-कारी कर्त्तव्य नही है। हे कौन्तेय! अपने आप प्राप्त हुये और खुले हुये स्वर्ग के द्वार रूप इस प्रकार के युद्ध को तो भाग्यवान् क्षत्रिय ही पाते हैं। युद्ध मे मारा जाकर तू या तो स्वर्ग को प्राप्त करेगा अथवा शत्रु को जीतकर पृथ्वी का राज्य भोगेगा। अतः तुझे युद्ध का निश्चय करके खड़ा हो जाना चाहिये।[2]

2. क्षात्र धर्मोल्लंघन :—युद्ध क्षात्रधर्म का प्रथमाग है। अतः युद्ध के नियमों का पालन करना क्षत्रिय के लिये युद्ध के समान ही महत्व रखता है। यदि क्षत्रिय युद्ध के नियमों का उल्लंघन करता है तो वह क्षात्रधर्म का ही उल्लघन है। सात्यकि द्वारा युद्ध के नियमों का उल्लंघन करने पर सोमदत्त सात्यकि की भर्त्सना करता हुआ कहता है "सात्वत! पूर्वकाल में महात्माओं तथा देवताओ ने जिस क्षत्रिय धर्म का साक्षात्कार किया है, उसे छोडकर तुम लुटेरों के धर्म मे कैसे प्रवृत्त हो गये? सात्यके! जो युद्ध से विमुख एवं दीन होकर हथियार डाल चुका हो, उस पर रणभूमि में क्षत्रिय-धर्म-परायण विद्वान पुरुष प्रहार कैसे कर सकता है? शैनेय! तुमने प्रख्यात वीर होकर भी (अर्जुन ने जिसकी बाँह काट डाली थी तथा जो आमरण (अनशन का निश्चय लेकर बैठा था) उस मेरे पुत्र पर वैसा क्षात्रधर्म पतन कारक क्रूर प्रहार क्यों किया?[3]

सोमदत्ति भूरिश्रवा का अर्जुन ने युद्धस्थल में सात्यकि की रक्षा के लिये एक हाथ काट डाला था जो युद्ध के नियमों के विरुद्ध था और इसी अनुचित कार्य से खिन्न होकर भूरिश्रवा युद्धस्थल में ही आमरण अनशन लेकर बैठ गया था। उस

1. शु. नी. 4/7 प्र./300–300 चौ. 4/7 प्र./302 चौ.
2. भीष्म प. 24/31–32, 37 पू, 26/31–32, 37 गी.
3. द्रोण प. 131/2–5 पू., 156/2–5 गी.

बैठे हुये निःशस्त्र भूरिश्रवा का शिर सात्यकि ने उड़ा दिया जो युद्ध के नियमों के बिल्कुल ही विरुद्ध था। जिसकी कि सोमदत्त ने उपर्युक्त रूप से भर्त्सना की। युद्ध के नियमों का उल्लंघन क्षात्रधर्म का ही उल्लघन है और ऐसा उल्लंघन क्षत्रिय के लिये गर्हित है अतः त्याज्य है।

इसी प्रकार का क्षात्रधर्म के विरुद्धाचरण धृष्टद्युम्न का है जिसकी अर्जुन तक ने घोर निन्दा की है। आचार्य द्रोण ने जब अश्वत्थामा के मृत्युशोकयुक्त समाचार को सुना तो अस्त्रशस्त्र त्याग कर समाधिस्थ हो गये। धृष्टद्युम्न ने अपने पितृवैर का स्मरण कर द्रोणाचार्य का शिर तलवार से काट डाला। यह समाचार जब अश्वत्थामा ने सुना तो प्रलयकारी बन कर उसने सिंह गर्जना की और अपने पिता की मृत्यु का प्रतिशोध लेने को उद्यत हुआ। उसकी भीषण गर्जना के विषय मे अश्वत्थामा का परिचय देते हुये अर्जुन ने द्रोण की धृष्टद्युम्न द्वारा की गई हत्या को सनातन धर्म (क्षात्रधर्म) के विरुद्ध बताते हुये युधिष्ठिर से कहा "पुत्रवत्सल गुरुदेव बेटे के शोक मे मग्न होकर युद्ध से विमुख हो गये थे। उस अवस्था में अपने सनातन धर्म (हमारे क्षात्रधर्म) की अवहेलना करके उन्हे मरवा डाला। एक तो वे ब्राह्मण, दूसरे वे वृद्ध और तीसरे अपने आचार्य थे। इसके अतिरिक्त उन्होने हथियार नीचे डाल दिये थे और महान् मुनिवृत्ति का आश्रय लेकर बैठे हुये थे। इस अवस्था में राज्य के लिये उनकी हत्या कराकर मैं जीने की अपेक्षा मर जाना ही अच्छा समझता हूं।"[1]

धनंजय की दृष्टि में द्रोण की हत्या क्षात्रधर्म का घोर उल्लंघन था क्योंकि उनकी हत्या की उपेक्षा तो वे प्राण त्यागने को श्रेष्ठ मानते हैं। अतः क्षत्रिय के लिये इस प्रकार का उल्लंघन निन्दनीय एवं त्याज्य है।

3. रणपलायन :—क्षत्रिय के लिये रण से पलायन अत्यन्त निन्दनीय माना गया है। मुकुन्द ने भी गीता के अठारहवें अध्याय में 'युद्धे चाप्यपलायिनम्' कहकर युद्ध से पलायन का क्षत्रय के लिये निषेध बताया है। इसी भाँति जब अर्जुन को साथ लेकर विराटपुत्र उत्तरकुमार, कौरवों से अपने गोसमूह को वापिस लौटाने हेतु युद्धस्थल मे जाता है, किन्तु कौरवों की विशाल सेना को देखकर भयभीत हो उठता है और रणस्थल से भाग उठता है, तब अर्जुन रणक्षेत्र से भागने की निन्दा करते हुये उत्तरकुमार को कहते है "राजकुमार! क्षत्रिय का युद्ध से भागना

---

1. द्रोण प. 167/37-51 पू., 169/39-53 गी.

शूरवीरो की दृष्टि मे धर्म नहीं है। युद्ध करके मर जाना अच्छा है, किन्तु भयभीत होकर भागना कदापि अच्छा नहो है।"[1]

इसी प्रकार जब महाराज युधिष्ठिर अपने पृष्ठ-रक्षक के कर्ण के द्वारा मार दिये जाने पर भयभीत होकर युद्धस्थल से हट जाते हैं तब कर्ण जोर जोर से हसता है और पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर की निन्दा करता हुआ कहता है "युधिष्ठिर! जो क्षत्रिय क्षत्रियकुल में उत्पन्न हो, क्षत्रिय धर्म मे तत्पर रहता हो, वह महासमर मे प्राणो की रक्षा के लिये भयभीत हो युद्ध छोड़कर भाग कैसे सकता है? मेरा तो ऐसा विश्वास है कि तुम क्षत्रिय धर्म में निपुण नहीं हो।"[2]

दुर्योधन भी युद्ध से भयभीत होकर भागने को उद्यत हुये योद्धाओ से रणपलायन की निन्दा करता हुआ कहता है "कौरव वीरों! क्षत्रिय के लिये युद्ध से पीठ दिखा कर भागने से बढ़कर दूसरा कोई महान् पाप नहीं हैं। अतः अपने पूर्वजों के द्वारा आचरण मे लाये हुये क्षत्रिय-धर्म का परित्याग न करो।"[3] यह मत महर्षि शुक्र के द्वारा भी मान्य है।[4]

उपर्युक्त सभी प्रधान महारथियों ने रणपलायन की निन्दा की है। अतः क्षत्रियों के लिये रणपलायन त्याज्य है।

4 गृहमृत्यु :-रण-पलायन के समान ही युद्ध चलते समय युद्ध में न जाकर घर पर मर जाना क्षत्रिय के लिये गर्हित माना गया है। क्षात्रधर्मतत्वज्ञ भीष्म घाव रहित घर पर मरने वाले क्षत्रिय की निन्दा करते हुये युधिष्ठिर को कहते हैं। "राजन्! खाट पर सो कर मरना क्षत्रिय के लिये अधर्म है। जो क्षत्रिय कफ और मलमूत्र त्याग करता हुआ दुःखी होकर विलाप के साथ बिना घायल हुये शरीर से मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, उसके इस कर्म की प्राचीन धर्मतत्वज्ञ प्रशसा नही करते हैं, क्योकि तात! वीर क्षत्रियों का घर मे मरण हो, यह उनके लिये प्रशंसा की बात नहीं है। वीरों के लिये कायरता और दीनता अधर्म की बात है। क्षत्रिय को चाहिये कि अपने सजातीय बन्धुओं से घिर कर समरागण मे महान् सहार मचाता हुआ तीखे शस्त्रों से अत्यन्त पीड़ित होकर प्राणों का परित्याग करे—वह ऐसी ही

---

1. विराट प. 36/26 पू. 38/29 गी.
2. कर्ण प. 33/36–37 पू, 49/54–55 गी.
3. कर्ण प. 193/58 गो. × × पू.
4. शु. नी. 4/7प्र./327–329

मृत्यु के योग्य है।[1] महर्षि शुक्र भी इस मत का समर्थन करते हैं।[2] भीष्म के शब्दों से यह स्पष्ट है कि क्षत्रिय के लिये गृहमृत्यु सर्वथा त्याज्य है।

5. भैक्ष्य और कृषि :—क्षत्रिय सिंह के समान अपने ही पराक्रम से प्राप्त वस्तु का उपभोग करने का अधिकारी है अतः भिक्षा और कृषि कर्म उसके लिये त्याज्य माने गये हैं। भीमसेन युधिष्ठिर को युद्ध के लिये उत्साहित करने हेतु त्याज्य धर्मों की निन्दा करते हुये कहते हैं "नरश्रेष्ठ! ब्राह्मण जिस याचना के द्वारा कार्य सिद्धि कर लेता है वह तो आप कर नहीं सकते, क्योंकि क्षत्रिय के लिये उसका निषेध है। क्षत्रिय के लिये न तो भीख माँगने का विधान है और न वैश्य और शूद्र की जीविका करने का ही।"[3] वीर पुत्र की वीरमाता कुन्ती भी भीम ही के मत को पुष्ट करती हुई युधिष्ठिर के लिये श्रीकृष्ण द्वारा सन्देश भेजती हुई कहती है "युधिष्ठिर तुम्हारे लिये भिक्षावृत्ति का तो सर्वथा निषेध है और खेती भी तुम्हारे योग्य नहीं है।"[4]

6. स्त्री पर प्रहार :—क्षत्रिय में पुरुषार्थ होता है और इसी कारण उसे पुरुष कहते हैं। जिसमें पुरुषत्व हो उसे चाहिये कि वह पुरुष से ही युद्ध सामना करे। स्त्री में बल पुरुषार्थ या पुरुषत्व की कमी होती है। अतः उसे अबला कहते हैं। सबल को अबल पर नहीं अपितु अपने ही समान बलशाली पर आक्रमण करना चाहिये क्योंकि उसके लिये समान बलवाले से सामना करना ही प्रशंसनीय है। अतः पुरुष के द्वारा अबला (स्त्री) पर प्रहार या आक्रमण करना क्षत्रिय के लिये त्याज्य है।

महात्मा भीष्म का यह व्रत था कि वे स्त्री पर कभी प्रहार नही करेंगे। क्षत्रिय-श्रेष्ठ भीष्म ने स्त्री पर ही नही अपितु पूर्व जन्म में स्त्री रहे हुये व्यक्ति पर भी प्रहार न करना अपने लिये उचित माना। अतः वे शिखण्डी को पूर्वजन्म की स्त्री बताकर उस पर प्रहार न करने के लिये दुर्योधन से कहते हैं "भरतश्रेष्ठ! *काशिराज की ज्येष्ठ पुत्री अम्बा ही द्रुपदकुल में शिखण्डी के रूप में उत्पन्न हुई है।* जब यह हाथ में धनुष लेकर युद्ध की इच्छा से मेरे सामने उपस्थित होगा, उस समय मैं मुहूर्तमात्र भी न इसकी ओर देखूँगा और न इस पर प्रहार ही करूँगा।

---

1. शान्ति प. 98/23–25, 28 पू., 98/23–25, 28 गी.
2. शु. नी. 4/7प्र./304–307
3. वन. प. 34/48–49 पू., 33/50–51 गी.
4. उ. प. 130/29 पू., 132/31 गी.

कौरवनन्दन ! इस भूमण्डल पर मेरा यह व्रत प्रसिद्ध है कि जो स्त्री हो, जो पहले स्त्री रहकर बाद में पुरुष हो गया हो, जिसका नाम स्त्री के समान हो तथा जिसका रूप वेशभूषा स्त्रियों के समान हो, उन सब पर मैं बाण नहीं छोड़ सकता।"[1]

7. शान्तिमार्ग :—क्रूरकर्म युद्ध क्षत्रिय का स्वाभाविक धर्म है। अतः क्रूरता के विपरीत शान्ति का मार्ग क्षत्रिय के लिये त्याज्य कहा गया है। माता कुन्ती युधिष्ठिर को युद्ध की प्रेरणा देती हुई श्रीकृष्ण से सन्देश कहलाती है "हे पुत्र तुम्हारे पिता, पितामहों ने जिनका पालन किया है, उन राजधर्मों की ओर ही देखो तुम जिस शान्तिमार्ग का आश्रय लेना चाहते हो, यह राजर्षियों का आचार अथवा राजधर्म नहीं है। जो सदा दयाभाव में ही स्थित है, विह्वल बना रहता है, ऐसे किसी भी पुरुष ने प्रजापालनजनित किसी पुण्यफल को कभी प्राप्त नहीं किया है।"[2]

क्षात्रधर्म के प्रवक्ता

महाभारत युद्ध क्षत्रिय वीरों का एक महान् युद्ध था, जिसका कि वर्णन विश्व के विशालतम ग्रन्थ 'महाभारत' मे किया गया और इसमें क्षात्रधर्म के अनेक वक्ता है। अतः अब हम उन वक्ताओं के विचारों को इस प्रकार से प्रस्तुत करते हैं।

1. हनुमान :—द्रौपदी की अभिलाषा पूर्ण करने के लिये भीमसेन जब सौगन्धिक शतदल को लेने के लिये हिमालय के ऊंचे मार्गो की ओर बढता है तो मार्ग में उसके अग्रज वायुनन्दन हनुमान उसे मिलते है। उनसे बहुत वार्तालाप होने के अनन्तर भीम की इच्छानुसार क्षात्रधर्म पर प्रकाश डालते हुये भी हनुमान ने कहा "हे कुन्तीनन्दन ! वेदत्रयी वार्ता (कृषि, वाणिज्य आदि) और दण्डनीति ये विद्यायें है, किन्तु क्षत्रिय के लिये तो केवल दण्डनीति की जीविकावृत्ति बताई गई है। हे कौन्तेय ! सबकी रक्षा करना ही क्षात्र-धर्म है। जब राजा निग्रह और अनुग्रह के द्वारा प्रजावर्ग के साथ यथोचित व्यवहार करता है, तभी लोक की सम्पूर्ण मर्यादाएँ सुरक्षित होती है। इसलिये वह देश और दुर्ग में अपने शत्रु और मित्रो के सैनिकों की स्थिति, वृद्धि और क्षय का गुप्तचरों द्वारा सदा पता लगाता रहे। साम, दान, दण्ड भेद ये चार उपाय तथा गुप्तचर, उत्तमबुद्धि, सुरक्षित-

---

1. उ. प. 193/60–63 पू., 192/64–67 गी.
2. उ. प. 130/20–21 पू., 132/21–22 गी.

मन्त्रणा, पराक्रम और चातुर्य—ये राजाओं के लिये कार्य-सिद्धि के साधन है। इस लोक में निग्रह (दण्ड) अनुग्रह (कृपा) के यथोचित प्रयोग से क्षत्रिय स्वर्ग लोक में जाता है। जिनके द्वारा दण्डनीति का उचित रीति से प्रयोग किया गया है, जो रागद्वेष से रहित, लोभशून्य तथा क्रोधहीन हैं, वे क्षत्रिय सत्पुरुषो को प्राप्त होने वाले लोकों मे जाते हैं।[1] मनु* और याज्ञवल्य** ने भी प्रजापालन को क्षत्रिय का कृत्य बतलाया है।

2. वासुदेव :—महाभारत के महायुद्ध को टालने के लिये धृतराष्ट्र के द्वारा भेजे हुये संजय ने पाण्डवों के पास आकर उनका सन्देश कहा। संजय जब जाने लगे तो भगवान् श्रीवासुदेव ने क्षात्रधर्म पर प्रकाश डालते हुये बताया कि पाण्डवों ने क्षात्रधर्म का पालन किया है और अब भी पालन करने को तैय्यार हैं। "हे संजय ! क्षत्रिय स्वाध्याय, यज्ञ और दान करे किसी से किसी भी वस्तु की याचना न करे। वह न तो दूसरों का यज्ञ करावे और न अध्यापन का ही कार्य करे। यही धर्मशास्त्र में क्षत्रियों का प्राचीन-धर्म बताया गया है। इसके अतिरिक्त क्षत्रिय-धर्म के अनुसार सावधान होकर प्रजाजनों की रक्षा करें, दान दे, यज्ञ करें, सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करके विवाह करे और पुण्यकर्मों का अनुष्ठान करता हुआ गृहस्थाश्रम में रहे। इस प्रकार धर्मात्मा क्षत्रिय धर्म एवं पुण्य का सम्पादन करके अपनी इच्छा के अनुसार ब्रह्मलोक को जाता है। राजा सावधानी से समस्त वर्णों का पालन करते हुये सबको अपने-अपने धर्मों में लगाये। वह काम भोगों में आसक्त न होकर समस्त प्रजाओं के साथ समान भाव से व्यवहार करें और पापपूर्ण इच्छाओं का कदापि अनुसरण न करें। यदि राजा को यह ज्ञान हो जाय कि उसके राज्य में कोई सर्वधर्मसम्पन्न श्रेष्ठपुरुष निवास करता है तो वह उसी को प्रजा के गुण-दोष का निरीक्षण करने के लिये नियुक्त करे तथा उसके द्वारा पता लगावे कि मेरे राज्य में कोई पापकर्म करने वाला तो नही है।"[2] म. म. काणे के द्वारा राजधर्मकाण्ड*** से उद्धृत एक वचन के अनुसार प्रजापालन राजा का

---

1. वन प. 49/31, 37, 39–41, 52 पू., 50/31, 37, 39–41, 52 गी.

* प्रजायां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥ (मनु. स्मृ. 1/89)

**प्रधानं क्षत्रिये कर्म प्रजाना परिपालनम्॥ (या. स्मृ. 1/119)

2. उ. प. 29/21–22, 25–26, पू., 29/23–24, 27–28 गी.

***बलेन चतुरंगेण, यतो रंजयति प्रजाः।
दीप्यमानः स वपुषा, तेन राजाऽभिधीयते॥
(हिस्ट्री ऑफ धर्म शास्त्र भाग 3 पृष्ठ 28)

प्रधान धर्म है क्योंकि प्रकृति रंजन के कारण ही वह राजा कहलाता है। देवकीनन्दन युधिष्ठिर से शमभाव को त्यागकर युद्ध करने के लिये तैय्यार होने हेतु कहते हुये युद्ध को क्षात्रधर्म बताते हैं "महराज शमभाव या याचकवृत्ति क्षत्रिय का नैष्ठिक (स्वाभाविक) कर्म नहीं है। सभी आश्रम के श्रेष्ठ पुरुषों का यह कथन है कि क्षत्रिय को भीख नहीं माँगनी चाहिये। उसके लिये विधाता ने यही सनातन कर्त्तव्य बताया है कि वह संग्राम में विजय प्राप्त करे अथवा वहीं प्राण दे दे। यही क्षत्रिय का स्वधर्म है। दीनता अथवा कायरता उसके लिये प्रशंसा की वस्तु नही है।"[1]

3. महर्षि व्यास :—महर्षि व्यास ने युधिष्ठिर को क्षात्रधर्म का उपदेश देते हुये कहा "प्रजानाथ! यद्यपि आप क्षात्रधर्म के ज्ञाता हो किन्तु फिर भी ध्यान दिलाने के लिये क्षात्रधर्म को कहता हूँ। यह, विद्याभ्यास, शत्रुओं पर चढ़ाई करना राजलक्ष्मी की प्राप्ति से कभी संतुष्ट न होना, दुष्टो को दण्ड देने के लिये उद्यत रहना, समस्त वेदों का ज्ञान प्राप्त करना, तप, सदाचार, अधिक द्रव्योपार्जन और सत्पात्रो को दानदेना—ये सब राजाओं के कर्म है, जो सुन्दर ढंग से किये जाने पर उनके इहलोक और परलोक दोनों को सफल बनाते है, ऐसा हमने सुना है।"[2] महर्षि शुक्राचार्य भी व्यास के मत को पुष्ट करते हैं।*

4 इन्द्ररूप धारी विष्णु :—महाराज मान्धाता नाम के एक प्रसिद्ध पराक्रमी पृथ्वीपालक नरेश हुये थे, जिन्होने भगवान् नारायण देव के दर्शन की इच्छा

---

1. उ. प. 71/3–5 पू, 73/3–5 गी.
2. शान्ति प. 23/9–12 पू, 23/9–12 गी.

* (1) नृपस्य परमो धर्मः प्रजाना परिपालनम्।
दुष्टनिग्रहणं नित्यं न नीत्या ते बिना ह्युभे॥ (शु. नी. सा. 1/14)

(2) यौवनं जीवितं चित्तं छाया लक्ष्मीश्च स्वामिता।
चंचलानि षडेतानि ज्ञात्वा धर्मरतो भवेत्॥
अदानेनापि–मानेन छलाच्च कटुवाच्यतः।
राज्ञः प्रबलदण्डेन नृपं मुंचति वै प्रजा॥
अतिभीत मतिदीर्घसूत्र चाति प्रमादिनम्।
व्यसनाद्विषयाक्रान्तं न भजन्ति नृपं प्रजाः॥ (शु. नी. 1/138–140)

(3) दुष्टनिग्रहणं दानं प्रजायाः परिपालनम्।
यजनं राजसूयादेः कोशानां न्यायतोऽर्जनम्॥
करदीकरणं राज्ञां रिपूणां परिमर्दनम्।
भूमेरुपार्जनं भूयो राजवृत्तं तु चाष्टधा॥ (शु.नी. 1/123–124चौ.)

से एक यज्ञ का अनुष्ठान किया। उन्होंने इन्द्ररूप में भगवान् विष्णु के आने पर उनसे आदि धर्म की प्रवृत्ति और स्वरूप के विषय में पूछा तब इन्द्ररूपधारी भगवान् विष्णु ने क्षात्रधर्म की महत्ता बताते हुये उस पर इस प्रकार से प्रकाश डाला "राजन्! राजधर्म ही भगवान् विष्णु से सर्वप्रथम प्रवृत्त हुआ है। अन्य सभी धर्म उसी के अंग हैं और उसके बाद प्रकट हुये हैं। युद्ध में अपने शरीर की आहुति देना, समस्त प्राणियों पर दया करना, लोक-व्यवहार का ज्ञान प्राप्त करना, प्रजा की रक्षा करना, विषादग्रस्त एवं पीडित मनुष्यों को दुःख और कष्ट से छुड़ाना—ये सब बातें राजाओं के क्षात्रधर्म में ही विद्यमान् हैं। राजाओं के राजधर्म के द्वारा पुत्र की भाँति पालित होने वाले जगत् के सम्पूर्ण प्राणी निर्भय विचरते हैं, इसमें संशय नहीं है। अतः संसार में क्षात्रधर्म ही सब धर्मों में श्रेष्ठ सनातन, नित्य, अविनाशी और मोक्षतक पहुँचाने वाला सर्वतोमुखी है।"[1]

राजा पृथ्वी का संस्कार करावे, राजसूयाश्वमेधादि यज्ञों में अवभृथस्नान करे, भिक्षा का आश्रय न ले, प्रजापालन करे और संग्राम भूमि में, शरीर को त्याग दे। समस्त वर्णों में स्थित हुये जो ये धर्म हैं, उन्हें क्षत्रियों को उन्नति के शिखर पर पहुँचाना चाहिये, यही क्षत्रिय धर्म है।[2] महर्षि याज्ञल्क्य* और राजर्षि मनु** भी सब वर्णों की रक्षा करना राजा का परम कर्त्तव्य बताते हैं।

5. **भीष्म** :—क्षात्रधर्म तत्वज्ञ वृद्ध भीष्म पितामह ने महाराज युधिष्ठिर को क्षात्रधर्म बताते हुये कहा "राजन्! क्षत्रिय का जो वास्तविक धर्म है वह तुम्हें बता रहा हूँ। क्षत्रिय दान करें, किन्तु किसी से याचना न करें, स्वयं यज्ञ करे किन्तु पुरोहित बनकर दूसरों का यज्ञ न करावे, प्रजाजनों का सब प्रकार से पालन करता रहे। लुटेरों और डाकुओं का वध करने के लिये सदा तैयार रहे। रणभूमि में पराक्रम प्रकट करे। युद्ध क्षत्रियो के लिये प्रधान मार्ग बताया गया है। राजा दूसरा

---

1. शान्ति प. 64/20, 26–29 पू., 64/21, 27–30 गी.
2. शान्ति प. 65/2, 12 पू.. 65/2, 12 गी.

* कुलानि जातीः श्रेणीश्च गणान् जानपदानपि।
स्वधर्मात् पतितान् राजा विनीय स्थापयेत्पथि॥ (सा. समृ 1/361)

** स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः
चतुर्वर्णाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः॥ (म. समृ 7/17)

कर्म करे या न करे प्रजा की रक्षा करने मात्र से वह कृतकृत्य* हो जाता है।[1] हे राजन्! पापियों को दण्ड** देने और सत्पुरुषों को आदरपूर्वक अपनाने से तथा यज्ञों*** का अनुष्ठान और दान× करने से राजा सब प्रकार के दोषों से छूटकर निर्मल एवं शुद्ध हो जाता है। जो राजा विजय की कामना रखकर युद्ध के समय प्राणियों को कष्ट पहुँचाता है तब वह विजय प्राप्त कर लेने के बाद पुनः सारी प्रजा की उन्नति करता है। राजा दान यज्ञ और तप के प्रभाव से अपने सारे पाप

---

* भवभूति के राम भी 'उत्तर रामचरितम्' में लोकाराधन को अपने लिये सर्वोत्कृष्ट बतलाते हुये कहते है—

स्नेहं दयाच सौख्यंच यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकानां मुंचतो नास्ति मे व्यथा॥ (उ. च. 1/12)

1. शान्ति प. 80/13–14, 17–20 पू., 60/13–14, 17–20 गी.

** दण्ड के विषय में अनेक भारतीय ग्रन्थों में बाहुल्य से इस प्रकार वर्णन उपलब्ध होता है—

(1) आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेति······ चतस्त्र एव विद्याः इति, कौटिल्यः। (अ. शा. पृ. सं. 90 (चौखम्बा))

(2) यदि ते तु न तिष्ठेयुः उपायैः प्रथमैः त्रिभिः।
दण्डेनैव प्रसह्यैतान् शनकैः वशमानयेत्॥ (मत्स्य पु. 7/108)
न शक्या ये वशे कर्तुमुपायैत्रितयेन तु।
दण्डेनैतान् वशीकुर्यात् दण्डो हि वशकृन्नृणाम्॥ (मत्स्य पु. 224/1)

(3) दण्डो दमनादित्माहुः तेनादान्तान्दमयेत्।
(गौतम-धर्म-सूत्र 11/128)

(4) वसूनि वांछन्न वशी न मन्युना स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः।
गुरुपदिष्टेन रिपो सुतेऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम्॥
(किरात. 1/13)

*** मीमांसादर्शन के अवेष्ठ्याधिकरण में—'राजा राजसूयेन स्वराज्य कामो यजेत' कहकर तथा अवेष्टो यज्ञसयोगात्क्रतुप्रधानमुच्यते के द्वारा राजा के लिये यज्ञ को प्रधान विषय बताया है।
(पूर्व मीमांसा द. 2/313)

× मत्स्य पुराण में भी दान को सर्वोत्कृष्ट उपाय बताते हुये कहा है—
सर्वेषामुपायाना दानं श्रेष्ठतमं मतम्।
सुदत्तेनेह भवति दानेनोभय-लोकजिद्॥ (मत्स्य पुराण 223/1)

नष्ट कर डालता है, फिर तो प्राणियों पर अनुग्रह करने के लिये उसके पुण्य की वृद्धि होती है। जो राजा समस्त प्रजा को धनक्षय, प्राणनाश और दुःखों से बचाता है, लुटेरों से रक्षा करके जीवनदान देता है, वह प्रजा के लिये धन और सुख देने वाला परमेश्वर माना गया है। ब्राह्मणों की रक्षा का अवसर आने पर जो आगे बढ़कर शत्रुओं के साथ युद्ध छेड़ देता है और अपने शरीर को यूप की भांति निछावर कर देता है उसका वह त्याग अनन्त दक्षिणाओं से युक्त यज्ञ के ही तुल्य है जो निर्भय होकर शत्रुओं पर बाणों की वर्षा करता और स्वयं भी बाणों का आघात सहता है, उस क्षत्रिय के लिये उस कर्म से बढ़कर देवता लोग इस भूतल पर दूसरा कोई कल्याणकारी कार्य नहीं देखते हैं। युद्ध में उस वीर योद्धा की त्वचा को जितने शस्त्र विदीर्ण करते हैं, उतने ही सर्वकामनापूरक लोक उसे प्राप्त होते है। समर भूमि में उसके शरीर में जैसे रक्त बहता है, उस रक्त के साथ ही वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है। युद्ध में बाणों से पीड़ित हुआ क्षत्रिय जो-जो दुःख सहता है, उस-उस कष्ट के द्वारा उसके तप की ही उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, ऐसी धर्मज्ञ पुरुषों की मान्यता है। शूरवीर शत्रु के सम्मुख वेग से आगे बढ़ता है और भीरु पुरुष पीठ दिखाकर भागने लगता है। जो सहायकों को छोड़कर अपने प्राण बचाने की इच्छा रखता है ऐसे कायर को उसके साथी क्षत्रिय लाठी या ढेलों से पीटें अथवा घास के ढेर की आग में जलादें या उसे पशु की भांति गला घोटकर मार डाले।"[1]

महात्मा भीष्म ने महाराज अम्बरीष और इन्द्र के संवाद को सुनाते हुये युधिष्ठिर को इन्द्र द्वारा बताया गया क्षात्रधर्म का तत्व इस प्रकार बताया "हे राजन्! जो योद्धा भयभीत हो पीठ दिखाकर भागता है और उसी अवस्था में शत्रुओं द्वारा मारा जाता है वह कहीं भी नही ठहर कर सीधा नरक में गिरता है इसमें संशय नही। जिसके रक्त के वेग से केश, मांस और हड्डियों से भरी हुई रण-यज्ञ की वेदी आप्लावित हो उठती है वह वीर योद्धा परमगति को प्राप्त होता है। जो योद्धा शत्रु के सेनापति का वध करके उसके रथ पर आरूढ़ हो जाता है वह भगवान् विष्णु के समान पराक्रमशाली बृहस्पति के समान बुद्धिमान् तथा शक्तिशाली वीर समझा जाता है। जो शत्रुपक्ष के सेनापति, उसके पुत्र अथवा उस पक्ष के किसी सम्मानित वीर को जीते जी पकड़ लेता है, उसको उच्च लोक प्राप्त होते है। युद्ध स्थल में मारे गये शूरवीर के लिये किसी प्रकार भी शोक नहीं करना चाहिये। वह मारा गया शूरवीर स्वर्गलोक में प्रतिष्ठित होता है अतः कदापि सोच-

---

1. शान्ति प. 98/3-5, 8-14, 19-22 पू.
   ,, ,, 97/3-5, 8-14, 19-22 गी.

नीय नहीं है। युद्ध में मारे गये वीर के लिये उसके आत्मीयजन न तो स्नान करना चाहते है न अशोचसम्बन्धी कृत्य का पालन, न अन्नदान (श्राद्ध) करने की इच्छा करते हैं और न जलदान (तर्पण) करने की। उसे जो लोक प्राप्त होते हैं उन्हें मुझ से सुनो। युद्ध स्थल मे मारे गये शूरवीर की ओर सहस्त्रों सुन्दरी अप्सरायें आशा लेकर बडी उतावली की के साथ दौड़ी आती हैं कि वह उसका पति हो जाय। जो युद्ध धर्म का निरन्तर पालन करता है उसके लिये यही तपस्या पुण्य, सनातन धर्म तथा चारों आश्रमो के नियमों का पालन है।"[1]

6. द्रोण :—महात्मा भीष्म के कथन का समर्थन आचार्य द्रोण के द्वारा भी किया गया हैं अतः अर्जुन के द्वारा की गई जयद्रथवध की प्रतिज्ञा से भयभीत जयद्रथ को उन्होने क्षात्रधर्म का इस प्रकार उपदेश दिया "हे वत्स! जब तक मैं तुम्हारी रक्षा करता हूँ तब तक तुम्हे अर्जुन से डरना नहीं चाहिये। मैं ऐसे व्यूह की रचना करूंगा कि पार्थ उसे पार नहीं कर सकेगा। इसलिये भय को छोड़कर तुम अपने धर्म का पालन करो। हे महारथी! तुम अपने पिता और पितामहों का मार्ग मत छोड़ो क्योकि तपस्वी लोग तपस्या कर जिन लोकों को प्राप्त करते हैं क्षात्रधर्म के आश्रित क्षत्रिय वीर उन लोको को अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं।"[2]

7. विदुर :—नीतिज्ञ विदुर ने महाराज धृतराष्ट्र को इस प्रकार से क्षात्रधर्म बताया "राजा वृक्ष की भांति अच्छी तरह फूलने (प्रसन्न रहने) पर भी फल से खाली रहे (अधिक देने वाला न हो)। यदि फल से युक्त हों तो भी जिस पर चढ़ा न जा सके, ऐसा (पहुँच के बाहर) होकर रहे। कच्चा (कम शक्ति वाला) होने पर भी, पके (शक्ति सम्पन्न) की भांति अपने को प्रकट करे। ऐसा करने से वह नष्ट नहीं होता। जो राजा नेत्र मन, वाणी, और कर्म—इन चारों से प्रजा को प्रसन्न करता है उसी से प्रजा प्रसन्न रहती है। अन्याय मे स्थित हुआ राजा पूर्वजों का राज्य पाकर भी अपने कर्मों से इस प्रकार भ्रष्ट कर देता है जैसे हवा बादल को छिन्न-भिन्न कर देती है। परम्परा से सज्जन पुरुषो द्वारा किये हुये धर्म का आचरण करने वाले राजा के राज्य की पृथ्वी धन-धान्य से पूर्ण होकर उन्नति को प्राप्त होती है और उसके ऐश्वर्य को बढ़ाती है। जो राजा धर्म को छोड़ता और अधर्म का अनुष्ठान करता है, उसकी राज्य-भूमि आग पर रखे हुये चमड़े की भांति सकुचित हो जाती है। दूसरे राष्ट्रों का नाश करने के लिये जिस प्रकार का प्रयत्न किया जाता है उसी प्रकार की तत्परता अपने राज्य की रक्षा के लिये करनी

---

1 शान्ति प. 99/39–46 पू., 9अ/40–47 गी.

2. द्रोण प. 52/21–23, 31 पू., 74/26, 28, 33 गी.

चाहिये। धर्म से ही राज्य प्राप्त करे और धर्म से ही उसकी रक्षा करे, क्योंकि धर्ममूलक राज्यलक्ष्मी को पाकर न तो राजा उसे छोड़ता है और न वही राजा को छोड़ती है जैसे गायें गन्ध से ब्राह्मण लोग वेदों से, अन्य आँखों से देखते हैं उसी प्रकार राजा गुप्तचरों से देखे। जैसे पशुओं का स्वामी मेघ, ब्राह्मणों के बान्धव वेद, स्त्रियों के बन्धु (रक्षक) पति होते हैं उसी प्रकार राजाओं के बन्धु (रक्षक) मन्त्री होते हैं।[1]

दण्डादि नीतियों का सहारा लेकर प्रजापालन से प्रजा में सुव्यवस्था रहती है जहाँ सुव्यवस्था रहेगी वहाँ राज्य की उन्नति स्वतः होने लगती है। जो राजा सज्जनों की परम्परा से राज्यपालन करता है उसका राज्य ऐश्वर्य से सम्पन्न होकर वृद्धि को प्राप्त हो जाता है। इस विषय में याज्ञवल्क्य,* मनु,* कालिदास और चाणक्य% भी ऐसा ही कहते है।

8. कुन्ती :—देवकीनन्दन श्रीकृष्ण कौरवसभा की घटना का वृत्तान्त कुन्ती को सुनाकर जब पुनः हस्तिनापुर लौटने लगे तब माता कुन्ती ने युधिष्ठिर को क्षात्रधर्म पर आरूढ होने के लिये श्रीकृष्ण द्वारा इस प्रकार क्षात्रधर्म बताया "हे वत्स ! यदि राजा धर्मपालन करता है तो उसे देवत्व की प्राप्ति होती है और यदि वह अधर्म का आचरण करता है तो नरक में ही पड़ता है। राजा की दण्डनीति यदि उसके द्वारा स्वधर्म के अनुसार प्रयुक्त हुई तो वह चारों वर्णों को नियन्त्रण में रखती और अधर्म से निवृत्त करती है। यदि राजा दण्डनीति के प्रयोग में पूर्णतः न्याय से काम लेता है तो जगत् में सत्ययुग नामक उत्तम काल आ जाता है। राजा का कारण काल है या काल का कारण राजा, ऐसा सन्देह न करो क्योंकि राजा ही काल का कारण होता है। अपने सत्कर्मों के द्वारा सत्ययुग उपस्थित करने के कारण राजा को अक्षय स्वर्ग की प्राप्ति होती है, त्रेता की प्रवृत्ति करने से भी उसे स्वर्ग की प्राप्ति होती है, किन्तु वह अक्षय नहीं होता। द्वापर उपस्थित करने से उसे

---

1. उ. प. 34/24–31, 34, 37 पू., 34/24–31, 34, 38 गी.

*पालितं वर्धयेन्नीत्या–(या. स्मृ. 1/317)

**रक्षितं वर्धयेद्–वृद्ध्या (म. स्मृ. 7/101)

XXयस्मिन् मही शासति वाणिनीनां, निद्रा विहारार्ध–पथे गतानाम्।
वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम् (रघुवंश 6/75).

% अलब्ध-लाभार्था-लब्ध-परिरक्षणी रक्षित विवर्धनी वृद्धस्य तीर्थेषु प्रति...
(अर्थशा. पृ. 15 चौ.)

यथाभाग पुण्य ग्रौर पाप का फल प्राप्त होता है, किन्तु कलियुग की प्रवृत्ति करने से राजा को अत्यन्त पाप (कष्ट) भोगना पड़ता है। हे पुत्र ! भूतल पर विचरने वाले भूखे मानव जहाँ दानपति क्षत्रिय के समीप जाकर अन्न-दान से पूर्णतः सन्तुष्ट हो अपने घर को जाते हैं, वहाँ उससे बढ़कर दूसरा धर्म क्या हो सकता है। धार्मिक राजा राज्य पाकर किसी को दान से, किसी को बल से ग्रौर किसी को मधुरवाणी द्वारा सन्तुष्ट करे। इस प्रकार सब ग्रोर से आये हुये लोगों को दान-मान आदि से सन्तुष्ट करके अपनाले। हे युधिष्ठिर ! तुम बाहुवीर्योपजीवी क्षत्रिय हो। अतः राजधर्म के अनुसार युद्ध करो। कृपण बनकर अपने पूर्वजों का नाम मत डुबोग्रो तथा भाईयों सहित क्षीणपुण्य होकर पापमयी गति को न प्राप्त होग्रो।"[1] राष्ट्र वृद्धि के लिये मनु* भी उपयुक्त दण्डनीति की प्रशंसा करते है। कल्लूक भट्ट% भी फलातिशय के कारण दण्ड को प्रशस्ततर बताते है।

9. कृपाचार्य :—दुर्योधन को क्षात्रधर्म बताते हुये कृपाचार्य ने कहा "राजेन्द्र ! क्षत्रियशिरोमणे ! युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी मार्ग नहीं है, जिसका आश्रय लेकर क्षत्रिय लोग युद्ध मे तत्पर रहते हैं। क्षत्रिय धर्म से जीवन निर्वाह करने वाले पुरुष के लिये पुत्र, भ्राता, पिता, भानजा, मामा सम्बन्धी तथा बन्धुबान्धव इन सबके साथ युद्ध करना कर्त्तव्य है। युद्ध में शत्रु को मारना या उसके हाथ से मारा जाना दोनों ही उत्तमधर्म है ग्रौर युद्ध से भागने पर महान् पाप होता है। सभी क्षत्रिय जीवन निर्वाह की इच्छा रखते हुये उसी घोर जीविका का आश्रय लेते हैं।"[2]

10. धृष्टद्युम्न :—निशस्त्र एवं समाधिस्थ द्रोणाचार्य को मार देने पर अर्जुन ने धृष्टद्युम्न की जब निन्दा की तब धृष्टद्युम्न ने अपने कर्म को क्षात्र-धर्म के अनुसार उचित ठहराते हुये कहा "अर्जुन सुनने मे आया है कि शत्रुग्रों का वध न करना भी अधर्म ही है। क्षत्रिय के लिये तो यह धर्म ही है कि वह युद्ध मे शत्रुग्रों को मार डाले या फिर स्वयं उसके हाथ से मारा जाय% पाण्डुनन्दन ! द्रोणाचार्य

---

1. उ. प. 130/13–19, 28–29, 31–32 पू., –
   132/13–19, 28–29, 31–34 गी.

*समादीनामुपायानां चतुर्णामपि पण्डिताः।
सामदण्डौ प्रशसन्ति नित्यं राष्ट्रभिवृद्धये ॥ (म. स्मृ. 7/109)

%सामनि–प्रयास–धनव्यय–सैन्य–पक्ष्यादि दोषाभ्भावात् दण्डेतु तत्सद्भावेऽपि कार्य सिद्धयतिशयात्।। (कुल्लूक भट्ट म. स्मृ. 7/109)

2. शल्य प. 3/10–12 पू., 4/8–10 गी.

मेरे शत्रु थे अतः मैंने युद्ध में धर्म के अनुसार ही उनका वध किया है। ठीक उसी भाँति, जैसे तुमने अपने पिता के प्रिय मित्र शूरवीर भगदत्त का वध किया था। तुम युद्ध में पितामह को मारकर भी अपने लिये तो धर्म मानते हो, किन्तु मेरे द्वारा एक पापी शत्रु के मारे जाने पर भी इस कार्य को धर्म नही समझते इसका क्या कारण है ? पार्थ ! मेरा आपके साथ सम्बन्ध होने के कारण मैं आपके सामने नत-मस्तक होता हूँ अतः आपको मेरे प्रति ऐसी बातें नही कहनी चाहिये।"[1]

11. अर्जुन :—अश्वमेध यज्ञ के समय जब धनंजय दिग्विजय हेतु मणिपुर प्रदेश को प्राप्त हुये तब उनका पुत्र चित्रांगदाकुमार बभ्रुवाहन उपायन रूप मे बहुत सी वस्तुयें लेकर उनके सामने समर्पित करने एवं अधीनता स्वीकार करने आया। यह स्वागत एवं अधीनता क्षत्रियों के लिये अनुचित थी। अतः अर्जुन ने क्षात्रधर्म पर प्रकाश डालते हुये बभ्रुवाहन को इस प्रकार युद्ध के लिये प्रेरित किया "हे पुत्र ! यह प्रक्रिया तुम्हारे लिये उपयुक्त नही है। इससे तो तुम क्षात्रधर्म से बहिष्कृत जान पड़ते हो। हे वत्स ! मैं महाराज युधिष्ठिर के यज्ञ सम्बन्धी अश्व की रक्षा करता हुआ तुम्हारे राज्य के अन्दर आया हूँ फिर तुम मुझ से युद्ध क्यो नही करते हो। तुझ दुर्बुद्धि को धिक्कार है, तू निश्चय ही क्षत्रियधर्म से भ्रष्ट हो हो गये हो क्योकि युद्ध के लिये आये हुये मेरा स्वागत-सत्कार तुम सामनीति से कर रहे हो। तुमने संसार मे जीवित रहकर भी कोई पुरुषार्थ नहीं किया, तभी तो एक स्त्री की भाँति तुम यहाँ युद्ध के लिये आये हुये मुझसे शान्तिपूर्वक साथ लेने के लिये चेष्टा कर रहे हो। दुर्बुद्धे ! नराधम ! यदि मैं हथियार रखकर खाली हाथ तेरे पास आता तो इस ढंग से मिलना ठीक हो सकता था।"[2] अर्जुन द्वारा कथित क्षात्र-धर्म पर आरुढ़ होकर बभ्रुवाहन ने इतना भयंकर युद्ध किया कि त्रिलोकी में अजेय धनंजय को परास्त कर रणभूमि में सुला दिया और स्वयं भी शोक से मूछित होकर गिर पड़ा। फिर नागकन्या उलूपी द्वारा अर्जुन संजीवनीमणि से पुनः जीवित किये गये।

12. दुर्योधन—भीमसेन के आक्रमण से भयभीत हुये योद्धाओं को दुर्योधन ने भी इसी प्रकार क्षात्रधर्म बताते हुये कहा "यदि तुम अलग-अलग होकर भागोगे तो पाण्डव तुम सब अपराधियों का पीछा करके तुम्हें मार डालेंगे। ऐसी अवस्था मे युद्ध में मारा जाना ही हमारे लिये श्रेयस्कर है। क्षत्रिय-धर्म के अनुसार युद्ध करने वाले वीरों की संग्राम में सुखपूर्वक मृत्यु होती है। वहाँ मरे हुये को मृत्यु के

1. द्रोण प. 168/36–39 पू., 197/38–41 गी.
2. आश्व प. 79/1–7 पू., 79/1–7 गी.

दुःख का अनुभव नही होता और परलोक मे जाने पर उसे अक्षय सुख की प्राप्ति होती है। तुम जितने क्षत्रिय वीर यहाँ आये हो सभी कान खोलकर सुनलो। जब प्राणियों का अन्त करनेवाला यमराज शूरवीर और कायर दोनों को ही मार डालता है, तब मेरे जैसा क्षत्रियव्रत का पालन करने वाला होकर भी कौन ऐसा मूर्ख होगा, जो युद्ध नही करेगा। हमारा शत्रु भीमसेन क्रोध में भरा हुआ है। यदि भागोगे तो उसके वश मे पडकर मारे जाओगे। अतः अपने पूर्वजों के द्वारा आचरण में लाये हुये क्षत्रियधर्म का परित्याग न करो। कौरववीरों ! क्षत्रिय के लिये युद्ध से पीठ दिखाकर भागने से बढ़कर दूसरा कोई महान् पाप नहीं है तथा युद्धधर्म के पालन से बढ़कर दूसरा कोई स्वर्ग प्राप्ति का कल्याणकारी मार्ग भी नही है। अतः योद्धाओं ! तुम युद्ध में मारे जाकर शीघ्र ही उत्तम लोकों के सुख का अनुभव करो।"[1]

महाभारत में प्रदर्शित युद्ध के नियम

(ब) इन्द्र द्वारा कथित युद्ध के नियम :—महाराज अम्बरीप ने जब देवेन्द्र से युद्ध में मरने वाले व्यक्तियों की गति और युद्ध के सामान्य नियमो के विषय में पूछा तब देवेन्द्र ने राजर्षि अम्बरीप को इस प्रकार युद्ध के नियम बताये।

1. युद्ध में बाल, वृद्ध और स्त्रियों का वध नही करना चाहिये।
2. किसी भी भागते हुये की पीठ में आघात नहीं करना चाहिये।
3. जो मुँह में तिनका लिये शरण मे आ जाय और कहने लगे कि मैं आपका ही हूँ, उसका भी वध नही करना चाहिये।[2]

दैत्य गुरु शुक्राचार्य% भी बाल वृद्ध स्त्री और एकाकी नृप को मारने का निषेध करते है। साथ ही शरणागत को मारने अथवा लौटाने का भी निषेध करते है।

---

1. कर्ण प. × × पू., 93/54–59 गी.
2. शान्ति प. 99/47 पू., 98/48 गी.

%(क) वृद्धो बालो न हन्तव्यो नैव स्त्री केवलोनृपः।
यथायोग्यं हि संयोज्य निघ्नन् धर्मो न हीयते ॥
(शु. नी. 4/7प्र/361 पृ. सं. 384)

(ख) विस्त्रम्भा–च्छरणं प्राप्तं संत्यजति दुर्मतिः।
स याति नरके घोरे यावदिन्दवश्चतुर्दश ॥ (शु.नी.4/7प्र/331 पृ.सं. 379)

(भ) भीष्म पितामह द्वारा प्रदर्शित युद्ध के नियम :—महाराज युधिष्ठिर ने महात्मा भीष्म से युद्ध के उन नियमों को जानना चाहा जो प्रत्येक राजा के लिये सामान्य रूप से पालनीय होते हैं। भीष्मपितामह ने भी इस प्रकार युद्ध के नियमों पर प्रकाश डाला।

1. जो लोग सो रहे हों, प्यासे हों, थक गये हों अथवा इधर-उधर भाग रहे हों, उन पर आघात न करें।

2. शस्त्र और कवच उतार देने के बाद, युद्धस्थल से प्रस्थान करते समय, घूमते फिरते समय और खाने-पीने के अवसर पर किसी को न मारें।

3. जो बहुत घबराये हुये हों, पागल हो गये हों, निश्चिन्त होकर बैठे हों, दूसरे किसी काम में लगे हों, लेखन का कार्य कर रहे हों, पीड़ा से संतप्त हो, बाहर घूम रहे हों, दूसरे से सामान लाकर लोगो के निकट पहुँचाने का काम कर रहे हों अथवा छावनी की ओर भागे जा रहे हों, उन पर भी प्रहार न करें।

4. जो परम्परा से प्राप्त हुये राजद्वार पर रक्षादि सेवा का कार्य करते हों अथवा जो राजसेवक मन्त्री आदि के द्वार पर पहरा देते हों तथा किसी यूथ के अधिपति हों, उनको भी नही मारना चाहिये।

5. जो शत्रु की सेना को छिन्न-भिन्न कर डालते हैं और अपनी तितर-बितर हुई सेना को संगठित करके दृढ़तापूर्वक स्थापित करने की शक्ति रखते हैं ऐसे लोगों को राजा अपने समान ही भोजन-पान की सुविधा देकर सम्मानित करें और उन्हे दुगना वेतन दे।[1]

6. दोनों ओर की सेनाओ के भिड़जाने पर यदि उनके बीच में सन्धि कराने की इच्छा से ब्राह्मण आजाय तो दोनों पक्षों वालों को तत्काल युद्ध बन्द कर देना चाहिये। यदि दोनों में से जो कोई भी पक्ष ब्राह्मण का तिरस्कार करता है, वह सनातन मर्यादा को तोड़ता है। इस मर्यादा का उल्लंघन करने वाले अधम योद्धा को क्षत्रिय जाति मे नही गिनना चाहिये और क्षत्रिय सभा मे उसे स्थान भी नहीं देना चाहिये। इस नियम की पुष्टि महाराणा प्रताप

---

1. शान्ति प. 101/24-27 पू., 100/26-30 गी.

श्रोर शक्ति के बीच युद्ध में पुरोहित के श्रा जाने पर युद्ध बन्द होने से होती है।[1]

महर्षि शुक्राचार्य% ने भी भीष्म के ही समान जलपानादि करते हुये भोजन करते हुये, युद्ध के अतिरिक्त अन्य कार्यों में व्यस्त हुये, डरे हुये एवं युद्ध से विमुख हुये सैनिको पर प्रहार करने का निषेध किया है।

(ग्रा) **महाभारत में युद्ध के सामान्य नियम श्रौर उनका पालन :—** महाभारत ग्रन्थ मे युद्ध के नियमो को हम दो भागों विभक्त करते हैं (1) सामान्य नियमो मे वे नियम श्राते हैं जो सम्पूर्ण ग्रन्थ में सबके लिये उपलब्ध होते हैं श्रौर (2) विशिष्ट नियमों में वे नियम हैं जो केवल महाभारत-युद्ध के लिये ही कौरव श्रौर पाण्डवों ने निर्धारित किये थे। अब हम पहले सामान्य नियमों पर प्रकाश डालते हैं।

(1) युद्धपूर्व गुरुजनाभिवादन :—प्राय: सभी उच्चकोटि के कुलीन एवं महान् योद्धाश्रों मे यह नियम सामान्य रूप से मिलता है कि वे युद्ध को प्रारम्भ करने से पूर्व अपने गुरुजनों को अवश्य अभिवादन करते थे, फिर वे गुरुजनचाहे पूजनीय गुरु यां विशेष सम्बन्धी ही क्यों न हो। अम्बा के प्रसंग को लेकर जब गुरु श्री परशुराम श्रौर शिष्य श्री भीष्म रणागण मे उतर आये तो महात्मा भीष्म अपने रथ से उतरे श्रौर उन्होने गुरु परशुराम को पास जाकर प्रणाम किया। यद्यपि महर्षि परशुराम स्वयं विजयाकांक्षी थे। अतः उन्होने भीष्म को विजयाशीष तो नहीं दी किन्तु उनके समुदाचार से अत्यन्त प्रसन्न हुये।[2]

इसी प्रकार महाराज युधिष्ठिर ने इस सामान्य नियम का भलीभांति पालन किया। युद्ध के पूर्व महाराज युधिष्ठिर अपना कवच उतार कर, शस्त्रों को छोड़कर, शत्रु सेना मे गये श्रौर वहाँ जाकर उन्होने भीष्म द्रोण, कृप, शल्यादि को प्रणाम किया तथा उनसे युद्ध की अनुमति मांगी। उन सबने ही प्राय: कहा "हे

---

1. शान्ति प. 98/8–9 पू., 96/8–9 गी.

% पिबन्तं न च भुंजानमन्यकार्याकुलं न च।
न भीतं न परावृतं सतां धर्ममनुस्मरन्॥
(शु. नी. 4/7प्र/360 पृ. सं. 383)

2. उ. प. 180/12–18 पू., 179/12–18 गी.

युधिष्ठिर यदि तुम युद्ध से पूर्व प्रणाम करने तथा अनुमति लेने नहीं आते तो हम लोग तुम्हें शपथ दे देते।"[1]

युधिष्ठिर के ही समान धनंजय ने भी इस नियम का पालन सदैव किया। उदाहरणार्थ जिस समय पाण्डव-लोग राजा विराट् के यहाँ एक वर्ष का अज्ञातवास व्यतीत कर चुके थे तो कौरव विराट्नरेश की गायें चुराकर ले गये। तब एकाकी अर्जुन ने समस्त कौरव सेनासे युद्ध किया, किन्तु युद्ध के पूर्व द्रोणाचार्य के चरणों में दो बाण एवं दोनो कानो के पास भी दो बाण छोडे जिनका स्पष्टीकरण स्वयं द्रोणाचार्य ने सबके सामने इस प्रकार किया "ये दो बाण एक साथ आकर मेरे पैरो के आगे गिरे है और दूसरे दो बाण मेरे दोनो कानो को छूकर निकल गये हैं। अर्जुन द्वारा छोडे गये प्रथम दो बाण मुझे प्रणाम कर रहे है और दूसरे दो बाणों द्वारा कानों मे युद्ध के लिये आज्ञा मांगते हैं।"[2]

(2) सूर्यास्त बाद युद्ध नहीं :—महाभारत के अनुसार प्राचीन काल में यह एक सामान्य नियम था कि सूर्यास्त के बार युद्ध बन्द कर दिया जाता था। इसके उदाहरण महाभारत में स्थान-स्थान पर हमें इस प्रकार मिलते हैं—

अम्बा के विवाद को लेकर जब परशुराम और भीष्म के बीच घोर संग्राम चल रहा था तब सहस्त्रकिरणों वाले भगवान् भास्कर पृथ्वी को तपाकर दिनान्त कर अस्ताचल को चले गये। अतः उन दोनों का युद्ध उस दिन सायंकाल स्वतः बन्द हो गया।[3]

कौरव और पाण्डवों के महायुद्ध के प्रथम दिन भीष्म के प्रचण्ड पराक्रम से अभिभूत पाण्डव सेना जब भयभीत हो चुकी थी तब सूर्यदेव अस्त हो गये और उस समय अन्धेरे में कुछ भी नहीं सूझा तब कुन्ती पुत्रों ने अपनी सेना को युद्ध क्षेत्र से पीछे हटा लिया और युद्ध बन्द हो गया।[4] इसी प्रकार दूसरे दिन धनंजय से भयभीत कौरव सेना को महात्मा भीष्म ने सूर्यास्त हो जाने पर युद्धभूमि से लौटा लिया और उस दिन युद्ध बन्द हो गया।[5] इसी प्रकार इस सामान्य नियम के

---

1. भीष्म प. × × पू., 43/13-88 गी.
2. विराट् प. 48/6-7 पू., 53/6-7 गी.
3. उ. प. 180/39 पू., 179/39 गी.
4. भीष्म प. 45/62-63 पू., 49/52-53 गी.
5. भीष्म प. 51/41-42 पू., 55/41-42 गी.

अनुसार सातवें, आठवें, नवमें, एकादशवें, बारहवें और तेरहवें दिन भी सायंकाल दोनों सेनाओं की ओर से युद्ध बन्द होता रहा।

(3) नाभि से नीचे प्रहार नहीं :—गदा युद्ध का यह शास्त्रीय नियम है कि नाभि से नीचे के भाग में गदा का प्रहार नहीं किया जाना चाहिये। भीम ने जब गदायुद्ध में दुर्योधन की जांघ तोड़ डाली तब बलरामजी ने भीम की भर्त्सना करते हुये कहा "नाभि से नीचे गदा-युद्ध में प्रहार हमने कभी नहीं देखा। नाभि से नीचे आघात नहीं करना चाहिये। यह गदा-युद्ध के विषय में शास्त्र का सिद्धान्त है।"[1]

सामान्य नियमों का उल्लंघन :—उपर्युक्त प्रथम सामान्य नियम का पालन केवल कुलीन और महायोद्धाओं के द्वारा ही किया गया। सर्वसामान्य वीरों ने इसका पालन नहीं किया। दुर्योधन और कर्ण जैसे योद्धाओं को महाभारत में युद्ध से पूर्व अभिवादन के नियम का पालन किया जाता नहीं देखा गया। इसी प्रकार पाण्डव-पक्ष के अन्य कई वीरों ने भी इस नियम का पालन नहीं किया।

सूर्यास्त के बाद युद्ध न करने का नियम भी दोनों ही पक्षों के द्वारा परिपालन नहीं रहा। सबसे पहले इस नियम का उल्लंघन छठे दिन के युद्ध मे उस समय हुआ जब द्रौपदी के पुत्र और अभिमन्यु ने उत्साह मे भरकर धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने की ठान ली। उस दोनों ही पक्ष के इन योद्धाओं ने सूर्यास्त के बाद भी दो घड़ी तक युद्ध किया।[2] इसके अनन्तर जब जयद्रथ का वध हो गया तब पाण्डवों ने क्रोध में भरकर रात्रि में ही कौरवों पर आक्रमण कर दिया तथा कर्ण और दुर्योधन के देखते-देखते ही भयंकर युद्ध प्रारम्भ हो गया।[3] रात्रि के अन्धकार में दोनों ही पक्षों के द्वारा छोड़े गये सहस्त्रों बाण दशों दिशाओं में फैलकर अच्छी तरह प्रकाशित नहीं हो पाते थे।[4] यहाँ तक कि अमर्ष में भरे हुये घटोत्कच के साथ जब पाण्डव-कौरवों से रात्रि युद्ध कर रहे थे और युद्ध करते-करते अब सैनिक निद्रा से अन्धे हो रहे थे तो अर्जुन ने उच्चस्वर से दशों दिशाओं को प्रतिध्वनित करते हुये कहा "सैनिकों! तुम सब लोग अपने वाहनों सहित थक गये हो और नींद से अन्धे हो रहे हो। इधर यह सारी सेना घोर अन्धकार और बहुत सी धूल

---

1. शल्य प. 59/5-6 पू., 60/5-6 गी.
2. भीष्म प. 79/55 पू., 79/60 गी.
3. द्रोण प. 127/25-26 पू., 152/35-36 गी.
4. द्रोण प. 128/10 पू., 153/10 गी.

से रुक गयी है। अतः यदि तुम ठीक समझो तो युद्ध बन्द कर दो और दो घड़ी तक रणभूमि में ही सो लो। तत्पश्चात् चन्द्रोदय होने पर विश्राम करने के अनन्तर निद्रा रहित हो तुम समस्त कौरव-पाण्डव योद्धा परस्पर पूर्ववत् संग्राम प्रारम्भ कर देना। दोनों पक्षों की सेनाओं ने अर्जुन की घोषणा सुनकर युद्ध बन्द कर दिया।[1] इस प्रकार युद्ध के प्रारम्भिक दिनों में तो इस नियम को दोनों पक्षों ने अवश्य निभाया, किन्तु आगे जाकर इस नियम का भंग हो गया और रात्रियुद्ध प्रारम्भ हो गया।

गदा युद्ध के सामान्य नियम का भी पालन नहीं किया गया। शास्त्रानुसार नाभि प्रदेश से नीचे गदा युद्ध में में गदा का प्रहार नहीं किया जाना चाहिये, किन्तु भीम ने इस नियम का उल्लंघन कर सुयोधन की बाँयी जाँघ तोड़ डाली बलरामजी को भीम का यह अन्याय सहन नहीं हुआ और उन्होंने भीम को धिक्कारते हुये कहा "वृकोदर ! जो तुमने यह किया वह गदा युद्ध में पहले कभी नहीं देखा गया, किन्तु शास्त्रज्ञान से शून्य मूर्ख भीम तुम ने यहाँ स्वेच्छाचारिता से काम लिया है।"[2]

आधुनिक रण नियमों से तुलना :—युद्ध से पूर्व गुरुजनाभिवादन एवं आज्ञा पालन आज भी भारतीय सेना में चल रहा है किन्तु इसका स्वरूप बदल गया। कोई भी सिपाही या छोटा अधिकारी (officer) अपने से बड़े अधिकारी को युद्ध आरम्भ करने से पूर्व नमस्कार (salute) करता है और युद्ध प्रारम्भ करने के लिये आज्ञा लेता है अथवा दी हुई आज्ञा पाकर युद्ध प्रारम्भ करता है।

आजकल रात्रि युद्ध की प्रधानता अधिक है। दिन की अपेक्षा रात्रि में युद्ध करना अधिक श्रेष्ठ समझा जाता है और प्रायः रात को ही अधिकतर युद्ध होते हैं। इस समय सूर्यास्त के पश्चात् युद्ध बन्द नहीं होता अपितु निरन्तर चलता रहता है चाहे दिन हो या रात। यह बात अवश्य है कि एक पक्ष द्वारा युद्ध से हट जाने पर दूसरा पक्ष भी युद्ध से निवृत्त हो जाता है, जैसा कि सन् 1971 के भारत-पाक युद्ध में भारत द्वारा अपनी ओर से युद्ध बन्दी की घोषणा कर देने पर पाकिस्तान ने भी युद्ध बन्द कर दिया था। यह बात अर्जुन द्वारा की गई उपर्युक्त घोषणा से मिलती है।

आजकल गदा युद्ध तो होता ही नहीं। अतः तुलना करने का प्रश्न नहीं उठता।

---

1. द्रोण प. 159/22–29 पू., 184/25–31 गी.
2. शल्य प. 59/4–6 पू., 60/4–6 गी.

(घ) महाभारत के युद्ध हेतु निर्धारित विशिष्ट नियम

महाभारत के महायुद्ध को प्रारम्भ करने से पूर्व कौरव, पाण्डव और सोमकों ने परस्पर मिलकर युद्ध के सम्बन्ध में कुछ नियम बनाये अर्थात् युद्ध की मर्यादा इस प्रकार स्थापित की।

1. चालू युद्ध के बन्द होने पर सन्ध्याकाल में हम सब लोगों में परस्पर प्रेम बना रहे। उस समय पुनः किसी का किसी के साथ शत्रुतापूर्ण अयोग्य व्यवहार नहीं होना चाहिये।
2. जो वाग्युद्ध में प्रवृत्त हो उनके साथ वाणी द्वारा ही युद्ध किया जाय।
3. जो सेना के बाहर निकल गये हों उनका वध कदापि न किया जाव।
4. रथी, रथी से, हाथी सवार, हस्तिसवार से, सादी, सादी (घुड़सवार) से तथा पैदल, पैदल से ही युद्ध करें।

   नीतिज्ञ शुक्राचार्य× ने भी इस नियम का समर्थन किया है।
5. यथायोग्य, यथेच्छ, यथोत्साह तथा यथा शक्ति विपक्षी को बताकर उसे सावधान करके ही उस पर प्रहार करे।
6. जो विश्वास करके असावधान हो रहा हो अथवा जो युद्ध से घबराया हुआ हो, उस पर प्रहार नहीं करे।
7. जो एक के साथ युद्ध में लगा हो, शरण में आया हो पीठ दिखाकर भागा हो, जिसके अस्त्रशस्त्र और कवच कट गये हों, ऐसे मनुष्य को कदापि न मारे। शुक्राचार्य×× ने भी इस का समर्थन किया है।

× गजो गर्जन यातव्यस्तुरगेण तुरंगमः।
रथेन च रथो योज्यः पत्तिना पत्तिरेव च ॥
एकेनैवश्च शस्त्रेण,शस्त्रमस्त्रेण वाऽस्त्रकम्
(शु. नी. 4/7अ/357/1/2 पृ. सं. 383)

×× न च हन्यात् रथारूढं, न क्लीबं न कृताजलिम्।
न मुक्तकेशमासीनं, नतवास्मीतिवादिनम् ॥
न सुप्तं न विसन्नाहं, न नग्नं न निरायुधम्।
नयुध्यमानं पश्यन्तं युध्यमानं परेण च ॥

8. घोड़े की सेवा के लिये नियुक्त सूतों, भारवाहकों, शस्त्र पहुँचाने वालों तथा भेरी, शंख बजाने वालों पर कोई किसी प्रकार भी प्रहार न करें।[1]

निर्धारित नियमों का पालन और उल्लंघन :—महाभारत युद्ध हेतु निर्धारित नियमों का पालन लगभग पचास प्रतिशत रूप में किया गया। न सभी नियम पाले गये और न सभी नियमों का उल्लंघन ही किया गया। युद्ध के प्रथम दिन सभी क्षत्रिय वीरों ने सोत्साह स्वधर्म का पालन किया। दोनों ही दलों में कोई भी वीर युद्ध से विमुख नहीं हुआ।[2] दोनों ही सेनाओं में युद्ध के समय भयंकर शब्द सुनाई पड़ते थे। बड़े-बड़े वीरों का विनाश करने वाले उस महा भयानक संग्राम में पिता ने पुत्र को, पुत्र ने पिता को, भानजे ने मामा को मामा ने भानजे को, मित्र ने मित्र को तथा सगे सम्बन्धियों ने बान्धवजनों को मार डाला। इस प्रकार इस मर्यादा शून्य भयानक संग्राम में कौरवों का पाण्डवों के साथ घोर युद्ध हुआ।[3]

निर्धारित प्रथम नियम का पालन दोनों ही पक्षों की ओर से किया गया। भीष्म के भयंकर पराक्रम से पाण्डव सेना संत्रस्त हो चुकी थी और अब भीष्म को किसी भी प्रकार मारा जाना आवश्यक हो गया था। अतः नवें दिन सायं युद्ध से दोनों सेनाओं के निवृत्त हो जाने के बाद पाण्डवों ने अपने शिविर में गुप्त मन्त्रणा की और भीष्म से उनके शिविर में उनकी मृत्यु का उपाय पूछने गये। महाराज युधिष्ठिर द्वारा भीष्म पितामह से उनकी मृत्यु का उपाय पूछने पर भीष्म ने उत्तर दिया "राजन्! तुम्हारी सेना में जो यह द्रुपद पुत्र महारथी शिखण्डी है, वह समर भूमि में अमर्षशील शौर्यसम्पन्न तथा युद्ध विजय है। वह पहले स्त्री था, फिर पुरुष भाव को प्राप्त हुआ है। ये सारी बातें तुम लोग भी जानते हो। शूरवीर अर्जुन समरांगण में कवच धारण करके, शिखण्डी को आगे रखकर मुझ पर तीखे बाणों द्वारा आक्रमण करें। शिखण्डी की ध्वजा अमांगलिक चिन्ह से युक्त है तथा विशेषतः वह पहले स्त्री रहा है, इसलिये मैं हाथ में बाण लिये रहने पर भी किसी प्रकार उस पर प्रहार करना नहीं चाहता। भरतश्रेष्ठ! इसी अवसर का लाभ लेकर पाण्डुपुत्र अर्जुन मुझे चारों ओर से शीघ्रता-पूर्वक बाणों द्वारा मार डालने का प्रयत्न करें।[4]

---

1. भीष्म प. 1/26–34 पू., 1/26–34 गी.
2. भीष्म प. 42/20 पू., 44/20 गी.
3. भीष्म प. 44/47 पू., 46/46–49 गी.
4. भीष्म प. 107/80–84 पू., 103/80–84 गी.

महाराज युधिष्ठिर को भीष्म को मारने का उपाय उनके शिविर में उन्ही के पास जाकर पूछना और भीष्म द्वारा अपनी मृत्यु का उपाय बताना युद्ध के बाद शत्रुतापूर्ण अयोग्य व्यवहार का प्रदर्शन नही है। अतः प्रथम नियम का दोनों ही पक्षों द्वारा पालन किया गया। यह सिद्ध हो जाता है।

निर्धारित द्वितीय नियम का पालन भी यथाशक्ति किया गया। कृपाचार्य और कर्ण के वाग्युद्ध होता है, किन्तु वह वाग्युद्ध वाणी-युद्ध तक ही सीमित रहता है, कर्ण कृपाचार्य को और कृपाचार्य कर्ण को फटकारते है, किन्तु अस्त्रशस्त्र उठा कर नहीं लडते।[1] इसी प्रकार अश्वत्थामा और कर्ण में भी परस्पर वाग्युद्ध होता है, कृपाचार्य के अपमान से खिन्न अश्वत्थामा तलवार लेकर कर्ण पर आक्रमण करना चाहता है और कर्ण भी अपने पराक्रम को दिखाने के लिये धमकी देता है, किन्तु कृपाचार्य और विशेषतः दुर्योधन के प्रयत्नों से उनका युद्ध वाग्युद्ध तक ही सीमित रह जाता है और शस्त्र युद्ध नही हो पाता।[2]

समाधिस्थ द्रोणाचार्य को जब धृष्टद्युम्न खड्ग द्वारा मार डालते है तो सात्यकी उनकी घोर निन्दा करता है तब धृष्टद्युम्न भी भूरिश्रवा के वध की बात कहकर सात्यकि की निन्दा करते है और कौरवो तथा द्रोणाचार्य के अनेक अपराध बताकर उनका वध ठीक ठहराते है। दोनों ही वाग्बाणों से लड़ते हुये अत्यन्त उद्वेजित हो जाते है। किन्तु भीम, सहदेव, श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर के प्रयत्न से उन दोनों का यह वाग्युद्ध वाणी तक ही सीमित रहता है तथा इन सबके समझाने पर वे दोनों शान्त हो जाते है।[3]

इस प्रकार निर्धारित दूसरे नियम का भी वीरों ने ठीक-ठीक ही पालन किया।

तृतीय नियम का पालन सभी वीरो ने पूर्णता से निभाया। जो लोग सेना मे सम्मिलित हुये थे उन पर ही प्रहार किया जो सेना में सम्मिलित नही थे उन पर न तो प्रहार ही किया गया और न उनका वध ही किया गया। उदाहरणार्थ संजय और धृतराष्ट्र समस्त युद्ध के वृत्तान्त से संयुक्त थे, किन्तु उन पर किसी ने कोई प्रहार नहीं किया क्योंकि वे सेना के बाहर थे सेना मे सम्मिलित नही थे। अश्वत्थामा द्वारा सोये हुये द्रुपद पुत्रों और सृंजयों को मारना भी इस नियम के अन्तर्गत

---

1. द्रोण प. 133/सम्पूर्ण पू., 158 ,, गी.
2. द्रोण प. 134/1–18 पू., 159/1–18 गी.
3. द्रोण प. 168/सम्पूर्ण पू., 197/ गी.

गिना जा सकता है जो नियमोल्लंघन में आता है, किन्तु अश्वत्थामा ने सोये हुये वीरों को मारा था, अतः इस विषय का इस नियम में अन्तर्भाव न होकर पृथक् सप्तम नियम में ही इसका अस्तित्व ठीक है।

घटोत्कच के भयानक प्रहारों से जब राजा दुर्योधन व्याकुल हो उठा तब उस स्वयं ने सेनापति भीष्म से उस दुर्दान्त राक्षस के साथ युद्ध करने की आज्ञा मांगी, किन्तु महात्मा भीष्म ने निर्धारित चतुर्थ नियमानुसार दुर्योधन को इस प्रकार उपदेश देकर नियम का पालन करवाया "तात अरिंदमन ! तुम युद्ध में सदा अपनी रक्षा करो। अनघ ! तुम्हें सदा धर्मराज युधिष्ठिर से ही संग्राम करना चाहिये। अर्जुन नकुल सहदेव तथा भीम से भी तुम युद्ध कर सकते हो। मैंने राज्य-धर्म को सामने रखकर यह बात कही है अतः राजा राजा से ही युद्ध करें। तुम्हें दुरात्मा घटोत्कच के साथ कदापि युद्ध नहीं करना चाहिये। मैं द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, कृतवर्मा, कृपाचार्यादि उस महाबली राक्षस से युद्ध करेंगे।"[1] तदन्तर राजा भगदत्त को उस महाबली राक्षस के साथ युद्ध हेतु भेजा। भीष्म के मत में साधारण व्यक्तियों के साथ साधारण रूप से ही युद्ध करना चाहिये और मायावी के साथ माया से, यह धर्मशास्त्र का नियम है।[2] अर्जुन भी इस बात का समर्थन करते हुये कहते हैं "युद्ध में साधारण जनों को दिव्यास्त्रों द्वारा मारना कदापि उचित नहीं है, अतः हम लोग सरलतापूर्वक युद्ध के द्वारा ही शत्रुओं को जीतेंगे।[3]

कौरव और पाण्डवों के घमासान युद्ध से बिल्कुल स्पष्ट है कि योद्धा लोग अपने ही समान योद्धाओं से अर्थात् घुड़सवार घुड़सवारों से पैदल पैदलों से और रथारोही रथारोहियों से युद्ध करते थे।[4]

पाण्डवों द्वारा ढूंढकर सरोवर से बाहर निकाला गया दुर्योधन भी इस चतुर्थ नियम की दुहाई देता हुआ पाण्डवों से बोला "तुम सब लोग तो अपने हितैषी मित्रों को साथ लेकर आये हो। तुम्हारे रथ और वाहन भी विद्यमान है, मैं अकेला थका मांदा, रथहीन और वाहन शून्य हूँ। तुम्हारी संख्या अधिक है, तुमने रथ में बैठकर नानाप्रकार के अस्त्रशस्त्र लेकर मुझे घेर रखा है, फिर तुम्हारे साथ में मैं एकाकी पैदल और अस्त्रशस्त्र से रहित होकर कैसे युद्ध कर सकता हूँ। युधिष्ठिर तुम लोग

1. भीष्म प. 91/11-14 पू., 95/11-14 गी.
2. उ. प. 194/10 पू. 193/10 गी.
3. उ. प. 195/15 पू., 194/15 गी.
4. द्रोण प. 31/11 पू., 32/11 गी.

महाराज युधिष्ठिर को भीष्म को मारने का उपाय उनके शिविर में उन्ही के पास जाकर पूछना और भीष्म द्वारा अपनी मृत्यु का उपाय बताना युद्ध के बाद शत्रुतापूर्ण अयोग्य व्यवहार का प्रदर्शन नहीं है। अतः प्रथम नियम का दोनों ही पक्षों द्वारा पालन किया गया। यह सिद्ध हो जाता है।

निर्धारित द्वितीय नियम का पालन भी यथाशक्ति किया गया। कृपाचार्य और कर्ण के वाग्युद्ध होता है, किन्तु वह वाग्युद्ध वाणी-युद्ध तक ही सीमित रहता है, कर्ण कृपाचार्य को और कृपाचार्य कर्ण को फटकारते हैं, किन्तु अस्त्रशस्त्र उठा कर नही लड़ते।[1] इसी प्रकार अश्वत्थामा और कर्ण में भी परस्पर वाग्युद्ध होता है, कृपाचार्य के अपमान से खिन्न अश्वत्थामा तलवार लेकर कर्ण पर आक्रमण करना चाहता है और कर्ण भी अपने पराक्रम को दिखाने के लिये धमकी देता है, किन्तु कृपाचार्य और विशेषतः दुर्योधन के प्रयत्नों से उनका युद्ध वाग्युद्ध तक ही सीमित रह जाता है और शस्त्र युद्ध नही हो पाता।[2]

समाधिस्थ द्रोणाचार्य को जब धृष्टद्युम्न खड्ग द्वारा मार डालते हैं सात्यकी उनकी घोर निन्दा करता है तब धृष्टद्युम्न भी भूरिश्रवा के वध का कहकर सात्यकि की निन्दा करते है और कौरवों तथा द्रोणाचार्य के अनेक बताकर उनका वध ठीक ठहराते है। दोनो ही वाग्बाणों से लड़ते उद्वेजित हो जाते है। किन्तु भीम, सहदेव, श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर उन दोनों का यह वाग्युद्ध वाणी तक ही सीमित रहता है तथा इन पर वे दोनों शान्त हो जाते है।[3]

इस प्रकार निर्धारित दूसरे नियम का भी वीरों ने किया।

तृतीय नियम का पालन सभी वीरो ने पूर्णता से मे सम्मिलित हुये थे उन पर ही प्रहार किया जो सेना मे न तो प्रहार ही किया गया और न उनका वध ही किया और धृतराष्ट्र समस्त युद्ध के वृत्तान्त से संयुक्त थे, प्रहार नहीं किया क्योंकि वे सेना के बाहर थे सेना त्थामा द्वारा सोये हुये द्रुपद पुत्रों और सृंजयों को

1. द्रोण प. 133/सम्पूर्ण पू., 158 „ गी.
2. द्रोण प. 134/1–18 पू., 159/1–18 गी.
3. द्रोण प. 168/सम्पूर्ण पू., 197/ गी.

ने तुरन्त ही रथ द्वारा उसे अपने दाहिने कर दिया और उसके आघात से बच गये। इस समय हाथी अर्जुन के अत्यन्त सन्निकट था गया था, किन्तु अर्जुन ने धर्म का स्मरण कर सवारों सहित उस हाथी को मृत्यु के अधीन नहीं किया क्योंकि पार्थ ने हाथी के सवारों को सचेत नहीं किया था, उस दशा में हाथी को मारना युद्ध के निर्धारित पंचम नियम के विरुद्ध था, क्योंकि 'समाभाष्य प्रहर्तव्यम्' विपक्षी को सावधान करके उसके ऊपर प्रहार करना चाहिये। अतः अर्जुन ने धर्म का विचार करके उसे उस समय नहीं मारा।[1]

भीष्म के मत में साधारण वीरों से सीधे-पन से ही युद्ध करना चाहिये किन्तु यदि कोई माया या छल कपट का आश्रय ले तो उसके साथ छल कपट या माया से ही युद्ध करना चाहिये अर्थात् यथाकाम यथायोग्य और यथोत्साह तथा यथाशक्ति युद्ध करना चाहिये।[2]

जिस धनंजय ने यहाँ इस नियम का पालन किया वही इस का उल्लंघन भी कर डाला। भूरिश्रवा जब सात्यकि के साथ युद्ध में संलग्न था तो उसे बिना सचेत किये हुये ही, उसकी एक भुजा काट डाली। यहाँ पर 'समाभाष्य प्रहर्त्तव्यम्' नियम का नाश कर डाला गया। किन्तु धनंजय की दृष्टि में यह ठीक था, जिसका विशेष वर्णन हम नियम सात के अन्तर्गत करेंगे।[3]

निर्धारित षष्ठ नियम का पालनोल्लंघन महाभारत के महायुद्ध के प्रसंग में दृष्टिगत नहीं हो रहा, किन्तु महाभारत ग्रन्थ में अवश्य मिलता है। अतः उदाहरणार्थ जब कौरवों ने विराट् नरेश की गायें चुराई तब एकाकी धनंजय ने समस्त कौरव पक्ष को संमोहनास्त्र द्वारा मूच्छित कर भूमि पर सुला दिया, किन्तु उनकी उस अचेत अवस्था में असावधानी या विश्वस्तावस्था में अर्जुन ने एक का भी प्राण हरण नहीं किया।[4]

निर्धारित नियम सात का पालन भीष्म तथा धनंजय करते हुये दिखाई देते है। उदाहरणार्थ धनंजय ने कौरव और पाण्डवों के भीषण संग्राम में अपना पराक्रम दिखाते हुये भी एक सच्चे वीर के नाते उन शत्रुओं पर आक्रमण या शस्त्रास्त्र

---

1. द्रोण प. 27/28-20 पू., 28/28-29 गी.
2. उ. प. 194/10 पू., 193/10 गी.
3. द्रोण प. 118/4 पू. 143/4 गी.
4. विराट् प. 66/21-22 पू., 66/21-22 गी.

एक-एक करके मुझसे युद्ध करो। युद्ध में बहुत से वीरों के साथ किसी एक को लड़ने के लिये विवश करना न्यायोचित नहीं है। विशेषतः उस दशा में जिसके शरीर पर कवच नहीं हो, जो थका मांदा आपत्ति में पड़ा अत्यन्त घायल हो तथा जिसके वाहन और सैनिक भी थक गये हों।[1]

दुर्योधन के कथन को स्वीकार करते हुये अर्थात् चतुर्थ नियम का पालन करते हुये महाराज युधिष्ठिर ने दुर्योधन को कहा "सुयोधन! बड़े सौभाग्य की बात है कि तुम क्षात्र धर्म को जानते हो। महाबाहो! यह जानकर प्रसन्नता हुई कि अभी तुम्हारा विचार युद्ध करने का है। कुरुनन्दन! तुम शूरवीर हो और युद्ध करना जानते हो यह हर्ष और सौभाग्य की बात है कि तुम रणभूमि मे एकाकी ही एक-एक के साथ भिड़कर हम सब लोगो से युद्ध करना चाहते हो तो ऐसा ही सही। जो हथियार तुम्हे पसन्द हो, उसी को लेकर हम लोगों मे से एक-एक के साथ युद्ध करो। हम सब लोग दर्शक बनकर खड़े रहेंगे।[2]

तदनन्तर दुर्योधन ने भीम के साथ गदा युद्ध करना अभीष्ट समझा, युद्ध भी किया और उसमें वह काम भी आया किन्तु युद्ध प्रारम्भ करने के पूर्व युधिष्ठिर ने दुर्योधन की इच्छानुसार अपनी और से चतुर्थ नियम का पालन करते हुये दुर्योधन के पक्ष की ओर से इस नियम का जो उल्लघन किया उस विषय में दुर्योधन से इस प्रकार कहा था "सुयोधन! जब तुम बहुत से महारथियो ने मिलकर युद्ध में अभिमन्यु को मारा था अर्थात् चतुर्थ नियम का उल्लघन किया था उस समय तुम्हारे मन में ऐसा विचार क्यों नहीं उत्पन्न हुआ? बहुत से योद्धा मिलकर किसी एक वीर को न मारे, यदि यही धर्म है तो तुम्हारी सम्मति से अनेक महारथियो ने अभिमन्यु को मार कर इस न्यायसगत नियम का उल्लघन कैसे किया? प्रायः सभी प्राणी जब स्वयं संकट में पड़ जाते है तो अपनी रक्षा के लिये धर्मशास्त्र की दुहाई देने लगते हैं। और जब अपने उच्चपद पर प्रतिष्ठित होते हैं, उस समय उन्हें परलोक का द्वार बन्द दिखाई देता है।[3]

जब भगदत्त और अर्जुन का युद्ध हो रहा था तो अर्जुन ने निर्धारित पंचम नियम का धर्मानुसार पालन किया। राजा भगदत्त ने जब क्रोध मे भरकर यमराज के समान अपने हाथी को आक्रमण करने के लिये आगे बढ़ाया तो भगवान् श्रीकृष्ण

---

1. शल्य प. 31/9–12 पू., 32/10–13 गी.
2. शल्य प. 31/23–25 पू., 32/23–26 गी·
3. शल्य प. 31/54–58 पू., 32/55–59 गी.

ने तुरन्त ही रथ द्वारा उसे अपने दाहिने कर दिया और उसके आघात से बच गये। इस समय हाथी अर्जुन के अत्यन्त सन्निकट आ गया था, किन्तु अर्जुन ने धर्म का स्मरण कर सवारों सहित उस हाथी को मृत्यु के अधीन नहीं किया क्योंकि पार्थ ने हाथी के सवारों को सचेत नहीं किया था, उस दशा में हाथी को मारना युद्ध के निर्धारित पंचम नियम के विरुद्ध था, क्योंकि 'समाभाष्य प्रहर्तव्यम्' विपक्षी को सावधान करके उसके ऊपर प्रहार करना चाहिये। अतः अर्जुन ने धर्म का विचार करके उसे उस समय नहीं मारा।[1]

भीष्म के मत में साधारण वीरों से सीधे-पन से ही युद्ध करना चाहिये किन्तु यदि कोई माया या छल कपट का आश्रय ले तो उसके साथ छल कपट या माया से ही युद्ध करना चाहिये अर्थात् यथाकाम यथायोग्य और यथोत्साह तथा यथाशक्ति युद्ध करना चाहिये।[2]

जिस धनंजय ने यहाँ इस नियम का पालन किया वहीं इस का उल्लंघन भी कर डाला। भूरिश्रवा जब सात्यकि के साथ युद्ध में संलग्न था तो उसे बिना सचेत किये हुये ही, उसकी एक भुजा काट डाली। यहाँ पर 'समाभाष्य प्रहर्तव्यम्' नियम का नाश कर डाला गया। किन्तु धनंजय की दृष्टि में यह ठीक था, जिसका विशद वर्णन हम नियम सात के अन्तर्गत करेंगे।[3]

निर्धारित षष्ठ नियम का पालनोल्लंघन महाभारत के महायुद्ध में [illegible] दृष्टिगत नहीं हो रहा, किन्तु महाभारत ग्रन्थ में अवश्य मिलता है। उदाहरणार्थ जब कौरवों ने विराट् नरेश की गायें चुराई तब [illegible] अर्जुन ने समस्त कौरव पक्ष को सम्मोहनास्त्र द्वारा मूर्च्छित कर भूमि पर सुला दिया, किन्तु उनकी उस अचेत अवस्था में असावधानी या विश्वस्तावस्था में अर्जुन ने एक का भी प्राण हरण नहीं किया।[4]

निर्धारित नियम सात का पालन [illegible]
है। उदाहरणार्थ धनंजय ने कौरव [illegible]
कम दिखाते हुये भी एक सच्चे वीर [illegible]

1. द्रोण प. 27/28-20 गु., 26/[illegible]
2. उ. प. 194/10 गु., 193/[illegible]
3. द्रोण प. 118/4 गु. 143/[illegible]
4. विराट् प. 66/21-22 गु. 56/21-22 [illegible]

विमुख होकर भाग चले थे। ऐसा करके धनंजय ने निश्चित नियम का पालन किया।[1] इस नियम के निश्चित होने के पूर्व भी क्षात्रधर्म ज्ञाता के नाते धनंजय ने इस नियम का पालन उस समय भी किया था, जब कौरव विराट् नरेश की गायें चुरा लाये थे और एकाकी अर्जुन ने समस्त कौरवों को परास्त कर दिया था। प्रहार नहीं किया जो रथ से कूद पड़े थे या धरती पर गिर गये थे अथवा युद्ध से तत्कालीन युद्ध में अर्जुन ने जब एक भयंकर गजराज को मार डाला और दुर्योधन को घायल कर दिया तब सुयोधन तथा भयभीत सैनिक उस दिशा में भाग गये जिधर अर्जुन नहीं थे, किन्तु तब धनंजय ने क्षात्रधर्मानुसार उस समय उन पर प्रहार नहीं किया।[2]

यद्यपि अर्जुन ने इस नियम का जहाँ तक हो सका पालन किया, जब कि द्रोण, कृप, कर्ण जैसे महारथियों ने भी इस नियम को नहीं निभाया और दूसरे पक्ष से इस नियम का पालन न होने पर पाण्डवों ने भी फिर इस नियम का पूर्ण पालन नहीं किया। उपर्युक्त कौरव महारथियों ने मिलकर जब अभिमन्यु का धनुष काट डाला, पार्श्वरक्षकों को मार डाला और उस निशस्त्र तथा विरथ बालक पर घोर बाण वर्षा कर उसके प्राण लेकर इस नियम का उल्लंघन किया।[3] तब अभिमन्यु की मृत्यु के मूल कारण समाधिस्थ निशस्त्र द्रोण को भी धृष्टद्युम्न ने मार डाला।[4] धनंजय ने सात्यकि के साथ युद्ध में संलग्न भूरिश्रवा का हाथ काट डाला।[5] सात्यकि ने अनशन पर बैठे हुये निशस्त्र भूरिश्रवा को मौत के घाट उतार दिया।[6] निशस्त्र कर्ण के द्वारा इस नियम की बार-बार दुहाई देने पर भी धनंजय ने श्रीकृष्ण की आज्ञा से कर्ण के प्राण हर लिये।[7]

इस प्रकार इस नियम का पालन विरले ही शूरवीरों ने कुछ सीमा तक किया अन्यथा प्रायः सभी ने बाहुल्य से इस नियम का घोर उल्लंघन किया।

अश्वत्थामा ने तो इस नियम का ऐसा घोर उल्लंघन किया कि जिसके कारण इस धराधाम पर आज दिन तक भटकता डोल रहा है। युद्ध की परिसमाप्ति

---

1. द्रोण प. 31/48 पू., 32/49 गी.
2. विराट् प. 60/14–19 पू., 65/13–18 गी.
3. द्रोण प. 47/27–32 पू., 48/28–33 गी.
4. द्रोण प. 165/33–56, 57 पू., 192/43–71 गी.
5. द्रोण प. 118/4–9 पू., 143/4–9 गी.
6. द्रोण प. 118/31–49 पू, 143/49–69 गी.
   क. प. 66/60–65 पू, 90/108–116 गी.

के बाद जब पाण्डवों के प्रधान वीर अर्थात् द्रौपदेय और संजय वीर शिविर में प्रगाढ़ निद्रा में सो रहे थे, तब दुर्योधन के पास लौटकर आने वाले अश्वत्थामा ने उल्लू द्वारा कौओं को मारा गया देखकर वैसा ही संकल्प किया और भगवान् शिव की घोर तपस्या कर उनसे अमोघ तथा दिव्य खड्ग प्राप्त किया जिसको लेकर वह पाण्डवों के शिविर में पांचालों और पाण्डवों को मारने हेतु प्रविष्ट हुआ। शिविर में सुप्त लोगों को मारने के पूर्व अश्वत्थामा के मामा कृपाचार्य ने इस नियमोल्लंघन का घोर परिणाम बताते हुये अश्वत्थामा को कहा "तात ! अपने मन को वश में करके उसे कल्याण साधन में लगाकर मेरी बात मानो, जिससे तुम्हें पश्चाताप न करना पड़े जो सोये हुये हों, जिन्होंने अस्त्र-शस्त्र रख दिये हों, जो मैं आपका हूँ ऐसा कहकर शरण में आये हों, जिनके बाल खुले हो तथा जिनके वाहन नष्ट हो गये हों इस लोक में ऐसे लोगों का वध करना धर्म की दृष्टि से अच्छा नहीं समझा जाता। वत्स ! आज रात में समस्त पांचाल कवच उतार कर निश्चिन्त हो मुर्दों के समान अचेत सो रहे होंगे। उस अवस्था में जो क्रूर मनुष्य उनसे द्रोह करेगा, वह निश्चय ही नौका रहित अगाध एवं विशाल नरक के समुद्र में डूब जायेगा। संसार के सम्पूर्ण अस्त्रवेत्ताओं में तुम श्रेष्ठ हो, तुम्हारी सर्वत्र ख्याति है। इस जगत् में अब तक कभी तुम्हारा छोटा सा छोटा दोष भी देखने में नहीं आया है। अतः कल सवेरे सूर्योदय होने पर सूर्य के समान प्रकाशित हो, प्रकाश में युद्ध छेड़कर समस्त प्राणियों के सामने पुनः शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना। जैसे सफेद वस्त्र में लाल रंग का धब्बा लग जाय,उस प्रकार तुममे निन्दित कर्म का होना सम्भावना से परे ही बात है, ऐसा मेरा विश्वास है।"[1]

कृपाचार्य के उपदेश भरे वचनों को सुनकर द्रोह की आग में जलते हुये अश्वत्थामा ने कहा "मामाजी ! आप जैसा कहते हैं, निसन्देह वही ठीक है, परन्तु पाण्डवों ने ही पहले इस धर्ममर्यादा के सैकड़ों टुकड़े कर डाले है। धृष्टद्युम्न ने समस्त राजाओं के सामने और आप लोगों के निकट ही मेरे उस पिता को मार गिराया, जिन्होंने अस्त्र-शस्त्र रख दिये थे। रथियों में श्रेष्ठ कर्ण को भी गाण्डीव-धनुर्धारी अर्जुन ने उस अवस्था में मारा था, जबकि उसके रथ का पहिया गड्ढे में गिर कर फँस गया था और वह भारी संकट में पड़ा हुआ था। इसी प्रकार शान्तनुनन्दन भीष्म जब हथियार डालकर अस्त्रहीन हो गये, उस अवस्था में शिखण्डी को आगे करके गाण्डीवधारी धनंजय ने उनका वध किया था। महाधनुर्धर भूरिश्रवा तो रणभूमि में अनशनव्रत लेकर बैठ गये थे उस अवस्था में समस्त भूमिपाल चिल्लाकर रोकते ही रह गये, परन्तु सात्यकि ने उन्हें मार गिराया।

---

1. सौ. प. 5/8-15, 5/-10-17 गी.

भीमसेन ने भी सम्पूर्ण राजाओं के देखते-देखते रणभूमि में महायुद्ध करते समय दुर्योधन को अधर्मपूर्वक गिराया था। नरश्रेष्ठ दुर्योधन एकाकी था और बहुत से महारथियों ने उसे वहीं घेर रक्खा था, उस दशा में भीमसेन ने उसे धराशायी किया। इस प्रकार ये सब के सब पापी हैं और अधार्मिक हैं, पाँचालों ने भी धर्म की मर्यादा तोड़ डाली है। इस तरह मर्यादा भंग करने वाले उन पाण्डवों और पाँचालों की आप निन्दा क्यों नहीं करते हैं। पिताजी की हत्या करने वाले पाँचालों का रात के सोते समय वध करके मैं भले ही दूसरे जन्म में कीट या पतंग हो जाऊँ मुझे सब कुछ स्वीकार है। इस संसार में ऐसा कोई पुरुष न तो पैदा हुआ है और न होगा ही, जो इन पाँचालों के वध के लिये किये गये मेरे इस दृढ़ निश्चय को पलट दे।[1]

ऐसा निश्चय कर शिवोपासना से प्राप्त दिव्यखड्ग को लेकर अश्वत्थामा जघन्यकृत्य करने के लिये पाण्डवों के शिविर में प्रविष्ट हो गया। वहाँ जाकर सोये हुये धृष्टद्युम्न को उसने ठोकर मार कर जगाया। उसके केश पकडकर पशुमार मारते हुये अपनी कठोर ऐडियों से उसके मर्मस्थलों को विदीर्ण कर उसे यमलोक भेज दिया। इस प्रकार युद्ध के इस नियम का उल्लघन कर रात्रि में सोये हुये पाँच द्रौपदी के पुत्रों को तथा अन्य पाण्डववीरों का उषाकाल के पूर्व ही संहार करके द्रौणि शिविर से बाहर आगया।[2]

उपर्युक्त कृपद्रौणि-संवाद तथा द्रौणिनृशसकर्म से स्पष्ट है कि दोनों ही पक्षों ने इस नियम का पालन बहुत कम और उल्लंघन आवश्यकता से भी अधिक किया।

निर्धारित आठवें नियम का पालन और उल्लंघन का वर्णन ढूँढने पर भी नहीं मिला। इसका तात्पर्य यह है कि दोनों ही पक्षों की ओर से इस नियम का पूर्ण पालन किया गया और किसी ने भी इस नियम का उल्लंघन नहीं किया।

आधुनिक रणनियमों से तुलना :—महाभारत के महायुद्धकाल में निर्धारित किये गये नियमों का पालन आज की भारतीय सेना बहुत कम सीमा तक करती हुई दिखाई देती है। इतिहास साक्षी है कि मुगलकाल तक हमारी भारतीय सेना की वही परम्परा रही जो प्राचीनकाल में थी, किन्तु अंग्रेजों के

---

1. सौ. प. 5/16–27 पू., 5/18–29 गी.
2. सौ. प. 8/5–143 पू., 8/5–143 गी.

अधीन हो जाने पर भारतीय सेना की परम्परा उनके प्रदत्त प्रशिक्षण पर निर्भर हो गयी और आज स्वतन्त्र भारत की जो सेना है, उस पर भारतीयता के साथ-साथ अंग्रेजों द्वारा प्रदत्त परम्परा की गहरी छाप है। आईये अब हम महाभारत के युद्ध हेतु निर्धारित विशिष्ट नियमों की तुलना आधुनिक नियमों के पर्यवेक्षण में करें।

1. प्रथम नियमानुसार महाभारत युद्ध मे साय युद्ध बन्द हो जाने पर परस्पर मैत्रीपूर्ण व्यवहार हो जाता था, किन्तु आजकल ऐसा नही होता शत्रु को सदैव शत्रु ही समझा जाता है, भले ही मैत्रीपूर्ण समझौता ही क्यों न हो गया हो। संसार में व्यापारादि समझौते के अन्तर्गत भले ही भाईचारा प्रदर्शित किया जावे किन्तु आन्तरिक भावनायें शत्रु भाव को लिये रहती हैं।

2. वाग्युद्ध की परम्परा आज की भारतीय सेना मे न के समान उपलब्ध है।

3. आजकल सेना में प्रविष्ट हुआ व्यक्ति यदि नियमों को उल्लंघन करके चुपचाप सेना से भाग जावे अर्थात् पृथक् हो जावे तो सरकार या भारतीय सेना के उच्चाधिकारी वारंट (Warrant) पकड़ने का हुक्मनामा के द्वारा उसे पकड़कर मंगवालेते हैं। यदि कोई शत्रु रणस्थल को छोड़कर भागता है तो रणस्थल की परिधि (Boundary) तक उसका पीछा किया जाता है और अवसर लगे तो मार दिया जाता है। पीठ दिखाने वाले को आजकल छोड़ा नहीं जाता।

4. शत्रुपक्ष से हमारी शक्ति दुगनी होने के साथ-साथ यह आवश्यक नही है कि सेनापति सेनापति से, नायक नायक से और पदाति पदाति से लड़े। एक झाड़ू देने वाला भी सेनापति के साथ युद्ध कर उसे मार सकता है। यहां तक कि नीचे पृथ्वी पर युद्ध करते हुये शत्रु को ऊपर से वायुयान द्वारा आक्रमण कर मार दिया जाता है।

5. शत्रु सेना से अपनी सेना की शक्ति डेढ़ी या दुगनी होनी चाहिये यथायोग्य, यथोत्साह तथा यथाशक्ति का प्रश्न नही है। साथ ही सावधान कर अर्थात् 'समाभाष्य प्रहर्तव्यम्' का नियम बिल्कुल नही चलता अपितु शत्रु को धोखे से मारने का प्रशिक्षण दिया जाता है।

6. आज का युद्ध धोखे का युद्ध है। असावधान और विश्वस्त को भी मार दिया जाता है चाहे वह घबराया हुआ, दीन या प्राणों के सकट में ही पड़ा हुआ क्यों न हो उस शत्रु को तुरन्त मार दिया जाता है।

7. एक के साथ यदि दूसरा लड़ रहा हो तो तीसरा ही नहीं अपितु आठ-दस व्यक्ति भी मिलकर एकाकी शत्रु को तुरन्त मार सकते हैं। शरण में आये हुये को जब तक शरण में नही लेते तब तक मार सकते हैं। यह अवश्यक नहीं कि शरणागत को शरण दी ही जावे चाहे तो शरण में लेने के पूर्व उसे मार भी सकते है, किन्तु शरण में लेने के बाद शरणागत शत्रु को मार नही सकते अपितु जिनेवा* कानून के अन्तर्गत उसके साथ व्यवहार किया जाता है। आज निःशस्त्र पर वार न करने का नियम नही है। शत्रु चाहे निशस्त्र हो या सशस्त्र अथवा किसी भी अवस्था में हो वह तो मार ही दिये जाने योग्य माना गया। यहाँ तक कि शत्रु प्यासा हो, थका हो, भूखा हो या गहरी नीद में ही क्यों नहीं सो रहा हो, उसे प्रत्येक अवस्था मे बिना किसी दया किये हुये मार दिया जाता है।

8. भारवाहकों (ट्रक चालकों) को को जो युद्ध की सामग्री ले जाया करते हैं तुरन्त मार दिया जाता है, बाजे बजाने वाले ही क्या, यदि झाड़ू लगाने वाला या स्त्री भी हो तो उसे भी मार दिया जाता है। आज शत्रु पक्ष से सम्बन्धित प्रत्येक प्राणी या वस्तु को शत्रु के समान ही विनष्ट कर दिया जाता है।

---

* जिनेवा कानून :—जिनेवा कानून के अन्तर्गत निम्न चार शर्तों का पालन शत्रु-पक्ष के साथ किया जाता है :—

1. पकड़े गये कैदियों के साथ दुर्व्यवहार न किया जावे, किन्तु प्रायः इस शर्त का पालन नही किया जाता।
2. किसी भी प्रकार का शारीरिक दण्ड अर्थात् मार-पीटादि का कठोर दण्ड नही दिया जावे। इस शर्त को भी प्रायः पालन नही करते।
3. शरणागत या पकडे हुये कैदी से गुप्त बातों का अर्थात् सेना से सम्बन्धित गुप्तबातों का पूछना मना है। चाहें तो कैदी की इकाई और उसके घर का पता लिया जा सकता है। किन्तु सम्भवतः विश्व का कोई भी देश इस शर्त का पूरा पालन नही करता।
4. मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, चर्च, ईदगाह, रोगीवाहन, अस्पतालादि पर बम्ब डालकर इनको नष्ट करना कड़ाई के साथ मना है, किन्तु पिछले पाकिस्तान और भारत के युद्ध मे भारत ने इस शर्त का पूर्ण पालन किया जबकि पाकिस्तान ने जोधपुर के अस्पताल पर बम्ब डालकर इस शर्त का घोर उल्लंघन किया।

द्वितीय-पर्व

सैन्य-संगठन

सेना का लक्षण :—वैशम्पायन के मत में पांच सौ हाथियों और पांच सौ रथों की एक सेना* होती है। इसी के दश-गुणे रूप का पृतना और पृतना के दश गुणे रूप को वाहिनी कहते हैं, जिसका वर्णन हम आगे प्रस्तुत करेंगे इसके अतिरिक्त वाहिनी, पृतना, ध्वजिनी, चमूवरूथनी और अक्षौहिणी इन पर्यायवाची नामों द्वारा भी सेना का वर्णन किया गया है।[1] दैत्यगुरु शुक्राचार्य ने भी अस्त्रशस्त्रों से सुसज्जित उपर्युक्त वाहनों तथा जनों को सेना बताते हुये सेना का लक्षण इस प्रकार किया है "शस्त्र (तलवार आदि) अस्त्र (धनुषादि) से संयुक्त मनुष्य आदि (पैदल, सेना, हाथी, घोड़ा) के समूह को सेना** कहते हैं।[2]

सेना के प्रकार :—महाभारत में प्रधान रूप से चार प्रकार की सेना प्राप्त होती है जिसे चतुरंगिणी सेना के नाम से अभिहित किया गया है। इस सेना के चार प्रधान अंग माने गये है—1. पदाति, 2. अश्व, 3. रथ और 4. गज। ब्रह्माजी द्वारा जो नीति-शास्त्र रचा गया था, उसका उल्लेख करते हुये भीष्म पितामह महाराज युधिष्ठिर को प्रधान रूप से सेना के दो अंग बताते हैं (1) सेना के प्रकट अंग, (2) सेना के गुप्त अंग।[3]

सेना के प्रकट अंग :—सेनाके प्रकट अंगों का विभाजन आठ प्रकार का बताया है—1. रथ, 2. गज, 3. अश्व, 4. पदाति, 5. विष्ट (बेगार में पकड़े गये लोग) 6. नौकारोही, 7. गुप्तचर और 8. कर्त्तव्योपदेश (गुरुजन)। इस प्रकार

---

* सेना पंचशतं नागा, रथास्तावन्त एव च।

1. उ. प. 152/221–22 पू., 155/24–25 गी.

** सेना शस्त्रास्त्र-संयुक्त-मनुष्यादि-गणात्मिका।

2. शु. नी. 4/7प्र./1

3. भीष्म प. 151/65–66 गी.

चार और आठ अंगों के आधार पर सेना क्रमशः चार और आठ प्रकार की मानी जा सकती है, किन्तु विशेष उपभोग के कारण चार प्रधान अंगों के आधार पर आठ प्रकार की सेना के स्थान पर चार प्रकार की ही सेना गिनी जाने लगी जिसे 'चतुरंगिणी' सेना का नाम दे दिया गया।[1]

सेना के गुप्त अंग :—*सेना के तीन प्रधान गुप्त अंग माने गये है*—1. जंगम (सर्पादि द्वारा जनित विषादि) 2. अजंगम (वनस्पति आदि से उत्पादित विष जैसे अर्ककनकादि। 3. चूर्णयोग (शंखियादि)। ये गोपनीय दण्डसाधन शत्रुपक्ष के वस्त्रादिको को स्पर्श करवाकर, भोजनादि मे मिलाकर शत्रुपक्ष का विनाश करने के काम में लिये जाते है। इन्हीं में अन्य वस्तुओं का मिश्रण करके अनेक प्रकार से विषो (गुप्तांगो) का निर्माण किया जा सकता है।[2]

शुक्राचार्य के मत में भी सेना प्रधान रूप से। (1) स्वगमा और (2) अन्यगमा दो ही प्रकार की मानी गई है, किन्तु इन दोनों के भी दैत्यगुरु ने (1) दैवी, (2) आसुरी और (3) मानवी भेद से 3 भेद पुनः कर दिये हैं।

स्वगमा :—जो स्वयं गमन करने वाली सेना होती है वह स्वगमा होती है। पैदल सेना को स्वगमा माना गया है।

अन्यगमा :—जो अन्य द्वारा गमन करनेवाली होती है वह अन्यगमा कहलाती है। रथ, घोडा और हाथी के द्वारा गमन करने के कारण यह 3 प्रकार की होती है।[3] इस प्रकार यहाँ तक भीष्म और शुक्राचार्य के मत मे कोई विशेष भेद नही है। वही 'चतुरंगिणी' सेना दोनों में समान रूप से दिखाई देती है केवल मुख्य दो भेदों को विभिन्न रूपों में प्रदर्शित किया गया है, किन्तु आगे चलकर शुक्राचार्य ने भी इसी चतुरंगिणी सेना के स्व.पर, शिक्षा-अशिक्षा, शस्त्र-वाहन, मित्र-शत्रु, सार-असार, वन, वेतनादि को लेकर अनेक भेद कर दिये है—"मित्रतावश युद्ध के कार्य का निर्वाह करने वाले सैन्य को 'मैत्र' एवं वेतन देकर रखे हुये

---

1. शान्ति प. 59/40–41 पू., 59/40–41 गी.
2. शान्ति प 59/42–43 पू., 59/42–43 गी.
3. स्वगमाऽन्यगमाचेति द्विधा सैवपृथक् त्रिधा।
   दैव्यासुरी मानवी च पूर्वं पूर्वं बलाधिका॥
   स्वगमाया स्वयंगन्त्री यानगाऽन्यगमास्म
   पादातं स्वगमं चान्यद्रथाश्वगजगं

को 'स्वीय' कहते हैं। बहुत वर्षों से पास में रहनेवाली को 'मौल' और इसके विपरीत अर्थात् तत्काल भर्ती की हुई सेना को 'सद्यास्क' कहते हैं। भलीभांति युद्ध करने के लिये उत्सुक रहनेवाली सेना को 'सार' और इसके विपरीत रहने वाली को 'असार' कहते है। व्यूहरचना मे कुशल सेना को 'शिक्षित' और इसके विपरीत को 'अशिक्षित' कहते है। सेनापति के साथ रहनेवाली सेना को 'गुल्भीभूत' और बिना सेनापति के स्वतन्त्र लड़ने वाली को 'अगुल्मक' कहते हैं। स्वामी ने जिसको अस्त्रादि दिये हों उस सेना को दत्तास्त्रादि और इसके विपरीत जिसके पास अपना निजी शस्त्रास्त्र हो उसे 'स्वशस्त्रास्त्र' सेना कहते है तथा 'कृतगुल्म' (स्वामी ने सेनापति से युक्त सेना में जिसकी गणना की है) स्वयं गुल्म (अपनी इच्छा से गुल्म का अधिपति बना हुआ सैन्य) एवं 'दत्त-वाहन' सेना भी होती है। अपने तेज से स्वाधीन रहनेवाली कोल भिल्लादि की सेना को 'आरण्यक' कहते है। जिसमें शत्रु के द्वारा निकाले हुये सैनिक वेतन देकर रख लिये गये हों अथवा जो शत्रु की सेना भेदनीति से अपने अधीन कर ली गई हो उसे 'शत्रुबल' कहते है। विश्वसनीय न होने के कारण ये दोनों दुर्बल व नाम मात्र की होती है। इनसे वस्तुतः युद्ध कार्य नही चलाया जा सकता।*

चाणक्य के मत में चतुरंगिणी सेना के साथ-साथ—

1. मौलबल (राजधानी स्वरूप मूलस्थान पर रहने वाली सेना)
2. भृतबल (वेतनभोगी सेना)
3. श्रेणिगत (जनपद में रहने वाले शस्त्रधारी सैनिक)
4. मित्रबल (मित्र राजाओं की सेना)

---

* सौजन्यात् साधकं मैत्रं स्वीयं भृत्या प्रपालितम्।
मौलं बह्वब्दानुबन्धि साद्यस्कं यत्तदन्यथा॥
सुयुद्धकामुकं सारमसारं विपरीतकम्।
शिक्षितं व्यूहकुशलं विपरीतमशिक्षितम्॥
गुल्मीभूतं साधिकारि स्वस्वामिकमगुल्मकम्।
दत्तास्त्रादि स्वामिना यत् स्वशस्त्रास्त्रमतोऽन्यथा॥
कृतगुल्मं स्वयं गुल्मं सद्वच्च दत्तवाहनम्।
आरण्यकं किरातादि यत् स्वाधीनं स्वतेजसा॥
उत्सृष्टं रिपुणा वापि भृत्यवर्गे निवेशितम्।
भेदाधीनं कृतं शत्रोः सैन्यं शत्रुबलं स्मृतम्॥
उभयं दुर्बलं ज्ञेयं केवलं साधकं न तत्। (शु. नी. 4अ7प्र. 11–15)

चार और आठ अंगों के आधार पर सेना क्रमशः चार और आठ प्रकार की मानी जा सकती है, किन्तु विशेष उपभोग के कारण चार प्रधान अंगों के आधार पर आठ प्रकार की सेना के स्थान पर चार प्रकार की ही सेना गिनी जाने लगी जिसे 'चतुरंगिणी' सेना का नाम दे दिया गया।[1]

सेना के गुप्त अंग :—सेना के तीन प्रधान गुप्त अंग माने गये हैं—1. जंगम (सर्पादि द्वारा जनित विषादि) 2. अजगम (वनस्पति आदि से उत्पादित विष जैसे अर्ककनकादि। 3. चूर्णयोग (शंखियादि)। ये गोपनीय दण्डसाधन शत्रुपक्ष के वस्त्रादिको को स्पर्श करवाकर, भोजनादि मे मिलाकर शत्रुपक्ष का विनाश करने के काम में लिये जाते है। इन्हीं में अन्य वस्तुओं का मिश्रण करके अनेक प्रकार से विषो (गुप्तांगो) का निर्माण किया जा सकता है।[2]

शुक्राचार्य के मत में भी सेना प्रधान रूप से। (1) स्वगमा और (2) अन्यगमा दो ही प्रकार की मानी गई है, किन्तु इन दोनों के भी दैत्यगुरु ने (1) दैवी, (2) आसुरी और (3) मानवी भेद से 3 भेद पुनः कर दिये है।

स्वगमा :—जो स्वयं गमन करने वाली सेना होती है वह स्वगमा होती है। पैदल सेना को स्वगमा माना गया है।

अन्यगमा :—जो अन्य द्वारा गमन करनेवाली होती है वह अन्यगमा कहलाती है। रथ, घोडा और हाथी के द्वारा गमन करने के कारण यह 3 प्रकार की होती है।[3] इस प्रकार यहां तक भीष्म और शुक्राचार्य के मत मे कोई विशेष भेद नही है। वही 'चतुरंगिणी' सेना दोनों में समान रूप से दिखाई देती है केवल मुख्य दो भेदों को विभिन्न रूपों में प्रदर्शित किया गया है, किन्तु आगे चलकर शुक्राचार्य ने भी इसी चतुरंगिणी सेना के स्व.पर, शिक्षा-अशिक्षा, शस्त्र-वाहन, मित्र-शत्रु, सार-असार, वन, वेतनादि को लेकर अनेक भेद कर दिये है—"मित्रतावश युद्ध के कार्य का निर्वाह करने वाले सैन्य को 'मैत्र' एवं वेतन देकर रखे हुये

---

1. शान्ति प. 59/40-41 पू., 59/40-41 गी.
2. शान्ति प 59/42-43 पू., 59/42-43 गी.
3. स्वगमाऽन्यगमाचेति द्विधा सैवपृथक् त्रिधा।
   दैव्यासुरी मानवी च पूर्वं पूर्वं बलाधिका ॥
   स्वगमाया स्वयंगन्त्री यानगाऽन्यगमास्मृता।
   पादातं स्वगमं चान्यद्रथाश्वगजगं त्रिधा ॥ (शु. नी. 4अ/7अ/2-3)

को 'स्वीय' कहते हैं। बहुत वर्षों से पास में रहनेवाली को 'मौल' और इसके विपरीत अर्थात् तत्काल भर्ती की हुई सेना को 'सद्यास्क' कहते है। भलीभाँति युद्ध करने के लिये उत्सुक रहनेवाली सेना को 'सार' और इसके विपरीत रहने वाली को 'असार' कहते है। व्यूहरचना में कुशल सेना को 'शिक्षित' और इसके विपरीत को 'अशिक्षित' कहते है। सेनापति के साथ रहनेवाली सेना को 'गुल्मीभूत' और बिना सेनापति के स्वतन्त्र लडने वाली को 'अगुल्मक' कहते हैं। स्वामी ने जिसको अस्त्रादि दिये हो उस सेना को दत्तास्त्रादि और इसके विपरीत जिसके पास अपना निजी शस्त्रास्त्र हो उसे 'स्वशस्त्रास्त्र' सेना कहते हैं तथा 'कृतगुल्म' (स्वामी ने सेनापति से युक्त सेना में जिसकी गणना की है) स्वयं गुल्म (अपनी इच्छा से गुल्म का अधिपति बना हुआ सैन्य) एवं 'दत्त-वाहन' सेना भी होती है। अपने तेज से स्वाधीन रहनेवाली कोल भिल्लादि की सेना को 'आरण्यक' कहते हैं। जिसमे शत्रु के द्वारा निकाले हुये सैनिक वेतन देकर रख लिये गये हो अथवा जो शत्रु की सेना भेदनीति से अपने अधीन कर ली गई हो उसे 'शत्रुबल' कहते है। विश्वसनीय न होने के कारण ये दोनों दुर्बल व नाम मात्र की होती है। इनसे वस्तुतः युद्ध कार्य नही चलाया जा सकता।*

चाणक्य के मत में चतुरंगिणी सेना के साथ-साथ—

1. मौलबल (राजधानी स्वरूप मूलस्थान पर रहने वाली सेना)
2. मृतबल (वेतनभोगी सेना)
3. श्रेणिगत (जनपद मे रहने वाले शस्त्रधारी सैनिक)
4. मित्रबल (मित्र राजाओ की सेना)

---

* सौजन्यात् साधक मैत्रं स्वीयं भृत्या प्रपालितम्।
मौलं बहुवब्दानुबन्धि साद्यस्कं यतदन्यथा॥
सुयुद्धकामुक सारमसारं विपरीतकम्।
शिक्षितं व्यूहकुशलं विपरीतमशिक्षितम्॥
गुल्मीभूतं साधिकारि स्वस्वामिकमगुल्मकम्।
दत्तास्त्रादि स्वामिना यत् स्वशस्त्रास्त्रमतोऽन्यथा॥
कृतगुल्मं स्वयं गुल्मं सद्वच्च दत्तावाहनम्।
आरण्यकं किरातादि यत् स्वाधीनं स्वतेजसा॥
उत्सृष्टं रिपुणा वापि भृत्यवर्गे निवेशितम्।
भेदाधीनं कृतं शत्रोः सैन्यं शत्रुबलं स्मृतम्॥
उभयं दुर्बलं प्रोक्तं केवलं साधकं न तत्। (शु. नी. 4अ7प्र. 11–15)

5. अमित्रबल (शत्रुराजा की सेना)
6. अटवीबल (वनपाल के अधीन रहने वाली सेना)

यह छः प्रकार की सेना और मानी गई है,[1] किन्तु गम्भीरता से चिन्तन करने पर ज्ञात होता है कि चतुरंगिणी सेना के ही स्थान विशेषों को लेकर ये विभिन्न नाम प्रतीत होते हैं। जो शुक्राचार्य के मत से बहुत साम्य रखते हैं।

आधुनिक मत से तुलना :—शुक्राचार्य के मतानुसार आज भी शस्त्रास्त्र-संयुक्त-मनुष्यों के सुशिक्षित समूह को 'सेना' कहते हैं, किन्तु समय का अत्यन्त परिवर्तन हो जाने से और विज्ञान के प्राबल्य से भारतीय सेना का अब वह चतुरंगिणी सेना वाला रूप नही रहा। यद्यपि पदाति और अश्व सेना के रूप तो हमें अब भी दर्शन के रूप मे मिलते हैं, जिनमे पदाति सेना आज भी वैसे ही कार्य करती हैं जैसे कि प्राचीनकाल में करती थी, किन्तु अश्वसेना अब केवल सन्देश-वाहिनी या दुर्गमस्थलो पर भारवाहिनी के रूप मे कार्य करती हुई दिखाई देती है। रणस्थल मे तुरगो पर चढ़कर लड़ाई नही की जाती।

आधुनिक सेना के प्रधान प्रकार :—वर्तमान भारतीय सेना में चार अंगों के स्थान पर केवल तीन ही प्रधान अंग रह गये है जिनमें भी एक अंग तो (पदाति) प्राचीन-काल-वाला ही है और दो अंग नवीन रूप मे सामने आते है। इस प्रकार आज की भारतीय सेना को हम (1) थलसेना (पदाति) (2) जलसेना (नौका सेना) और (3) नभ सेना (वायु सेना) इन तीन रूपो मे पाते है।

आधुनिक काल में स्थल सेना (पदाति) को कई इकाईयों मे बाँट दिया है जिनका अत्यन्त संक्षिप्त परिचय हम निम्न प्रकार से प्रस्तुत करते हैं—

(क) पैदल सेना (Infantry) :—इस इकाई के सैनिकों का मुख्य-कार्य अपने लड़ाई के व्यक्तिगत सामान को साथ लेकर पैदल चलकर युद्ध करना है।

1(1)समौल-भृत-श्रेणिमित्रामित्राटवीबलानां सारफल्गुता विद्यात्
(पृ. 228 चाणक्य अ.)
(2)तदेन सेनापतिः हस्त्यश्वरथचर्यासंघुष्टश्चतुरंगस्य बलस्यानुष्ठानाधिष्ठानं विद्यात्
(पृ. सं. 229 चा. 39, 339)

(ख) चिकित्सा सेना (Army Medical Core) :—यह इकाई घायल सैनिकों की चिकित्सा करती है। इसमें डाक्टर लोग हुग्रा करते हैं।

(ग) चिन्ह सूचिका सेना (Signal Army) :—इस इकाई का काम संकेतो के माधार पर अपनी तथा शत्रु की स्थिति की सूचना देना होता है। इसके लिये यह इकाई वायरलेस सेट, टेलिफोन तथा अन्य उपयोगी आधुनिक साधनों को अपने काम में लेती है।

(घ) सामग्री वितरक सेना (Army Supply Core) :—इस इकाई का कार्य ट्रक, खच्चर ऊंट घोड़े ग्रादि के द्वारा खाने पीने की तथा सैन्य सामग्री को यथा स्थान पहुँचाना होता है।

(च) शिक्षा प्रदायिका सेना (Army Educational Core) :—यह इकाई सेना को सामान्य शिक्षा देती है। उदाहरणार्थ हिन्दी, अंग्रेजी, गणित, सामाजिकज्ञान, सायान्यविज्ञान, भूगोल इतिहास ग्रादि की उच्चतर माध्यमिक स्तर तक शिक्षा देना। इसके पश्चात् सैनिक चाहे तो स्वयंपाठी के रूप में शिक्षा ग्रहण कर सकता है।

(छ) व्यायाम प्रशिक्षिका सेना (Army Physical Training Core) :—यह ईकाई सैनिक को शारीरिक व्यायाम की पूर्ण शिक्षा देती है।

(ज) तकनीकि सेना (Technical Army) :—यह इकाई सेना को ग्रागे भेजने के लिये मार्ग (सड़क) पुल, समुद्रादि तथा नदी ग्रादि को पार करने के लिये मार्ग का निर्माण करती है।

(झ) विधिव्यवहार सेना (Ordinance Army) :—यह इकाई सामानादि लेकर उसका मूल्यांकन करती है। उसकी अवधि ग्रादि के विषय में निर्णय देकर मर्यादा स्थापित (नियम निर्माण) करती है।

ग्राधुनिक सेना के प्रकटांग :—थल नभ ग्रौर जल सेना के रूप में ही ग्राधुनिक सेना के प्रकटाग गिने जा सकते है। वैसे एक सुरक्षित सेना (Secarity Army) प्रकटागों मे विशेष उभर कर ग्राती है जिसका कार्य गुप्तचरता से होता है। इस सेना के लिये युद्ध करना ग्रनिवार्य नही होता है।

आधुनिक सेना के गुप्तांग :—जिस प्रकार भीष्मपितामह ने विपादि के रूप में सेना के गुप्तांग प्रदर्शित किये हैं उसी भांति आज भी उनका उसी रूप में प्रयोग किया जाता है।

महाभारत में सेना के चार अंगों को परम्परा :—महाभारत ग्रन्थ में उपर्युक्त सेना के प्रधान अंगों की परम्परा इस प्रकार दिखाई देती है।

सर्वप्रथम सेना के चारो अंगो (पदाति, अश्व, रथ और गज) का वर्णन भगवान् वासुदेव शाल्व के साथ अपने भयंकर युद्ध मे युधिष्ठिर से करते हुये कहते है। हे राजन् ! मेरी व्यूहयुक्त नियन्त्रित सेना में हाथी घोड़, रथ और पदाति ये चार अंग विद्यमान थे।[1]

इसी प्रकार की चतुरंगिणी सेना का वर्णन पाण्डवों के द्वारा युद्ध हेतु प्रस्थान करने पर मिलता है "सेना के पृष्ठ भाग में राजा विराट, धृष्टद्युम्न, सुधर्मा, कुन्तीभोज और धृष्टद्युम्न के चार पुत्र जा रहे थे। इनके चालीस हजार रथ दो लाख अश्व और चार लाख पदाति तथा साठ हजार गज थे।"[2]

दुर्योधन की सेना के प्रयाणकाल में भी इन चार अंगों की परम्परा का विशदता के साथ वर्णन इस प्रकार मिलता है "राजा दुर्योधन ने पैदल, हाथी, रथ और घुडसवार इन सभी सेनाओं में से उत्तम मध्यम और निकृष्ट श्रेणियो को पृथक्-पृथक् करके उन्हें यथास्थान नियुक्त कर दिया।[3]

वे सभी सैनिक सोने के जालीदार कवच धारण किये नाना प्रकार के मणिमय आभूषणों से विभूषित हो समस्त सेना को ही विचित्र शोभा से सम्पन्न करते हुये अपने सुन्दर शरीर से प्रज्वलित अग्नि के समान प्रकाशित हो रहे थे। इसी प्रकार जो शस्त्रविद्या का निश्चित ज्ञान रखने वाले, कुलीन तथा घोड़ों को पहिचानने वाले थे, वे कवचधारी शूरवीर ही सारथि के काम पर नियुक्त किये गये थे। उस सेना के रथों में अमंगल निवारण के लिये यन्त्र और औषधियाँ बांधी गयी थी। वे रस्सियों से खूब कसे गये थे। उन रथो पर बंधी हुई ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थी उनके ऊपर छोटी-छोटी घंटियाँ बन्धी थी और कंगूरे जोड़े गये थे। उन सब में ढाल तलवार और पट्टिश आबद्ध थे। उन सभी रथों मे चार-चार घोड़े जुते हुये

1. वन प. 21/13 पू., 20/14 गी.
2. उ. प. 151/65–66 गी.
3. उ. प. 152/2 पू., 155/2 गी.

थे, वे सभी घोड़े अच्छी जाति के थे और सम्पूर्ण रथों में प्रास, ऋष्टि एवं सौ-सौ धनुष रखे गये थे। प्रत्येक रथ के दो-दो घोड़ों पर एक-एक रक्षक नियुक्त था, एक-एक रथ के लिये दो चक्र रक्षक नियत किये गये थे। सब ओर सुवर्ण मालाओं से अलङ्कृत हजारों रथ शोभा पाते थे। शत्रुओं के लिये उनका भेदन करना अत्यन्त कठिन था। वे सब के सब नगरों की भांति सुरक्षित थे।

जिस प्रकार रथ सजाये गये थे, उसी प्रकार हाथियों को भी स्वर्ण-मालाओं से सुसज्जित किया गया था। उन सब को रस्सों से कसा गया था। उन पर सात-सात पुरुष बैठे हुये थे, जिससे वे हाथी रत्नमुक्त पर्वतों के समान जान पड़ते थे। उनमें से दो पुरुष अंकुश लेकर महावत का काम करते थे, दो उत्तम धनुर्धर योद्धा थे, दो पुरुष अच्छी तलवारें लिये रहते थे और एक पुरुष शक्ति तथा त्रिशूल धारण करता था दुर्योधन की यह सारी सेना ही अस्त्रशस्त्रों के भण्डार से युक्त मदमत्त गजराजों से व्याप्त हो रही थी। इसी प्रकार कवचधारी युद्ध के लिये उद्यत आभूषणों से विभूषित तथा पताकाधारी सवारों से हजारों लाखों घोड़े उस सेना में विद्यमान थे। वे घोड़े उछलकूद मचाने आदि दोषों से रहित होने के कारण सदा अपने सवारों के वश में रहते थे। उन्हें अच्छी शिक्षा मिली थी। वे सुनहरे साजों से सुसज्जित थे, उनकी संख्या कई लाख थी। उस सेना के जो पैदल मनुष्य थे, वे सभी सोने के हारों से अलंकृत थे। उनके रूपरंग, कवच और अस्त्रशस्त्र नाना प्रकार के दिखाई देते थे। एक-एक रथ के पीछे दस-दस हाथी, एक-एक हाथी के पीछे दस-दस घोड़े और एक-एक घोडे के पीछे दस-दस पैदल सैनिक सब ओर पाद-रक्षक नियुक्त किये गये थे। एक-एक रथ के पीछे पचास-पचास हाथी, एक-एक हाथी के पीछे सौ-सौ घोड़े और एक-एक घोड़े के साथ सात-सात पैदल सैनिक इस उद्देश्य से संगठित किये गये थे कि वे समूह से बिछुड़ी हुई दो सैनिक टुकड़ियों को परस्पर मिला दें।[1]

राज्य के सन्दर्भ में सेना की अनिवार्यता :—यदि हम संसार के इतिहास को उठाकर देखें तो यह भली भांति ज्ञात होगा कि आज दिन तक कोई भी राज्य सबल शासक और प्रबल सेना के बिना चिरस्थायी नहीं हो सका। सेना तो राज्य के लिये अनिवार्य अंग है। यदि हम यह कह दें कि राज्य का भवन सेना मूल पर ही निर्मित होता है तो कोई अत्युक्ति नहीं है। जिस राज्य की नींव रूपी सेना जितनी अधिक दृढ़ होगी राज्य भी उतना ही दृढ़ (स्थिर) होगा। उदाहरणार्थ यदि गत दो युद्धों में हमारी भारतीय सेना दृढ़ नहीं होती तो भारत सर्वप्रभुत्व सम्पन्न

1. उ. प. 152/10–22 पृ. 155/10–23 गी.

लोकतन्त्रात्मक गणराज्य भी नहीं रहता। इसलिये राज्य के लिये सेना तो अनिवार्य है।

महाभारत में भी सेना को राज्य का अनिवार्य अंग बताया है। कूटनीतिज्ञ कणिक महाराज धृतराष्ट्र से कहता है "शत्रु वर्ग के त्रिवर्ग,* पंचवर्ग** और सप्तमवर्ग*** का सर्वथा नाश कर देना चाहिये।"[1] यहाँ पंचवर्ग में सेना भी सम्मिलित है और ये पांचों ही वस्तुयें राज्य के लिये अनिवार्य हैं अतः सेना भी राज्य का एक अनिवार्य अंग सिद्ध हुई।

इसी प्रकार महात्मा भीष्म ने भी राज्य की रक्षा के लिये युधिष्ठिर को सेना का अनिवार्यत्व बताते हुये कहा "पुरस्कारादि के द्वारा सेना का हर्ष और उत्साह बढ़ाना चाहिये।"[2] क्योंकि यदि सेना प्रसन्न नहीं होगी तो राज्य की कभी भी सुरक्षा सम्भव नहीं है। इससे राज्य की रक्षा के लिये सेना का महत्व अनिवार्य रूप में स्पष्ट है। सोत्साह, सहर्ष और सन्तुष्ट सेना ही राज्य की रक्षा करने में रूचि ग्रहण करती है। राजा यदि चतुरंगिणी सेना के एक अंग से भी सम्पन्न है तो वह दुर्ग का आश्रय लेकर समृद्धिशाली राजा के समूचे देश को भी संतप्त कर डालता है।[3] इससे स्पष्ट है कि राजा की जय पराजय सेना पर निर्भर करती है; अतः सेना वास्तव में राज्य का एक बहुत ही महत्वपूर्ण अंग है।

इसी प्रकार शुक्राचार्य भी राज्य की रक्षा हेतु अथवा राज्य के स्थायित्व हेतु सेना की अनिवार्यता बताते हुये कहते है "सेना के बिना राज्य, धन, और पराक्रम इनमें से कोई भी स्थिर नहीं रह सकता है। सभी लोग बलवान्-पुरुष के ही अधीन (वशीभूत) होते हैं तथा दुर्बल के तो बहुत से शत्रु हो जाते हैं। इस प्रकार जिसके पास सेना नहीं था जिसके पास सेना नहीं या जिसके पास कम सेना

---

* प्रभु शक्ति (ऐश्वर्य शक्ति) उत्साह शक्ति और मंत्र शक्ति। ये तीन प्रकार की शक्तियाँ ही यहाँ त्रिवर्ग कही गयी हैं।

** अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष और सेनायें पाँच प्रकृतियाँ ही पंचवर्ग हैं।

*** साम, दान, भेद, दण्ड, उद्बन्धन, विषप्रयोग और आग लगाना शत्रु को वश में करने या दबा देने के लिये ये सात साधन ही सप्त वर्ग हैं।

1. आदि प. 139/15 गी.
2. "तलाना हर्षणं नित्यं"
   शान्ति प. 58/9 गी.
3. शान्ति प. 58/18 गी.

है तो उसके तो शत्रुओं का होना स्वाभाविक है।"[1] अतः राज्य की रक्षार्थ सेना स्थान-स्थान पर रखने का आदेश देते हुये शुक्राचार्य कहते हैं "राष्ट्र के अन्दर एक-एक सौ योजन पर सैनिकों की एक टुकड़ी सेना रखनी चाहिये।"[2]

राज्य हेतु आधुनिक मत में सेना की अनिवार्यता।—आधुनिक काल में तो सेना का महत्व राजा के लिये और भी अधिक बढ़ गया है। बिना सेना के आज कोई भी राष्ट्र सुरक्षित नहीं है। यहाँ तक कि संसार के ऐसे कई देश हैं जहाँ सैनिक शिक्षा अनिवार्य रूप से दी जाती है। कुछ वर्ष पूर्व हमारे ही देश में राष्ट्रीय सेना (N C.C.) की शिक्षा प्रत्येक छात्र के लिये अनिवार्य बना दी गई थी, किन्तु सबके लिये उपयुक्त न होने के कारण इसे फिर ऐच्छिक रूप दे दिया गया।

हमने स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद चीन और पाकिस्तान के आक्रमणों का सामना कर अपनी बलिष्ठ सेना के सहारे ही अपने देश को सुरक्षित रखा। चीन, अमेरिका इंगलैण्ड, रूस तथा जापान आदि कई ऐसे देश हैं जो सेना पर राज्य का आधे से ज्यादा खर्च करते हैं। अमेरिका और पाकिस्तान ने तो पिछले वर्ष अपने सैनिक बजट में आवश्यकता से अधिक वृद्धि कर सेना के महत्व को राष्ट्र रक्षा के लिये और भी विशेष रूप से प्रकट किया है।

इस प्रकार यदि हम सम्पूर्ण विश्व पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें कोई भी ऐसा देश दिखाई नहीं देता जो राज्य के संदर्भ में सेना की अनिवार्यता को स्वीकार न करता हो। अतः आधुनिक मत मे तो सेना राज्य के लिये परमानिवार्य अंगों में से एक अंग है।

महाभारत के महायुद्ध हेतु सैन्य संगठन के प्रकार

जब दुर्योधन ने पाण्डुओं को अपना दायाद भाग देना अस्वीकार कर दिया तो पाण्डवों के द्वारा युद्ध हेतु तैयारी करना स्वाभाविक था। उन्होने अपने पक्ष को सुदृढ़ बनाने के लिये महाराज विराट के यहाँ एक सभा का आयोजन किया जिसमें विभिन्न राजाओं ने सैन्य संगठन हेतु इस प्रकार मत प्रस्तुत किये।

---

1. सैन्याद्विना नैव राज्यं न धनं न पराक्रमः।
   बलिनो वशगाः सर्वे दुर्बलस्य च शत्रवः॥
   अवन्त्यल्पजनस्यापि नृपस्य तु न किं पुनः। (शु. नी. 4/7अ/4–4/1/2)
2. शत शतं योजनान्ते सैन्यं राष्ट्रे नियोजयेत्। (शु. नी. 4/7अ/175)

महाराज द्रुपद ने कहा "हमें अपने मित्रों के पास यह सन्देश भेजना चाहिये कि वे हमारे लिये सैन्य-संग्रह का उद्योग करें। हमारे शीघ्रगामी दूत शल्य, धृष्टकेतु, जयत्सेन और समस्त केकय राजकुमारों के पास जाये। निश्चय ही दुर्योधन भी अपने लिये सैन्य-सग्रहार्थ सबके यहाँ सन्देश भेजेगा। श्रेष्ठ-राजा जब किसी के द्वारा पहले सहायता के लिये निमन्त्रित हो जाते हैं, तब प्रथम निमन्त्रण देने वाले की ही सहायता करते हैं। अतः सभी राजाओं के पास पहले ही अपना निमन्त्रण पहुँच जाये, इसके लिये शीघ्रता करो। मैं सोचता हूँ कि हम सब लोगों ही इस महान् कार्य का भार वहन करना है।

इसलिये पूर्व-समुद्र-तटवर्ती राजा-भगदत्त, अमितौजा, उग्र, हार्दिक्य,(कृतवर्मा) अन्धक, दीर्घप्रज्ञ तथा शूरवीर रोचमान के पास भी दूतों को भेजना आवश्यक है। राजा बृहन्त, सेनाबिन्दु, सेनजित् प्रतिविन्ध्य, चित्रवर्मा, सुवास्तुक बाह्लीक, मुंजकेश, चेदियराज सुपार्श्व, सुबाहु, महारथी पौरव, शकनरेश, पहलवराज तथा दरददेश के नरेश भी निमन्त्रित किये जाने चाहिये। सुरारि, नदीज, भूपाल कर्णवेष्ट, नील, वीरधर्मा, पराक्रमी भूमिपाल, दुर्जयदन्तवक्र, रूक्मी, जनमेजय, आषाढ़, वायुवेग, राजा पूर्वपाली, भूरितेजा, देवक, पुत्रों सहित एकलव्य, करुणदेश के बहुत नरेश पराक्रमी क्षेमधृति, काम्बोज नरेश ऋषिक देश के राजा, पश्चिम द्वीप-वासी नरेश, जयत्सेन, काश्य, पंचनद प्रदेश के राजा, दुर्धर्ष क्राथपुत्र, पर्वतीय नरेश, राजा जनक के पुत्र, सुशर्मा, मणिमान्, यौतिमत्सक, पाशुराज्य के अधिपति, पराक्रमी धृष्टकेतु, तुण्ड, दण्डधार, वीर्यशाली वृहत्सेन, अपराजित, निषादराज, श्रेणिमान्, वसुमान्, वृहद्बल, महौजा, शत्रुनगरी पर विजय पाने वाले बाहु पुत्र सहित पराक्रमी शाल्यपुत्र, कुमार तथा युद्धदुर्मद कलिंग-राज, इन सबके पास शीघ्र ही रण निमन्त्रण भेजा जाय, मुझे यही ठीक जान पड़ता है।[1]

महाराज युधिष्ठिर के द्वारा पूजनीय राजा द्रुपद के मन्तव्य के अनुसार यत्र तत्र सैन्यसंगठन हेतु शीघ्रगामी दूत भेजे गये। मत्स्याधिपति विराट और पांचाल-राज द्रुपद के सन्देश से दूर-दूर के महाबली नरेश बड़े हर्ष और उत्साह में भरकर वहाँ आने लगे। इसी प्रकार राजा दुर्योधन ने भी यह सुनकर पाण्डवों के यहाँ विशाल सेना एकत्र हो रही है, अपने तीव्रगामी दूतों के द्वारा भूमिपालों को बुलाना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार कौरव तथा पाण्डवों के उद्देश्य से दूर-दूर के नरेश अपनी सेना लेकर प्रस्थान करने लगे। इनकी चतुरंगिणी सेना से सारी भूमि व्याप्त हुई सी जान पड़ने लगी। चारों ओर से उन वीरों के जो सैनिक आ

---

1. उ. प. 4/10-25 पू., 4/10-24 गी.

रहे थे, ये पर्वतों और वनों सहित इस सारी वसुन्धरा को प्रकम्पित सी कर रहे थे।[1]

यही नहीं दोनों पक्षों के द्वारा जो पूजनीय महापुरुष थे, उनके पास अपने-अपने पक्ष के प्रधान व्यक्ति स्वंय गये और उन्होंने अपने-अपने पक्ष की सहायता हेतु याचना की धनजय और दुर्योधन का वासुदेव श्रीकृष्ण के पास अपने-अपने पक्ष की सहायता हेतु याचना का आदर्श दृष्टान्त इस प्रकार मिलता है। "महाराज युधिष्ठिर द्वारा यत्रतत्र दूतों को भेजने के अनन्तर धनंजय सहायता हेतु जब श्रीकृष्ण के पास जाने को उद्यत हुये तब दुर्योधन अपने गुप्तचरों से यह सब कुछ जानकर अर्जुन के पहले ही जनार्दन के पास पहुँच गया। जब वह केशव के पास पहुँचा तब वे सोये हुये थे। अतः वह श्रीकृष्ण के शिर की ओर जाकर एक श्रेष्ठ आसन पर बैठ गया। अर्जुन ने भी वहाँ पहुँच कर देखा कि वासुदेवनन्दन तो सो रहे हैं तो उन्हें प्रणाम करके उनके चरणों की ओर एक आसन पर बैठ गया। भगवान श्रीकृष्ण जब प्रतिबुद्ध हुये तो उन्होंने अर्जुन को सम्मुख बैठे हुये देखा और तत्पश्चात् शिर की ओर बैठे हुये दुर्योधन को भी। अतः दोनों का ही स्वागत करके उन्होंने उन दोनों के आगमन के प्रयोजनों को पूछा। तब दुर्योधन ने हँसते हुये श्रीकृष्ण से कहा "हे माधव! पाण्डवों के साथ होने वाले इस भीषण संग्राम में आप मेरी सहायता करने योग्य है क्योंकि मेरे और अर्जुन के साथ आपकी मैत्री समान रूप से है एवं हम लोगों का आपके साथ सम्बन्ध भी समान ही है और मधुसूदन! आज मैं ही आपके पास पहले आया हूँ। पूर्व पुरुषों के सदाचार का अनुसरण करने वाले श्रेष्ठ-पुरुष पहले आये हुये प्रार्थी की सहायता करते है। हे जनार्दन! आप इस समय ससार के सत्पुरुषों मे सबसे श्रेष्ठ हैं और सभी सर्वदा आपको सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। अतः आप सत्पुरुषों के ही आचरण का पालन करें।"

भगवान् देवकीनन्दन ने कहा "राजन्! इसमें संशय नहीं कि आप ही मेरे यहाँ पहले आये हैं, किन्तु मैंने पहले कुन्तीनन्दन अर्जुन को देखा है। सुयोधन! आप पहले आये हैं और अर्जुन को मैंने पहले देखा है, इसलिये मै दोनो की ही सहायता करूँगा। शास्त्र की आज्ञा है कि पहले बालकों को ही उनकी अभीष्ट वस्तु देनी चाहिये, अतः अवस्था में छोटे होने के कारण पहले कुन्तीपुत्र अर्जुन ही अपनी अभीष्ट वस्तु पाने के अधिकारी है। मेरे पास दस करोड़ लोगों की विशाल सेना है, जो सब के सब मेरे जैसे ही बलिष्ठ शरीर वाले है। उन सब की 'नारायण' सज्ञा है। एक ओर तो वे दुर्धर्ष सैनिक युद्ध के लिये उद्यत रहेंगे और दूसरी ओर से

---

1. उ. प. 5/14-17 पू., 5/14-17 गी.

अकेला मैं रहूँगा, परन्तु मैं न तो युद्ध करूँगा और न कोई शस्त्र ही धारण करूँगा। अर्जुन ! इन दोनों मे से कोई एक वस्तु जो तुम्हारे मन को अधिक प्रिय जान पड़े, तुम पहले चुन लो, क्योकि धर्म के अनुसार पहले तुम्हें ही अपनी मनचाही वस्तु चुनने का अधिकार है।"

श्रीकृष्ण के ऐसा कह चुकने पर कौन्तेय अर्जुन ने संग्राम भूमि में युद्ध न करने वाले उन भगवान् श्रीकृष्ण को ही अपना सहायक चुना। तदनन्तर दुर्योधन ने वह सारी सेना माँग ली और फिर वह बलशाली रोहिणी-नन्दन बलरामजी के पास गया, किन्तु उन्होने दुर्योधन से कहा "दुर्योधन ! मैं श्रीकृष्ण की ओर देखकर मन ही मन इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि न तो अर्जुन की सहायता करूँगा और न तुम्हारी ही। पुरुषरत्न ! इसलिये तुम जाओ और क्षत्रिय धर्म के अनुसार युद्ध करो।"[1]

तदनन्तर दुर्योधन ने यह सुनकर कि महारथी शल्य आ रहे हैं तो स्वयं ने आगे बढ़कर मार्ग मे ही उनका सेवा-सत्कार प्रारम्भ कर दिया। उसने राजा शल्य के सत्कार के लिये रमणीय प्रदेशों मे बहुत से सभा भवन तैयार करवाये, जिनकी दीवारो मे रत्न जड़े हुये थे तथा उन भवनो को सब प्रकार से सजाया गया था। अनेक प्रकार के शिल्पियो ने उनमे अनेकानेक क्रीड़ा विहार के स्थान बनाये थे। वहाँ भाँति-भाँति के वस्त्र, मालायें, खाने पीने का सामान तथा सत्कार की अन्यान्य वस्तुये रखी गयी थीं। वहाँ पर अनेक प्रकार के मन की प्रसन्नता को बढ़ाने वाले कुवे बावडियाँ और ऐसे जलगृह बनवाये थे, जिनमें जल की विशेष सुविधा सुलभ की गई थी। सब ओर विभिन्न स्थानो मे बने हुये उन सभा भवनो मे पहुँच कर राजा शल्य दुर्योधन के मंत्रियों द्वारा देवताओं की भाँति पूजित हुये। उस समय अत्यन्त प्रसन्न होकर शल्य ने सेवकों से पूछा "युधिष्ठिर के किन व्यक्तियो ने ये सभा भवन बनवाये है उन सबको बुलाओ। मैं उन्हें पुरस्कार देने योग्य मानता हूँ। कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर को भी मेरे इस व्यवहार का अनुमोदन करना चाहिये।" यह सुनकर सेवकों ने विस्मित हो दुर्योधन से वे सारी बातें बतायी। जब हर्ष मे भरे हुये राजा शल्य अपने प्रति किये गये सत्कार के प्रति प्राण तक देने को तैयार हो गये, तब गुप्त रूप से वही छिपा हुआ दुर्योधन शल्य के सामने गया। उसे देख-कर तथा उसी ने यह सारी तैयारी की है, यह जानकर मदराज ने प्रसन्नता पूर्व-दुर्योधन को हृदय से लगा लिया और कहा "तुम अपनी अभीष्ट वस्तु मुझसे माँग लो।"

1. उ. प. 7/1–28 पू, 7/1–30 गी.

तब दुर्योधन ने कहा "कल्याण-स्वरूप महानुभाव ! आपकी बात सत्य हो। आप मुझे अवश्य वर दीजिये। मैं चाहता हूँ कि आप मेरी सम्पूर्ण सेना के अधिनायक हो जायें। आपके लिये जैसे पाण्डव है वैसे ही मैं हूँ। प्रभु मैं आपका भक्त होने के कारण आपके द्वारा समादृत और पालित होने योग्य हूँ। अतः मुझे अपनाइये। शल्य ने कहा "महाराज तुम्हारा कहना ठीक है। भूपाल, तुम जैसा चाहते हो, वैसा ही वर तुम्हें प्रसन्नता पूर्वक देता हूँ। यह ऐसा ही होगा। मैं तुम्हारी सेना का अधिनायक बनूँगा।"[1]

दुर्योधन को वरदान देकर शल्य जब युधिष्ठिर से मिलने आये तो उन्होंने भी दुर्योधन के समान कूटनीति से अपने कार्य की सिद्धि के लिये वरदान ले लिया। युधिष्ठिर ने कहा "वीर महाराज आपने प्रसन्न होकर जो दुर्योधन को उसकी सहायता का वचन दे दिया, वह अच्छा ही किया, किन्तु महीपते। आपका कल्याण हो। मैं आपके द्वारा अपना भी एक काम कराना चाहता हूँ। साधु शिरोमणे। वह न करने योग्य होने पर भी मेरी ओर देखते हुये आपको अवश्य करना चाहिये। वीरवर। आप इस भूतल पर संग्राम के सारथि का काम करने के लिये वसुदेवनन्दन के समान माने गये है। इसलिये हे नृपोत्तम। जब कर्ण और अर्जुन के द्वैरथयुद्ध का अवसर प्राप्त होगा, उस समय आपको ही कर्ण के सारथि का कार्य करना पड़ेगा, इसमें तनिक भी संशय नहीं है, राजन्। यदि आप मेरा प्रियकार्य करना चाहते हैं तो उस युद्ध में आपको अर्जुन की रक्षा करनी होगी। आपका कार्य इतना ही होगा कि आप कर्ण का उत्साह भंग करते रहें। वहीं कर्ण से हमें विजय दिलाने वाला होगा। मामाजी मेरे लिये यह न करने का योग्य कार्य भी करें।" शल्य ने कहा "पाण्डुनन्दन ! निश्चय ही मैं संग्राम में कर्ण का सारथि होऊँगा, क्योंकि स्वयं कर्ण भी सदा मुझे सारथिकर्म मे भगवान् श्रीकृष्ण के समान समझता है। कुरुश्रेष्ठ ! जब कर्ण रणभूमि में अर्जुन के साथ युद्ध की इच्छा करेगा, उस समय मैं अवश्य ही उसके प्रतिकूल अहितकर वचन बोलूँगा। जिससे उसका अभिमान और तेज नष्ट हो जायेगा और वह युद्ध में सुखपूर्वक मारा जा सकेगा। कुन्तीनन्दन मैं तुम्हे यह सत्य कहता हूँ।"[2]

उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि महाभारत काल में युद्ध क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म था। यदि कोई महायुद्ध होता था तो उसमे क्षत्रिय भागलेना चाहते थे और युद्ध करने वाले भी सभी क्षत्रियों को अपने-अपने पक्ष में सम्मिलित करना

---

1. उ. प. 8/6–12 पू., 8/7–22 गी.
2. उ. प. 8/25–31 पू., 8/40–48 गी.

चाहते थे। सामान्य क्षत्रिय तो केवल दूत के द्वारा सन्देश पाने के बाद ही युद्ध की स्वीकृति प्रदान कर देते थे, किन्तु विशेष क्षत्रियों के पास अपने-अपने पक्ष में अधिनायकों को सहायता की याचना करने हेतु जाना पड़ता था। ससम्मान बुलाने पर प्रायः सभी क्षत्रिय ऐसे महान् युद्धों में सम्मिलित होना अपना परमगौरव और सौभाग्य मानते थे। बिना सम्मान के कोई भी सम्मिलित नहीं होता था और यदि कोई सम्मिलित भी होना चाहता हो और पक्ष वाले उसे अपने पक्ष में सम्मिलित करना नहीं चाहते हों तो वह सम्मिलित नहीं हो पाता था। उदाहरणार्थ रुक्मी पाण्डवों के पक्ष की ओर से युद्ध करना चाहता था, किन्तु उसकी विकत्थना और अभिमान की प्रवृत्ति के कारण उसे दोनों में से किसी भी पक्ष की ओर से युद्ध करने का अवसर नहीं दिया गया।[1]

क्षत्रिय वीरों में वचन की दृढ़ता प्रतीत होती थी। लोगों के द्वारा छल-कपट से काम लेने पर भी एक बार वचनबद्ध होने पर वे वचन से टलते नहीं थे। दोनों पक्ष वाले जैसे भी हो सके श्रेष्ठ योद्धाओं को अपनी ओर सम्मिलित करना चाहते थे और योद्धा सम्मान के वशीभूत होकर अपने सम्बन्ध तक को नगण्य रख-कर सम्मान के प्रति प्राणोत्सर्ग करने तक को उद्यत रहते थे। सभी पक्ष अपनी-अपनी बुद्धिमानी से अपने विपक्ष को पराजित करने की चाल चलते थे।

महाराज युधिष्ठिर भी सेना के संगठन में कम निपुण नहीं थे। दुर्योधन ने जब अपने पक्ष को प्रबल बना लिया और युधिष्ठिर की सेना कौरव पक्ष के सामने लघु प्रतीत हुई तो युधिष्ठिर ने रणाँगण में कुछ दूर जाकर अपनी सुनियोजित सेना को पुनः नियोजित किया जिससे कि धार्तराष्ट्रों की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न हो जाये।[2]

आधुनिक काल से तुलना :—प्राचीनकाल और आधुनिककाल के सैन्य-संगठन प्रकार में बहुत अन्तर है। प्राचीनकाल में प्रत्येक राजा के पास अपनी-अपनी एक सेना होती थी और वह उसे लेकर प्रधान पक्ष या विपक्ष की सहायता करने पहुँचता था। आज प्रत्येक राष्ट्र के पास अपनी-अपनी सेना होती है तथा उस सेना का संगठन शासन की आज्ञा के अनुसार अनुभवी सेनापतियों द्वारा किया जाता है। प्रत्येक राष्ट्र के विभिन्न प्रान्तों में सेनाकी विभिन्न इकाईयों का एकत्रीकरण किया जाता है और राष्ट्र पर संकट आने पर सम्पूर्ण देश की सेना की

1. उ. प. 158/35–38 पू., 159/35–38 गी.
2. उ. प. 197/11 पू., 196/13 गी.

इकाइयाँ राष्ट्र-रक्षा में एक स्वर से शासन की आज्ञानुसार तत्पर हो जाती है। कभी-कभी एक राष्ट्र के द्वारा दूसरे राष्ट्र से सहायता मांगने पर शासन चाहे तो तो अपनी सेना सहायतार्थ भेज सकता है जैसे भारत ने पाक-बंग युद्ध मे अपनी सेना को सहायतार्थ भेजा। इसी प्रकार कभी-कभी सम्पूर्ण विश्व के हित मे सभी राष्ट्र संयुक्तराष्ट्र संघ के आह्वान पर अपनी-अपनी सहायक सेना की टुकड़ियाँ मानव-मर्यादा को बनाये रखने के लिये सहायतार्थ भेज देते हैं। वस्तुतः मूल बात वही है किन्तु समय और स्थान के अनुसार सैन्य संगठन प्रकार में परिवर्तन हो गया है।

महाभारत के महायुद्ध हेतु सैन्य संगठन में सामाजिक आधार :— महाभारत कालीन समाज में क्षात्रधर्म की प्रधानता थी। क्षत्रिय लोग ही समाज पर शासन कर उसे सुव्यस्थित रखते थे। क्षत्रियों का मुख्य धर्म था 'क्षय' से रक्षा करना। अतः अन्याय के विरुद्ध दुर्ष्टों का दमन करना सज्जनों या महापुरुषों का कर्त्तव्य था। महात्मा विदुर के कथनानुसार कौरवों में दस्युपन की प्रवृत्ति प्रविष्ट हो गई थी। अतः चोर और लुटेरों का दमन करना युधिष्ठिर का अपने भाइयों के साथ परम कर्त्तव्य था। इस कारण महाभारत के महायुद्ध की प्रस्तावना हुई।

क्योंकि युद्ध करना क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म था। अतः कोई भी क्षत्रिय इस महान् युद्ध मे भाग न लेकर अपयश का भागी नहीं बनना चाहता था। इस कारण जिस-जिस को भी ससम्मान पहले निमन्त्रण मिला वह बिना विचार किये उसी पक्ष की ओर से इस युद्ध में सम्मिलित होने को प्रस्तुत हो गया। क्षात्र-समाज मे इस समय दो गुट बन गये थे एक न्याय का और एक अन्याय का अथवा यो कहिये कि एक पाण्डवों का और एक धार्तराष्ट्रों का। जो जिस पक्ष की पुष्टि करना चाहता था, वह उसी में सम्मिलित हो गया और कोई भी क्षत्रिय दोनों मे से किसी एक पक्ष मे सम्मिलित हुये बिना नही रह सकता था क्योंकि तत्कालीन क्षात्र-समाज से कोई भी अपने पृथक् कर अपयश का भाजन बनना नहीं चाहता था। अतः समाज के धरातल की महत्ता को समझते हुये उस समय का सारा क्षात्र-समाज अपने-अपने पक्ष की पुष्टि करने के लिये उमड़ पड़ा।

न्याययुक्त सामाजिकाधार के एक सूत्र मे ग्रथित हुये पाण्डवो के सभी हितैषी राजा लोग अपनी-अपनी सेनाओं के साथ पाण्डवो की सहायता करने के लिये क्रमशः इस प्रकार आये। सात्वतवंश के महारथी वीर युयुधान (सात्यकि) [illegible] चतुरंगिणी सेना साथ लेकर युधिष्ठिर के पास आये। उनके सैनिक बड़े [illegible] वीर थे। वे भाँति-भाँति के अस्त्रशस्त्र लिये उस सेना की शोभा बढ़ा[illegible]

सात्यकि की वह सेना हाथियों के समूह के कारण तथा कृष्णवर्ण की वेशभूषा के कारण मेघों के समान काली दिखाई देती थी। सैनिकों के सुनहरे आभूषणों से सुशोभित हो वह ऐसी जान पड़ती थी, मानो बिजलियों सहित मेघों की घटा छा रही हो। वह एक अक्षौहिणी सेना युधिष्ठिर की विशाल वाहिनी में समाकर उसी भांति विलीन हो गयी, जैसे कोई छोटी नदी समुद्र में मिल गई हो। इसी प्रकार महाबली चेदिराज धृष्टकेतु अपनी एक अक्षौहिणी सेना साथ लेकर अमित तेजस्वी पाण्डवों के पास आये। मागधवीर जयत्सेन और जरासंध का महाबली पुत्र जयदेव– ये दोनो एक अक्षौहिणी सेना के साथ धर्मराज युधिष्ठिर के पास आये थे। इसी प्रकार समुद्रतटवर्ती जलप्राय: प्रदेश के निवासी अनेक प्रकार के सैनिकों से घिरे हुये पाण्ड्यनरेश युधिष्ठिर के पक्ष में पधारे थे। उस सैन्य-समागम के समय युधिष्ठिर की सुन्दर वेशभूषा से विभूषित तथा प्रबल सेना, जिसकी सेना बहुत अधिक थी, देखने ही योग्य जान पड़ती थी। द्रुपद की सेना तो वहां पहले ही उपस्थित थी। इस प्रकार मत्स्यनरेश सेनापति विराट भी पर्वतीय राजाओं के साथ पाण्डवों की सहायता के लिये प्रस्तुत थे। महात्मा पाण्डवों के पास इधर-उधर से सात अक्षौहिणी सेनायें एकत्रित हुई थीं जो नाना प्रकार की ध्वजपताकाओं से व्याप्त दिखायी देती थी। ये सब सेनायें कौरवों से युद्ध करने की इच्छा रखकर पाण्डवों का हर्ष बढ़ाती थी।[1]

इसी प्रकार अन्याययुक्त सामाजिकाधार के सूत्र में बन्धे हुये दुर्योधन को चाहने वाले राजा लोग भी अपनी-अपनी सेनाओं के साथ उसकी सहायता करने हेतु क्रमश: इस प्रकार आये। राजा भगदत्त ने दुर्योधन का हर्ष बढ़ाते हुये उसे एक अक्षौहिणी सेना प्रदान की। सुनहरे शरीर वाले चीन और किरात देश के योद्धाओं से भरी हुई भगदत्त की दुर्धर्ष सेना खिले हुये कनेर के जंगल सी जान पड़ती थी। इसी प्रकार शूरवीर भूरिश्रवा तथा राजा शल्य पृथक्-पृथक् एक-एक अक्षौहिणी सेना साथ लेकर दुर्योधन के पास आये। हृदिकपुत्र कृतवर्मा भी भोज, अन्धक तथा कुकुरवंशी वीरों के साथ एक अक्षौहिणी सेना लेकर दुर्योधन के पास आया। उन वनमाला-धारी पुरुषसिंहों से कृतवर्मा की सेना उसी प्रकार सुशोभित हुई, जैसे क्रीड़ापरायण मतवाले हाथियों से कोई विशाल वन शोभा पा रहा हो। जयद्रथ अन्य राजा, जो सिन्धु और सौवीर देश के निवासी थे, पर्वतों को कंपाते हुये से दुर्योधन के पास आये। उनकी वह एक अक्षौहिणी सेना हवा से उड़ाये जाते हुये अनेकरूप वाले मेघ के समान प्रतीत होती थी।

---

1. उ. प. 19/1–13 पू., 19/1–13 गी.

कम्बोज नरेश सुदक्षिण भी यवनों और शकों के साथ एक अक्षौहिणी सेना लिये दुर्योधन के पास आया। उसका सैन्य-समूह टिड्डियों के दल सा जान पड़ता था। वह सारा सैन्य-समुदाय कौरव सेना में आकर विलीन हो गया। इसी भाँति माहिष्मतीपुरी के निवासी राजा नील भी दक्षिण देश के रहने वाले श्यामवर्ण के शस्त्रधारी महापराक्रमी सैनिकों के साथ दुर्योधन के पक्ष में आये। कैकय-देश के सुप्रसिद्ध पुरुषसिंह पाँच नरेश, जो परस्पर सगे भाई थे, दुर्योधन का हर्ष बढ़ाते हुये एक अक्षौहिणी सेना के साथ आ पहुँचे। तदनन्तर इधर-उधर से समस्त महामना-नरेशों की तीन अक्षौहिणी सेनायें और आ पहुँची इस प्रकार दुर्योधन के पास सब मिलाकर ग्यारह अक्षौहिणी सेनायें एकत्र हो गयी। जो भाँति-भाँति की ध्वजा पताकाओं से सुशोभित थी और कुन्तीकुमारों से युद्ध करने का उत्साह रखती थी।[1]

इस प्रकार यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि दोनों पक्षों की सेना का सगठन प्रमुखरूप से सामाजिकाधार की महत्ता को धारण करता है और इसी सामाजिकाधार के कारण उस समय सारी वसुन्धरा के सभी प्रदेश नवयुवकों से शून्य हो गये थे। उनमें केवल बालक और वृद्ध ही शेष रह गये थे। सारी वसुधा, घोडे, हाथी, रथ और तरुणपुरुषों से हीन सी हो रही थी।[2]

आधुनिक काल में सैन्य संगठन का सामाजिक आधार :—समग्र विश्व के प्रायः सभी राष्ट्र इस समय एक राष्ट्रीयभावना के सूत्र में आबद्ध है। हमारा भारत भी कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक संस्कृतिरूपी सूत्र मे आबद्ध हो सुसंगठित है। राष्ट्र के आबालवृद्धनरनारी राष्ट्रीयरक्षा हेतु समाज-कल्याण का ध्यान रखकर बलिदान करने को सदैव तत्पर रहते है। आज के भारत का सामाजिक आधार पहले से विशाल है। आज जाति-बन्धन की सीमाओं को लाँघकर भारत का प्रत्येक निवासी राष्ट्ररक्षा हेतु सेना में प्रवेश ले सकता है और वृहद् समाज (राष्ट्र) की रक्षा हेतु सेना में प्रवेश लेकर प्राणो का उत्सर्ग करने को उद्यत रहता है। आज सेना संगठन हेतु सामाजिकाधार इकाईयों के रूप में न रहकर विशाल समुद्र के समान है। आज प्रान्त की प्रवाहिनी इकाईयाँ वृहद्समाजाधार समुद्र में स्वतः आकर विलीन हो जाती हैं। आज की सेना के संगठन हेतु ऐसा सुदृढ़ सामाजिक आधार है जिसमे बिना विशेष प्रयत्न के ही व्यक्ति की इकाईयाँ सम्मिलित होकर उसकी नींव को सुदृढ बना देती है।

---

1. उ. प. 19/14–27 पू., 19/14–27 गी.
2. भीष्म प. 1/1–7 पू., 1/1–7 गी.

महाभारत में सैन्य संगठन श्रेणियां :—महाभारत मे सेना की श्रेणी विभाजन का वर्णन दो स्थानों पर दो पृथक्-पृथक् व्यक्तियों के द्वारा किया गया है जिनमें वैषम्य और कुछ साम्य भी प्रतीत होता है। श्रेणी विभाजन के प्रथम वक्ता सौति (उग्रश्रवा) हैं और द्वितीय वक्ता श्री वैशम्पायन हैं। इसी प्रकार प्रथम प्रकार के श्रोता ऋषिलोग हैं और द्वितीयप्रकार के श्रोता जनमेजय तथा ऋषिलोग हैं। अब हम दोनों की ही तुलना करते हुये महाभारत मे उल्लिखित सैन्य-संगठन की इकाईयो (श्रेणियो) को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं।

ऋषियों ने कहा "सूतनन्दन ! आपने जो अभी अक्षौहिणी शब्द का उच्चारण किया इसके सम्बन्ध मे हम लोग सारी बातें यथार्थ रूप से सुनना चाहते है" तब सौति (उग्रश्रवा) ने सेना की नौ श्रेणियों का इस प्रकार वर्णन किया—

1. पत्ति :—एक रथ, एक हाथी, पांच पैदल सैनिक और तीन घोड़े—बस इन्हीं को सेनामर्मज्ञ 'पत्ति' कहते हैं। यहाँ पर वैशम्पायन का श्री उग्रश्रवा के मत से वैभिन्य है। ये कहते हैं "पचपन पैदलो की एक टुकड़ी को पत्ति* कहते है।"

2. सेनामुख :—इसी पत्ति की तिगुनी संख्या को विद्वान् पुरुष 'सेनामुख' कहते हैं। उपर्युक्त कथन के आधार पर इसमे 3 रथ, 3 हाथी, 15 पैदल और 9 अश्व होने चाहियें, किन्तु वैशम्पायन के कथनानुसार इस श्रेणि मे पैदलो की संख्या 165 होनी चाहिये, जबकि त्रिगुणात्मक** रूप के कथन में दोनों मे साम्य मिलता है।

3. गुल्म :—तीन सेनामुखो का एक 'गुल्म' होता है। इसमें सौति के मतानुसार 9 रथ, 9 हाथी, 45 पैदल और 27 अश्व होने चाहियें, किन्तु वैशम्पायन का मत इससे बिल्कुल भिन्न है। वे कहते है 'सेनामुख' का ही दूसरा नाम 'गुल्म× है।

4. गण :—'तीन गुल्मो का एक 'गण' होता है।' इसमे सौति के अनुसार 27 रथ, 27 हाथी, 135 पैदल, 81 अश्व होने चाहियें, किन्तु वैशम्पायन के मत

---

*नराणां पंचपंचाशदेषा पत्तिर्विधीयते।
×(उ. प. 152/25(24 1/2) पू., 155/28 27 1/2 गी.
**सेनामुखं च तिस्रास्ता गुल्म इत्यभिशब्दितम्।
(उ. प. 152/25 पू., 155/28 गी.)

में 495 मनुष्य होने चाहियें जबकि लक्षण समान ही बताते हुये वे कहते हैं। 'तीन गुल्मों का एक गण*** होता है।'

5. वाहिनी :—'तीन गण की एक वाहिनी' होती है। उग्रश्रवा के मत में इसमें 81 रथ, 81 हाथी, 405 पैदल और 243 अश्व होने चाहियें, किन्तु वैशम्पायन इसके लक्षण के विषय में कहते हैं 'दस पृतनाओं% की एक वाहिनी' होती है यहां पर दोनों के मत बिल्कुल विभिन्न है। वैशम्पायन तो दस पृतनाओं की एक वाहिनी%% मानते हैं जबकि अग्रिम किये जाने वाले लक्षणानुसार उग्रश्रवा तीन वाहिनी की एक 'पृतना मानते हैं। वैशम्पायन के मत में वाहिनी में 50,000 रथ और 50,000 हाथी होने चाहियें।

6. पृतना :—सेना का रहस्य जानने-वाले विद्वानों ने तीन वाहिनियों को 'पृतना' कहा है। उग्रश्रवा के मत में इसमें 243 रथ, 243 हाथी, 1215 पैदल और 729 अश्व होने चाहियें, जबकि वैशम्पायन 'दस सेनाओं* की एक पृतना' मानते हैं। इस प्रकार वैशम्पायन का 'पृतना' का लक्षण उग्रश्रवा से मतवैभिन्य रखता है। वैशम्पायन के मत में पृतना में 50,000 रथ और 50,000 हाथी होने चाहियें।

7. चमू :—तीन पृतनाओं की एक 'चमू' होती है। उग्रश्रवा के मत में इसमें 729 रथ, 729 हाथी, 3645 पैदल और 2187 अश्व होने चाहियें, जबकि वैशम्पायनजी इसके लक्षण के विषय में मौन है और इसे सेना का ही पर्याय मानते है जिसका वर्णन हम पहले कर चुके हैं।

8. अनीकिनी :—तीन चमू एक 'अनीकिनी' होती है। उग्रश्रवा के मत में इसमे 2187 रथ, 2187 हाथी, 10935 पैदल और 6561 अश्व होने चाहियें। वैशम्पायनजी के मत मे सेना की इस इकाई का नाम हम पूर्व कथानुसार 'वरुथिनी' ले सकते है, किन्तु उन्होने इसका भी लक्षण नही दिया है, अपितु इसे भी सेना का ही पूर्वकथनानुसार पर्याय माना है।

***त्रयो गुल्मा गणस्त्वासीद् (उ.प. 152/25 1/4 पू, 155/28 1/4 गी.)

%'दससेना च पृतना' (उ.प. 152/20 3/4 पू, 155/23 3/4 गी.)

%%'पृतना दसवाहिनी' (उ. प. 152/21 पू., 155/24 गी.)

* वैशम्पायन द्वारा कथित सेना का लक्षण हम पहले दे चुके है।

9. अक्षौहिणी :—दस अनीकिनी की एक 'अक्षौहिणी' होती है। यह विद्वानो का मत है।[1] उग्रश्रवा के मत में इसमें 21870 रथ, 21870 हाथी, 109350 पैदल और 65610 अश्व होने चाहियें। वैशम्पायनजी अक्षौहिणी के लक्षण के विषय में मौन हैं। किन्तु पूर्वकथनानुसार वे इसे भी सेना का पर्याय मानते हैं। धनुर्वेद में भी अक्षौहिणी की कुल संख्या 218700 बताई गई है। साथ ही रथ, गज, पैदल और अश्वों की संख्या भी उतनी ही है जितनी उग्रश्रवा ने बताई है। इस प्रकार उग्रश्रवा के द्वारा प्रदर्शित अक्षौहिणी की संख्या धनुर्वेद द्वारा पुष्ट हो जाती है।**

इस प्रकार हम देखते हैं कि उग्रश्रवा और वैशम्पायन के मत में सेना की श्रेणियां तो वे ही नौ हैं, किन्तु लक्षणों, नामों और संख्याओं में विभिन्नता मिलती है। जहां पर उग्रश्रवा गुल्म को अलग मानते हैं वहां पर वैशम्पायन सेनामुख और गुल्म को एक ही मानते हैं। इस श्रेणी की पूर्ति के लिये हम वैशम्पायन द्वारा 'ध्वजिनी' नाम एक और ग्रहण करलें तो दोनों के मत में श्रेणियों की संख्या तो वही नौ होगी, फिर भले ही नाम, लक्षण रथ, हाथी, मनुष्यों और अश्वों की संख्या भिन्न-भिन्न हो।

आधुनिक सेना की श्रेणियों से तुलना :—महाभारत की सेना की श्रेणियां आज भी उसी प्रकार उन्हीं नौ भागों में विभक्त होती हुई चली आ रही है। बहुत सी श्रेणियों की तो सैनिकों की संख्या और त्रिगुणात्मकता भी ठीक वैसी ही मिलती है जैसी उस समय विद्यमान थी। अब हम आधुनिक श्रेणियों को प्रस्तुत करते हुये उनका महाभारत कालीन श्रेणियों से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं—

---

1. आदि प. 2/13–22 पू., 2/17–26 गी.

**खद्वयमस्वरवस्वेदु नेत्रै-रक्षौहिणी मता।
(218700) अक्षौहिण्यां प्रदिष्टानां रथानां वर्मधारिणां ।।98।।
संख्या गणिततत्त्वज्ञैः सहस्त्राण्येकविंशतिः।
उपर्यष्टौ शतान्याहुस्तथा भूय(पा)श्चसप्तति ।।99।।
गजानान्तु परीमाणमेतदेव प्रकीर्तयेत्।
ज्ञेयं लक्षं पदातीनां सहस्त्राणि तथा नव ।।200।।
शतानि त्रीणि पञ्चाशच्छूराणां शस्त्रधारिणां।
पञ्चषष्टिसहस्त्राणि तथाश्वानां शतानि च ।।201।।
दशोत्तराणि षट्प्राहुः संख्यातत्वविदोजनाः ।।202। धनुर्वेद (अक्षौ. स. वि.)

1. उपइकाई (Sub Unit) या टुकड़ी (Section) :—यह आधुनिक भारतीय सेना की प्राथमिक इकाई अर्थात् सबसे छोटी सैन्य श्रेणी है। इसमें कुल मिलाकर दस सैनिक होते हैं, जिनमें एक नायक एक उपनायक और आठ सिपाही (सैनिक) होते है। महाभारत कालीन सेना की प्राथमिक सैन्य श्रेणी 'पत्ति' के नाम से अभिहित होती थी। जिसमें 5 पैदल 1 रथ 1 हाथी और 3 अश्व इस प्रकार महावत और सारथी को छोड़कर वे ही कुल 10 योद्धा इस श्रेणी में मिलते हैं जो आधुनिक उप इकाई की संख्या में मिलते हैं।

2. पलटन (Platoon) :—आधुनिक सेना की इस श्रेणी में कुल मिला कर 38 सैनिक होते हैं जिनमें 1 सूबेदार या नायब सूबेदार 1 हवलदार 3 नायक 3 उपनायक और 30 सिपाही (सैनिक) होते हैं। यह श्रेणी महाभारत कालीन श्रेणी 'सेनामुख' से ठीक मिलती जुलती सी है जैसे 'सेनामुख' पत्ति का त्रिगुणात्मक रूप होता है वैसे ही पलटन भी टुकड़ी का त्रिगुणात्मक सा ही रूप है।

3. सैन्य समुदाय (Company) :—आधुनिक इस सैन्य श्रेणी में कुल मिलाकर 129 सैनिक होते हैं, जिनमें एक सेनाध्यक्ष, (Company Commander) जिसका पद सेनाध्यक्ष (Majore) होता है। उप सेनाध्यक्ष (2ndincharec Company Commander) जिसजा पद सेनापति (Captain) होता है। 4 सूबेदार (Junior Commission officer) 5 हवलदार 9 नायक 4 उपहवलदार (Lance Hawaldar) 16 उपनायक तथा 89 पैदल (सैनिक) होते है। यह आधुनिक श्रेणी महाभारत-कालीन 'गुल्म' श्रेणी से मिलती जुलती है जैसे 'गुल्म', 'सेनामुख' का त्रिगुणात्मक होता है वैसे ही सैन्य समुदाय (Company) भी पलटन का त्रिगुणात्मक सा ही रूप है।

4. सेनाबल (Battalion) :—इसका शासनाधिकारी (Commandant officer) सेनाध्यक्ष (Colonel) होता है। इसमें मेजर और कैप्टीन के अलावा 7 अधिकारी होते है। 2 उपसेना दलाधिकारी (2nd Aommandant officer) होते हैं जिनका पद मेजर होता है, 3 सहायक सैन्याधिकारी (Adjutont) होते है इनका पद मेजर या कैप्टीन या प्रथम श्रेणी का लेफ्टीनेन्ट होता है। एक वस्त्रागाराधिकारी (Quartar Master) होता है जिसका पद द्वितीय श्रेणी. का लेफ्टीनेन्ट होता है। और शेष 734 सैनिक होते है। इसमे कुल मिलाकर 750 सैनिक होते है। यह श्रेणी सेनासमुदाय (Company) का षट्गुणा रूप होता है अर्थात् इसमें 6 कम्पनियाँ होती है। यह आधुनिक श्रेणी महाभारतकालीन 'गण' श्रेणी से मेल है, किन्तु इसकी संख्या उग्रश्रवा के 'गण' की संख्या से मेल न खाकर

'ग्रण' की संख्या से मिलती जुलती सी है। यहाँ पर उग्रश्रवा तथा वैशम्पायन के त्रिगुणात्मकता का नियम परिवर्तित होकर पड्गुणात्मक हो जाता है। यह एक बहुत बड़ा अन्तर है।

5. वृहद् सेनादल (Brigade) :—इस श्रेणी में कुछ अधिकारी और बढ जाते है और यह सेनादल (Battalion) से तिगुणी होती है। इसमें सैनिकों की कुल संख्या मिलाकर 2250 होती है। यह आधुनिक श्रेणी महाभारतकालीन 'वाहिनी' सैन्य-श्रेणी से मिलती है। जैसे उग्रश्रवा के मत में 'गण' से वाहिनी त्रिगुणात्मक होती है वैसे ही यह वृहद् सेनादल (Brigade) भी सेनादल (Battalion) का त्रिगुणात्मक होता है। इस श्रेणी की संख्या उग्रश्रवा और वैशम्पायन दोनों से ही मेल नही खाती। अनुमानतः वैशम्पायन की सख्या से लगभग आधी संख्या इस वृहद् सेनादल की होती है।

6. वृहत्तर सैन्यदल (Division); :—यह सैन्यदल वृहत् सैन्यदल (Brigde) का तिगुणा होता है इसमें कुल मिलाकर सैनिको की संख्या लगभग 6750 होती है यह आधुनिक श्रेणी महाभारतकालीन उग्रश्रवा द्वारा उल्लेखित 'पृतना श्रेणी से मिलती है। उग्रश्रवा द्वारा कथित 'त्रिगुणात्मक' का नियम इसमें भी लागू हो रहा है, किन्तु इसकी संख्या उग्रश्रवा द्वारा प्रदर्शित संख्या से लगभग तिगुणी है और वैशम्पायन द्वारा प्रदर्शित सख्या से कुछ अधिक है।

7. वृहत्तम सेनादल (Core) :—यह आधुनिक सैन्यदल वृहत्तर सैन्यदल (Diuision) का तीन गुणा होता है इसमे लगभग 20250 सेनिक होते हैं। यह आधुनिक श्रेणी महाभारतकालीन उग्रश्रवा कृत 'चमू' श्रेणी से मिलती है। इसकी संख्या उग्रश्रवा के द्वारा प्रदर्शित संख्या से लगभग तीन गुणी प्रतीत होती है, जबकि वैशम्पायन इस विपय मे मौन है। अग्रश्रवा का 'त्रिगुणात्मक' नियम यहाँ लागू हो रहा है।

8. कमान (Comman) :—यह आधुनिक सैन्य-दल वृहत्तम सेनादल (Core) से तीन गुणा होता है। इसमें लगभग 60750 सैनिक होते हैं। यह आधुनिक श्रेणी से मिलती है। इसकी संख्या उग्रश्रवा के द्वारा प्रदर्शित संख्या से लगभग त्रिगुणी प्रतीत होती है, जबकि वैशम्पायन इस विषय में मौन हैं। उग्रश्रवा का त्रिगुणात्मक नियम यहाँ लागू हो रहा है।

9. बल (Army) :—यह आधुनिक सैन्यदल 'कमान' सैन्यदल से दशगुना होता है। इसमें लगभग 607500 सैनिक होते हैं। यह आधुनिक श्रेणी महाभारत-

कालीन उग्रश्रवा कृत अक्षौहिणी श्रेणी से मिलती है। इसकी संख्या उग्रश्रवा द्वारा प्रदर्शित संख्या से लगभग त्रिगुणी है, जबकि वैशम्पायन इस विषय में मौन है उग्रश्रवा का दस-गुणात्मक नियम यहाँ भी लागू हो रहा है।

(सैन्य श्रेणियों का तुलनात्मक मानचित्र)

(अ)

1. सौति (उग्रश्रवा) के मत में महाभारतकालीन सैन्यश्रेणियां एवं उनके सैनिकों की संख्या :—

(1) पत्ति :—रथ 1, हाथी 1, पैदल 5, अश्व 3, सारथी महावत के अतिरिक्त कुल सैनिकों की संख्या (10)।

(2) सेनामुख :—रथ 3, हाथी 3, पैदल 15, अश्व 9, कुल (30)।

(3) गुल्म :—रथ 9, हाथी 9, पैदल 45, अश्व 27, कुल (90)

(4) गण :—रथ 27, हाथी 27, पैदल 135, अश्व 81, कुल (270)

(5) वाहिनी :—रथ 81, हाथी 81, पैदल 405, अश्व 243, कुल (810)

(6) पृतना :—रथ 243, हाथी 243, पैदल 1215, अश्व 729 कुल (2430)

(7) चमू :—रथ 729, हाथी 729, पैदल 3645, अश्व 2187, कुल (7290)

(8) अनीकिनी :—रथ 2197, हाथी 2197, पैदल 10935, अश्व 6561, कुल (21870)

(9) अक्षौहिणी :—रथ 21870, हाथी 21870, पैदल 109350, अश्व 65610, कुल (218700)

2. वैशम्पायन के मत में महाभारतकालीन सैन्यश्रेणियां एवं उनके सैनिकों की संख्या :—

(1) पत्ति :—रथ, हाथी, पैदल, अश्व 55

(2) सेनामुख (गुल्म) :—रथ, हाथी, पैदल, अश्व 165

(3) गण :—पैदल 495

(4) पृतना :—रथ 5000, हाथी 5000, पैदल–, अश्व–
(5) वाहिनी :—रथ 50000, हाथी 50000
(6) ध्वजिनी :—(सेना की पर्याय)
(7) चमू :—(सेना की पर्याय)
(8) वरुथिनी :—(सेना की पर्याय)
(9) अक्षौहिणी :—(सेना की पर्याय)

(ब)
(सैन्य श्रेणियों का तुलनात्मक मानचित्र)

3. आधुनिक मत में सेना की श्रेणियां एवं उनके सैनिकों की संख्या :—

(1) (पत्ति) उपइकाई (Subunit) या टुकड़ी (Section) :—नायक 1, उपनायक 1, सैनिक 8 कुल 10

(2) (सेनामुख) पलटन (Platoon) :—सूबेदार या नायब सूबेदार (J. C. O.) or (Sub Junior Commission officer) 1, हवलदार 1, नायक 3, उपनायक 3, सैनिक 30, कुल 38

(3) (गुल्म) सैन्यसमुदाय (Company) :—सेनाध्यक्ष (Dompany Commander) 1 मेजर, उपसेनाध्यक्ष (2nd incharge c. c.) 1, कैप्टीन, सूबेदार 4, हवलदार 5, नायक 9, उपहवलदार 4, उपनायक 16, पैदल सैनिक 89, कुल 229

(4) (गण) सेनादल (Battalion) :—मेजर 1, केप्टेन 1, अधिकारी 7, सेनाध्यक्ष (Commeneant officer) कर्नल 1, बटालियन 2nd 9 2 मेजर सहायक बटालियन (Adjatank) 3, (मेजर या केप्टेन), मेडिकल अफसर 1, (II लेफ्टीनेन्ट) वस्त्रागाराधिकारी (Onarter Master II Left) 1, सैनिक 734, कुल 750 (छः कम्पनिया कुल)

(5) (वाहिनी) वृहद् सेनादल (Brigade) :—Battalion से तिगुनी कुछ अधिकारी और बढ़ जाते हैं कुल सं. 2250

(6) (पृतना) वृहत्तर सेनादल (Dibision) :—Brigade से तिगुणी कुल सैनिक 6750

(7) (चमू) वृहत्त सेनादल (Core) :—Dibision से तिगुनी कुल सैनिक 20250

(8) (अनीकिनी) कमान (Command) :—Care से तिगुनी कुल सैन्य 60750

(9) अक्षौहिणी बल (Army) :—कमान से दश गुनी कुल सं. 607500

धनुर्वेद की परम्परा

धनुष मानव जाति का एक प्रधान अस्त्र रहा है। अतः जब से मनुष्यों में युद्ध की आवश्यकता हुई तब से ही धनुष की उत्पत्ति हो गई थी स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण संजय को धनुष की उत्पत्ति के विषय में कहते हैं "संजय ! स्वयं देवराज इन्द्र ने लुटेरों का वध करने के लिये कवच, शस्त्र और धनुष का आविष्कार किया है।"[1] यदि हम भारतीय इतिहास पर दृष्टि डालें तो वैदिक काल से लेकर मध्य-काल तक इस अस्त्र की अत्यन्त प्रधानता दिखाई देती है। यहाँ तक कि इसकी प्रधानता के कारण इस विषय पर एक अलग 'उपवेद' रच दिया गया जिसे हम 'धनुर्वेद' के नाम से जानते हैं। धनुर्वेद प्रधानतः 'यजुर्वेद' का 'उपवेद' माना जाता है, किन्तु तन्त्रमन्त्रमारणमोहनादि के वर्णन के कारण कुछ विद्वान् इसे 'अथर्ववेद' का 'उपवेद' भी ठहराते हैं। महर्षि उशना तो 'जिसके ज्ञान से मनुष्य युद्ध, शस्त्र, व्यूह-रचना आदि में निपुणता प्राप्त करता है, उसे यजुर्वेद का उपवेद 'धनुर्वेद' कहते हैं, ऐसा धनुर्वेद का लक्षण करते* हैं।' महाभारत में प्रदर्शित धनुर्वेद की परम्परा तथा धनुर्वेदज्ञों की परम्परा पर प्रकाश डालने से पूर्व यह आवश्यक है कि इस धनुर्वेद का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करदें।

धनुर्वेद का परिचय :—अत्यन्त प्राचीन-काल में शाकम्भरी** देश में हम्मीर नाम का राजा राज्य करता था। उसके एक राघव नामका बृहस्पति के

---

1. उ. प. 29/27 पू., 29/30 मी.

* युद्धशस्त्रास्त्रकुशलो रचनाकुशलो भवेत्।
यजुर्वेदोपवेदोऽयं धनुर्वेदस्तु येन सः ॥37॥
(शु. नी. 4/तृतीयप्रकरण/वि. क. निरु. 37)

**राजस्थान राज्य के अन्तर्गत एक झुंझुनूं नाम का मण्डल (जिला) है। इस मण्डल में 'लोहार्गल' नामका एक तीर्थ क्षेत्र है। इस तीर्थ क्षेत्र से लगभग 48 कि. मी. पूर्व की ओर "शाकम्भरी" देवी का तीर्थ क्षेत्र है, जिससे यह प्रकट होता है कि यह प्रदेश ही शाकम्भरी प्रदेश था।

समान धीमान् मंत्री था। उसके मध्यम-पुत्र दामोदर के एक पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ जिसका नाम शाङ्‌र्गधर था।[1] उस दामोदरात्मज शाङ्‌र्गधर ने एक 'वृहत्शार्ङ्गधर पद्धति' नामक ग्रन्थ की रचना की जिसमें धनुर्वेद भी एक विशिष्ट प्रकरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस धनुर्वेद में शाङ्‌र्गधर ने धनुर्धर प्रशंसा, धनुर्धारण-विधि, चापप्रमाण, गुण-लक्षण, बाण-लक्षण, फल-लक्षण, फलपातन, नाराचनालिका, गुणमुष्टियाँ, धनुर्मुष्टिसन्धान, लक्ष्य, श्रमध्याय, समक्रिया, ज्यावल्लनविधि, शीघ्रसन्धान, दूरपातित्व, दृढ़प्रहारिता, बाणों की लक्ष्यस्खलनगतियाँ, सुगतियाँ, दृढ़चतुष्क, विचित्रविधि, चावलक्ष्य, शब्दभेदित्व, मस्त्रविधि, विधिरूपवास, संग्राम-विधि, अक्षौहिणीसंख्या, महाक्षौहिणी-संख्या, व्यूहविधि, व्यूहप्रकार और युद्ध-विधि आदि विषयों पर प्रकाश डाला है।

महाभारततोल्लिखितधनुर्वेद परम्परा :— भृगुवंशी महर्षि च्यवन की इक्कीस दिन तक अद्भुत सेवा करने के पश्चात् राजा कुशिक ने उनके प्रसन्न हो जाने पर उनसे अपने भावी पौत्र द्वारा ब्राह्मणत्व की प्राप्ति के विषय में जानना चाहा। तब महर्षि च्यवन ने विश्वामित्र की तथा परशुराम की भावी उत्पत्ति को प्रकट करते हुये धनुर्वेद की परम्परा को इस प्रकार प्रदर्शित किया "हे जनेश्वर" क्षत्रिय लोग सदा से ही भृगुवशी ब्राह्मणों के यजमान हैं, किन्तु प्रारब्धवश आगे चलकर उनमें फूट हो जायेगी। वे दैव की प्रेरणा से समस्त भृगुवंशियों का संहार कर डालेंगे। तदनन्तर मेरे वंश में ऊर्व नामक एक महातेजस्वी बालक उत्पन्न होगा, जो भार्गव गोत्र की वृद्धि करेगा। उन्हीं ऊर्व के पुत्र ऋचीक होंगे, जिनकी सेवा में सम्पूर्ण धनुर्वेद मूर्तिमान होकर उपस्थित होगा। वे क्षत्रियों का संहार करने के लिये दैव-वश उस धनुर्वेद को ग्रहण करके तपस्या से शुद्ध अन्तकरण वाले अपने पुत्र महाभाग जमदग्नि को उसकी शिक्षा देंगे। भृगुश्रेष्ठ जमदग्नि उस धनुर्वेद को धारण करेंगे। हे धर्मात्मन्! वे ऋचीक तुम्हारे कुल की उन्नति के लिये तुम्हारे वंश की कन्या का पाणिग्रहण करेंगे। तुम्हारी पौत्री एवं गाधी की पुत्री को पाकर महातपस्वी ऋचीक क्षत्रिय धर्म वाले ब्राह्मण जातीय पुत्र को उत्पन्न करेंगे। अपनी पत्नी की प्रार्थना से ऋचीक क्षत्रियत्व को अपने पुत्र से हटाकर भावी पौत्र में स्थापित कर देंगे। वे मुनि तुम्हारे कुल में राजा गाधि को एक महान् तपस्वी और परमधार्मिक पुत्र प्रदान करेंगे, जिसका नाम विश्वामित्र होगा। वह बृहस्पति के समान तेजस्वी तथा ब्राह्मणोचित कर्म करने वाला क्षत्रिय होगा। ब्रह्माजी की प्रेरणा से गाधि की पत्नी और पुत्री—ये स्त्रियाँ (चरूबदकर) इस महान् परिवर्तन

---

1. वृ. शा. पद्धति/कविवंशवर्ण प्रथम परिच्छेदः।
   (काशीमुद्रायंत्र में मुद्रित-विश्वनाथ मन्दिर के पास गंगा-वाराणसी प्रसाद।)

में कारण बनेंगी, यह अवश्यम्भावी है। इस प्रकार तुमसे तीसरी पीढ़ी में तुम्हें ब्राह्मणत्व प्राप्त हो जायेगा और तुम भृगुवंशियों के सम्बन्धी हो जाओगे।" महाराज युधिष्ठिर को राजर्षि भीष्म समझाते हुये बोले "युधिष्ठिर! उस समय च्यवन ऋषि ने जैसा कहा था, उसके अनुसार ही आगे चलकर भृगुकुल में परशुराम और कुशिकवंश में विश्वामित्र का जन्म हुआ।"[1]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि धनुर्वेद की परम्परा भृगुवंश में उत्पन्न महर्षि ऋचीक से प्रारम्भ हुई और उन्होंने ही इसकी दो शाखायें की जो इस प्रकार चली। ऋचीक ने जमदग्नि को और जमदग्नि ने परशुराम को अपने धनुर्वेद की शिक्षा प्रदान कर भृगुवंशीय परम्परा डाली एवं ऋचीक ने ही कुशिकपुत्र गाधी को परमधार्मिक पुत्र विश्वामित्र प्रदान कर इसकी क्षात्रपरम्परा डाली। ये दोनों ही महानुभाव धनुर्विद्या के अतुल्य ज्ञाता थे। महर्षि परशुराम ने अपने पिता की हत्या का प्रतिशोध लेने हेतु सहस्त्रबाहुकार्तवीर्यार्जुन को समाप्त कर इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियों से विहीन कर धनुर्विद्या की अपनी परम्परा की धाक विश्व में जमा दी एवं महर्षि विश्वामित्र ने भी घोर तपस्या कर ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया और अपनी धनुर्विद्या की परम्परा को भगवान् श्रीराम को देकर उसके ही सहारे रावणादि प्रमुख राक्षसों का विनाश करवाकर उसे समग्र संसार में प्रकाशित किया। इस प्रकार ये दो परम्परायें चली जिनका पर्यवसान द्रोणाचार्य की वंशपरम्परा तथा श्रीराम की वंशपरम्परा (लवकुशादि) में हुआ। हम आगे बतायेंगे कि भार्गव धनुर्वेद की परम्परा में कौन-कौन दीक्षित हुये।

महाभारत में धनुर्वेदज्ञों की परम्परा :—उपर्युक्त परम्परा में दीक्षित हमें दो प्रधान आचार्य मिलते हैं, जिनका पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध हो जाता है और वे एक दूसरे की वंश वृद्धि के सहायक बनते हैं। उनमें प्रधान हैं महर्षि गौतम और महर्षि भरद्वाज। अब हम इन दोनों आचार्यों के कुल में उत्पन्न होने वाले धनुर्वेदज्ञों का पूर्ण परिचय इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं।

महर्षि शरद्वान् :—महाराज जनमेजय ने श्री वैशम्पायन से जब कृपाचार्य का जन्म वृतान्त तथा उनके गुणों को जानना चाहा तो उन्होंने कृपाचार्य के पूर्वजों पर प्रकाश डालते हुये कहा "महाराज! महर्षि गौतम के शरद्वान गौतम नाम से प्रसिद्ध एक पुत्र थे। कहते हैं वे सरकण्डों के साथ पैदा हुये थे। उनकी बुद्धि धनुर्वेद में जितनी लगती थी उतनी वेदों के अध्ययन में नहीं। अन्य ब्रह्मचारी तपस्यापूर्वक

---

1. अनु. प. — —पृ., 56/2-14, 21 गी.

वेदों का ज्ञान प्राप्त करते थे और वे तपस्या युक्त होकर सम्पूर्ण अस्त्रशस्त्र प्राप्त करते थे। वे धनुर्वेद में पारंगत तो थे ही, उनकी तपस्या भी इतनी भारी थी कि देवराज इन्द्र भी चिन्तित हो उठे। उन्होंने जानपदी नाम की देव-कन्या को शारद्वान की तपस्या में विघ्न डालने भेजा। उस अद्वितीय सुन्दरी को देखकर शरद्वान के नेत्र प्रसन्नता से खिल उठे। उनके धनुषबाण भूमि पर गिर गये और उनके शरीर में कम्प हो आया, किन्तु वह महातपस्वी धैर्यपूर्वक अपनी मर्यादा में स्थिर रहा, किन्तु मन के विचलित हो जाने से उनका वीर्य स्खलित हो गया, परन्तु उन्हें इस बात का भान नहीं हुआ उनका वह वीर्य सरकण्डे के समुदाय पर गिरकर दो भागों में विभक्त हो गया फिर उसी वीर्य से एक पुत्र (कृप) और पुत्री (कृपी) की उत्पत्ति हुई।[1]

कृपाचार्य :—शरद्वत् कृपाचार्य कौरवों (पाण्डव एवं कौरवों) के प्रथम धनुर्वेदिक गुरु थे। हम इनके जीवन पर पूर्ण प्रकाश इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं।

उत्पत्ति और पालन :—जैसाकि ऊपर के प्रसंग से स्पष्ट है कि महर्षि शरद्वान से एक पुत्र और एक पुत्री उत्पत्ति हुई। जब महर्षि शरद्वान अपने कृष्ण मृग-चर्म, धनुषबाण, उस आश्रम और उस देवकन्या को वहीं छोड़कर चल दिये तो उनके वीर्य से उत्पन्न हुयी सन्तति भी वहीं रह गई। दैवयोग से उस आश्रम पर राजा शन्तनु आ निकले और उन मृगचर्मादि वस्तुओं से उन्होंने यह जान लिया कि ये दोनों सन्तानें किसी धनुर्वेद में पारंगत ब्राह्मण की हैं। राजा उन्हें देखते ही कृपा के वशीभूत हो गये और उन दोनों को अपने साथ घर ले आये। तदनन्तर प्रतीपनन्दन शन्तनु ने उन दोनों सन्तानों का पालन-पोषण किया और यथा सम्भव उन्हें सब संस्कारों से सम्पन्न किया। राजा शन्तनु ने यह सोच कर कि मैंने इन बालकों को कृपापूर्वक पाला पोषा है। अतः इनका नाम कृप और कृपी होगा।[2]

शिक्षा :—राजा के द्वारा पाली गई अपनी दो सन्तानों का वृतान्त शरद्वान गौतम ने तपोबल से जान लिया और वहाँ गुप्तरूप में आकर अपने पुत्र को गोत्रादि

1. आदि प. 120/2-11 पू., 129/2-11 गी.
2. आदि प. 120/12-17 पू., 129/14-19 गी.

सब बातों का पूरा परिचय दे दिया। चार प्रकार% के धनुर्वेद नानाप्रकार के शास्त्र तथा उन सबके गूढ़ रहस्य का भी पूर्णरूप से उसको उपदेश दे दिया। इससे कृप थोड़े ही समय में धनुर्वेद के उत्कृष्ट आचार्य हो गये।[1]

आचार्यपद :—महात्मा भीष्म ने कृपाचार्य के गुणों का मूल्यांकन कर अपने पौत्रों को धनुर्वेद की शिक्षा देने के लिये उन्हें आचार्य पद पर अभिषिक्त कर दिया। धृतराष्ट्र के महारथी पुत्र, पाण्डव तथा यादव सबने उन्हीं कृपाचार्य से धनुर्वेद का अध्ययन किया। वृष्णिवंशी तथा भिन्न-भिन्न देशों से आये हुये अन्य नरेश भी उनसे धनुर्वेद की शिक्षा लेते थे।

महर्षिभरद्वाज :—कृपाचार्य के सम्पूर्ण वृत्तान्त को जान लेने के अनन्तर जनमेजय ने आचार्य द्रोण के विषय में पूर्णरूपेण जानना चाहा। तब वैशम्पायन ने द्रोणाचार्य के पूर्वजों पर प्रकाश डालते हुये उनकी उत्पत्ति,उनकी शिक्षा, विवाह और कुरुदेश में आकर आचार्य पद को ग्रहण करना आदि के विषय में इस प्रकार बताया "जनमेजय! गंगाद्वार मे भगवान् भरद्वाज नाम से प्रसिद्ध अस्त्रवेत्ताओं में श्रेष्ठ एक महर्षि रहते थे। वे सदा अत्यन्त कठोर व्रतों का पालन करते थे। एक दिन उन्हें एक विशेष प्रकार के यज्ञ का अनुष्ठान करना था। इसलिये वे भरद्वाज मुनि महर्षियों को साथ लेकर गंगा मे स्नान करने के लिये गये। वहाँ पर उन्होंने घृताची अप्सरा को स्नानान्तर वस्त्र बदलते हुये देखा। वह अत्यन्त लावण्यमयी और रूपयौवनसम्पन्ना थी। वस्त्र बदलते समय उसका वस्त्र नीचे खिसक गया और उसे उस अवस्था में देखकर ऋषि के मन में कामवासना जाग उठी। उस अप्सरा में मन आसक्त हो जाने के कारण उनका वीर्य स्खलित हो गया और ऋषि ने उस वीर्य को द्रोण (यज्ञकलश) में रख दिया।[2]

% धनुर्वेद के चार भेद इस प्रकार है—मुक्त, अमुक्त, मुक्तामुक्त तथा मन्त्रमुक्त। छोड़े जाने वाले बाणादि को मुक्त, जिन्हे हाथ में लेकर प्रहार किया जाय, उन खड्गादि को अमुक्त, जिस शस्त्र को चलाने और समेटने की कला ज्ञात हो उसे मुक्तामुक्त और जिसे मन्त्र पढ़कर चला तो दिया जाय किन्तु उसके उपसंहार की विधि ज्ञात न हो उस अस्त्र को मन्त्रमुक्त कहते है। अस्त्र, शस्त्र, प्रत्यस्त्र और परमास्त्र—ये भी धनुर्वेद के चार भेद है। इसी प्रकार आदान, सधान, विमोक्ष और संहार—इन चार क्रियाओं के भेद से भी धनुर्वेद के चार भेद होते है। (आदि प. 129/22 की टिप्पणी पृ.-388 गीता प्रेस)

1. आदि प. 120/18–20 पू., 129/20–22 गी.
2. आदि प. 120/29–35 पू., 129/31–37 गी.

द्रोणाचार्य :—कृपाचार्य के द्वारा पूर्णतः शिक्षा मिल जाने पर भी भीष्म-पितामह अपने पौत्रों में विशिष्ट योग्यता उत्पन्न करना चाहते थे। अतः उन्होंने भरद्वाज वंशी वेदवेत्ता बुद्धिमान द्रोण को आचार्य के पद पर प्रतिष्ठित कर उनको पाण्डव तथा धार्तराष्ट्रों को शिष्य रूप में समर्पित कर दिया, जिनके जीवन का पूर्ण वृत्तान्त इस प्रकार है—

उत्पत्ति और शिक्षा :—महर्षि भरद्वाज द्वारा द्रोण (कलश) में स्थापित वीर्य से एक पुत्र रत्न का जन्म हुआ, क्योंकि उसका द्रोण से जन्म हुआ था अतः वह द्रोण नाम से ही विख्यात हुआ। उस बालक ने सम्पूर्ण वेदों और वेदांगों का अध्ययन किया। प्रतापी भरद्वाज ने अग्निवेश को आग्नेयास्त्र की शिक्षा दी थी। अग्निवेश मुनि साक्षात् अग्नि के पुत्र थे। उन्होंने अपने गुरुपुत्र द्रोण को उस आग्नेय नामक महान् अस्त्र की शिक्षा दी।[1]

विवाह और पुत्र प्राप्ति :—कुछ दिनों बाद भगवान् भरद्वाज स्वर्गवासी हो गये और महातपस्वी द्रोण उसी आश्रम में रहकर तपस्या करने लगे। उन्होंने तपस्या द्वारा अपनी सम्पूर्ण पापराशि को दग्ध कर डाला उनकी कठोर तपस्या से उनका महान् यश सब और फैल चुका था। एक समय पितरों ने उनके मन में पुत्र उत्पन्न करने की प्रेरणा दी। अतः द्रोण ने पुत्र के लोभ से शरद्वान की पुत्री कृपी को धर्मपत्नी के रूप में ग्रहण किया। कृपी सदा अग्निहोत्र धर्मानुष्ठान तथा इन्द्रिय संयम में उनका साथ देती थी। गौतमी कृपी ने द्रोण से अश्वत्थामा नामक पुत्र प्राप्त किया। उस बालक ने जन्म लेते ही उच्चैःश्रवा घोड़े के समान शब्द किया। उसे सुनकर अन्तरिक्ष में स्थित किसी अदृश्य चेतन कहा "इस बालक के चिल्लाते समय अश्व के समान शब्द सम्पूर्ण दिशाओं में गूँज उठा है, अतः यह अश्वत्थामा नाम से ही प्रसिद्ध होगा। उस पुत्र से द्रोण को अतिप्रसन्नता हुई।[2]

परशुराम से धनुर्वेद की पूर्णज्ञता पाना :—बुद्धिमान द्रोण पुत्र प्राप्ति के बाद भी उसी आश्रम में रहकर धनुर्वेद का अभ्यास करने लगे। किसी समय उन्होंने सुना कि महात्मा परशुराम इस समय सर्वज्ञ एवं सम्पूर्ण शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ हैं तथा शत्रुओं को संताप देने वाले विप्रवर ब्राह्मणों को अपना सर्वस्व दान करना चाहते है। द्रोण ने यह सुनकर कि परशुरामजी के पास सम्पूर्ण धनुर्वेद तथा दिव्यशस्त्रों का ज्ञान है उन्हे प्राप्त करने की इच्छा की। इसी प्रकार उन्होंने उनसे

---

1. आदि प. 120/36–38 पू., 129/38–40 गी.
2. आदि प. 120/42–47 पू, 129/44–48 गी.

नीति शास्त्र की शिक्षा लेने का भी विचार किया। वे अपने शिष्यों से घिरे हुये महेन्द्र पर्वत पर गये वहाँ उन्होंने क्षमा एवं शमदमादि गुणों से युक्त शत्रु नाशक भृगुनन्दन परशुरामजी का दर्शन किया। तत्पश्चात् शिष्यों सहित द्रोण ने भृगुश्रेष्ठ परशुरामजी के समीप जाकर अपना नाम बताया और यह भी कहा कि "मेरा अंगिरसकुल में जन्म हुआ है" इस प्रकार नाम और गोत्र बताकर उन्होंने पृथ्वी पर मस्तक टेक दिया और परशुरामजी के चरणों में प्रमाण किया। तदनन्तर सर्वस्व त्याग कर वन में जाने की इच्छा रखने वाले महात्मा जमदग्निकुमार से द्रोण ने इस प्रकार कहा "द्विजश्रेष्ठ ! मैं महर्षि भरद्वाज से उत्पन्न उनका अयोनिज पुत्र हूँ। आपको यह ज्ञात होगा कि मैं धन की इच्छा से आपके पास आया हूँ।" यह सुनकर समस्त क्षत्रियों का संहार करने वाले महात्मा परशुराम उनसे यों बोले "द्विजश्रेष्ठ ! तुम्हारा स्वागत है। तुम जो भी चाहते हो मुझसे कहो, "उनके इस प्रकार पूछने पर भरद्वाज कुमार द्रोण ने कहा "महान्व्रत का पालन करनेवाले महर्षे ! मैं आपसे ऐसे धन की याचना करता हूँ जिसका कभी अन्त न हो। परशुराम ने कहा "तपोधन ! मेरे पास यहाँ जो कुछ सुवर्ण तथा अन्य प्रकार का धन था वह सब मैंने ब्राह्मणों को दे दिया। इसी प्रकार ग्राम और नगरों की पक्तियों से सुशोभित होनेवाले समुद्रपर्यन्त यह सारी पृथ्वी महर्षि कश्यप को दे दी है। अब मेरा यह शरीर मात्र बचा है। साथ ही नाना प्रकार की बहुमूल्य अस्त्रशस्त्रों का ज्ञान अवशिष्ट है। अतः तुम अस्त्र-शस्त्रों का ज्ञान अथवा यह शरीर माँग लो। इसे देने के लिये सदा प्रस्तुत हूँ। तब द्रोण ने कहा "भृगुनन्दन आप मुझे प्रयोग, रहस्य, तथा संहार विधि सहित सम्पूर्ण अस्त्रशस्त्रों का ज्ञान प्रदान करें। तब 'तथास्तु' कह कर परशुराम ने द्रोण को सम्पूर्ण अस्त्र प्रदान किये तथा रहस्य और व्रतसहित सम्पूर्ण धनुर्वेद का भी उपदेश किया। यह सब ग्रहण करके द्विजश्रेष्ठ द्रोण अस्त्रविद्या के पूरे पण्डित हो गये और अत्यन्त प्रसन्न हो अपने प्रिय सखा द्रुपद के पास गये।[1]

कुरुदेश में आगमन और आचार्य पद की प्राप्ति :— एक दिन कौरव पाण्डव सभी वीरकुमार हस्तिनापुर से बाहर निकलकर बड़ी प्रसन्नता के साथ गुल्ली डण्डा (वीटा) खेलने लगे। उस समय खेल में लगे हुये उन कुमारों की वह वीटा कुयें में गिर पड़ी तब वे उस वीटा को निकालने के लिये बड़ी तत्परता के साथ प्रयत्न में लग गये, किन्तु उसे प्राप्त करने का कोई भी उपाय उनके ध्यान में नहीं आया। इस प्रकार लज्जा से नतमस्तक होकर वे एक दूसरे की ओर देखने लगे। गुल्ली निकालने का कोई उपाय न मिलने के कारण वे अत्यन्त उत्कण्ठित हो गये।

1. आदि प. 120/58–65 पू., 129/50–67 गी.

उसी समय उन्होने एक श्याम वर्ण के ब्राह्मण को थोड़ी ही दूर पर बैठे देखा, जो अग्निहोत्र करके किसी प्रयोजन से वहाँ रुके हुये थे। वे आपत्तिग्रस्त जान पड़ते थे। उनके शिर के बाल सफेद हो गये थे और शरीर अत्यन्त दुर्बल था। उन महात्मा ब्राह्मण को देखकर वे सभी कुमार उनके पास गये और उन्हे घेर कर खड़े हो गये। उनका उत्साह भंग हो गया था। कोई काम करने की इच्छा नहीं होती थी और मन में भारी निराशा भर गयी थी। तदनन्तर द्रोण यह देखकर कि इन कुमारों का अभीष्ट कार्य पूर्ण नही हुआ है और ये इसी प्रयोजन से ये मेरे पास आये हैं, उस समय मन्द मुसकराहट के साथ बड़े कौशल से बोले "अहो ! तुम लोगों के क्षत्रिय बल को धिक्कार है और तुम लोगो की इस अस्त्र विद्या विषयक निपुणता को भी धिक्कार है, क्योकि तुम लोग भरतवंश में जन्म लेकर भी कुएँ में गिरी हुई गुल्ली को नही निकाल पाते। देखो मैं तुम्हारी गुल्ली और अपनी इस अंगूठी दोनों को सीको से निकाल सकता हुँ। तुम लोग मेरी जीविका की व्यवस्था करो।" उन कुमारों को यों कहकर द्रोण ने उस निर्जल कुएँ में अपनी अंगूठी डाल दी। उस समय कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ने कहा "ब्रह्मन् ! आप कृपाचार्य की अनुमति से सदा यही रहकर भिक्षा प्राप्त करें।"

उनके यों कहने पर द्रोण ने हँसकर उन भरतवंशी राजकुमारो से कहा "ये मुट्ठीभर सीकें हैं जिन्हें मैंने अस्त्र-मंत्र द्वारा अभिमन्त्रित किया है तुम लोग इसका बल देखो जो दूसरों में नही है। मैं पहले एक-एक सींक से गुल्ली को बीध दूँगा फिर दूसरी सीक से उस पहली सीक को बीधूँगा। इसी प्रकार दूसरी को तीसरी से बीधते हुये अनेक सीकों का सयोग होने पर मुझे गुल्ली मिल जायेगी।" तदनन्तर द्रोण ने जैसा कहा था वह सब कुछ अनायास ही कर दिखाया। यह अदभुत कार्य देखकर उन कुमारों के नेत्र आश्चर्य से खिल उठे। इसे अत्यन्त आश्चर्य मानकर वे इस प्रकार बोले "महर्षे ! अब आप सीक से ही इस अंगूठी को भी निकाल दीजिये।" तब महायशस्वी द्रोण ने धनुषबाण लेकर बाण से उस अंगूठी को बीध दिया और उसे ऊपर निकाल लिया। शक्तिशाली द्रोण ने इस प्रकार कुएँ से बाण सहित अंगूठी निकालकर उन आश्चर्यचकित कुमारो के हाथ में दे दी, किन्तु वे स्वयं तनिक भी विस्मित नही हुये। उस अंगूठी को कुएँ से निकली हुई देखकर उन कुमारों ने द्रोण से कहा "ब्रह्मन् ! हम आपको प्रणाम करते हैं। यह अद्भुत अस्त्र कौशल दूसरे किसी में नही है। आप कौन हैं ? यह हम जानना चाहते हैं। बताइये हम लोग आपकी क्या सेवा करें ?" तब द्रोण ने कहा "तुम सब लोग भीष्म के पास जाकर मेरे रूप और गुणों का परिचय दो। वे महातेजस्वी भीष्म मुझे इस समय पहचान सकते हैं।" कुमारों ने वैसा ही किया और भीष्म कुमारों की बातें सुनकर यह समझ गये कि वे आचार्य द्रोण हैं। फिर यह सोचकर कि द्रोणाचार्य ही

इन कुमारों के उपयुक्त गुरू हो सकते हैं, भीष्म स्वयं ही आकर उन्हें सत्कारपूर्वक घर ले गये तथा उन्हें आचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर कहा "विप्रवर ! आप अपने धनुष की डोरी उतार दीजिये और यहाँ रहकर राजकुमारों को धनुर्वेद एवं अस्त्र-शस्त्रों की अच्छी शिक्षा दीजिये। कौरवों के घर में सदा सम्मानित रहकर प्रसन्नता के साथ मनोवांछित भोगों का उपभोग कीजिये। कौरवों के पास जो धन, राज्य वैभव तथा राष्ट्र है, उसके आप ही सबसे बड़े राजा हैं। समस्त कौरव आपके अधीन हैं।"[1]

आचार्य द्रोण की सम्पूर्ण धनुर्विज्ञता की पुष्टि :—महाभारत के प्रायः सभी प्रधान पात्र इस बात की पुष्टी करते है कि आचार्य द्रोण धनुर्वेद के पूर्णज्ञाता थे। अर्जुन के मत में आचार्य द्रोण धनुर्वेद के पूर्ण ज्ञाता थे। पार्थ उत्तरकुमार को आचार्य द्रोण का परिचय देते हुये कहते है "हे मारिष (आर्य) ये बुद्धि में शुक्राचार्य और नीति मे बृहस्पति के समान हैं। इनमें चारों वेद, ब्रह्मचर्य, संहार-विधि सहित सम्पूर्ण दिव्यास्त्र और समस्त धनुर्वेद सदा प्रतिष्ठित है।"[2] धृतराष्ट्र के विलाप से भी इस बात की पुष्टि होती है कि आचार्य द्रोण धनुर्वेद के पूर्णज्ञाता थे। महाराज धृतराष्ट्र द्रोणाचार्य के मारे जाने पर विलाप करते हुये संजय से बोले "संजय ! जिन महात्मा ने विधिपूर्वं अंगों सहित सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन किया था, जिन लज्जशील सत्पुरुष मे साक्षात् धनुर्वेद प्रतिष्ठित था, जिनके कृपा-प्रसाद से कितने ही पुरुष रत्न योद्धा संग्राम-भूमि मे ऐसे-ऐसे अलौकिक पराक्रम कर दिखाते थे, जो देवताओं के लिये भी दुष्कर थे। वे ही द्रोण गुरुघाती शूद्र, नीच-आत्मा धृष्टद्युम्न के द्वारा नृशंसता से मार दिये गये।"[3] दुर्योधन भी आचार्य द्रोण की सम्पूर्ण धनुर्विज्ञता अपने दूत उलूक के द्वारा महाराज युधिष्ठिर को इस प्रकार कहलवाकर भेजता है "कुन्ती पुत्र ! आचार्य ब्राह्मणदेव और धनुर्वेद इन दोनों के पारंगत पण्डित हैं। ये युद्ध का भार वहन करने में समर्थ, अक्षोभ्य सेना के मध्य भाग में विचरने वाले तथा युद्ध से मैदान से पीछे न हटने वाले हैं। इन पर विजय प्राप्ति वायु के द्वारा सुमेरु-गिरि को उड़ा देने के समान है।"[4]

महाराज युधिष्ठिर भी अर्जुन को धनुर्वेद की पूर्ण प्रतिष्ठा भीष्मद्रोणादि में बताते हुये कहते है "भारत ! आजकल पितामह भीष्मद्रोणाचार्य, कर्ण और

---

1. आदि प. 122/8–31, 69–70 पू., 130/16–39, 77–78 गी.
2. भीष्म प. 58/6–8 गी.
3. द्रोण प. 198/1–4 गी.
4. उ. प. 160/97–98 गी.

अश्वत्थामा इन सबमें चारों पादों से युक्त सम्पूर्ण धनुर्वेद प्रतिष्ठित है। वे दैव, ब्राह्मण और मनुष्य—तीनों पद्धतियों के अनुसार सम्पूर्ण अस्त्रों के प्रयोग की सारी कलायें जानते है। उन अस्त्रों के ग्रहण और धारण रूप से तो वे परिचित हैं ही, शत्रुओं द्वारा प्रयुक्त हुये अस्त्रों की चिकित्सकों को भी जानते हैं।"[1]

श्रेष्ठ धनुर्धर के लक्षण :—अर्जुन के मत में श्रेष्ठ धनुर्धर वह होता है जिसके एक हाथमे बाण के चिह्न हो, दूसरे मे फैले हुये बाण सहित दिव्य-धनुष की रेखा हो। इस प्रकार पैरो मे भी रथ और ध्वजा के चिह्न हों। इस प्रकार के लक्षणो वाला योद्धा युद्ध भूमि मे उपस्थित हो जाता है तो उसे शत्रु जीत नहीं सकते है। उपर्युक्त लक्षण स्वयं अर्जुन ने अपने में ही घटित होते हुये जनार्दन श्रीकृष्ण को बताये है।"[2]

अब हम महाभारत मे उल्लिखित धनुर्वेद के श्रेष्ठ धनुर्धरों को क्रमशः प्रस्तुत करते हैं, जो सभी धनुर्वेद के उत्तम ज्ञाता रहे हैं।

मान्धाता :—राजर्षि मान्धाता धनुर्वेद के उत्तम ज्ञाता थे। मान्धाता जब अपनी उत्पत्ति के अनन्तर इन्द्र की तर्जनी अंगुली का रसास्वादन करके किशोरावस्था को छोड़कर त्रयोदशगुणी वृद्धि को प्राप्त हो गये तब उनके चिन्तन मात्र से ही ईश्वर-कृपा से धनुर्वेद सहित सम्पूर्ण वेद और दिव्यास्त्र उपस्थित हो गये। अजगव नामक धनुष, सींग के बने हुये बाण और अभेद्य कवच सभी तत्काल उनकी सेवा में आ गये और उन्होंने उन सबको धारण कर धर्म के द्वारा त्रिलोकी को जीत लिया।[3]

भीष्म :—महात्मा भीष्म एक उच्चकोटि के धनुर्धर और धनुर्वेद के उत्तमज्ञाता थे। उन्होने भगवान् परशुराम से बाल्यकाल मे ही चतुष्पाद धनुर्वेद का अध्ययन कर लिया था, जिसका प्रदर्शन उन्होंने परशुराम के ही साथ युद्ध में किया और महाभारत के महायुद्ध प्रदर्शित धनुर्वेदीय प्रदर्शन तो किसी से छुपा हुआ है ही नही। स्वयं पितामह भीष्म अपने ही शब्दों मे इस तथ्य की पुष्टि करते हुये परशुराम से बोले "भगवान्! क्या कारण है कि आप मेरे साथ युद्ध करना चाहते हैं।

---

1. वन प. 37/4–5 पू., 37/4–5 गी.
2. कर्ण प. 74/57 गी.
3. वन प. 126/29–32 पू., 126/32–35 गी.

बाल्यावस्था में आपने ही मुझे चार प्रकार के धनुर्वेद की शिक्षा दी है। महाबाहु ! भार्गव मैं आपका ही शिष्य हूँ।"[1]

श्रीकृष्ण :—भीष्म की दृष्टि में श्रीकृष्ण आग्नेय, वारुण, सौम्य, वायव्य, वैष्णव, ऐन्द्र, पाशुपत, ब्राह्म, पारमेष्ठ्य, प्रजापत्य, धात्र, त्वाष्ट्र, सावित्र और वैवस्वत् आदि सम्पूर्ण दिव्यास्त्रों को भी भलीभाँति जानते थे। अर्जुन ने अतिरिक्त इन अस्त्रों का ज्ञान अन्य कोई नहीं था। अतः वे जगत् के अजेय धनुर्वेदज्ञ तथा धनुर्धर थे।[2]

अश्वत्थामा :—धृतराष्ट्र के मत में आचार्य द्रोण के पश्चात् अश्वत्थामा ही उच्चकोटि के धनुर्धर थे। वे संजय को द्रोणात्मज अश्वत्थामा के गुणों को प्रकट करते हुये कहते हैं "गुणों भी अभिलाषा रखने वाले महात्मा द्रोण ने इस लोक में परशुरामजी से धनुर्वेद की शिक्षा पाकर समस्त दिव्यास्त्रों को अपने पुत्र को सिखाया। मनुष्यों की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वे केवल पुत्र को ही अपने से भी अधिक गुणवान् बनाना चाहते हैं, दूसरे को किसी प्रकार भी नहीं। महात्मा आचार्यों के पास बहुत सी रहस्य की बातें होती है, जिन्हें या तो वे अपने पुत्र को दे सकते हैं या अनुगत शिष्य को। संजय ! कृपी का शूरवीर पुत्र अश्वत्थामा शिष्यभाव से विशेष रहस्य सहित सारा धनुर्वेद अपने पिता द्रोणाचार्य से प्राप्त करके युद्ध स्थल मे उनके बाद वही उस योग्यता का रह गया है। शस्त्रविद्या मे परशुराम के समान, युद्ध-काल में इन्द्र के समान, बल पराक्रम मे कृतवीर्य-पुत्र अर्जुन के समान, बुद्धि में बृहस्पति के सदृश, स्थिरता एवं धैर्य में पर्वत के तुल्य, तेज में अग्नि के समान, गम्भीरता में समुद्र के सदृश और क्रोध मे विषधर सर्प के समान नवयुवक संसार का प्रधान रथी और सुदृढ़ धनुर्धर है। इसने श्रम और थकावट को जीत लिया है। वह संग्राम में वायु के समान वेगपूर्वक विचरने वाला तथा क्रोध में भरे हुये यमराज के समान भयंकर है। अश्वत्थामा जब रणभूमि में बाणों की वर्षा करने लगता है तब धरती भी अत्यन्त पीड़ित हो उठती है। वह सत्य पराक्रमी वीर संग्राम में कभी व्यथित नही होता है। यह वेदाध्ययन समाप्त करके स्नातक बन चुका है। ब्रह्मचर्य व्रत की अवधि पूरी करके उसका भी स्नातक

---

1. उ. प. 178/38–39 गी.
2. भीष्म प. 121/40–43 गी.

हो चुका है और धनुर्वेद का भी पारंगत विद्वान है।"1 क्योंकि उसने दसों× अंगों से युक्त चारों चरणवाले धनुर्वेद को ठीक-ठीक जाना है। वह छहों×× अंगों सहित चार वेदों और इतिहास पुराणस्वरूप पंचम वेद का भी अच्छा ज्ञाता है। महा-तपस्वी अश्वत्थामा को उसके पिता अयोनिज द्रोणाचार्य ने बड़े यत्न से कठोर व्रतों द्वारा तीन नेत्रों वाले भगवान् शंकर की आराधना करके अयोनिजा कृपी के गर्भ से उत्पन्न किया था। उसके कर्मों की कहीं तुलना नहीं है। इस भूतल पर वह अनुपम रूपसौन्दर्य से युक्त है। सम्पूर्ण विद्याओं का पारंगत विद्वान और गुणों का महासागर है।"2

अर्जुन :— अश्वत्थामा के अनन्तर श्रेष्ठ धनुर्धर का स्थान अर्जुन को प्राप्त था। धनंजय स्वयं अपने धनुर्वेद का ज्ञान उत्तरकुमार को बताते हुये कहते हैं "तुम्हें ज्ञात होना चाहिये कि मैंने धनुष पकड़ते समय मुट्ठी दृढ़ रखना इन्द्र से, बाण चलाते समय हाथों की फुर्ती ब्रह्माजी से तथा संकट के समय विचित्र प्रक… से तुमुल युद्ध करने की कला प्रजापति से सीखी है।3

इसी बात की पुष्टि करते हुये तथा अपने को उत्तम धनुर्वेदज्ञ बताते हुये अर्जुन ने जनार्दन श्रीकृष्ण को कहा "हे गोविन्द ! मैं आपके निकट पुनः अपनी प्रशंसा से भरी हुई बात कहता हूँ, धनुर्वेद में मेरी समानता करनेवाला इस संसार में दूसरा कोई नहीं है। फिर पराक्रम मे मेरे जैसा कौन है ? मेरे समान क्षमाशील भी दूसरा कौन है ? तथा क्रोध में भी मेरे जैसा दूसरा कोई नहीं है। मैं धनुप लेकर अपने बाहुबल से एकसाथ आये हुये देवताओं, असुरों तथा सम्पूर्ण प्राणियों को परास्त कर सकता हूँ। मेरे पुरुषार्थ को उत्कृष्ट से भी उत्कृष्ट समझो। मैं एकाकी ही बाणों की ज्वाला से युक्त गाण्डीव धनुप के द्वारा समस्त कौरवों और बाहुलिकों को दलबल सहित मारकर ग्रीष्मऋतु में सूखे काठ मे लगी हुई आग के समान सबको भस्म कर डालूंगा।4

महात्मा भीष्म भी अर्जुन के इस कथन की पुष्टि करते हुये दुर्योधन से बोले "हे दुर्योधन ! इस संसार मे अर्जुन के समान पराक्रम करने वाला कोई नही है। आग्नेय, वारुण, सौम्य, वायव्य, वैष्णव, ऐन्द्र, पाशुपत, ब्राह्मण, पारमेष्ठ्य, प्राजापत्य, धात्र, त्वाष्ट्र, सावित्र और वैवस्वत आदि सम्पूर्ण दिव्यास्त्रों को इस समस्त मानवजगत् में एक मात्र अर्जुन अथवा देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण जानते है। दूसरा कोई यहाँ इन अस्त्रों को नहीं जानता। अतः संग्राम-भूमि में किसी भी प्रकार कोई भी अर्जुन को जीत नही सकता। वह समग्र विश्व मे अजेय योद्धा है।5

---

1. द्रोण प. 194/4–12 गी.

× धनुर्वेद के चार पाद और दस अंग होते हैं, जिनके लिये निम्नांकित वचन मिलते हैं।

1. मन्त्रमुक्तं पाणिमुक्तं मुक्तामुक्तं तथैव च।
अमुक्तं च धनुर्वेदे चतुष्पाच्छ्सूत्रमीरितम् ॥

1. जिसका मंत्र द्वारा केवल प्रयोग होता है, उपसंहार नहीं, उसे मंत्र-मुक्त कहते है।
2. जिसे हाथ में लेकर धनुपद्वारा छोड़ा जाय, वह बाणादि पाणिमुक्त कहा गया है।
3. जिसके प्रयोग और उपसंहार दोनों हों वह मुक्तामुक्त हैं।
4. जो वस्तुतः छोड़ा नहीं जाता जैसे मन्त्र द्वारा साधित (ध्वजा आदि) है जिसको देखने मात्र से शत्रु भाग जाते हैं, वह अमुक्त कहलाता है। ये अथ वा (1) सूत्र, (2) शिक्षा, (3) प्रयोग तथा (4) रहस्य—ये ही धनुर्वेद के चार पाद हैं।

2. आदानमथ संधानं मोक्षणं विनिवर्तनम्।
स्थानं मुष्टिः प्रयोगश्च प्रायश्चितानि मण्डलम् ॥
रहस्यं चेति दशधा धनुर्वेदांगमिष्यते।

(1) तरकश से बाण को निकालना आदान है (2) उसे धनुप की प्रत्यंचा पर रखना संधान है (3) लक्ष्य पर छोड़ना मोक्षण है (4) यदि बाण छोड़ने के बाद यह ज्ञात हो जाय कि विपक्षी निर्बल या शस्त्रहीन है तो वीर पुरुष मन्त्र शक्ति से उस बाण को लौटा लेते हैं, इस प्रकार उस छोड़े हुये अस्त्र को लौटा लेना विनिर्वतन है (5) धनुप या उसकी प्रत्यंचा के धारण अथवा शरसन्धान काल मे धनुप और प्रत्यंचा के मध्यप्रदेश का स्थान कहा गया है (6) तीन या चार अंगुलियों का सहयोग ही मुष्टि है (7) तर्जनी और मध्यमा अंगुलि के अथवा मध्यमा और अंगुष्ठ के मध्य से बाण का संधान करना प्रयोग कहलाता है (8) स्वतः दूसरे से प्राप्त होने वाले व्याघात और बाण के आघात को रोकने के लिये जो दस्तानें आदि का प्रयोग किया जाता है उसका नाम प्रायश्चित है (9) चक्राकार घूमते हुये रथके साथ-साथ घूमने वाला लक्ष्य का वेध मण्डल कहलाता है (10) शब्द के आधार पर लक्ष्य बीधना अथवा एक ही समय अनेक लक्ष्यों को बींधना ये सब रहस्य के अन्तर्गत हैं। (आदि प. 220/72 की टिप्पणी गी. पृ. सं. 630)

×× 1. शिक्षा, 2. कला, 3. व्याकरण, 4. निरुक्त, 5. ज्योतिष और 6 छन्द वेद के छः अंग होते है (शु. नी. 4/3प्र40–45)

1. शल्य प. 6/14–16 गी.
2. विराट् प. 61/26 गी.
3. कर्ण प. 74/53–56 गी.
4. भीष्म प. 121/40–43 गी.

अभिमन्यु :—वैशम्पायन जनमेजय को कहते हैं कि हे राजन् ! अभिमन्यु भी अपने पिता के ही समान चारपादो और दशविध अंगों से युक्त दिव्य एवं मानुष सब प्रकार के धनुर्वेद का ज्ञाता था। उसी भांति उस शत्रुदमन बालक ने वेदों का ज्ञान भी प्राप्त किया था। अस्त्रो के विज्ञान, सौष्ठव (प्रयोगपटुता) तथा सम्पूर्ण क्रियाओ मे भी महाबली अर्जुन ने उसे विशेष शिक्षा दी थी। धनंजय ने अभिमन्यु को (अस्त्रशस्त्रों के) आगम और प्रयोग में अपने समान बना दिया था। वे सुभद्रा-कुमार को देखकर बहुत संतुष्ट रहते थे।[1]

शिखण्डी और धृष्टद्युम्न :—दुर्योधन के पूछने पर शिखण्डी की उत्पत्ति बताकर उसे न मारने का कारण भीष्मपितामह ने स्पष्ट कर दिया साथ ही शिखण्डी तथा धृष्टद्युम्न की धनुर्वेदज्ञता पर इस प्रकार प्रकाश डाला "द्रुपदपुत्र शिखण्डी तथा धृष्टद्युम्न दोनों ने ही तुम सब भाइयों के साथ ग्रहण, धारण, प्रयोग और प्रतीकार इन चारों पादों से युक्त धनुर्वेद का अध्ययन किया है।"[2]

कर्ण :—अधिरथ सुत ने भी कर्ण को धनुर्वेद की शिक्षा के लिये हस्तिनापुर भेजा था। वहाँ उसने धनुर्वेद की शिक्षा लेने के लिये आचार्य द्रोण की शिष्यता स्वीकार की थी। वह द्रोणाचार्य, कृपाचार्य तथा परशुराम से चारों प्रकार की अस्त्रविद्या सीखकर संसार में एक महान् धनुर्वेदज्ञ धनुर्धर के रूप में विख्यात हो गया था। यह वृत्तान्त वैशम्पायन ने जनमेजय को कर्ण की उत्पत्ति बताने के पश्चात् उसके गुणवर्णन मे किया।[3]

रुक्मी :—वैशम्पायन ने जनमेजय को बताया कि भीष्मक पुत्र रुक्मी जो रुक्मिणी का भाई था उसने भी गन्धमादन निवासी किंपुरुषप्रवर द्रुम का शिष्यत्व ग्रहणकर चारों पादो से युक्त सम्पूर्ण धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की थी, किन्तु इसकी सहायता इसके अभिमान के कारण महाभारत युद्ध में दोनों ही पक्षों ने स्वीकार नही की।[4]

संक्षिप्त मे दोनों ही दलों की सेनायें धनुर्वेद की प्रत्यक्षरूप से अनुभव प्राप्त थी। इनके सैनिकों ने व्यायाम (अस्त्र शस्त्र के अभ्यास) में भी पर्याप्त परिश्रम किया था। तथा सभी सैनिक शस्त्रग्रहण से सम्बन्ध रखने वाली सभी विद्याओं में पारंगत थे।[5]

इति द्वितीय पर्व

1. आदि प. 213/65–67 पू., 220/72–74 गी.
2. उ. प. 192/61 गी.
3. वन प. 293/15–17 पू., 309/16–18 गी.
4. उ. प. 158/3 गी.
5. भीष्म प. 76/7 गी.

तृतीय-पर्व

सैन्य-प्रशासन

सैन्य-प्रशासन के विशाल विस्तार में पहुँचने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम सैनिक एवं शूरों के लक्षणों को जाने तथा साथ ही साथ विभिन्न प्रदेशों के शूर-वीरो के स्वभाव स्वरूप शक्ति और आचरणों से भी परिचित हो लें।

सैनिक लक्षण :—महर्षि उशना ने सेनापति तथा सैनिकों के समान लक्षण प्रकट करते हुये कहा "जो नीति (कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य जानने का) शास्त्र, शस्त्र तथा अस्त्र चलाना, व्यूह रचना, नीतिविद्या (शत्रुओं को नीचे दिखाना) इन सब विषयो में पण्डित, लड़कपन से रहित, तरूण, शूर, सैनिक-शिक्षा-प्राप्त, दृढ़ अगों वाले, अपने धर्म में निरत, नित्य स्वामी में भक्ति रखने वाले, एवं उनके शत्रुओं के द्वेष रखने वाले, शूद्र, क्षत्रिय, वैश्य, म्लेच्छ या संकीर्ण जाति वाले हों, उन्हें विजय चाहने वाला राजा अपना सेनाध्यक्ष या सैनिक बनावे।"[1]

शूरवीरों के लक्षण :—महाराज युधिष्ठिर ने जब रणनीति विशारद महामना भीष्म मे शूरवीरों के स्वभाव, आचरणादि के विषय में जानना चाहा तब उन्होंने कहा "जिनकी वाणी, नेत्र तथा चालढाल सिंहों या बाघों के समान होती है और जिनकी आँखें कबूतर या गौरये के समान होती है, वे सभी शूरवीर एवं शत्रु सेना मथ डालने वाले होते हैं। जिनका कण्ठ स्वर मृगों के समान और नेत्र बाघ

---

1. नीतिशस्त्रास्त्रव्यूहादिनीतिविद्याविशारदाः ।।38।।

   अबाला मध्यवयसः शूरा दान्ता दृढांगकाः ।
   स्वधर्मनिरता नित्यं स्वामिभक्ताः रिपुद्विषः ।।139।।

   शूद्रा वा क्षत्रिया वैश्या म्लेच्छाः संकरसंभवाः ।
   सेनाधिपाः सैनिकाश्च कार्या राज्ञा जयार्थिनाः ।।140।।

   (शु. नी. 2/138-140)

एवं बैलों के तुल्य होते हैं, वे वीर वेगशाली, असावधान और शूर हुआ करते हैं। जिनका कण्ठनाद किंकिणी के समान मधुर हो वे स्वभाव के बड़े क्रोधी होते हैं। जिनकी गर्जना मेघ के समान, मुख क्रोधयुक्त, शरीर ऊंट की तरह तथा नाक और जीभ टेढ़ी हो, वे बहुत दूर तक दौड़ने वाले तथा सुदूरवर्ती लक्ष्य को भी मार गिराने वाले होते हैं। जिनका शरीर बिलाव के समान कुबड़ा तथा सिर के बाल और देह की खाल पतले होते हैं, वे शीघ्रता पूर्वक अस्त्र चलाने वाले चंचल और दुर्जय होते है। जो गोहटी के समान आंखें बन्द किये रहते हैं, जिनका स्वभाव कोमल होता है तथा जिनके चलने पर घोड़े के टाप पड़ने जैसी आवाज होती है, वे मनुष्य युद्ध के पार पहुँच जाते है। जिनके शरीर गठीले, छाती चौड़ी और अंग प्रत्यंग सुडौल होते है, जो युद्ध में डट कर खड़े होने वाले हैं वे वीर पुरुष युद्ध का धौंसा सुनते ही कुपित हो उठते हैं। उन्हें लड़ने भिड़ने में ही आनन्द आता है। जिनकी आंखे गहरी हैं अथवा बड़ी होने के कारण निकली हुई सी प्रतीत होती हैं या जिनके नेत्र पिंगल वर्ण के है अथवा जिनकी आंखे नेवले के समान हैं और जिनके मुख पर भौंहे तनी रहती हैं, ऐसे लक्षणों वाले सभी मनुष्य शूरवीर तथा रणभूमि में शरीर त्याग करने वाले होते हैं। जिनकी आंखे तिरछी, ललाट ऊँचे और ठोडी मांस हीन एवं दुबली पतली है, जिनकी भुजाओं पर वज्र का और अंगुलियों पर चक्र का चिन्ह होता है तथा जिनके शरीर की नश नाड़ियां दिखाई देती हैं, वे युद्ध उपस्थित होते ही बड़े वेग से शत्रुओं की सेना में घुस जाते हैं और मतवाले हाथियों के समान शत्रुओं के लिये दुर्जय होते हैं। जिनके केशों के अग्र भाग पीले और छितराये हुये हैं पसलियां, ठोडी और मुँह लम्बे एवं मोटे हैं, कन्धे ऊँचे, गर्दन मोटी और पिण्डली भारी है, जो देखने में विकट जान पड़ते हैं, सुग्रीव जाति के अश्व के समान तथा गरुड़ पक्षी की भांति उद्धत स्वभाव के है, जिनके शरीर गोल और मुख विशाल हैं, जो बिलाव जैसा मुख धारण करते हैं तथा जिनके स्वर में कठोरता है, वे बड़े क्रोधी होते हैं और युद्ध में गर्जना करते हुये विचरते हैं। उन्हे धर्म का ज्ञान नहीं होता वे घमण्ड से भरे हुये घोर आकृति वाले दिखाई देते हैं। उनका दर्शन ही बड़ा भयंकर है। वे सबके सब अरण्यज (कोल-भीलादि) हैं, जो युद्ध से कभी पीछे नही हटते और शरीर का मोह छोड़कर लड़ते है। सेना में ऐसे लोगों को सदा पुरस्कार देना चाहिये और इन्हें सदा आगे-आगे रखना चाहिये। ये धैर्य-पूर्वक शत्रुओं की मार सहते और उन्हें भी मारते हैं। वे अधर्मी होते हैं, धर्म की मर्यादा भंग कर देते हैं। उसी तरह ये बारम्बार राजा पर भी कुपित हो उठते हैं, अतः इन्हें मीठी-मीठी बातों से समझा-बुझा कर ही काबू में करना चाहिये।[1]

---

1. शान्ति प. 102/7–20 पू., 101/7–20 गी.

योद्धाओं के प्रदेशों के अनुसार स्वभाव गुणाचरणादि के लक्षण :— प्रत्येक भूमि और जलवायु का मानव शरीर के गठन और स्वभाव पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इसी बात को युधिष्ठिर द्वारा भीष्म को पूछने पर महात्मा भीष्म ने प्रधान-प्रधान प्रदेशों के वीरों के स्वभावादि का वर्णन करते हुये बताया—

गान्धार, सिन्धु और सौवीर देशों के वीर :—गान्धार, सिन्धु और सौवीर देश के योद्धा नखर (बधनखे) और प्रास से युद्ध करने वाले होते है। वे बड़े बलवान् और निडर होते हैं। उनकी सेना सबको लांघ जाने वाली होती है।[1]

उशीनर और पूर्व देश के वीर :—उशीनर देश के वीर सब प्रकार के अस्त्रशस्त्रों में कुशल और बड़े बलशाली होते हैं। पूर्व देश के योद्धा हाथी पर सवार होकर युद्ध करने की कला में कुशल तथा कपट युद्ध के भी ज्ञाता होते हैं।[2]

यवन, काम्बोज मथुरा और दक्षिण देश के वीर :—यवन, काम्बोज और मथुरा के आस-पास रहने वाले योद्धा मल्ल युद्ध में निपुण होते हैं तथा दक्षिण देश के निवासी हाथों में तलवार लिये रहते हैं अर्थात् वे तलवार चलाना भली भांति जानते हैं।[3]

इससे सार यह निकलता है कि स्थान विशेष की विशेषता को लिये हुये प्रायः सभी योद्धा महान् धैर्यशाली, महाबली एवं शूरवीर होते हैं। आधुनिक समय में भी राजस्थान प्रदेश के वीर युद्ध में पीछे न हटने वाले पराक्रमी, धैर्यशाली और रणविशारद गिने जाते हैं और इसका प्रमाण है 'राजपूताना राइफल्स' के नाम से एक अलग ही इकाई का होना। राजस्थान में भी पुर्गलदेश (बीकानेर और झुंझुनूं के आसपास का प्रदेश) के वीर विशेष रूप से श्रेष्ठ योद्धा गिने जाते है, जिन्होंने द्वितीय महाविश्व युद्ध तथा पाकिस्तान के साथ हुये पिछले युद्धों में अपने शौर्य की अमिट छाप छोड़कर प्रदेश का नाम अमर किया।

---

1. शान्ति प. 102/3 पू., 101/3 गी.
2. शान्ति ह. 102/4 पू., 101/4 गी.
3. शान्ति प. 102/5 पू., 101/5 गी.

'गोरखा रेजीमेंट' भी इस बात की साक्षी देती है कि सुडौल और नाटे कद के ये नेपाली शूरवीर अद्भुत पराक्रमी होते है। इसलिये भारतीय सेना में इनकी एक इकाई अपनी विशेषता के कारण पृथक् स्थान ग्रहण किये हुये हैं। 'सिक्ख रेजीमेन्ट' भी अपने वीरत्व की विशेषता लिये हुये अपना विशेष महत्व हमारे भारत की सेना में बनाये हुये है। इस इकाई मे प्रायः पंजाब प्रदेश के शूरवीर योद्धा होते हैं। इसी प्रकार आज भी प्राचीन काल के समान सभी योद्धा अपने-अपने प्रदेशानुसार अपनी-अपनी विशिष्टताओं को बनाये हुये है,।

सैनिकों की योग्यता :—मूलतः तो सैनिकों की योग्यता शीर्षक की परिपूर्ति हम पूर्वोक्त 'सैनिक लक्षण' शीर्षक में कर चुके हैं, किन्तु तत्कालीन सामाजिक वातावरण को लेकर इस विषय पर विचार प्रकट किये जाने चाहिये। अतः हमने इसका पृथक् निर्देश किया है।

महाभारत-काल में प्रायः राजकुमारों को ही धनुर्विद्या सीखने का अधिकार था। उच्च वर्ग के लोग भी उनके साथ इस विद्या को ग्रहण करने के योग्य समझे जाते थे, किन्तु नीच वर्ण के लोगों को उच्च वर्ण लोगों के साथ धनुर्विद्या ग्रहण करने का अधिकार नही था। महाभारत के अध्ययन से ज्ञात होता है कि द्विज श्रेष्ठ द्रोणाचार्य के पास वृष्णि, अन्धक और नानादेशों के राजकुमार धनुर्विद्या सीखने आये। सूतपुत्र कर्ण ने भी उन्ही के चरणो में बैठकर धनुर्विद्या ग्रहण की। द्रोण के धनुर्वेद विशारदत्व की प्रशंसा सुनकर जब हजारो राजकुमार उनके पास विद्या ग्रहण करने आ रहे थे, तब निषादराज हिरण्यधनु का पुत्र एकलव्य भी उनसे विद्या ग्रहण की पिपासा लेकर आया, किन्तु उसे निषादपुत्र समझकर धर्मज्ञ आचार्य ने धनुर्विद्या विषयक शिष्य नही बनाया। आचार्य द्रोण ने कौरवों की ओर दृष्टि रख कर ही उसके साथ इस प्रकार का व्यवहार किया। शत्रुदमन एकलव्य बड़ा बुद्धिमान था। अतः उसने द्रोणाचार्य के चरणो में मस्तक रखकर प्रणाम किया और वन में लौटकर मिट्टी की मूर्ति बनाई तथा उसी में आचार्य की परमोच्चभावना रखकर उसने धनुर्विद्या का अभ्यास प्रारम्भ किया। आचार्य मे उत्तम श्रद्धा रखकर उत्तम और भारी अभ्यास के बल से उसने बाणो को छोड़ने, लौटाने और संधान करने मे बड़ी अच्छी फुर्ती प्राप्त कर विश्व के इतिहास मे सच्चे शिष्य का बेजोड़ उदाहरण प्रस्तुत किया,[1] किन्तु इससे स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में उच्चवर्णों की अपेक्षा निम्नवर्णों को हेय समझा जाता था।

---

1. आदि प. 123/9–14 पू., 131/30–35 गी.

देवर्षि-नारद युधिष्ठिर को सैनिकों की योग्यता के विषय में जो प्रश्न पूछते हैं, उससे भी ज्ञात होता है कि सेना के समस्त दलपति युद्ध-विशारद, निर्भय, निष्कपट और पराक्रमी होने चाहियें।[1] यही योग्यता प्रत्येक सैनिक के लिये आवश्यक थी। अतः इस आधार पर हम यह अनुमान लगाते हैं कि सैनिकों की नियुक्ति परीक्षणानन्तर ही की जाती थी अर्थात् आजकल के समान मूलभूत योग्यताओं के आधार पर ही सैनिक बनाया जाता था।

महाभारत-काल के समान ही आज भी सैनिको के लिये मूलभूत योग्यतायें निम्न मानदण्ड निर्धारित हैं। सैनिक 17 से 24 वर्ष की अवस्था वाला तरुण होना चाहिये। यदि वह शिक्षित है तो उसे विशेष महत्त्व दिया जाता है। उसकी लम्बाई कम से कम 5 फुट 6 इन्च होनी चाहिये। उसका वक्षस्थल 34 इन्च से 36 इन्च तक का होना चाहिये और उसे फुलाने पर 36 इन्च से 38 इन्च तक होना चाहिये। उसका भार 52 किलो से कम नहीं होना चाहिये। वह स्वास्थ्य-दृष्टि से चिकित्सक से प्रमाणित होना चाहिये। ऊँचाई के लिये डोगरा एवं गोरखा जाति को विशेष छूट दी जाती है। आज के युग में उच्च या नीच वर्ण का कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

योद्धाओं का प्रशिक्षण :—धार्तराष्ट्र और पाण्डव यद्यपि पहले कृपाचार्य द्वारा धनुर्विद्या का आवश्यक प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके थे, किन्तु विशिष्ट योग्यता की प्राप्ति के लिये भीष्म-पितामह ने आचार्य द्रोण को पुनः नियुक्त किया। उन शिक्षार्थियों मे अर्जुन आचार्य के उपदेशों को ग्रहण करने में अनुपम प्रतिभाशाली था। कालक्रम से महात्मा द्रोण ने सभी कुमारों को अस्त्रप्रशिक्षण दिया। प्रशिक्षण काल में आचार्य द्रोण अन्य शिष्यों को तो पानी लाने के लिये कमण्डलु देते, जिससे उन्हे लौटने में विलम्ब हो जाय, परन्तु अपने पुत्र को बड़े मुँह का घड़ा देते, जिससे उसके लौटने मे विलम्ब न हो। जब तक दूसरे शिष्य लौटकर नही आते, तब तक वे अपने पुत्र अश्वत्थामा को ही अस्त्र-सचालन की कोई उत्तम विधि बतला देते थे। अर्जुन ने उनके इस कार्य को जान लिया। अतः वे वारुणास्त्र से तुरन्त ही अपना कमण्डलु भरकर आचार्य-पुत्र के साथ ही गुरु के समीप आ जाते थे, इसलिये आचार्य-पुत्र से किसी भी गुण को वृद्धि में वे अलग या पीछे नही रहे। यही कारण था कि मेधावी अर्जुन अश्वत्थामा से किसी भी बात मे कम न थे। वे अस्त्रवेत्ताओं में सर्वोत्तम थे। अर्जुन अपने गुरुदेव की सेवा पूजाके लिये भी [उत्तम यत्न करते थे। अस्त्रों के अभ्यास में भी उनकी अच्छी लगन थी। अतः वे द्रोणाचार्य के प्रिय

1. सभा प. 5/37 पू., 5/48 गी.

बन गये थे। अर्जुन को धनुपवाण के अभ्यास में निरन्तर लगा हुआ देख द्रोणाचार्य ने रसोईये को एकान्त में बुलाकर कहा "तुम अर्जुन को कभी अन्धेरे में भोजन न परोसना और मेरी यह बात भी अर्जुन से कभी न कहना।" तदनन्तर एक दिन जब अर्जुन भोजन कर रहे थे, बड़े जोर से हवा चलने लगी उससे वहाँ का जलता हुआ दीपक बुझ गया। उस समय भी कौन्तेय अर्जुन भोजन करते ही रहे। उन तेजस्वी का हाथ अभ्यासवश अन्धेरे मे भी मुख से अन्यत्र नही जाता था। उसे अभ्यास का ही चमत्कार मानकर महाबाहु पाण्डुनन्दन अर्जुन रात में भी धनुर्विद्या का अभ्यास करने लगे। रात मे उसकी धनुप की प्रत्यंचा की टकार सुनकर द्रोण उसके पास गये और उसे हृदय से लगाकर बोले "हे वत्स ! मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा, जिससे इस समग्र संसार में दूसरा कोई धनुर्धर तुम्हारे समान न हो। मैं तुमसे यह सच्ची बात कहता हूँ।" तदनन्तर द्रोण अर्जुन को पुनः घोड़ों, हाथियो, रथों तथा भूमि पर रहकर युद्ध करने की शिक्षा देने लगे। उन्होंने कौरवों को महायुद्ध, खड्ग चलाने तथा तोमर, प्रास और शक्तियों के प्रयोग की कला एवं एक ही साथ अनेक शस्त्रों के प्रयोग अथवा अकेले ही अनेक शत्रुओं से युद्ध करने की शिक्षा दी। आचार्य-द्रोण का वह अस्त्रकौशल सुनकर सहस्त्रों राजा और राजकुमार धनुर्वेद की शिक्षा लेने के लिये वहाँ एकत्र हो गये।[1]

एक दिन सभी कौरव और पाण्डव द्रोण की अनुमति लेकर शिकार खेलने गये। इस कार्य के लिये कोई मनुष्य आवश्यक सामग्री लेकर स्वेच्छानुसार अकेला ही उन वीरो के पीछे-पीछे चला। उसने साथ मे एक कुत्ता भी ले रखा था। वे सब अपना-अपना काम पूरा करने की इच्छा से वन मे इधर-उधर विचर रहे थे। उस मनुष्य का वह मूढ कुत्ता वन में घूमता घामता निपाद-पुत्र एकलव्य के पास जा पहुँचा। उसके शरीर का रंग काला था। उसके अंगो मे मैल जम गया था और उसने काला मृग-चर्म एवं जटा धारण कर रखी थी। निपाद-पुत्र को इस रूप मे देखकर वह कुत्ता भौ-भो करके भौकता हुआ उसके पास खड़ा हो गया। यह देख भील ने अपने अस्त्र-लाघव का परिचय देते हुये उस भौंकनेवाले कुत्ते के मुख मे मानों एक ही साथ सात बाण मारे। उसका मुँह बाणों से भर गया और वह उसी अवस्था मे उन वीरो के पास आया। उसे देखकर वे वीर बड़े विस्मय मे पड़ गये। हाथ की वह फुर्ती और शब्द के अनुसार लक्ष्य वेधने की उत्तम शक्ति देखकर उस समय सब राजकुमार उस कुत्ते की ओर दृष्टि डालकर, लज्जित हो गये और सब प्रकार के बाण मारने-वाले की प्रशसा करने लगे। तत्पश्चात् उन राजकुमारों ने उस वनवासी वीर की वन मे खोज करते हुये उसे निरन्तर बाण

---

1. आदि प. 123/1-0 द्र, 131/15-30 गी.

चलाते हुये देखा। उस समय उसका रूप बदल गया था। वे वीर उसे पहिचान न सके, अतः पूछने लगे "तुम कौन हो, किसके पुत्र हो? 'एकलव्य ने कहा' वीरों! आप लोग मुझे निषादराज हिरण्यधनु का पुत्र तथा द्रोणाचार्य का शिष्य जाने। मैंने धनुर्वेद मे विशेष परिश्रम किया है। वे वीर उस निषाद का यथार्थ परिचय पाकर लौट आये और वन मे जो अद्भुत घटना घटी थी, वह सब उन्होंने द्रोणाचार्य को कह सुनायी। कुन्तीनन्दन अर्जुन का बार-बार एकलव्य का स्मरण करते हुये एकान्त मे द्रोण से मिलकर प्रेमपूर्वक यों बोले "आचार्य! उस दिन तो आपने मुझ अकेले को ही हृदय से लगाकर बड़ी प्रसन्नता के साथ यह बात कही थी कि मेरा कोई शिष्य तुमसे बढ़कर नही होगा, फिर आपका यह अन्य शिष्य निशादराज का पुत्र अस्त्रविद्या मे मुझसे बढ़कर कुशल और सम्पूर्ण लोक से भी अधिक पराक्रमी कैसे हुआ?" आचार्य द्रोण उस निषादपुत्र के विषय मे दो घड़ी तक मानो कुछ सोच-विचारते रहे, फिर कुछ निश्चय करके सव्यसाची को साथ लेकर उसके पास गये। वहाँ जाकर उन्होंने एकलव्य को देखा, जो हाथ में धनुष लेकर निरन्तर बाणों की वर्षा कर रहा था। उसके शरीर पर मैल जम गया था। उसने शिर पर जटा धारण कर रखी थी और वस्त्र के स्थान पर चिथड़े लपेट रखे थे। एकलव्य ने आचार्य द्रोण को समीप आते देख आगे बढ़कर उनकी अगवानी की और उनके दोनो चरण पकड़कर पृथ्वीपर माथा टेक दिया, फिर निषादकुमार ने अपने को शिष्य रूप से उनके चरणों मे समर्पित करके गुरु द्रोण की विधिपूर्वक पूजा की और हाथ जोड़कर उनके सामने खडा हो गया। द्रोणाचार्य ने एकलव्य से यह बात कही "वीर यदि तुम मेरे शिष्य हो तो मुझे गुरु-दक्षिणा दो "यह सुनकर एकलव्य बहुत प्रसन्न हुआ और इस प्रकार बोला "भगवन्! मैं आपको क्या दूँ? स्वयं गुरुदेव ही मुझे इसके लिये आज्ञा दें।" "ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ आचार्य! मेरे पास कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो गुरु के लिये अदेय हो।" तब द्रोणाचार्य ने उससे कहा "तुम मुझे दाहिने हाथ का अँगूठा दे दो।" द्रोणाचार्य का यह दारुणवचन सुनकर सदा सत्य पर अटल रहने वाले एकलव्य ने अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा करते हुये पहले की ही भांति प्रसन्न मुख और उदारचित्त रहकर बिना कुछ सोच-विचार किये अपना दाहिना अँगूठा काटकर द्रोणाचार्य को दे दिया। द्रोणाचार्य निषादनन्दन एकलव्य को सत्यप्रतिज्ञ देखकर बहुत प्रसन्न हुये उन्होने सकेत से उसे यह बता दिया कि तर्जनी और मध्यमा के संयोग से बाण पकड़कर किस प्रकार धनुष की डोरी खींचनी चाहिये। तब से वह निषादकुमार अपनी अँगुलियों द्वारा ही बाणों का संधान करने लगा, किन्तु उस अवस्था मे वह उतनी शीघ्रता से बाण नही चला पाता था, जैसे पहले चलाया करता था। इस घटना मे अर्जुन के मन में बड़ी प्रसन्नता हुई।

उनकी भारी चिन्ता दूर हो गई। द्रोणाचार्य का भी वह कथन सत्य हो गया कि अर्जुन को दूसरा कोई पराजित नहीं कर सकता।[1]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि उच्च-कोटि का गुरु भी अपनी सम्पूर्ण विद्या पुत्र को छोडकर अन्य को नहीं देना चाहता। इसका प्रमाण हम आगे चलकर देंगे कि गुरु का अनन्यतम प्रिय शिष्य होकर भी अर्जुन 'नारायण अस्त्र' नहीं जानता था। साथ ही इस बात से ये दो बातें भी स्पष्ट होती हैं कि प्रिय शिष्य अथवा बुद्धिमान और परिश्रमी शिष्य गुरु के हृदय को जीत लेता है और उसमें अपना एक विशिष्ट स्थान बना लेता है। जिसे गुरु प्राणप्रण से उसके लिये सुरक्षित कर देता है। साथ ही यह बात भी स्पष्ट होती है कि भावना और श्रद्धा का संसार में बहुत ऊँचा स्थान है। सच्ची भावना श्रद्धा और लगन से गुरु के साक्षात्कार के अभाव में गुरू की मृण्मयी मूर्ति से भी वह विद्या ग्रहण कर सकता है जो गुरू साक्षात्कार रूप से भी नहीं दे सकता।

आधुनिक सैनिक प्रशिक्षण में भी व्यवस्थित ढंग से कार्य होता है। भारतीय आधुनिक सेना में अलग-अलग कार्य के निमित्त अलग-अलग प्रशिक्षण दिया जाता है। इन प्रशिक्षणों के लिये भिन्न-भिन्न संस्थान बने हुये है, जिनमें सिपाही को एक वर्ष के लिये अस्त्रशस्त्र संचालन और व्यायाम का प्रशिक्षण दिया जाता है। इसी प्रकार अधिकारी को अस्त्रशस्त्र संचालन और व्यायाम प्रशिक्षण के साथ अनुशासन एवं प्रशासन का प्रशिक्षण भी दिया जाता है, जिसकी कालावधि तीन वर्ष होती है। लेखक (क्लर्क) को भी सिपाही के सभी प्रशिक्षणों के साथ-साथ लेखन सम्बन्धी प्रशिक्षण दिया जाता है, जिससे वह सेना की आवश्यक कार्यवाही को सुव्यवस्थित एवं सुचारू रूप से बनाये रखने में सहायक हो सके। इस कर्म की प्रशिक्षणावधि केवल छः माह होती है। इसी भांति लकड़ी की वस्तुओं के लिये बढ़ई को तीन माह का प्रशिक्षण दिया जाता है, किन्तु वह सेना के मूल प्रशिक्षण को भी पाता है। इसी प्रकार संचार साधन जैसे वायरलैस आदि का भी एक वर्षीय प्रशिक्षण दिया जाता है और सैनिक प्रशिक्षण तो अनिवार्य होता ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि देश की रक्षा में जुटी हुई भारतीय सेना विभिन्न सभी आवश्यक प्रशिक्षणों से युक्त होकर सदैव देश-रक्षा हेतु प्राचीनकाल के समान सन्नद्ध रहती है।

---

1. आदि प. 123/15-39 दू., 131/36-60 गी.

योद्धाओं द्वारा प्रशिक्षण में वैशिष्ट्य प्राप्ति :—आचार्य द्रोण ने यद्यपि सभी प्रशिक्षणार्थियों को सभी अस्त्रशस्त्रों की समान रूप से शिक्षा दी थी, किन्तु अपनी-अपनी रुचि के अनुसार उन्होने विशिष्ट-विशिष्ट अस्त्राशस्त्रों मे विशिष्ट-विशिष्ट योग्यतायें प्राप्त की। उदाहरण के लिये भीमसेन और दुर्योधन ने गदायुद्ध में वैशिष्ट्य प्राप्त किया, अश्वत्थामा धनुर्वेद के रहस्यों को जानने में सबसे आगे थे। यमज नकुल सहदेव ने असियुद्ध में नैपुण्य प्राप्त किया। युधिष्ठिर ने रथ-युद्ध मे विशिष्टता प्राप्त की, जबकि धनंजय ने सारी ही युद्ध कलाओं में विलक्षणता प्राप्त की। यहाँ तक कि वह समुद्रपर्यन्त सम्पूर्ण भूमि में रथयूथपतियों के भी यूथपति के रूप में प्रसिद्ध थे। बुद्धि, मन की एकाग्रता, बल और उत्साह के कारण वे सम्पूर्ण अस्त्रविद्या मे प्रवीण हुये। अस्त्रों के अभ्यास तथा गुरु के प्रति अनुराग मे भी अर्जुन का स्थान सबसे ऊँचा था। यद्यपि सबको समानरूप से अस्त्र-विद्या का उपदेश होता था तो भी पराक्रमी अर्जुन अपनी विशिष्ट प्रतिभा के कारण अकेले ही समस्त राजकुमारों में अतिरथी हुये।[1]

आजकल भी सैनिकों को उनकी रुचि के अनुसार प्रशिक्षण दिया जाता है और वे भी अपनी रुचि के अनुकूल प्रशिक्षण प्राप्त कर उसमें विशिष्ट योग्यता प्राप्त कर लेते है। उदाहरणार्थ पिछले दो पाकयुद्धों में हमारे हवाबाजों ने नेट का तगड़ा कमाल दिखाया।

प्रशिक्षणार्थियों की परीक्षा:—जब सभी राजकुमार धनुर्विद्या में सुशिक्षित हो गये तब नरश्रेष्ठ द्रोण ने उन सबको एकत्र करके उनके तत्त्व-ज्ञान की परीक्षा लेने का विचार किया। उन्होंने कारीगरों से एक नकली गिद्ध बनवाकर वृक्ष के अग्र भाग पर रखवा दिया। राजकुमारों को इसका पता नही था। आचार्य ने उसी गिद्ध को बीधने योग्य लक्ष्य बनाया। द्रोण ने सबको कहा "तुम सब लोग इस गिद्ध को बोधने के लिये शीघ्र ही धनुष लेकर उस पर बाण चढ़ाकर खडे हो जाओ। फिर मेरी आज्ञा मिलने के साथ ही इसका शिर काट गिराओ। पुत्रो! मैं एक-एक को क्रमशः इस कार्य में नियुक्त करूँगा, तुम लोग मेरे बताये अनुसार कार्य करो" तदनन्तर उन्होने सबसे पहले युधिष्ठिर से कहा "दुर्धर्ष वीर! तुम धनुष पर बाण चढ़ाओ और मेरी आज्ञा मिलते ही उसे छोड़ दो।" तब वे सबसे पहले धनुष लेकर लक्ष्य बीधने के लिये प्रस्तुत हुये, तब कुछ देर बाद उनसे आचार्य ने कहा "राज-कुमार! तुम लक्ष्य को देख रहे हो ना।" उन्होने उत्तर दिया "हाँ गुरुदेव।" तब कुछ देर पुनः ठहरकर उन्होंने पूछा "क्या तुम इस वृक्ष को, मुझ को अथवा अपने

---

1. आदि प. 123/40–43 पू., 131/61–65 गी.

भाइयों को भी देखते हो ?" तब युधिष्ठिर ने उत्तर दिया "हां गुरुदेव मैं सबको देख रहा हूँ।" उनका उत्तर सुनकर द्रोणाचार्य मन ही मन अप्रसन्न से हो गये और उन्हें झिड़कते हुये बोले "हटजाओ यहां से, तुम इस लक्ष्य को नहीं बींध सकते।" तदनन्तर महायशस्वी आचार्य ने उसी क्रम में दुर्योधन आदि धृतराष्ट्र पुत्रों को भी उनकी परीक्षा लेने के लिये बुलाया और उन सबसे उपर्युक्त बातें पूछी। उन्होंने भीमादि अन्य शिष्यों तथा दूसरे देश के राजाओं से भी, जो वहां शिक्षा पा रहे थे, वैसा ही प्रश्न किया। प्रश्न के उत्तर में सभी ने युधिष्ठिर की भांति कहा "हम सब कुछ देख रहे हैं।" यह सुनकर आचार्य ने उन्हें झिड़ककर हटा दिया।[1]

तदनन्तर द्रोणाचार्य ने अर्जुन से मुस्कराते हुये कहा "अब तुम्हें इस लक्ष्य का वेध करना है। इसे अच्छी तरह देखलो। मेरी आज्ञा मिलने के साथ ही तुम्हें इस बाण को छोड़ना होगा। वत्स ! धनुष तान कर खड़े हो जाओ और दो घड़ी मेरे आदेश की प्रतीक्षा करो।" इनके ऐसा कहने पर अर्जुन ने धनुष को इस प्रकार खींचा कि वह मण्डलाकार प्रतीत होने लगा तथा गुरु आज्ञा से प्रेरित होकर गिद्ध की ओर लक्ष्य करके खड़ा हो गया। दो घड़ी बाद आचार्य ने उससे भी वही प्रश्न किया—"अर्जुन क्या तुम उस वृक्ष पर बैठे हुये गिद्ध को, वृक्ष को और मुझे भी देखते हो ?" तब अर्जुन ने द्रोणाचार्य से कहा "मैं केवल गिद्ध को देखता हूँ वृक्ष को अथवा आपको नहीं देखता।" इस उत्तर से द्रोण का मन प्रसन्न हो गया। कुछ देर बाद आचार्य ने अर्जुन को फिर पूछा "वत्स ! यदि तुम गिद्ध को देखते हो तो बताओ उसके अंग कैसे हैं ?" अर्जुन ने कहा "मैं गिद्ध का मस्तक-भर देख रहा हूँ उसके सम्पूर्ण शरीर को नहीं।" यह सुनकर द्रोण का शरीर हर्ष से रोमांचित हो आया और वे अर्जुन से बोले "चलाओ बाण।" अर्जुन ने बिना सोचे विचारे बाण छोड़ दिया। फिर तो अर्जुन ने तीक्ष्ण बाण से वृक्ष पर बैठे उस गिद्ध का मस्तक वेग पूर्वक काटकर भूमि पर गिरा दिया। इस कार्य में सफलता प्राप्त होने पर आचार्य ने अर्जुन को हृदय से लगा लिया और उन्हें यह विश्वास हो गया कि राजा द्रुपद युद्ध में अर्जुन द्वारा अपने भाई-बन्धुओं सहित अवश्य पराजित हो जायेंगे।[2]

प्राचीनकाल के अनुसार आज भी सैनिकों की बड़ी कठोर परीक्षायें ली जाती है। परीक्षायें वार्षिक मासिक पाक्षिक और साप्ताहिक सभी प्रकार की होती हैं। प्रायः सैनिकों को परीक्षा पाठ देने के सप्ताह के भीतर ही ले ली जाती हैं।

---

1. आदि प. 123/45–57 पू., 131/67–79 गी.
2. आदि प. 12:/58–67 पू., 132/1–10 गी.

कभी-कभी पाठ के मध्य में और पाठ के सम्पूर्ण होने पर भी परीक्षा ली जाती है। पूर्व पाठ का परीक्षण करके ही दूसरा पाठ प्रारम्भ किया जाता है । परीक्षायें लिखित, मौखिक और प्रत्यक्ष कर्माभ्यास के आधारों पर ली जाती है । परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिये 33% अंक प्राप्त करना आवश्यक होता है । यदि प्रशिक्षणार्थी बार-बार अनुत्तीर्ण हो तो उसे पुनः पुनः वही प्रशिक्षण दिया जाता है ।

प्राप्त प्रशिक्षण का रंगभूमि में प्रदर्शन :—आचार्य द्रोण ने जब यह देखाकि धृतराष्ट्र के पुत्र तथा पाण्डव अस्त्र विद्या की शिक्षा समाप्त कर चुके है, तब उन्होंने कृपाचार्य, सोमदत्त, बुद्धिमान् वाह्लीक, भीष्म, महर्षि व्यास तथा विदुरजी के निकट राजा धृतराष्ट्र से कहा "राजन् ! आपके कुमार अस्त्रशस्त्र विद्या की शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं । कुरुश्रेष्ठ आपकी अनुमति हो तो वे अपनी सीखी हुई अस्त्र-संचालन की कला का प्रदर्शन करें ।" धृतराष्ट्र यह सुनकर बड़े प्रसन्न हुये और उन्होने मुहुर्तादि निश्चित करवाकर भूमि का निरीक्षण करवाया तथा उस भूमि में राजा की आज्ञा से शिल्पियो ने रंगभूमि बनाई । वहाँ एक सुविस्तृत प्रेक्षागार एवं सुन्दरमंचों की व्यवस्था करवाई । तदनन्तर एक निश्चित दिन महाराज धृतराष्ट्र, भीष्म, कृप सोमादि के साथ नगर से बाहर स्थित प्रेक्षागृह मे गये और उसी प्रकार स्त्रियाँ भी वहाँ गयीं । सभी मनुष्य कुमारों का अस्त्रकौशल देखने के लिये एकत्र हुये ।

तत्पश्चात् श्वेतवस्त्र और श्वेत यज्ञोपवीत धारण किये आचार्य द्रोण ने अपने पुत्र अश्वत्थामा के साथ रंगभूमि मे प्रवेश किया । आचार्य के शिर और दाढ़ी मूँछ के बाल भी श्वेतवर्ण के थे तथा वे श्वेत पुष्पों की ही माला धारण किये हुये थे । बलवानो में श्रेष्ठ द्रोण ने यथासम्भव देवपूजा की और श्रेष्ठमंत्र-वेत्ता ब्राह्मणों से मंगल पाठ करवाया । तदनन्तर भरतवंशियों में श्रेष्ठ वे वीर राजकुमार बड़े-बड़े रथों के साथ दस्ताने पहिने, कमरकसे, पीठ पर तूणीर बाँधे और धनुष लिये हुये उस रंगमण्डप के अन्दर प्रविष्ट हुये और क्रमशः सभी ने द्रोणाचार्य की यथोचित पूजा की । तत्पश्चात् वे धनुष-कौशल, रथचर्या, गजारोहण, अश्वारोहण मल्लादि अनेक प्रकार के प्रदर्शनो को दिखाने के लिये प्रस्तुत हुये ।

भीम और दुर्योधन का गदाकौशल प्रदर्शन :—सर्वप्रथम गदाओं को हाथों में घुमाते हुये हृष्टपुष्टांग भीम और दुर्योधन अपनी गदायुद्ध कला का प्रदर्शन करने के लिये रंगभूमि में अवतीर्ण हुये । उस समय वे एक शिखर वाले दो पर्वतो की भाँति शोभा पा रहे थे । दोनों एक दूसरे के सामने खड़े होकर गर्जना करते हुये दो मतवाले गजराजो के समान लगते थे । वे दोनों महाबली अपनी-अपनी गदा को

दायें बायें मण्डलाकार घुमाते हुये दो मदोन्मत्त हाथियों की भांति मण्डल के भीतर विचरण करने लगे।[1]

भीम और दुर्योधन जब रंगभूमि में गदायुद्ध करने लगे उस समय दर्शक दो दलों में विभक्त हो गये। कुछ कहते थे "दुर्योधन अपना अद्भुत कौशल दिखा रहा है" तो दूसरे कुछ कहते थे "भीम तो आश्चर्यमय कौशल दिखा रहा है" इस प्रकार मनुष्यों के कोलाहल से भारी आवाजें वहाँ सहसा गूँजने लगीं। महात्मा द्रोण ने समस्त रंगभूमि को महार्णव के समान विक्षुब्ध देखकर अपने प्रिय पुत्र अश्वत्थामा को कहा "वत्स! ये दोनों महापराक्रमी वीर है अस्त्रविद्या मे अत्यन्त, अभ्यस्त हैं। तुम इन दोनों को युद्ध से रोको, जिससे भीम और सुयोधन का उत्पन्न क्रोध इस रंगभूमि को जला न सके। तदनन्तर प्रलयकालीन वायु विक्षुब्ध उत्ताल तरंगोंवाले दो समुद्रों की भांति गदा उठाये दुर्योधन और भीमसेन को गुरुपुत्र अश्वत्थामा ने युद्ध से रोक दिया।[2]

अर्जुन का अस्त्रकौशल प्रदर्शन :—तत्पश्चात् द्रोणाचार्य ने महानमेघों के समान कोलाहल करने वाले बाजों को बन्द कराकर रंगभूमि में उपस्थित हो यह बात कही "दर्शकों! जो मुझे पुत्र से भी अधिक प्रिय है, जिसने सम्पूर्ण शस्त्रों मे निपुणता प्राप्त की है तथा जो भगवान् नारायण के समान पराक्रमी है, अब उस कुन्तीपुत्र अर्जुन का कौशल आप लोग देखें।" इसके अनन्तर आचार्य के कहने से स्वस्तिवाचन कराकर तरुण वीर अर्जुन गोह के चमड़े के बने हुये हाथ के दस्ताने पहिने बाणों से भरा तरकश लिये धनुष सहित रंगभूमि में दिखाई दिये। श्याम-शरीर पर सोने का कवच धारण किये ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानों सूर्य इन्द्रधनुष, विद्युत और सन्ध्याकाल से युक्त मेघ शोभा पा रहा हो। फिर तो सम्पूर्ण रंगमण्डप में हर्षोल्लास छा गया। सब ओर भांति-भांति के बाजे और शंख बजने लगे। आनन्दातिरेक से मुखरित हुआ वह रंगमण्डप जब किसी प्रकार शान्त हुआ, तब पार्थ ने आचार्य को अस्त्रलाघव दिखाना प्रारम्भ किया। उसने पहले आग्नेयास्त्र से वह्नि प्रकट की, फिर वायव्यास्त्र से वायु का सृजन किया और पर्जन्यास्त्र चलाकर मेघों का विस्तार किया। इसके अनन्तर भौमास्त्र से भूमि और पार्वतास्त्र से पर्वतों को उत्पन्न कर दिया फिर अन्तर्धानरूप मे वे स्वयं अदृश्य हो गये। वे क्षणभर में बहुत लम्बे और क्षणभर में बहुत छोटे बन जाते थे। एक क्षण में रथ के धुरे पर खड़े होते तो दूसरे क्षण रथ के बीच दिखायी देते थे। फिर

---

1. आदि प. 124/1–32 पू., 133/1–34 गी.
2. आदि प. 125/1–5 पू., 134/1–5 गी.

पलक मारते-मारते पृथ्वी पर उतर कर अस्त्रकौशल दिखाने लगते थे। अपने गुरु के प्रिय शिष्य अर्जुन ने फुर्ती और सुन्दरता के साथ सुकुमार, सूक्ष्म और भारी निशाने को भी बिना हिलाये डुलाये नाना प्रकार के बाणों द्वारा बींध दिया। रंगभूमि में लोहे का बना एक सूअर सब ओर चक्कर लगा रहा था। उस घूमते हुये सूअर के मुख मे अर्जुन ने एक ही साथ एक बाण की भांति पाँच बाण मारे। वे पांचों बाण एक दूसरे से सटे हुये नहीं थे। एक स्थान पर गाय का सींग एक रज्जु में लटकाया गया था, जो हिल रहा था। महापराक्रमी अर्जुन ने उस सींग के छेद में मैं लगातार इक्कीस बाण गड़ा दिये। इस प्रकार अर्जुन ने खड्ग, धनुष, गदा आदि के भी अस्त्रकौशल, अनेक पैंतरे और हाथ दिखलाये।[1]

कर्ण का अस्त्रकौशल प्रदर्शन :—अर्जुन के द्वारा अस्त्र कौशलानन्तर सूतपुत्र कर्ण ने रंगमण्डप मे प्रवेश किया। वक्ताओं मे श्रेष्ठ सूर्यपुत्र कर्ण ने इन्द्र-कुमार अर्जुन को मेघ के समान गम्भीर वाणी में कहा "हे पार्थ ! तुमने इन दर्शकों के समक्ष जो कार्य किया है, मैं उससे भी अधिक अद्भुत कर्म कर दिखाऊंगा। अतः तुम अपने पराक्रम पर गर्व न करो। तब सदा युद्ध से ही प्रेम करने वाले महाबली कर्ण ने द्रोणाचार्य की आज्ञा लेकर, अर्जुन ने वहाँ जो जो अस्त्रकौशल प्रकट किया था, वह सब कर दिखाया।[2]

आधुनिक सेना में भी चाहे वह जल, थल या नभ सेना में से कोई भी हो प्रशिक्षण के बाद प्रदर्शन करके दिखाया जाता है। विशेषकर राईफल आदि का निशाना और वायुयान की कलाबाजियां आदि प्रदर्शन उदाहरणों के रूप में देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार रात्रिकाल में शत्रु पर आक्रमण पहाड़ों पर चढ़ना आदि के प्रदर्शन भी करके दिखाये जाते है।

गुरुदक्षिणा की परम्परा :—भारतीय संस्कृति में गुरू का बहुत उच्च स्थान रहा है। जो छात्र एक अबोध अवस्था में गुरू के पास आता है उसे गुरू अपनी क्षमता के अनुसार सभी प्रकार से पाल-पोषकर तथा प्रशिक्षित करके संसार-क्षेत्र में उतरने के योग्य बनाकर पुनः वहीं भेज देता है, जहाँ से वह आया था। बालक आता है अबोध बनकर और जाता है सुबोध होकर। अतः अन्त में सब कुछ देने वाले गुरू को छात्र भी गुरू की इच्छानुसार वस्तु भेंट करके ही जाता है।

---

1. आदि प. 125/6–25 पू., 134/6–25 गी.
2. आदि प. 126/8–12 पू., 135/8–12 गी.

द्रोणाचार्य ने भी जब पाण्डव और धार्तराष्ट्रों को कृतास्त्र देखा तो गुरुदक्षिणा लेने का समय आया जानकर अपने पूर्वसंकल्प को स्मरण करते हुये शिष्यों को कहा "शिष्यों ! पांचालराज द्रुपद को बन्दी बनाकर मेरे पास ले आओ। तुम्हारा कल्याण हो। मेरे लिये यही सर्वोत्तम गुरुदक्षिणा होगी।" तब 'बहुत अच्छा' कहकर शीघ्रतापूर्वक प्रहार करने वाले वे सब राजकुमार रथों में बैठकर गुरुदक्षिणा चुकाने के लिये आचार्य द्रोण के साथ ही वहां से प्रस्थान कर गये।[1]

धीर पाण्डवों ने यज्ञसेन द्रुपद को मन्त्रियों सहित संग्रामभूमि में बन्दी बनाकर द्रोणाचार्य को उपहार के रूप में दे दिया। वीर अर्जुन के अनेक जनपदों से सम्पन्न अहिच्छत्रा नामवाली नगरी को भी युद्ध में जीतकर गुरुवर द्रोण को गुरुदक्षिणा के रूप में दे दिया।[2]

निषादपुत्र एकलव्य ने भी गुरुद्रोण को उनकी इच्छा के अनुसार अपना अंगूठा भेंट कर ससार मे एक अनूठा उदाहरण प्रस्तुत किया था, जिसका कि वर्णन हम पीछे कर चुके हैं।

आजकल गुरुदक्षिणा की परम्परा सेना के प्रशिक्षण में बिल्कुल निर्मूल हो चुकी है। यदि कोई किसी भी प्रकार दक्षिणा भेंट कर दें तो वह दण्डनीय समझा जाता है। देने वाले ही के समान लेने वाला भी दोषी माना जाता है। क्योंकि प्रशिक्षण देने वाले और लेने वाले दोनों को ही राज्य-शासन मासिक वेतन प्रदान करता है।

सैनिकों को नियुक्ति वेतन एवं मृत सैनिकों के परिवारों की व्यवस्था :—महाभारत मे पृथक् रूप से इस विषय पर उल्लेख नही मिलता। सभापर्व में जब देवर्षि नारद युधिष्ठिर के पास आकर उसकी शासन-व्यवस्था के विषय में बहुत से प्रश्न पूछते है तब प्रसंग-वश ये प्रश्न भी आ जाते हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि उस समय में भी इस विषय मे सम्यक् व्यवस्था थी। महर्षि नारद युधिष्ठिर से पूछते है "राजन् ! क्या तुम्हारी सेना के मुख्य दलपति चतुर, निर्भय, निष्कपट युद्धविशारद और पराक्रमी हैं ?" इससे ज्ञात होता है कि सैनिकों की नियुक्ति हेतु ये मानदण्ड प्रधान-रूप से माने जाते थे। तदनन्तर वे भोजनादि की व्यवस्था के विषय मे पूछते है "महाराज ! अपनी सेना के लिये यथोचित भोजन

1. आदि प. 128/1–4 पू., 137/1–4 गी.
2. आदि प. 128/63–77 पू., 137/63–77 गी.

शत्रु पक्ष में आधिक्य देखकर उचित अवसर आने पर दैव का भरोसा करके अपने सैनिकों को अग्रिम वेतन देकर शत्रु पर चढ़ाई कर देते हो ?[1] इस वर्णन में स्पष्ट होता है कि संकटकाल में आक्रमण के समय सैनिकों के सन्तोष के लिये तथा उनके उत्साहवर्धन के लिये अग्रिम वेतन दिया जाता था।

धृतराष्ट्र भी संजय को अपनी सेना की नियुक्ति के विषय में और वेतन सम्मानादि के विषय में अपना मत इस प्रकार प्रकट करते हैं "हे संजय ! मेरी सेना अनेक गुणों से सम्पन्न है। हमारी सेना हमारे द्वारा सदा समादृत होती है। अतः वह सर्वदा ही हम पर अनुरक्त रहती है। हमारे सैनिक युद्ध कला में निपुण हैं। इस सेना में सैनिकों का निर्वाचन क्रमशः किया गया है। सैनिकों का परीक्षण करने के बाद ही उनकी नियुक्ति की गई है। इनमें न अति-वृद्ध है और न बालक है, न कृश है और न अत्यन्त मोटे ही है। इनके शरीर प्रायः हल्के, सुडौल और लम्बे हैं। शरीर का एक-एक अवयव सबल तथा सभी सैनिक नीरोग एवं स्वस्थ है। इनके शरीर बन्धे हुये कवचों से आच्छादित हैं। इनके पास शस्त्रादि आवश्यक सामग्रियों की बहुतायत है। ये सभी सैनिक शस्त्रग्रहण सम्बन्धी बहुत सी विद्याओं में प्रवीण है। हाथियो, घोड़ों तथा रथों पर बैठकर युद्ध करने की कला में सब लोगों की परीक्षा ली जा चुकी है और परीक्षा लेने के पश्चात् उन्हें यथायोग्य वेतन दिया गया। हमने किसी को भी गोष्ठीद्वारा बहकाकर उपकार करके अथवा किसी सम्बन्ध के कारण सेना में भर्ती नहीं किया है। इनमें सभी लोग कुलीन, श्रेष्ठ, हृष्टपुष्ट, उद्दण्डता-शून्य, पहले से सम्मानित यशस्वी तथा मनस्वी हैं।

दूसरे भी बहुत से सैनिक हमारे द्वारा परीक्षा के अनन्तर ही यथायोग्य वेतन और प्रिय व्यवहार के साथ सेना में भर्ती किये गये है। तात ! मेरी सेना में कोई भी ऐसा नहीं है, जिसे अनादरपूर्वक रखा गया हो। सबको उनके कार्य के अनुरूप ही भोजन और वेतन प्राप्त होता है। तात ! मेरी सेना में एक भी योद्धा नहीं रहा होगा जिसे थोड़ा वेतन दिया जाता हो अथवा बिना वेतन के ही रखा गया हो। तात ! मेरे पुत्रों तथा कुटुम्बी-जनो एवं बन्धु-बान्धवो ने भी सभी सैनिकों का यथाशक्ति दान, मान और आसनादि देकर सत्कार किया है।[2]

उपर्युक्त वर्णन से ऐसी प्रतीति होती है कि मानों नारद द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर धृतराष्ट्र ने युधिष्ठिर बनकर दिया हो। अस्तु इस संवाद से स्पष्ट

---

1. सभा प. 5/36–48 पू., 5/47–59 गी.
2. द्रोण प. 89/1-11, 21–24 पू., 114/1-11, 22–25 गी.

है कि महाभारतकाल में भी आज ही के समान सैनिकों की पदानुसार परीक्षा करके उनकी नियुक्ति की जाती थी। नियुक्ति के बाद उन्हें भोजन, वस्त्र, वेतनादि स्वामी ही देता था तथा समयानुसार आदर सत्कार, सम्मान और पुरस्कार भी दिये जाते थे।

महात्मा भीष्म भी शान्ति पर्व में इन्हीं तथ्यों की पुष्टि करते हुये युधिष्ठिर से कहते हैं "वत्स ! जो सैनिक शत्रु की सेना को छिन्न-भिन्न कर डालते हैं और अपनी तितर-बितर सेना को संगठित करके दृढ़तापूर्वक स्थापित करने की शक्ति रखते हैं ऐसे लोगों को राजा अपने समान ही भोजन-पान की सुविधा देकर सम्मानित करे और उन्हें दुगना वेतन दे।[1]

दैत्य-गुरु शुक्राचार्य ने भी योग्य-स्वामी, योग्य-भृत्य का आदर्श प्रस्तुत करते हुये उनकी वेतनादि व्यवस्था का यथोचित वर्णन इस प्रकार किया है "महात्मा भीष्म का समर्थन करते हुये शुक्राचार्य कहते हैं शत्रु पर चढाई करते समय अपने सेवकों या सैनिकों के वेतन में सवायी वृद्धि करके उन्हे प्रसन्न रखना चाहिये। प्रशिक्षण-काल में जो सैनिक प्रशिक्षित हो चुके हों उन्हें पूरा वेतन देना चाहिये और जो अभी व्यूह (कवायद) के अभ्यास करने में लगे हुये (सीखरहे) हो उनको आधा वेतन देना चाहिये। शत्रु सम्बन्धी जो जो मंत्रीगणादि फोड़ लिये गये हो या शत्रुराजा के दुर्गुणों से अधिक गुणवान् होते हुये भी जिनके सम्मान छीन लिये गये हों, किन्तु अपने कार्य को सिद्ध करनेवाले हों तो ऐसे लोगो को अच्छा वेतन देकर राजा को पालन-पोषण करना चाहिये। जो लोभ के वशीभूत होकर सेवा-कार्य को उपेक्षाभाव से करते हैं, ऐसे शत्रु के फोड़ लिये गये भृत्यों को वेतन आधा दे और शत्रु से निकाले गये सुन्दर गुणवान्-पुरुषों को अच्छा वेतन देकर पालन करें।[2]

यदि राजा पर गहरी आपत्ति आ जावे तो राजा समस्त मित्रों और भृत्य-वर्गों की सभा कर उसमें कहे "मैं आपत्ति को पार कर जाऊं, इसलिये आप लोग युक्ति बतायें। आप लोग मेरे मित्र हैं आप लोगो को मैं केवल अपना भृत्य ही नही मानता, अपितु यह मानता हूँ कि आप लोगों के समान मेरा कोई दूसरा सहायक नही है। अतः इस समय भोजन के लिये वेतन का तृतीयांश या अर्द्धांशमात्र ही आप लोग ग्रहण करें। क्योंकि इस समय व्यय अधिक होने से मैं समय पर वेतन देने में

1. शान्ति प 101/27 पू., 100/30 गी.
2. शु. नी. 4/7प्र./354, 393, 398-399

असमर्थ हूँ और जब मैं आपत्ति को पार कर लूँगा। तब आप लोगों के उपकार का बदला चुकाना उचित जानकर शेष वेतन भी चुका दूँगा।" शुक्राचार्य ने आपत्तिकाल में सैनिक (भृत्य) के लिये भी इसी प्रकार स्वामी पर की जाने वाली उदारता का वर्णन भी किया है "जो भृत्य ऐसा धनी हो कि अपने पास से सोलह वर्ष तक बिना वेतन लिये जीविका चला सकता है वह बिना वेतन लिये आठ वर्ष तक स्वामी का कार्य करें और जो इससे भिन्न हों वे अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार जितने समय तक बिना वेतन के हो सके स्वामी कार्य करें। जो निर्धन हों तो राजा से अन्न वस्त्र मात्र ग्रहण करे। इससे अन्यथा होने पर ग्रहण न करें। जिस स्वामी से आज तक जिसने भलीभांति सुख का उपभोग किया, आज यदि उसके दुःख से वह दुःखी न हो ऐसे कृतघ्न भृत्य की स्वामी या अन्य कृतज्ञ भृत्य भी निन्दा करते हैं। जो भृत्य (सैनिक) जिस स्वामी का सम्मानपूर्वक दिया हुआ अन्न एक बार भी भोजन के रूप मे करते तो उसकी रक्षार्थ समय पडने पर जीवन का भी त्याग कर दे। वही भृत्य सुन्दर यश वाला माना जाता है जो आपत्ति पड़ने पर भी स्वामी का साथ नही छोड़ता।"[1]

स्वामी भी वस्तुतः वही प्रशंसा-योग्य होता है जो आवश्यकता पड़ने पर भृत्य की रक्षार्थ अपना जीवन भी त्याग देता है। इस धरा पर राम के समान कोई दूसरा नीति-मान् राजा नही हुआ, क्योंकि जिसकी नीति के द्वारा वानरो ने भी भलीभाँति से भृत्यता स्वीकार कर ली थी।[2] अच्छे स्वामी के लिये यह आवश्यक है कि वह सैनिकों का सम्मान रखते हुये युद्ध कार्य के अतिरिक्त अन्य कार्यो को करने के लिये उनकी नियुक्ति न करें। इसके साथ-साथ इस बात का भी ध्यान रखे कि सेना के अन्दर धनी सैनिकों को उनकी योग्यता के अनुसार उचित वेतन दे और राजधानी से बाहर प्रदेश में जाने पर उनका जो धन व्यय हो उससे तीसवाँ भाग अधिक मिलाकर राजा उनको द्रव्य दें। सैनिको के पसीने के धन की राजा अपने खजाने के समान यत्न पूर्वक रक्षा करें।[3]

शुक्राचार्य के मत से आजकी सैनिक व्यवस्था प्रणाली बहुत कुछ मिलती-जुलती ही है, क्यों न हो, प्रत्येक देश के भूत का प्रभाव वर्तमान पर तो होता ही है, फिर वह चाहे किसी भी अंश मे हो। हमारे आधुनिक सैनिक पाश्चात्य रंग में भले

---

1. शु. नी. 5/49–56
2. न राम सदृशो राजा पृथिव्यांनीतिमानतः।
   सुभृत्यता तु यत्नीत्या वानरैरपि स्वीकृता॥ (शु. नी. 5/57–57)
3. शु. नी. 5/93–95

ही वेशभूषा और अस्त्रशस्त्रादि से समय के प्रमाण के कारण रंगे हुये हैं किन्तु उनकी आस्था भारतीय है। उनका इतिहास भारतीय है। अतः वे अपनी भारतीय संस्कृति की मूल बातो को यत्न करके भी अपने अन्दर से निकाल नही सकते। चीन से हुये भारत के युद्ध में चुसूल के शहीद शैतानसिंह का एक ही उदाहरण इस बात की पुष्टि कर देता है।

आइये अब हम उपर्युक्त विषय को लेकर आधुनिक सेना के सम्बन्ध में भी कुछ ज्ञान प्राप्त करलें। सेना के छोटे से छोटे सैनिक से लेकर ऊँचे से ऊँचे अधिकारी की नियुक्ति भारतीय रक्षामन्त्रालय करता है। प्रत्येक सैन्याधिकारी को पदगत् योग्यता के अनुकूल वेतन दिया जाता है। उदाहरणार्थ वर्तमान मे सिपाही को 300) रुपये मासिक, उपनायक को 305) रुपये, नायक को 325) रुपये, उपहवलदार 400) रुपये हवलदार को 405) रुपये, हवलदार मेजर को 410) रुपये, नायब सूबेदार को 450) रुपये, सूबेदार को 550) रुपये, सूबेदारमेजर को 700) रुपये यहाँ तक सेना की प्रथम श्रेणी हुई।

द्वितीय श्रेणी जिसे उत्तरदायी पदाधिकारियों की श्रेणी कहते हैं उसमें सैकिण्ड लेफ्टीनेन्ट को 350) रु. लेफ्नेन्ट को 400) रु., कैप्टीन को 700) रु. मैजर को 900 से 1100) रु., लेफ्टीनेन्ट कर्नल को 1100 से 1450 रु., कर्नल को 1500 से 1800 रु. ब्रिगेडियर को 1800 से 2000 रु., मैजर जनरल को 2500 रुपये, लेफ्टीनेन्ट जनरल को 3000 रु., सेना के सर्वोच्च अधिकारी जनरल को 3500 रु. मासिक रूप में वेतन प्रदान किये जाते हैं।

मृत सैनिकों के परिवार की व्यवस्था का भी आजकल की सरकार पूरा ध्यान रखती है। मरने वाले व्यक्ति की पत्नी को उसकी पेंशन मिलती रहती है, साथ ही सहायता के रूप में उसे इकट्ठी धनराशि भी दी जाती है तथा बहादुर सैनिकों के लिये जिन्होने कि रणभूमि मे प्रशंसनीय कार्य किया हो, भूखण्ड, खेती के लिये भूमि, बच्चो की निशुल्क शिक्षा और अलंकरण आदि भी दिये जाते है। मृत सैनिकों के परिवारों की सुव्यवस्था हेतु 'सैनिकल्याणकोषादि' रखे गये हैं. जिनके द्वारा मृत सैनिको की पत्नियो को सिलाई कढ़ाई बुनाई तथा अन्य कई गृहउद्योगों का प्रशिक्षण दिया जाता है।

इसी प्रकार जीवित सैनिकों के लिये भी निशुल्क भोजन, निशुल्क वस्त्र, निशुल्कशिक्षा निशुल्क चिकित्सा और निशुल्क निवासादि की सुविधा प्रदान की जाती है। रण में बहादुरी दिखाने वाले सैनिकों को अलंकरण (तमगे) जैसे. वीर

चक्र, परमवीरचक्र, महावीर चक्रादि प्रदान कर उनका सम्मान किया जाता है। इन अलंकारणों के साथ-साथ, भूमि नकदराशि, वेतनवृद्धि और पदोन्नति आदि के लाभों से भी लाभान्वित कराया जाता है।

सेना के विभिन्नाधिकारियों के श्रेणिगत पद :—जैसे पहले हमने *द्वितीय पर्व में सैन्य संगठन श्रेणियाँ उल्लिखित की थी*, उसी प्रकार अब उन श्रेणियों के विभिन्न अधिकारियों के पदों का प्रदर्शन किया जा रहा है।

1. पदाति :—सेना में पैदल-सैनिक सेना की प्राथमिक इकाई होता है इसी पद के द्वारा सेना के विभिन्न श्रेणीगत पदों का सृजन किया जाता है। आधुनिक सेना में भी इस पद का प्राचीन काल के समान ही नाम और महत्व है।

2. पत्तिपति :—एक रथ का, एक हाथी का, तीन अश्वों का और पाँच पैदल सिपाहियों का नियन्ता पत्तिपति कहलाता है। आधुनिक काल में भी 12 सिपाहियों के अधिपति को नायक (Section Commander) कहते हैं, जो पत्तिपति की समकक्षता रखता है।

3. सेना मुखाधिपति :—तीन रथों का, तीन हाथियों का, नौ तुरगों का और पन्द्रह पदातियों का नायक सेनामुखाधिपति कहलाता है। आधुनिक सेना में इस पद की समक्षता रखने वाला पद सूबेदार *(Platon Commender)* का होता है जो 45 सिपाहियों का अधिपति होता है।

4. गुल्माधिपति :—नौ रथों का, नौ हाथियों का, सत्ताईस अश्वो का और पैतालीस पैदल सैनिकों का अधिनायक गुल्माधिपति कहलाता है। आधुनिक सेना में इस पद को कम्पनी कमाण्डर (Company Commender) के समकक्ष रखा जा सकता है। कम्पनी कमाण्डर के अधीन एक सौ पचास सैनिक होते है। इसका पद कैप्टीन या सैकिण्ड लेफ्टीनेन्ट होता है।

5. गणनायक :—तीन गुल्मों के अधिपति को गणनायक कहते है जिसका तात्पर्य यह है कि वह सत्ताईस हाथियों का, इक्यासी अश्वों का और एक सौ पैंतीस पदातियो का अधिपति होता है। भारतीय आधुनिक सेनामें इसकी तुलना रणांगणाधिकारी (Field officer) बटालियन कमाण्डर से की जा सकती है। इसका पद मैजर या लेफ्टीनेन्ट कर्नल होता है। इसके अधीन 850 सिपाही होते हैं।

6. वाहिनीपति :—इक्यासी रथ, इक्यासी हाथी, दो सौ तियालीस अश्व और चार सौ पाँच पदातियों का नियन्ता वाहिनीपति कहलाता है। आधुनिक भारतीय सेना में इस पदाधिकारी की समकक्षता ब्रिगेडियर से की जा सकती है। यह सेन्टर कमाण्डर भी कहलाता है। इसका पद कर्नल या लेफ्टीनेन्ट कर्नल होता है। इसके अधीन बीस बटालियन होती है।

7. पृतनापति :—243 रथों, 243 हाथियों 729 अश्वो और 2005 पदातियों की नियन्ता पृतनाधिपति कहलाता है। इसकी तुलना आधुनिक काल में डिवकमाण्डर से की जा सकती है। यह अधिकारी मेजर जनरल या लेफ्टीनेन्ट जनरल के पद का होता है। लसकी अधीनता मे तीन रेजीमेन्ट होती हैं।

8. चमूपति :—पृतना से इसमें हाथी घोड़े रथो और पैदलों की तिगुनी संख्या होती है। अत 729 रथों, 729 हाथियों, 2187 अश्वों तथा 3645 पदातियों का अधिकारी चमूपति कहलाता है। आधुनिक काल में इसकी तुलना कोर कमाण्डर से की जा सकती है जिसका पद लेफ्टीनेन्ट जनरल होता है। यह डिविजन के पदातियों से तिगुने पदातियो का अधिकारी होता है।

9. अनीकिनीपति :—2187 रथों, 2187 हाथियों 6561 अश्वों तथा 10935 पदातियों का अधिपति अनीकिनी पति कहलाता है। आधुनिक काल मे इसकी तुलना कमान कमाण्डर लेफ्टीनेन्ट जनरल से की जा सकी है। कमान में समान रूप से चार शाखायें होती है और प्रत्येक का अधिकारी उपर्युक्त ही होता है।

10. अक्षौहिणी पति :—अनीकिनी से तिगुनी संख्या वाले रथ, घोडे हाथी और पदातियो का अधिकारी अक्षौहिणीपति या सर्वोच्च पदाधिकारी कहलाता है।[1] आजकल इसकी तुलना हम सेनाध्यक्ष (General) से कर सकते है वह सेना का सर्वोच्च पदाधिकारी होता (The chief in Army staff) है। इस अक्षौहिणी की तुलना हम आर्मी से कर सकते है।

सेनापति :—जैसा कि हम पर्व दो में यह बता आये है कि वैशम्पायन के मत में पाँच हाथियों और पाँच सौ रथों की एक सेना होती है। अतः सेना के अधिपति को सेनापति कहा जा सकता है,[2] किन्तु वस्तुतः सेनापति का पद सर्वोच्च

---

1. आदि प. 2/13-18 पू., 2/17-22 गी.
2. घ. प. 152/21 पू., 155/24 गी.

पद होता है, वह समस्त सेना का अधिपति होता है, जिसमें अक्षौहिणी सेना भी समाहित हो जाती है। इसी प्रकार आधुनिककाल में भी आर्मी (Army) का सर्वोच्च पदाधिकारी सेनापति होता है जिसे जनरल कहते हैं।

महर्षि शुक्र का मत सेनापति के सम्बन्ध में हम प्रारम्भ में ही सैनिक लक्षण के साथ-साथ बता चुके हैं। अतः वहीं देखा जाना चाहिये।

चाणक्य का मत सेनापति के सम्बन्ध में आधुनिक मत से या प्राचीन मत से बिल्कुल पृथक् सा लगता है। वह कहता है "पदिकदशकस्यैकः सेनापति" (कौटिल्य अर्थ. अ. 6/159 प्रकरण) अर्थात् दस पदिकों के अधिकारी को सेनापति कहते है।"

आइये अब हम सेनापति के अतिरिक्त ऊपर वर्णित पदाधिकारियों के सम्बन्ध में नीतिकुशल शुक्र और चाणक्य के विचार भी जान लें।

महर्षि शुक्र के मत में 5 या 6 पैदल सिपाहियों का जो स्वामी होता है, वह पत्तिपाल, 30 सिपाहियों का स्वामी गौल्मिक, 100 सिपाहियों का स्वामी 'शतानीक' कहलाता है और श्रेष्ठ अनुशतिक, सेनानी तथा लेखक ये सब सौ-सौ के ऊपर विशेष कार्यों के लिये अध्यक्ष बनाये जाने चाहियें। 1000 सिपाहियों के स्वामी को 'साहस्त्रिक' एवं 10,000 सिपाहियों के अधिपति को 'आयुतिक' बनाना चाहिये। इतना बताने के अनन्तर महर्षि शुक्र कर्म के द्वारा इनके पदों की व्याख्या इस प्रकार करते हैं। सायं-प्रातः सैनिकों को व्यूहरचना का (अभ्यास) कराना और भलीभांति युद्ध करने के लिये रणसज्जा का ज्ञान रखना शतानीक का कर्त्तव्य है। इन्हीं गुणों से युक्त शतानीक की सहायता करने वाला युद्धोपयोगी सामग्रियों का तथा योग्य सैनिकों का जानने वाला 'अनुशतिक' कहलाता है। जो प्रहरी लोगों के लिये कार्य करता है वह सैनानी कहलाता है तथा प्रहरी गणों का जो पहरा बदलता है। वह 'पत्तिप' या पत्तिपाल कहलाता है। जो प्रहरियों के अपने-अपने कार्य में लगने पर उनके कार्यों का सतर्कता से निरीक्षण करता है वह 'गुल्मप' या 'गौल्मिक' कहलाता है। जो सेना में कितने सैनिक है? और उन्होंने कितना वेतन पाया? पुराने असमर्थ सैनिक कितने हैं? और कौन-कौन कहां गये है? इन सब बातों को जानकर लिखता है वह 'लेखक' कहलाता है तथा तथा 20 हाथियों और 20 घोड़ों का अध्यक्ष नायक कहलाता है।[1]

---

1. शु. नी. 2/141–147 नी.

प्रस्तुत विषय में चाणक्य अपना मत अलग ही रखता है। उसके मत मे दश रथों और दश हाथियों का अधिकारी 'पदिक' होता है। दश पदिकों का अधिपति 'सेनापति' और दस सेनापतियों का अधिपति 'नायक' होता है। नायक ही व्यूह के अंग स्वरूप रथ, हाथी आदि के अलग हो जाने पर उन्हें एकत्र करता है, सेना की गति के निवृत्त हो जाने पर वह गति प्रदान करता है, युद्ध मे प्रत्यावर्तन, आक्रमण, तूर्यध्वनि एवं ध्वजप्रदर्शन से संकेत विधान का कार्य भी करता है।[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि महाभारतकार, शुक्रनीतिकार और अर्थशास्त्रकार की उपर्युक्त विषय में एक सी मान्यता नहीं है। इसमें हम समय के वातावरण को ही प्रधान कारण मानते हैं, क्योंकि समयानुसार मान्यताओं का परिवर्तन हो जाता है। हां यह अवश्य है कि आधुनिक काल की मान्यता प्राचीनकाल(महाभारत) की मान्यता से पर्याप्त रूप में मेल खाती है।

उपर्युक्त सेनाधिकारियों के अतिरिक्त कुछ अन्य उपाधिकारियों के पद जिनका कि उपर्युक्त पदों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है, शुक्रनीति और महाभारत में इस प्रकार वर्णन मिलता है।

अश्वाध्यक्ष :—जो पुरुष घोडों के हृदयगत भावों से जाति, रंग, भौरी आदि के गुणो, चाल, शिक्षा, चिकित्सा, बल, सार, रोग, शुभाशुभफल, पालन, ऊंचाई (मान) आरोहण, दन्तक्षतादि समस्त बातों को जानने वाला हो, शूर हो, व्यूहरचना करने वाला हो और अत्यन्त बुद्धिमान हो, उसे अश्वाध्यक्ष बनाना चाहिये।[2]

सारथि :—सारथि और वीर का समवाय सम्बन्ध होता है। यदि कुशल सारथि नही मिले तो वीर शत्रु को जीतने में सफल कम हो पाता है। इसलिये अर्जुन ने अपने लिये कुशल सारथि श्रीकृष्ण को चुना और कर्ण ने अपने लिये कुशल सारथि के रूप मे शल्य का वरण किया।

जो पुरुष उपर्युक्त अश्वाध्यक्ष के गुणो से युक्त होते हुये भार वहन करने में समर्थ रथ मे जोते जाने वाले घोड़ो, रथ की दृढता, रथ को चलाना, घुमाना और बदलना आदि जानता हो तथा रथ की ही विशेष गति से शत्रुओं के द्वारा चलाये

1. अर्थ. शा. 6/159 प्रक. पृ. सं. 624
2. शु. नी. 2/130–131

हुये शस्त्रास्त्रो के लक्ष्यों को विफल करने वाला हो, शत्रुओं के घोड़ों के साथ मुठभेड़ होने पर अपने घोड़ों को बचाने वाला हो, उसे रथाध्यक्ष या सारथि बनाना चाहिये ।[1]

सादी :—जो शूर व्यूहरचना में पण्डित, घोड़ों की चाल को जानने वाला हो, बुद्धिमान तथा शस्त्रास्त्र से युद्ध करने में कुशल हो उसे घुड़सवार बनाना चाहिये ।[2]

अश्वशिक्षक :—चक्रित (चक्राकार घुमाना) रेचित (गतिविशेष) वल्गितक (बहुत ऊँची वस्तु को लाँघना) धौरित (गतिभेद) अप्लुत (मेंढक की भाँति कूदना) तुर (तेज दौड़ना) मन्द (धीरे-धीरे चलना) कुटिल (वक्रगति) सर्पण (सर्प की भाँति टेढ़े-मेढ़े दौड़ना) परिवर्तन (पलटना) आस्कन्दित (शत्रुओं पर आक्रमण करना) इन ग्यारह प्रकार की घोड़ों की चालों को तथा घोड़ों के सामर्थ्य के अनुसार उसे यथार्थ रूप से शिक्षा देना जानता हो, वह अश्व शिक्षक के पद पर नियुक्त किया जाना चाहिये ।[3]

अश्वसेवक :—जो घोड़ों की सेवा करने में कुशल, पल्याण (घोड़ों की जीन) आदि लगाने की कला का जानने वाला, दृढ़ अंगों वाला तथा शूर हो उसे साईस बनना चाहिये ।[4]

गजाधिपति :—जो पुरुष हाथियों के भद्रादि जाति को तथा उनकी चिकित्साविधि, शिक्षा, व्याधि, पोषण करना, उनके तालु, जिह्वा और नख के गुणों को, उन पर चढ़ने तथा चलाने की कला को जानने वाला हो उसे गजाध्यक्ष के पद पर नियुक्त करें ।[5]

चक्ररक्षक और अश्वरक्षक :—रण में रथ के दोनों घोड़ों की रक्षा के लिये एक अश्वरक्षक नियुक्त किया जाता है । इसी प्रकार एक रथ के लिये दो चक्र-रक्षक भी नियत किये जाते हैं ।[6]

---

1. शु. नी. 2/132–133
2. शु. नी. 2/134–135
3. शु. नी. 2/135–136
4. शु. नी. 2/137–137
5. शु. नी. 2/128–129
6. उ. प. 155/14–15 टी.

सेनापति का महत्व ;—इस पद का सेना में महान महत्व है, क्योंकि सेना का जैसा सेनापति होता है उसी के अनुसार सेना की जय-पराजय होती है। सेनापति का धैर्य देखकर सेना युद्धमें घोर युद्ध करती है। यदि सेनापति का धैर्य विचलित हो जाय तो सेना भी विफल हो उठती है। सेनापति के अनुसार ही सेना का साहस वृद्धि और ह्रास को प्राप्त होता है।

भारत का पाकिस्तान के साथ जो दो बार भयंकर युद्ध हुआ, उसमें विजय प्राप्ति का कारण सेनापति की दूरदर्शिता, कुशलता और सेना नियंत्रण-विधि की दक्षता थी। इससे सिद्ध होता है कि सेनापति सेना का प्राणस्वरूप होता है। सेना का सम्पूर्ण संचालन भार विशेषकर उसी पर निर्भर करता है। यदि वह दक्ष, कुशलनेता, शूर और धीमान् है तो थोड़ी भी सेना के द्वारा विशाल वाहिनी को भी परजिता कर सकता है।

महाभारत के उद्योग पर्व में दुर्योधन महात्मा भीष्म को सेनापति पद का महत्व निवेदन करता हुआ इसे अंगीकार करने हेतु विनयपूर्वक प्रार्थना कर बोला "पितामह कितनी ही बड़ी सेना क्यों न हो, किसी योग्य सेनापति के बिना युद्ध में जाकर चींटियों की पंक्ति के समान छिन्न-भिन्न हो जाती है। दो पुरुषों की बुद्धि कभी समान नहीं होती। यदि दोनों ओर योग्य सेनापति हों तो उनका शौर्य एक दूसरे की होड़ मे बढ़ता है। महामते! सुना जाता है कि समस्त ब्राह्मणों ने अपनी कुशमयी ध्वजा फहराते हुये पहले कभी अमित तेजस्वी हैहयवंश के क्षत्रियों पर आक्रमण किया था, उस समय ब्राह्मणों के साथ वैश्य और शूद्रों ने उन पर धावा किया था। एक ओर तीनों वर्ण के लोग थे और दूसरी ओर चुने हुये श्रेष्ठ क्षत्रिय। तदनन्तर जब युद्ध प्रारम्भ हुआ, तब तीनों वर्णों के लोग बारम्बार पीठ दिखाकर भागने लगे। यद्यपि इनकी सेना अधिक थी, तो भी क्षत्रियों ने एक मत होकर उन पर विजय पायी। तब उन श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने क्षत्रियों से ही पूछा "हमारी पराजय का क्या कारण है?" उस समय धर्मज्ञ क्षत्रियों ने यथार्थ कारण बता दिया। वे बोले "हम लोग एक परम बुद्धिमान् पुरुष को सेनापति बनाकर युद्ध में उसी का आदेश सुनते और मानते है, परन्तु आप सब लोग पृथक्-पृथक् अपनी बुद्धि के अधीन हो मनमाना व्यवहार करते हैं।" यह सुनकर उन ब्राह्मणों ने एक शूरवीर और नीति निपुण ब्राह्मण को सेनापति बनाया और क्षत्रियों पर

तथा युद्धकुशल शूरवीर को सेनापति बना लेते है तो वे संग्राम में शत्रुओं पर अवश्य विजय पाते है ।"[1]

द्रोण पर्व में भी दुर्योधन कर्ण को सेनापति पद का महत्त्व बताता हुआ कहता है "हे वीरवर ! सेना सेनानायक के बिना मुहूर्त भर भी रणांगण मे वैसे ही नही ठहरती जैसे कि मल्लाह के बिना नाव जल मे स्थिर नही रह सकती। जिस प्रकार मार्गदर्शक के अभाव मे यात्रियो का सारा दल संकट मे पड जाता है उसी प्रकार सेनापति के बिना सेना को सब प्रकार की कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। बिना सारथि का रथ जिस प्रकार चाहे जहां भटक जाता है उसी प्रकार सेनापति के बिना सेना भी जहाँ चाहे भाग सकती है।[2]

राजा की सात प्रकृतियो मे सेनापति भी एक महत्त्वपूर्ण प्रकृति मानी गई है। वस्तुतस्तु सेनापति के अभाव में राज्य की सुरक्षा और सेना की सुव्यवस्था असम्भव है। अतः इसे भी राज्य की अनिवार्य प्रवृत्तियों मे स्थान दिया गया है।[3]

सेनापति की योग्यता :—महात्मा भीष्म ने शान्ति-पर्व के अन्तर्गत सेनापति के गुण और योग्यताओ के विषय में इस प्रकार प्रकाश डाला है "कुन्तीनन्दन ! एक सेनापति को धर्मशास्त्रतत्त्वज्ञ, सन्धिविग्रह का ज्ञाता, धीमान्, धीर, लज्जावान्, रहस्य को गुप्त रखने वाला, कुलीन, साहसी तथा शुद्ध हृदय वाला होना चाहिये। इनके अतिरिक्त वह व्यूह रचना, (मोर्चाबन्दी) यन्त्रो के प्रयाग तथा नाना प्रकार के अन्यान्य अस्त्रशस्त्रों को चलाने की कला का तत्त्वज्ञ पराक्रमी, शीतता, उष्णता, आँधी और वर्षादि कष्टो को धैर्य-पूर्वक सहने वाला तथा शत्रुओं के छिद्र को समझने वाला भी हो।[4]

सभा पर्व मे महर्षि नारद भी युधिष्ठिर के योग्य सेनापति की नियुक्ति के विषय मे पूछते हैं "राजन् ! क्या तुम्हारा सेनापति हर्ष और उत्साह से सम्पन्न, शूरवीर, मतिमान्, धैर्यवान्, पवित्र कुलीन, स्वामिभक्त तथा अपने कार्य में कुशल हैं ?" महर्षि के इस प्रश्न मे भी यही प्रकट होता है कि सेनापति मे ये गुण होने चाहियें।[5]

---

1. उ. प. 153/1-10 पू., 156/1-10 गी.
2. द्रोण प. 5/8-10 पू., 5/8-10 गी.
3. सभा प 5 पू. 677 की टिप्पणी गी.
4. शान्ति प 86/29-31 पू., 85/30-32 गी.
5. सभा प 5/36 पू, 5/47 गी.

महर्षि उशना के द्वारा भी ये ही उपर्युक्त योग्यतायें इस पद के लिये बताई गई है, जिनका वर्णन हम पर्व के प्रारम्भ में ही सैनिक तथा सेनापति के लक्षण शीर्षक मे कर चुके हैं।

अर्थशास्त्र का प्रणेता श्री विष्णुगुप्त चाणक्य भी भीष्म, नारद और शुक्र के मतों का समर्थन करता हुआ सेनापति की योग्यता के विषय मे इस प्रकार से प्रकाश डालता है "सेनापति अर्थात् चतुरंगिणी सेना तथा मौलादि बलो का प्रधान सेनापति अश्वाध्यक्ष यदि एक-एक सेना के अधिपतियो के सम कामो से अनभिज्ञ रहे। उसे निम्न युद्धादि सब प्रकार के युद्धो, धनुषादि शस्त्रों एवं आवीक्षिकी आदि समस्त विद्याओं की शिक्षा प्राप्त करके हाथी, घोड़े तथा रथ के संचालन मे भी निपुण होना चाहिये। चतुरंगिणी सेना के विविध कार्य-कलापो और उसकी स्थिति का पूर्ण ज्ञान रखना चाहिये। सेनापति सैनिको के व्यायाम के लिये निजी भूमि, युद्ध का समय, सुसंगठित शत्रु सेना में भेद डालना, अपनी सेना के भी भेदभाव दूर करके एकता लाना, सुसंगठित एवं एकत्र मिलित शत्रु सेना को विघठित कर देना, विघठित सैनिकों को मार डालना, शत्रु के दुर्ग को ध्वस्त कर देना एव युद्ध यात्रा के सम्बन्ध में कालनिर्णन करना आदि सभी विषयों पर विचार-पूर्वक ध्यान रखने वाला हो।[1]

आधुनिक सेनापति के लिये भी उपर्युक्त सम्पूर्ण योग्यतायें आधुनिक सैन्य-क्रियाकलापों को लेकर होनी चाहिये। आज का सेनापति अपना ज्ञान पहले से भी बहुत अधिक रखने वाला होना चाहिये क्योंकि उसे नभ, थल और जल तीनों सेनाओं का नियन्त्रण करना होता है।

सेनापति का निर्वाचन :—प्रारम्भ में सेना मे दस-दस सैनिको का एक-एक नायक चुना जाना चाहिये। फिर कुछ को सो का तथा किसी प्रमुख और आलस्य रहित वीर को एक हजार योद्धाओ का अध्यक्ष नियुक्त करे।[2]

सेनापति को निर्वाचन विधि :—राजा जिस शूरवीर को सेनापति नियुक्त करना चाहता है उसे पहले ही सेनापति पद ग्रहण करने के लिये निवेदन करे और

1. तदेव सेनापतिः सर्वयुद्ध प्रहरण-विद्याविनीतो हस्त्यश्वरथचर्यासपुष्टश्चतुरंगस्य बलस्यानुष्ठानाधिष्ठानां विद्यात्। स्वभूमिं युद्धकालप्रत्यनीकमभिन्न-भेदनं भिन्नसंन्धानं संहतभेदन भिन्नवधं दुर्गवधं यात्राकालं च पश्येत्।
(अर्थ. शा. 33/51 प्रकरण पृ सं 229)
2. शान्ति प. 101/28 पू., 100/31 गी.

तत्पश्चात् शास्त्रविधि से अभिषेकादि करके उसे सेनापति पद पर स्थापित करे। अब हम महाभारत युद्ध के दोनों पक्षों (कौरव और पाण्डव) के सेनापतियों का क्रमशः नियुक्तिविधि-वर्णन प्रस्तुत करते हैं।

कौरव पक्ष के सेनापति

भीष्म का सेनापति पद पर निर्वाचन :—जब दुर्योधन की सेना सुसज्जित होकर रणांगण में युद्ध हेतु सन्नद्ध थी तब दुर्योधन ने भीष्म पितामह के पास जाकर निवेदन किया "हे पितामह ! आप सदा मेरा हित चाहने वाले तथा नीति मे शुक्राचार्य के समान है। आपको अपनी इच्छा के बिना कोई मार नहीं सकता। आप सदा धर्म मे ही स्थित रहते हैं। अतः हमारे पक्ष के प्रधान सेनापति हो जाइये। जैसे प्रकाशवान् पदार्थों के तेजस्वी सूर्य, वृक्ष और औषधियो के चन्द्रमा, यक्षों के कुबेर, देवताओ के इन्द्र, पर्वतों के मेरु, पक्षियों के गरुड, समस्त देवयोनियों कार्तिकेय और वसुओं के अग्निदेव अधिपति एवं संरक्षक है, उसी प्रकार आप हमारे समस्त सेनाओ के अधिनायक और संरक्षक हों। इन्द्र के द्वारा सुरक्षित देवताओं की भाँति आपके संरक्षण में रहकर हम लोग निश्चय ही देवगणो के लिये भी अजेय हो जायेंगे। अतः कार्तिकेय देवताओ के आगे चलते है, वैसे ही आप हमारे अगुवा हों। जैसे बछड़े साण्ड के पीछे चलते है, उसी प्रकार हम आपका अनुसरण करेंगे।[1]

ऐसा निवेदन करने पर महात्मा भीष्म ने भी युद्ध पूर्व ही मुख्य-बातों को स्पष्ट करते हुये कहा "भारत ! तुम जैसा कहते हो वह ठीक है, पर मेरे लिये जैसे तुम हो वैसे ही पाण्डव भी हैं। मैं पाण्डवों को उनके पूछने पर अवश्य ही उनके हित की बात बताऊँगा और तुम्हारे लिये युद्ध करूँगा। ऐसी ही मैंने प्रतिज्ञा की है। पाण्डवों की किसी भी प्रकार से हत्या नहीं करूँगा। कुरुनन्दन ! यदि पाण्डव इस युद्ध में मुझे पहले ही नहीं मार डालेंगे तो मैं अपने अस्त्रो के प्रयोग द्वारा प्रतिदिन उनके पक्ष के दस हजार योद्धाओं का वध करता रहूँगा। राजन् ! मैं अपनी इच्छा के अनुसार एक शर्त पर तुम्हारा सेनापति हो जाऊँगा। उसके बदले दूसरी शर्त नहीं मानूँगा। उस शर्त को तुम मुझसे पहले ही सुनलो। पृथ्वीपते ! या तो कर्ण ही युद्ध करले या मैं ही युद्ध करूँ, क्योंकि यह सूतपुत्र सदा युद्ध में मुझसे अत्यन्त स्पर्धा रखता है।"[2]

---

1. उ. प. 153/11–15 पू., 156/11–15 गी.
2. उ. प. 153/16–17, 21–24 पू., 156/16–17, 21–24 गी.

भीष्म का सेनापति पद पर अभिषेक :—भीष्म की शर्तों को स्वीकार कर दुर्योधन ने प्रचुर दक्षिणाओं के साथ यथाविधि महात्मा भीष्म का सेनापति पद पर अभिषेक किया। अभिषेकानन्तर भीष्म बड़े सुशोभित हुये तत्पश्चात् बाजे बजाने-वालों ने राजा की आज्ञासे निर्भय होकर सैकडों और हजाओं भेरियों तथा शंखों को बजाया। उस समय वीरों के सिंह-नाद तथा वाहनों के नाना प्रकार के शब्द सब ओर गूंज उठे। बिना मेघो के ही आकाश से रक्त की वर्षा होने लगी, जिससे कीच हो गया। राजा दुर्योधन ने जब गांगेय भीष्म को सेनापति पद पर अभिषिक्त किया, उस समय सैकड़ों भयानक उत्पात होने लगे, किन्तु शत्रुसेना को पीड़ित करने वाले भीष्म की सेनापति दुर्योधन ने श्रेष्ठ ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराया और उन्हे गायों तथा स्वर्ण मुद्राओं की भूरिदक्षिणायें दीं। उस समय ब्राह्मणों ने विजय-सूचक आशीर्वादो द्वारा राजा का अभ्युदय मनाया और वह सैनिकों से घिरकर भीष्म को आगे करके भाईयों के साथ हस्तिनापुर से बाहर निकला तथा विशाल तम्बूशामियानो के साथ कुरुक्षेत्र को चल दिया[1]

कुरुक्षेत्र में पहुँचकर भीष्म भी कौरवपक्ष के प्रथम सेनापति का पद प्राप्त कर दुर्योधन का हर्ष बढ़ाते हुये बोले "राजन् ! मैं हाथ में शक्ति धारण करने वाले देव सेनापति कुमार कार्तिकेय को नमस्कार करके अब तुम्हारी सेना का अधिपति होऊँगा, इसमें संशय नही है।"[2]

भीष्म का सेनापति नैपुण्य :—स्वयं सेनापति भीष्म ने अपने सेनापतित्व की विशेषताओ पर प्रकाश डालते हुये गान्धारी नन्दन को कहा "वत्स ! मुझे सेनासम्बन्धी प्रत्येक कर्म का ज्ञान है। मैं नाना प्रकार के व्यूह के निर्माण में भी कुशल हूँ। तुम्हारी सेना मे जो वेतनभोगी अथवा वेतन न लेने वाले मित्र सेना के सैनिक हैं उन सबसे यथायोग्य काम करा लेने की भी कला मुझे ज्ञात है। युद्ध के लिये यात्रा करने, युद्ध करने तथा विपक्षी के चलाये हुये अस्त्रो का प्रतिकार करने के विषय मे जैसा कि बृहस्पति जानते है, मैं भी उसी प्रकार सम्पूर्ण आवश्यक बातों की विशेष जानकारी रखता हूँ। मुझे देवता, गन्धर्व और मनुष्य—तीनों की व्यूह-रचना का ज्ञान है। उनके द्वारा मैं पाण्डवों को मोहित कर दूंगा। अतः तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये। राजन् ! मैं तुम्हारी सेना की रक्षा करता हुआ शास्त्रीय विधान के अनुसार यथार्थरूप से पाण्डवों के साथ युद्ध करूंगा। अतः तुम्हारी मानसिक चिन्ता दूर हो जानी चाहिये।"[3]

1. उ. प. 153/26–33 पू., 156/26–34 गी.
2. उ. प. 162/7 पू., 165/7 गी.
3. उ. प. 162/8–11 पू., 165/8–11 गी.

द्रोण का सेनापति पद पर अभिषेक :—वीर शिरोमणि भीष्म जब दस दिन तक शत्रुसेना का संहार करके शरशैय्या पर आरूढ़ हो गये तब दुर्योधन ने सूत-पुत्र कर्ण से पूछा "हे मित्र ! पितामह भीष्म तो अत्यन्त दुष्कर कार्य करके शर-शैय्या पर अधिरूढ़ हो गये हैं। ऐसी दशा में उनके उपरान्त तुम किसे सेनापति बनाये जाने योग्य मानते हो ? युद्धस्थल में तुम जिसे सेनापति पद के योग्य बताओगे, निसदेह हम सब लोग मिलकर उसी को सेनानायक बनायेंगे।" तब कर्ण ने कहा "राजन् ! ये सभी महान् महामनस्वी पुरुष प्रवर सेनापति होने योग्य हैं, किन्तु सब के सब एक साथ सेनापति नहीं बनाये जा सकते, अतः जिस एक में सभी विशिष्ट गुण हो, उसी को अपनी सेना का प्रधान बनाना चाहिये। इसलिये इन समस्त योद्धाओ के आचार्य, वयोवृद्ध गुरु तथा शस्त्रधारियों मे श्रेष्ठ हैं, वे आचार्य द्रोण ही इस समय सेनापति बनाये जाने के योग्य है।"[1]

कर्ण के वचनो को सुनकर दुर्योधन ने सेना के मध्य भाग में स्थित हुये आचार्य द्रोण से इस प्रकार कहा "द्विजश्रेष्ठ ! आप उत्तमवर्ण, श्रेष्ठकुल मे जन्म, शास्त्रज्ञान, अवस्था, बुद्धि, पराक्रम, युद्धकौशल, अजेयता, अस्त्रज्ञान, नीति, विजय, तपस्या तथा कृतज्ञता आदि समस्त गुणों के द्वारा सबसे बढ़े-चढ़े हैं। आपके समान योग्य संरक्षक इन राजाओ में भी दूसरा नहीं है। अत. जैसे इन्द्र सम्पूर्ण देवताओ का रक्षा करते हैं, उसी प्रकार आप हम लोगो की रक्षा करें। हम आपके नेतृत्व मे रहकर शत्रुओं पर विजय पाना चाहते हैं। पुरुषसिंह ! यदि आप मेरे सेनापति हो जायें तो मैं युद्ध में निश्चय ही भाईयो तथा सगे-सम्बन्धियो सहित युधिष्ठिर को जीत लूँगा।"[2]

दुर्योधन के प्रस्ताव को सुनकर आचार्य द्रोण ने कहा "राजन् ! मैं छहों अंगों सहित वेद, मनु द्वारा कथित अर्थशास्त्र, भगवान् शंकर की दी हुई बाणविद्या और अनेक प्रकार के अस्त्रशस्त्र भी जानता हूँ। विजय की अभिलाषा रखने वाले तुम लोगो ने मुझ मे जो-जो गुण बताये है, उन सबको प्राप्त की इच्छा में से पाण्डवो के साथ युद्ध करूँगा। किन्तु राजन् ! द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न को युद्ध-स्थल में किसी प्रकार भी नहीं मारूँगा क्योंकि वह मेरे वध के लिये उत्पन्न हुआ है। मैं समस्त सोमको का संहार करते हुये पाण्डव सेनाओ के साथ युद्ध करूँगा, परन्तु पाण्डव लोग प्रसन्नतापूर्वक युद्ध में मेरा सामना नहीं करेंगे।" इस प्रकार आचार्य द्रोण की अनुमति मिल जाने पर दुर्योधन ने उन्हे शास्त्रीय विधि के अनुसार

1. द्रो. प. 5/7, 12, 13, 15, 17 गी.
2. द्रो. प 6/1–4, 11 गी.

सेनापति पद पर अभिषिक्त किया। उस समय वादों के घोष तथा शंखों की गम्भीर ध्वनि के साथ द्रोणाचार्य के सेनापति बना लिये जाने पर सब लोगों के हृदय में महान् हर्ष प्रकट हुआ। पुण्याहवाचन, स्वस्तिवाचन, सूत, मागध और बन्दीजनों के स्तोत्र, गीत तथा श्रेष्ठ ब्राह्मणों की जय-जय-कार के शब्द से एवं नाचने वाली स्त्रियों के नृत्य, से द्रोणाचार्य का विधिवत् सत्कार करके कौरवों ने यह मान लिया कि अब पाण्डव पराजित हो गये।[1]

कर्ण का सेनापति पद पर अभिषेक :—जब पांच दिन तक द्रोण दुर्धर्ष संग्राम करके उत्तम लोकों को प्राप्त हो गये तब दुर्योधन के हृदय मे महती चिन्ता व्याप्त हो गई। राजा दुर्योधन को चिन्तामग्न देख करके वाक्य विशारद, मेधावी आचार्यपुत्र अश्वत्थामा ने कहा "विद्वानों ने अभीष्ठ अर्थ की सिद्धि कराने वाले चार उपाय बताये हैं—राग (राजा के प्रति सैनिकों की भक्ति) योग (साधन-सम्पत्ति) दक्षता (उत्साह, बल एवं कौशल) तथा नीति, किन्तु ये सभी दैव के अधीन हैं। यदि सारे कार्य उत्तम नीति के अनुसार हो जायें तो उनके द्वारा दैव को भी अनुकूल किया जा सकता है अतः भारत ! हम लोग सर्वगुणसम्पन्न नरश्रेष्ठ कर्ण का ही सेनापति के पद पर अभिषेक करेंगे और इन्हे सेनापति बनाकर हम लोग शत्रुओं को मथ डालेंगे।"[2]

भीष्म और द्रोण के चले जाने पर भी कर्ण पाण्डवों को जीत लेगा इस आशा को हृदय में रखकर दुर्योधन को बडी सान्त्वना मिली। वह अश्वत्थामा के उस प्रिय वचन को सुनकर बडा प्रसन्न हुआ। तत्पश्चात् अपने बाहुबल का आश्रय ले मन को सुस्थिर करके दुर्योधन ने राधापुत्र कर्ण से बडे प्रेम और सत्कार के साथ अपने लिये हितकर यथार्थ और मंगलकारक वचन इस प्रकार कहे "हे कर्ण ! मैं तुम्हारे पराक्रम को जानता हूँ और यह भी अनुभव करता हूँ कि मेरे प्रति तुम्हारा स्नेह बहुत अधिक है। महाबाहो ! तथापि मैं तुमसे अपने हित की बात कहना चाहता हूँ। मेरे दोनों सेनापति भीष्म और आचार्य द्रोण जो अतिरथी वीर थे, युद्ध में मारे गये। अब तुम मेरे सेनानायक बनो, क्योकि तुम दोनों से अधिक शक्तिशाली हो। वे दोनो महाधनुर्धर होते हुये भी वृद्ध थे और अर्जुन के प्रति उनके मन मे पक्षपात था। राधानन्दन ! मैंने तुम्हारे कहने से ही उन दोनो वीरों को सेनापति बनाकर सम्मानित किया था। तुम धुरन्धर पुरुष की भांति युद्धस्थल में

---

1. द्रोण प. 5/32–40 पू., 7/1–9 गी.
2. कर्ण प. 8/6/11–12, 15–16 पू., 8/10/11–12, 15–16 गी.

सेना संचालन का भार वहन करने के योग्य हो, इसलिये स्वयं ही अपने आपको सेनापति के पद पर अभिषिक्त कराओ।[1]

दुर्योधन के वचनों को सुनकर राधेयकर्ण ने कहा "हे गान्धारीनन्दन! मैंने तो पहले ही तुम्हें यह कहा था कि मैं जनार्दन सहित समस्त पाण्डवों और उनके पुत्रों को जीत लूंगा। महाराज! तुम धैर्य धारण करो। मैं तुम्हारा सेनापति बनूंगा। इसमें कोई सन्देह नहीं है और तुम अब पाण्डवों को पराजित हुआ ही समझो।" जैसे देवताओं ने स्कन्द को सेनापति बनाकर उनका सत्कार किया था, उसी प्रकार समस्त कौरव कर्ण को सेनापति बनाकर उसका सत्कार करने के लिये उद्यत हुये। विजयाभिलाषी दुर्योधन आदि राजाओं ने शास्त्रोक्त विधि से कर्ण का अभिषेक किया। अभिषेक कार्य सम्पन्न होने पर शत्रु वीरों का संहार करने वाले राधा-पुत्र कर्ण ने स्वर्ण मुद्रायें, गायें तथा धन देकर श्रेष्ठ ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराया।[2]

शल्य का सेनापति पद पर अभिषेक :—रण में कर्ण के भी मारे जाने पर कौरव अशान्तचित्त हो उठे। संग्राम भूमि में विजय के लिये प्रयत्न करने वाले उन सब योद्धाओं ने वहाँ एक साथ होकर शल्य के समीप राजा दुर्योधन का विधि-पूर्वक सम्मान करके उसे इस प्रकार कहा "नरेश्वर! तुम किसी को सेनापति बनाकर शत्रुओं के साथ युद्ध करो, जिससे सुरक्षित होकर हम लोग विपक्षियों पर विजय प्राप्त करें।" तब दुर्योधन ने गुरुपुत्र अश्वत्थामा के पास जाकर इस प्रकार निवेदन किया "ब्रह्मन्! तुम हमारे गुरुपुत्र हो और इस समय तुम्हीं हमारे सबसे बड़े सहारे हो। अतः मैं तुम्हारी आज्ञा से सेनापति का निर्वाचन करना चाहता हूँ, कहो! अब कौन मेरा सेनापति हो जिसे आगे रखकर हम लोग एक साथ हो। युद्ध में पाण्डवों पर विजय प्राप्त करें।" तब अश्वत्थामा ने कहा 'राजन्! ये राजा शल्य उत्तम कुल, सुन्दररूप, तेज, यश, श्री एवं समस्त सद्गुणों से सम्पन्न है, अतः ये ही हमारे सेनापति हों।" तब राजा दुर्योधन ने शल्य के पास जाकर उनकी जय-जयकार की तथा भूमि पर खड़ा हो रथ पर बैठे हुये रणभूमि में द्रोण और भीष्म के समान पराक्रमी राजा शल्य से हाथ जोड़कर कहा "मित्रवत्सल! आज आपके मित्रों के सामने वह समय आ गया है जबकि विद्वान् पुरुष शत्रु या मित्र की परीक्षा करते हैं। आप हमारे शूरवीर सेनापति होकर सेना के मुहाने पर लड़े हो! रणभूमि में आपके जाते ही मन्दबुद्धि पाण्डव और पाँचाल अपने मन्त्रियों सहित

---

1. कर्ण प. 6/16–25, 32 पू., 10/19–25, 32 गी.
2. कर्ण प 6/33–36, 38 पू., 10/40–43, 48 गी.

उद्योग शून्य हो जायेंगे।" राजा शल्य दुर्योधन के वचन सुनकर समस्त राजाओं के सम्मुख दुर्योधन से इस प्रकार बोले "राजन्! तुम मुझसे जो कुछ चाहते हो मैं उसे पूर्ण करूँगा, क्योंकि मेरे प्राण, राज्य और धन सब तुम्हारा प्रिय करने के लिये ही हैं।" दुर्योधन ने कहा "मामाजी! आप अनुपम वीर हैं। अतः मैं सेनापति पद ग्रहण करने के लिये आपका वरण करता हूँ। जैसे स्कन्द ने युद्धस्थल में देवताओं की रक्षा की थी उसी प्रकार आप हम लोगों का पालन कीजिये।"[1]

मद्रराज शल्य ने दुर्योधन का हर्ष बढ़ाते हुये कहा "मैं युद्ध के मुहाने पर कुपित हो अपने सामने युद्ध के लिये आये हुये देवताओं, असुरों और मनुष्यों सहित सारे भूमण्डल के साथ युद्ध कर सकता हूँ, फिर पाण्डवों की तो बात ही क्या है? मैं रणभूमि में कुन्ती के सभी पुत्रों और सामने आये हुये सोमकों पर भी विजय प्राप्त कर लूँगा। इसमें सन्देह नहीं कि मैं तुम्हारा सेनापति होऊँगा और ऐसे व्यूह का निर्माण करूँगा जिसे शत्रु लाँघ नहीं सकेंगे।" शल्य के ऐसा कहने पर क्लेश से दबे हुये राजा दुर्योधन ने शास्त्रीय विधि के अनुसार सेना के मध्य भाग में मद्रराज शल्य का सेनापति पद पर अभिषेक कर दिया और उनका अभिषेक हो पर सेना में बड़े जोर से सिंहनाद होने लगा और भलीभाँति के बाजे बज उठे।[2]

अश्वत्थामा का सेनापति पद पर अभिषेक :—अन्य कौरव महारथियों की भाँति भयंकर भीम की गदा की भयंकर चोट से विह्वल होकर दुर्योधन भी जब समरांगण में मृत्युशैय्या पर सो रहा था तब कौरव सेना में प्रवशिष्ट रहे कृप, द्रोणि और कृतवर्मा उसके पास पहुँचे और दुर्योधन ने कातर नेत्रों से उन्हें देखकर कहा "आप लोगों ने अपने स्वरूप के अनुरूप पराक्रम प्रकट किया है और सदा मुझे विजय दिलाने की ही चेष्टा की, तथापि दैविक विधान का उल्लंघन करना सबके लिये ही सर्वथा कठिन है।" इतना कहते-कहते दुर्योधन की आँखें आँसुओं से भर आयीं और वह वेदना से अत्यन्त व्याकुल होकर चुप हो गया। राजा दुर्योधन को शोक के आँसू बहाते देख अश्वत्थामा प्रलय काल की अग्नि के समान प्रज्वलित हो उठा और अश्रुगद्‌गद वाणी द्वारा उसने राजा दुर्योधन से इस प्रकार कहा—"राजन्! नीच पाण्डवों ने अत्यन्त क्रूरता-पूर्ण कर्म के द्वारा मेरे पिता का वध किया था, किन्तु उसके कारण भी मैं उतना संतप्त नहीं हूँ, जैसाकि आज तुम्हारे वध के कारण मुझे कष्ट हो रहा है। प्रभो! मैं अपने इष्ट, आपूर्त दान, धर्म तथा अन्य शुभकर्मों की शपथ खाकर प्रतिज्ञा करता हूँ कि आज श्रीकृष्ण के देखते-देखते

---

1. शल्य प. 6/56, 17–18, 23–29 गी.
2. शल्य प. 6/2–6 पू., 7/3–8 गी.

सम्पूर्ण पांचालों को सभी उपायों द्वारा यमलोक में भेज दूँगा। महाराज! इसके लिये तुम मुझे आज्ञा दे दो।"

द्रोण-पुत्र का यह मन को प्रसन्न करने वाला यह सुनकर कुरुराज दुर्योधन ने कृपाचार्य से कहा "आचार्य! आप शीघ्र ही जल से भरा हुआ कलश ले आईये।" उसके वचनों को सुनकर कृपाचार्य जल से भरा हुआ कलश ले उसके समीप आये तब उसने फिर कहा 'हे द्विजश्रेष्ठ! आपका कल्याण हो। यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो मेरी आज्ञा से द्रोण-पुत्र का सेनापति पद पर अभिषेक कर दीजिये।" राजा की यह बात सुनकर शरद्वान् पुत्र कृपाचार्य ने उसकी आज्ञा के अनुसार अश्वत्थामा का सेनापति पद पर अभिषेक कर दिया। अभिषेक हो जाने पर अश्वत्थामा ने दुर्योधन को हृदय से लगाया और अपने सिंहनाद से सम्पूर्ण दिशाओं को प्रतिध्वनित करते हुये वहाँ से प्रस्थान किया।[1]

पाण्डव पक्ष के सेनापति

भगवान् श्रीकृष्ण की हितकर बातें सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर ने भगवान् के सामने ही अपने भाईयों से कहा "नरश्रेष्ठ वीरों! अब तुम लोग भी अपनी सेना का विभाग करो। यह अक्षौहिणी सेनायें एकत्र हो गई है, जो अवश्य ही हमारी विजय कराने वाली होगी। इन सातों अक्षौहिणियों के जो सात विख्यात सेनापति है, उनके नाम सुनो। द्रुपद, विराट, धृष्टद्युम्न, शिखण्डी, सात्यकि, चेकितान और पराक्रमी भीमसेन। ये सभी वीर हमारे लिये अपने शरीर का भी त्याग कर देने को उद्यत है, अतः ये ही पाण्डव सेना के संचाल होने योग्य हैं। ये सबके सब वेदवेत्ता, शूरवीर, उत्तमव्रत का पालन करनेवाले, लज्जाशील, नीतिज्ञ और युद्धकुशल हैं।[2]

प्रधान सेनापति पद पर धृष्टद्युम्न का निर्वाचन :—उपर्युक्त सेनापतियों की घोषणा के अनन्तर महाराज युधिष्ठिर ने प्रधान सेनापति के निर्वाचन हेतु अपने सभी भाइयों से फिर पूछा। तब सहदेव ने विराट का, नकुल ने द्रुपद का, धनंजय ने धृष्टद्युम्न का और भीम ने शिखण्डी का इस पद हेतु प्रस्ताव रखा। धनंजय ने अपने मत की पुष्टि करते हुये कहा "धृष्टद्युम्न अपने पिता की तपस्या के प्रभाव तथा महर्षियों के कृपाप्रसाद से उत्पन्न हुआ दिव्य-पुरुष है, जो अग्निकुण्ड से कवच, धनुष और खड्ग धारण किये हुये प्रकट हुआ। जिसके शरीर का

---

1. शल्य प. 64/28–43 पू., 65/30–44 गी.
2. उ. प. 149/2–6 पू., 151/2–6 गी.

संगठन पराक्रम, हृदय, वक्षस्थल, बाहु, कन्धे और गर्जना ये सभी सिंह के समान थे। जो किसी भी अस्त्रशस्त्र से भेदा नहीं जा सकता, जो गजराज के सदृश पराक्रमी है तथा जिसका जन्म ही द्रोणाचार्य को नष्ट करने के लिये हुआ है।" अतः ऐसे दिव्यपुरुष को ही हमें प्रधान सेनापति बनाना चाहिये जिसके मरने का भय न हो। धनंजय के ही समान भीम ने भी धृष्टद्युम्न के ही भाई शिखण्डी को इस पद पर समारुढ करने के लिये अपना मत अभिव्यक्त करते हुये कहा "द्रुपद पुत्र शिखण्डी तो भीष्म के वध के लिये ही समुत्पन्न हुआ है, ऐसा सभी सिद्ध और महर्षि कहते हैं। संग्राम में जब यह अपना दिव्यास्त्र प्रकट करता है, उस समय लोगों को उसका स्वरूप महात्मा परशुराम के समान दिखाई देता है। मैं ऐसे किसी वीर को नहीं देखता जो युद्ध मे शिखण्डी को मार सके। अतः अद्वितीय वीर भीष्म पितामह को मारने के लिये इस अद्वितीय वीर शिखण्डी को ही प्रधान सेनापति के पद पर आसीन करना चाहिये।"

महाराज युधिष्ठिर ने सबके मतों को सुनकर कहा "भाइयों ! धर्मात्मा केशव सम्पूर्ण जगत् का सारासार और बलाबल जानते हैं। अतः दाशार्ह कुलभूषण श्रीकृष्ण जिसका नाम बतावें, वही हमारी सेना का प्रधान सेनापति होगा। फिर वह चाहे अस्त्रविद्या में निपुण हो या न हो।" कमलनयन केशव ने धनंजय की ओर देखकर कहा "हे महाराज युधिष्ठिर ! आपने जिन-जिन वीरो के नाम लिये हैं, वे सभी वीर मेरी सम्मति से सेनापति होने योग्य हैं, क्योंकि ये सभी बड़े पराक्रमी योद्धा है। हमारी सेना भी अत्यन्त शक्तिशाली दुर्धर्ष और दुर्गम है। वह युद्ध मे धृतराष्ट्र पुत्रों की सेना का संहार कर डालेगी, इसमें संशय नहीं है। ऐसी दृढ सेना के लिये दृढ कवच से सुसज्जित धृष्टद्युम्न को ही मैं प्रधान सेनापति के रूप मे देखना चाहता हूँ।" श्रीकृष्ण के इतना कहते ही नरश्रेष्ठ पाण्डव बडे प्रसन्न हुये और प्रसन्न होकर उन वीरो ने ऐसा हर्षनाद किया कि दिगन्त भी उनके कोलाहल से हिल उठे।[1]

तत्पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ने राजा द्रुपद, विराट, सात्यकि, धृष्टद्युम्न शिखण्डी, चेकितान और पराक्रमी भीमसेनादि को विधिपूर्वक सेनापतियों के पदों पर अभिषिक्त कर दिया और धृष्टद्युम्न को सम्पूर्ण सेनाओं का प्रधान सेनापति बना दिया। तदनन्तर उन्होंने निद्राविजयी अर्जुन को उन समस्त महामना वीर सेनापतियों का भी अधिपति बना दिया और अर्जुन के भी नेता और उसके घोड़ो के नियन्ता हुये संकर्षणानुज परम बुद्धिमान् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र।[2]

---

1. उ. प. 139/19–47 पू., 151/19–49 गी.
2. उ. प. 154/11–14 पू., 157/11–15 गी.

धृष्टद्युम्न की सैन्य संचालन दक्षता :— धृष्टद्युम्न सैन्य संचालन में अतिनिपुण थे, अतः उन्होंने प्रधान-प्रधान योद्धाओं को यथायोग्य नियुक्त किया। जब पाण्डव सेना ने युद्ध के लिये प्रस्थान किया तो वह प्रशान्त एवं स्थिर समुद्र के समान जान पड़ती थी। उसके आगे-आगे रणदुर्मद पांचाल राजकुमार महाधनुर्धर धृष्टद्युम्न चल रहे थे, जो सदा आचार्य द्रोण से युद्ध करने की इच्छा रखते थे। वे सारी सेना को अपने पीछे खींचे लिये जाते थे। उन्होंने जिस वीर को जैसा बल और उत्साह था, उसका विचार करते हुये अपने रथियों को योग्य प्रतिपक्षी के साथ युद्ध करने का आदेश दिया। अर्जुन को सूतपुत्र कर्ण का, और भीमसेन को दुर्योधन का सामना करने के लिये नियुक्त किया। धृष्टकेतु को शल्य से, उत्तमऔजा को कृपाचार्य से, नकुल को अश्वत्थामा से शैव्य को कृतवर्मा से सात्यकि को जयद्रथ से, और शिखण्डी को भीष्म से मुख्यतः युद्ध करने का आदेश दिया। सहदेव को शकुनि का, चेकितान को शल्य का द्रौपदी के पाँचों पुत्रों को त्रिगर्तों का सामना करने के लिये नियत कर दिया। कर्ण पुत्र वृषसेन तथा शेष राजाओं के साथ युद्ध करने का कार्य सुभद्राकुमार अभिमन्यु को सौंपा, तथा स्वयं के लिये द्रोणाचार्य को चुना। इस प्रकार मेधावी धृष्टद्युम्न ने पाण्डवों की पूर्वोक्त व्यूहरचना करके उन सब को युद्ध के लिये नियुक्त कर दिया और तदनन्तर पाण्डवों की जय के लिये रणांगण में खड़े हो गये।[1]

कौरव पक्ष के रथियों और अतिरथियों का संक्षिप्त परिचय :— दुर्योधन ने रणनीति विशारद भीष्म से पूछा "हे कुरुनन्दन ! आप हमारे और शत्रु-पक्ष के रथातिरथी और महारथियों की संख्या भलीभाँति जानते हैं। अतः प्रस्तुत विषय में मैं श्रीमान् से कुछ जानना चाहता हूँ।" दुर्योधन के प्रश्न का समाधान करते हुये महात्मा भीष्म ने कहा "राजन् ! तुम्हारी सेना में रथियों की संख्या तो हजारों लाखों और करोड़ों तक पहुँची हुई है तथापि उनमें जो प्रधान-प्रधान है, उनके विषय में बताता हूँ।"

योद्धा का नाम	श्रेणी	परिचय
1. दुर्योधन	उदाररथी	धृतराष्ट्र का ज्येष्ठ पुत्र, अस्त्रविद्या का ज्ञाता, छेदन भेदन में कुशल, रथ, हाथी का कुशल सवार, गदा, प्रास तथा ढाल, तलवार के प्रयोग में कुशल संयता प्रहर्ता, कृता और भारसाधक। द्रोण और कृपाचार्य का शिष्य

1. उ प. 161/1–12 पू., 164/1–12 गी.

2. कृतवर्मा	अतिरथी	भोजवंशी, दृढायुध, दूरपाती और शस्त्रवेत्ता।
3. शल्य	,,	मद्रराज महाधनुर्धर, वीरशिरोमणि, निपुणसारथि।
4. भूरिश्रवा	यूथपत्याधिप	सोमदत्ति, महाधनुर्धर, अस्त्रविद्या-विशारद।
5. जयद्रथ	द्विगुणरथी	सिन्धुराज, विक्रान्त और रथी श्रेष्ठ।[1]
6. सुदक्षिण	रथी	कम्बोजराज, तीक्ष्णवेगप्रहारी।
7. नील	,,	माहिष्मतीराज, नीलवर्म।
8. विन्द	,,	अवन्तीकुमार, दृढवीर्य एवं पराक्रमी
9. अनुविन्द	,,	,, ,, ,,
10. सत्यरथ और उनके चार भाई	उदाररथी	त्रिगर्तदेशीय वीर ,, ,,
11. लक्ष्मण	रथी	दुर्योधनपुत्र, पुरुषव्याघ्र, अपलायित-वादी, वेगशाली, युद्धविशेषज्ञ प्रणेता (नायक पद योग्य) क्षात्रधर्मतत्पर।
12. दुशासन पुत्र (नामोल्लेख नहीं है)	,,	,, ,, ,,
13. दण्डधार	,,	सामान्य
14. बृहद्बल	,,	कोसलनरेश, वेगशाली पराक्रमी
15. कृपाचार्य	यूथपत्याधिप	गौतम (शरद्वानसुत) कार्तिकेय के समान अजेय, युद्धविद्या के आचार्य, कौरव व पाण्डवों के प्राथमिक गुरु।[2]
16. शकुनि	रथी	गान्धारराज, दुर्धर्ष, वायुवेगशाली विविध अस्त्रशस्त्र वेत्ता।
17. अश्वत्थामा	महारथी	द्रोणि महाधनुर्धर, सर्वधनुर्धरातिशयी, चित्रयोद्धा, सुदृढास्त्रालंकृत, प्रलयंकारी, (त्रिलोकी भस्म करनेका सामर्थ्यवाला) क्रोधी, महातेजस्वी, तपस्वी, दिव्यास्त्र-ज्ञाता, उदारधी, दीर्घायु का अभिलाषी

1. उ. प. 162/15–30 पू., 165/15–30 गी.
2. उ. प. 165/1–22 पू., 166/1–22 गी.

		(अमर) एक रथ से ही देव सेना का नाश कर सकता है। हृष्टपुष्ट विशालांगी, ताली के घोषमात्र से पर्वतविदारक, असंख्य गुणों से युक्त, दारुणद्युतिमान्, प्रहार विशेषज्ञ, काल के समान असह्यतेजस्वी सिंहग्रीव।
18. द्रोणाचार्य	रथयूथपयूथपाधिप	भरद्वाजनन्दन, महातेजस्वी, वृद्ध होकर भी युवकों से श्रेष्ठ, अस्त्रवेग में वायु के समान, सम्पूर्ण मूर्धाभिषिक्त राजाओं के आचार्य एवं वृद्धगुरु। कौरव पाण्डवों के सर्वोत्तम तथा अन्तिम-गुरु, एकमात्र रथ के सहारे से ही सम्पूर्ण देवताओं गन्धर्वों और मनुष्यों को दिव्यास्त्रों द्वारा नष्ट करने में समर्थ।
19. पौरव	महारथी	सामान्य
20. वृहद्बल	रथी	सत्य-यशस्वी
21. वृषसेन	महारथी	कर्णपुत्र, बलवानों में श्रेष्ठ
22. जलसंध	रथी	मधुवंशी, महातेजस्वी, हस्तियुद्धविशारद महाबाहु, निडर, चित्रयोधी, महापराक्रमी।
23. बाह्लीक	अतिरथी	यमराज सदृश वायु वेगशाली।
24. सत्यवान्	महारथी	महापराक्रमी
25. अलम्बुष	"	राक्षसराज, मायावी।
26. भगदत्त	महारथी	प्राग्ज्योतिषपुराधिप, प्रतापवान वीर, श्रेष्ठ अंकुशधारी (हस्तियुद्ध विशारद) रथविशारद।[1]
27. अचल	रथी	गान्धारवासी, बलवान् नरव्याघ्र युद्धयोधी।
28. वृषक	"	" " "[2]

1. उ. प. 164/1-35 पू., 167/1-35 गी.
2. उ. प. 165/1-2 पू., 168/1-2 गी.

29. कर्ण	अर्धरथी	राधेय, अधिरथपुत्र, कटुभाषी, नीच, आत्मप्रशंसी, रणकर्कशी अभिमानी, दयालु प्रमादी, दानवीर, दुर्योधन का मन्त्री[1]

पाण्डव पक्ष के रथियों और अतिरथियों का संक्षिप्त परिचय :— कौरव पक्ष के रथियों और अतिरथियों का परिचय देकर भीष्मपितामह ने दुर्योधन को कहा "हे वत्स ! अब यदि तुम्हारे मन में पाण्डव पक्ष के योद्धाओं के प्रति कौतुहल है तो उनके पक्ष के रथियों की श्रेणियाँ भी मुझसे सुनो।"

योद्धा का नाम	श्रेणी	परिचय
1. युधिष्ठिर	रथोदार महारथी	कुन्तीनन्दन, ज्येष्ठ पाण्डव, धर्मराज, अजातशत्रु, सत्यवादी।
2. भीम	महारथी अष्टगुणरथी	दस हजार हाथियों के बलवाला, मानी, बाणयुद्ध और गदायुद्ध में अद्वितीय, कुन्तीनन्दन, अलौकिक तेजसम्पन्न।
3. नकुल	रथी	माद्रेय, रूपवान् तेजस्वी, पुरुषरत्न
4. सहदेव	,,	,, ,, ,,
5. अर्जुन	सर्वातिशायीरथी	कुन्तीनन्दन, मध्यमपाण्डव, दिव्यगाण्डीवधनुषधारी, नरावतार, श्रीकृष्णसखा, वायुवेगशाली, अभेद्यकवची, दिव्य और अक्षय तरकस वाला, अनेक दिव्यास्त्र-ज्ञाता, निद्राविजयी, महाबाहु, लोहिताक्ष, सभी पाण्डव शालवृक्ष के स्तम्भों के समान ऊँचे सिंह के समान सुगठित, महान्‌बलवान्, तपस्वी, लज्जाशील, पुरुषव्याघ्र, वेग और प्रहार में अतिमानुष।[2]
6. द्रौपदी के पाँच पुत्र	महारथी	पाँचों पाण्डवों के पाँच पुत्र

1. उ. प. 165/ –7 पू., 168/3–7 गी.
2. उ. प. 166/14–30 पू., 169/1–20 गी.

7. उत्तर	उदारथी	विराटपुत्र
8. अभिमन्यु	रथयूथपत्याधिप	सुभद्राकुमार, रणांगण में अर्जुन और वासुदेव के समान चित्रयोधी, कृतास्त्र मनस्वी, दृढ़व्रत।
9. सात्यकि	,,	मधुवंशी, वृष्णिवंशवीरों मे प्रधान अमर्षशील
10. उत्तमौजा	उदारथी	सामान्य
11. युधामन्यु	,,	सामान्य
12. विराट	महारथी	मत्स्यदेशाधिपति, महाधनुर्धर, दृढधन्वी, जगत्विख्यातशूर।
13. द्रुपद	,,	पांचालनरेश, महाधनुर्धर, जगत्-विख्यातशूर।[1]
14. शिखण्डी	प्रमुखरथी	द्रुपदनन्दन, परमुरंजयी।
15. धृष्टद्युम्न	अतिरथी	द्रुपदनन्दन, पाण्डव प्रधान सेनापति, द्रोणकाल और शिष्य, शंकर के समान क्रोधी, दिव्य कवचधारी अयोनिज-दिव्य पुरुष।
16. क्षत्रधर्मा	अर्धरथी	धृष्टद्युम्न-नन्दन, बालक।
17. धृष्टकेतु	महारथी	शिशुपाल-पुत्र, महाधनुर्धर, युधिष्ठिर सम्बन्धी।
18. क्षत्रदेव	श्रेष्ठरथी	परपुरंजयी, क्षात्रधर्मरत।
19. जयन्त	महारथी	पांचालशिरोमणि
20. अमितौजा	,,	,, ,,
21. सत्यजित्	अतिरथी	द्रुपद-पुत्र तरुण
22. अज	महारथी	शूरवीर
23 पांचकेकय राजकुमार	उदारथी	चित्रयोधी, दृढ पराक्रमी, युद्ध कला-निपुण, लोहितध्वजा वाले।
24. सुकुमार	उदारथी	सम्पूर्ण अस्त्रों के ज्ञाता, महामनस्वी।
25. काशिक	,,	,, ,, ,,
26. नील	,,	,, ,, ,,
27. सूर्यदत्त	,,	,, ,, ,,

1. उ. प. 167/1–10 पू., 170/1–10 गी.

28. शंख	,,	,,	,,	,,	
29. मदिराश्व	,,	,,	,,	,,	
30. वार्धक्षेमि	महारथी	सामान्य			
31. चित्रायुध	श्रेष्ठरथी	संग्रामशोभी, अर्जुनभक्त।			
32. चेकितान	महारथी	सामान्य			
33. सत्यधृति	,,	,,			
34. व्याघ्रदत्त	उदारथी	,,			
35. चन्द्रसेन	,,	,,			
36. सेनाबिन्दु	महारथी	वासुदेव और भीम के समान पराक्रमी, क्रोधहन्ता			
37. काशिराज	रथी, अष्टगुणी रथीगण में	महापराक्रमी, समरश्लाघी, शीघ्रास्त्र सचालक नरोत्तम			
38. पाण्ड्यराज	महारथी	पाण्डवानुरागी, शूरवीर, धुरंधर, दृढ़-धन्वी, महेष्वासी			
39. श्रेणिमान्	अतिरथी	परपुरंजयी			
40. वसुदान	,,	,, ,,[1]			
41. रोचमान	महारथी	महापराक्रमी			
42. पुरुजित्	अतिरथी	कुन्तीभोजकुमार, भीमसेन के मामा, महाधनुर्धर, महेष्वासी, महाबली, चित्र-योधी, रणनिपुण।			
43. घटोत्कच	यूथपत्याधिप	भीमसेनी बहुमायावी, राक्षसेश्वर, समर-प्रिय, महापराक्रमी, विचित्ररथवाला।			
44. श्रीकृष्ण	सर्वातिशायीरथी	अर्जुन के सखा, पुरुषोत्तम, समस्त अस्त्रों के ज्ञाता, दिव्यास्त्रज्ञाता सुदर्शन चक्रधारी।[2]			

राजा का सेना पर नियन्त्रण :—जिस राजा में व्याख्यान शक्ति, प्रगल्भता, तर्ककुशलता, भूतकाल की स्मृति, भविष्य पर दृष्टि तथा नीतिनिपुणता ये छः गुण होते है, वही सेना पर विशेष-रूप से नियन्त्रण रख सकता है। इसके साथ-साथ उसे मंत्र, औषध, इन्द्रजाल, साम, दान, दण्ड और भेद इन सात उपायों

---

1. उ. प. 168/1–25 पू., 171/1–27 गी.
2. उ. प. 169–1–12 पू., 172/1–12 गी.

को भी भली प्रकार जानकर काम में लेना चाहिये, क्योंकि सेना या सेना के प्रमुख जनों में यदि फूट या विद्रोह की भावना हो जाय तो इन्हीं उपायों द्वारा वह सेना को नियन्त्रित कर सकता है। नीति-शास्त्र में राजा के लिये चौदह स्थान या चौदह व्यक्ति परीक्षा के योग्य बताये है। (1) देश, (2) दुर्ग, (3) रथ, (4) हाथी, (5) घोड़े, (6) शूरसैनिक, (7) अधिकारी, (8) अन्तःपुर, (9) अन्न, (10) गणना, (11) शास्त्र, (12) लेखक, (13) धन और (14) असु (प्राण) (बल) इनके जो चौदह अधिकारी है, राजाओं को उनकी परीक्षा करते रहना चाहिये।[1] परीक्षा करते रहने से अधिकारी शिथिल और कर्त्तव्य-विमुख नहीं हो पाते उनमें राजा का भय बना रहता है, प्राचीन इतिहास से ज्ञात होता है कि राजा कभी वेश परिवर्तित कर प्रजा और अधिकारियों की परीक्षा लिया करता था। अतः इस बात की पुष्टि इतिहास करता है। ऐसा करते रहने से प्रजा की व्यवस्था और सेना का नियन्त्रण यथानुकूल बना रहता है।

सेना का संतुलन न बिगड़े, सैनिकों और सेना अधिकारियों में राजा के प्रति श्रद्धा और सौहार्द बना रहे। अतः राजा को उन्हें सदैव संतुष्ट रखना चाहिये। उदाहरणार्थ समय-समय पर पुरस्कार सम्मान उच्चपद, समय पर वेतन और वेतनवृद्धि देते रहना चाहिये। इन उपायों से सेना संतुष्ट बनी रहती है और उसमें विद्रोह की भावना नहीं आती। मुख्य सेनाओं का समय-समय पर निरीक्षण कर उन्हें सान्त्वना देते रहना चाहिये। राजा को सेना के गुप्त स्थलों को सर्वदा सुरक्षित रखना चाहिये।[2]

राजा को चाहिये कि वह सर्वगुणसम्पन्न सेवकों (सैनिकादि) की सुरक्षा रखें अर्थात् उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करता रहे। राजा को चाहिये कि वह अपनी यात्रा उच्चकुलोद्भव सैनिकों के साथ ही करे, क्योंकि जिन लोगों को अपनी कुल-परम्परा पर स्वाभिमान होता है वे रण से कभी विमुख नहीं होते और प्राणों से जूझकर अद्भुत शौर्य दिखाते हैं। ऐसे ही सैनिकों की सहायता से राजा राज्य का संरक्षण रख सकता है अतः उनके साथ सदा ऐसा व्यवहार करे कि वे राजा के प्रति स्वामिभक्त बने रहे।[3]

---

1. स. प. 5/11–13 पू., 5/21–2 गी.
   राजा के परीक्षायोग्य स्थानयया व्यक्तिः–देशो दुर्गं रथो हस्तिवजियोधाधिकारिणः।
   अन्तः पुरान्नगणना, शास्त्रलेख्य धनासवः (नीलकण्ठीटीका से)
2. शा. प. 69/34 पू., 69/36 गी.
3. शा. प. 116/11–12 पू., 115/11–12 गी.

राजा को इस बात का सतत् ध्यान रखना चाहिये कि उसके कर्मचारियों में कोई ऐसा तो नहीं है जो अपनी इच्छा के अनुसार चलता है और शासन का उल्लंघन करने का साहस करता है तथा युद्ध के सारे साधनों एवं कामों को अकेला ही अपनी रुचि के अनुसार चलाता है। इस प्रकार का स्वेच्छाचारी प्रायः प्रधान सेनापति होने लगता है। अतः राजा प्रधान सेनापति को कार्य में व्यस्त रखें और बड़ी-बड़ी लड़ाइयों में भेजता रहे तथा गुप्तचरों से उसकी गतिविधियों को जानता रहे यदि उसमें कोई दोष आ रहा हो तो उसे सावधानी से हटाकर प्रेम से अपने वशीभूत कर अपना भक्त बना ले।[1]

राजा प्रत्येक सैनिक को यथास्थान ही स्थापित करे, क्योंकि अयोग्यों को उच्चस्थान पर स्थापित कर देने पर हानि होती है। साधु, कुलीन, शूरवीर, ज्ञानवान्, अदोषदर्शी, चतुर, स्वाभाविक गुणों से सम्पन्न तथा अपने-अपने पद पर निन्दा से रहित अर्थात् कार्यदक्ष और पवित्र मनुष्यों को ही राजा अपना पार्श्ववर्ती सेवक बनावे, जिससे शासन की शृंखला बनी रहे और विघटित न हो, क्योंकि सिंह के पास सदा सिंह ही सेवक रहे। यदि सिंह के साथ सिंह से भिन्न प्राणी रहने लगता है तो वह सिंह के तुल्य ही फल भोगने लगता है। इस प्रकार व्यवहार करने वाला राजा शूरवीर विद्वान, बहुश्रुत और कुलीन पुरुषों के साथ रहकर अर्थात् उन्हें अपने नियन्त्रण में रखकर सारी पृथ्वी पर विजय पा सकता है।[2]

महाराज धृतराष्ट्र भी युधिष्ठिर को राजा पर आने वाली विपत्तियों को बता कर सेना के सहयोग से ही उन पर विजय पाने के उपाय बताते हैं—"कुरु-नन्दन! राजा पर आने वाली अनेक प्रकार की आपत्तियाँ होती हैं, जिन्हे जानना चाहिये। पाण्डुनन्दन! आपत्तियों के अनेक प्रकार के विकल्प हैं। राजा सामादि उपाय द्वारा उन सबको सामने लाकर सदा गिने। देश काल की अनुकूलता होने पर सैनिक बल तथा राजोचित गुणों से युक्त राजा अच्छी सेना साथ लेकर विजय के लिये यात्रा करे। वत्स! अपने अभ्युदय के लिये तत्पर रहने वाला राजा यदि दुर्बल न हो और उसकी सेना हृष्ट-पुष्ट हो तो वह युद्ध के अनुकूल मौसम न होने पर भी शत्रु पर चढ़ाई करे। शत्रुओं के विनाश के लिये राजा अपनी सेना रूपी नदी का प्रयोग करे, जिसमें तरकस ही प्रस्तरखण्ड के समान है, घोड़े और रथ-रूपी प्रवाह शोभा पाते हैं, जिसका कूल ध्वजरूपी वृक्षों से आच्छादित है तथा पैदल और हाथी जिसके भीतर अगाध पंक के समान जान पड़ते हैं। भारत! युद्ध

---

2. सभा प. 5/41 पू., 5/52 गी.
3. शान्ति प. 119/9–13 पू., 119/9–13 गी.

के समय युक्ति करके सेना का शकट, पद्म अथवा वज्र नामक व्यूह बनाले, क्योंकि शुक्राचार्य ने भी ऐसा ही विधान बताया है। गुप्तचरों द्वारा शत्रुसेना की जांच-पड़ताल करके अपनी सैनिक शक्ति का भी निरीक्षण करें। फिर अपनी या शत्रु की भूमि पर युद्ध प्रारम्भ करे। राजा को चाहिये कि वह पारितोषिक आदि के द्वारा सेना को संतुष्ट रखे और उसमें बलवान् मनुष्यों को प्रवेश दे। अपने बलाबल को अच्छी तरह समझ कर सामादि उपायों के द्वारा सन्धि या युद्ध के लिये उद्योग करे।"[1]

धृतराष्ट्र का कथन भी उपर्युक्त सभी बातो का समर्थन करता है, जिससे स्पष्ट होता है कि राजा सभी उपायो से सेना पर पूर्ण नियन्त्रण रखें, क्योंकि सेना के बिना वह निस्सहाय है। यदि सेना उसके नियन्त्रण से बाहर निकल गई तो वह कोई भी कार्य-सिद्धि नही प्राप्त कर सकता।

सेना नियन्त्रण के विषय में महर्षि उशना ने सविस्तार वर्णन किया है। उनका कथन है कि राजा सेना पर नियन्त्रण रखता हुआ इस प्रकार के उपाय करता रहे जिससे सेना मे नवीन बल की स्फूर्ति आती रहे और वह अपने कर्त्तव्य से हताश न हो। उदाहरणार्थ सैनि-ो को बाहु-युद्ध में कुशल करने हेतु बराबर वालों से मल्लयुद्ध करवाये, व्यायाम करवाकर गुरुजनो को प्रणाम करना सिखाये व्यायामानुकूल पौष्टिक भोजन देकर सैनिको की शारीरिक बल को बढ़ावे। इन समस्त आवश्यक बातो का राजा स्वयं समय-समय पर निरीक्षण करता रहे। राजा को सैनिकों को आखेट कर्म में भी लगाये रखना चाहिये। वह व्याघ्रों का शिकार अस्त्र-शस्त्रों को चलाने का अभ्यास एवं शूरवीर की संगति कराकर उनका शौर्य बल बढ़ावे। वेतन देकर 'सेनाबल' तपस्या और अभ्यास कराकर 'आस्त्रिकबल' अर्थशास्त्रो की संगति कराकर बुद्धिबल भी बढ़ाता रहे।[2]

सेना में घुड़सवार सैनिकों से चौगुने रूप में पदाति सैनिकों को ले, घुड़सवार से पंचमांश में बैल, अष्टमांश मे ऊँट, ऊँट से चतुर्थांश हाथी, हाथी के अर्धांश मे रथ तथा रथ से द्विगुण में बृहन्नालिकादि (तोप) सेना मे रखे। एक वर्ष मे एक लक्ष मुद्रा की आय वाला राजा उत्तम वेश, ऊँचे कद और शस्त्रशास्त्र से सुसज्जित सौ सिपाहियों की एक टुकड़ी पृथक् ही रखे। बन्दूकों से युद्ध 300, पैदल सिपाहियो

---

1. आश्रम प. 12/10-17 पू., 7/10-17 गी.
2. शु. नी. 4/7अ/16-18

की एक पृथक् टुकड़ी तथा 80 घोडे, एक रथ, 2 तोपें, 10 ऊँट, 2 हाथी, 2 बैलगाड़ी, 16 बैल, 6 लेखक, 3 मन्त्री इन सबको एक सेना में भली प्रकार रखे।[1]

राजा छोटे शत्रु को जीतने के लिये भी थोड़ी सेना के साथ कभी न जावे। उसे नवीन-प्रविष्ट सैनिकों की बडी सेना के द्वारा ही चढ़ाई करनी चाहिये। बुद्धिमान् राजा अशिक्षित, असार (विशेष श्रेष्ठ नही) नवीन भर्ती की हुई सेना को युद्ध से अतिरिक्त अन्य कार्यों में भी आवश्यकता पडने पर लगावे, क्योंकि नवीन सैनिक रुई के समान लघु (तुच्छ) माने जाते है। प्राण सकट उपस्थित होने पर क्षुद्रबल सेना विपरीत आचरण करने को सदा उद्यत हो जाती है, किन्तु निपुण और बलवान राजा का यदि सेना पर उपयुक्त नियन्त्रण होता है तो सेना प्राण भले ही दे दे, किन्तु विपरीत आचरण करने के लिये समर्थ नही होती। सुन्दर शिक्षित थोड़ी सेना से भी पराक्रमी राजा विजयश्री का वरण कर सकता है तो फिर इस प्रकार की बड़ी सेना द्वारा तो विजय मे शंका का प्रश्न ही नही उठता।[2]

राजा सदा सेना का निरीक्षण करता हुआ उस पर पूर्ण नियन्त्रण रखे। सदा वाणी या दण्ड की कठोरता करने से, वेतन कम देने से, अधिक भय दिखाने से निरन्तर प्रवास मे भेजते रहने से और अधिक परिश्रम का कार्य कराते रहने से शत्रुओं द्वारा सेना मे भेद डाला जा सकता है। अतः व्यवहार से राजा को बचना चाहिये। अतः शत्रु सेना में भेद हो सके, किन्तु अपनी सेना मे भेद न हो ऐसा व्यवहार सम्यक् विचार कर करना चाहिये।[3]

राजा को इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिये कि कुल कितने सैनिक है। इसके लिये वह प्रतिदिन प्रातः एवं सायं सैनिको की गणना भलीभांति करें, जिसमे साथ-साथ प्रत्येक सैनिक की जाति, आकार, अवस्था, देश तथा ग्राम म निवास का पूर्ण विचार भी हो। सैनिको को वेतन या पारितोषिक दिया गया है, इसको पाने के लिये लिखे हुये आज्ञा-पत्र को लेकर उसको वेतन या पारितोषिक चुकता कर दे। ऐसा करने से व्यवस्था ठीक बनी रहती है और सैनिकों पर सरलता से नियन्त्रण बना रहता है।[4]

---

1. शु. नी. 4/7अ/21–26
2. शु. नी. 4/7अ./177–180
3. शु. नी. 4/7अ./183–184
4. शु. नी. 4/7अ./391–.92

सैनिकों पर नियन्त्रण रखने के पहले राजा स्वयं अपने पर नियन्त्रण रखे, क्योंकि जो स्वयं नियन्त्रित नहीं होगा वह दूसरों को क्या नियन्त्रित करेगा ? जिस प्रकार कट जाने पर पेड की शाखायें सूख जाती है, वैसे ही राजा के बिना सेनापति आदि भी कोई तत्काल ही और कोई कुछ समय के बाद शक्तिहीन हो जाते हैं, राज्य-रूपी वृक्ष का मूल राजा होता है। स्कन्ध मन्त्री लोग होते है, शाखायें सेनापति होते है, पल्लव सेनायें होती हैं, फूल प्रजायें होती है, फल भूमि से प्राप्त होने वाले कर एवं बीज राजा की भूमि होती है। अतः मूल-रूपी राजा अपने राज्य रूपी वृक्ष को हरा-भरा रखने के लिये सावधानी के साथ इस प्रकार का खाद्यान्नाश ग्रहण करे अर्थात् ऐसी सुव्यवस्था बनाये जिससे वृक्ष फले-फूले और सबको सुख-दायी हो।[1]

आधुनिक प्रजातन्त्र में परम्परागत राजा नहीं होता अपितु मन्त्री और मुख्यमन्त्री आदि होते है जो राजा और सम्राट् के ही रूप प्रतीत होते है। सेना के सेनापति के अतिरिक्त एक रक्षा मन्त्री होता है जो सैनिक कला से प्रशिक्षित न रहते हुये भी सेना पर प्रशासन करता है। रक्षामन्त्री सैनिकों पर ठीक प्राचीनकाल के समान ही सुव्यवस्था और नियन्त्रण का ध्यान रखता है। उनके वेतन, वेतन-वृद्धि, पेंशन, चिकित्सा, शिक्षा आदि सभी बातों का पूर्ण ध्यान रखना है जिनका वर्णन हम पीछे कर आये है। रक्षामन्त्री समय-समय पर सैनिकों का स्वयं जाकर निरीक्षण करता है। युद्ध के मैदान मे जाकर उनका उत्साह बढ़ाता है, उनकी सभी युद्ध-कालीन आवश्यकताओं की समुचित व्यवस्था करता है।

इसके अतिरिक्त मुख्यमन्त्री, प्रधानमन्त्री, राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति आदि भी समयानुसार मोर्चे पर जाकर सेना का निरीक्षण करते हैं और उपर्युक्त सभी व्यवस्थाओं के विषय में अपना भी ध्यान रखते हैं। आज के युग मे सैनिकों को वर्तमान शासन ने अपनी और से सभी सुविधायें और साधन प्रदान कर रखे हैं, जिससे वे सन्तुष्ट रहकर अपने प्राणों की परवाह न करके राष्ट्र रक्षा के हेतु सर्वस्व न्योछावर कर दें। इस बात की पुष्टि पिछले दो भारत-पाक युद्धों से भलीभांति हो जाती है कि हमारे सैनिकों का पूर्ण ध्यान रखने से वे सन्तुष्ट है और इसलिये दुगने उत्साह से युद्ध करके विजय-श्री वरण करते रहते हैं।

इति तृतीय पर्व

---

4. मु. नी. 5/11-13

चतुर्थ पर्व

सैन्य–सामग्री

(ह) आयुध :—सैन्य सामग्री में सेना से सम्बन्धित सभी वस्तुओं का अन्तर्भाव हो जाता है। उदाहरणार्थ आयुध, वाहन, ज्ञापकचिन्ह और वाद्ययन्त्रादि। अब हम सबसे पहले आयुधों का वर्णन करते हैं क्योंकि आयुधों से संलग्न होने पर ही योद्धा पहिचाना जाता है। अतः अपने आपको सुशोभित करने या प्रकट करने के लिये योद्धा के लिये आयुध प्रधान महत्व रखते हैं। आयुधों को हम प्रधान रूप से दो भागों में विभक्त करते हैं। (1) अस्त्र (2) शस्त्र।

(1) अस्त्र :—महर्षि उशना ने अस्त्र की परिभाषा करते हुये लिखा है "जो मंत्र या यन्त्र तथा अग्नि के द्वारा फेंका जाता है, उसे अस्त्र कहते हैं।" अस्त्र भी दो प्रकार का होता हैं प्रथम नालिक और द्वितीय मान्त्रिक। नालिक में बन्दूक तोपादि आते हैं, जिन्हें अदिव्यास्त्र और मान्त्रिक में मंत्र की प्रेरणा से चलाये गये ब्रह्मास्त्रादि आते हैं, जिन्हें हम दिव्यास्त्र कहते हैं।[1]

(2) शस्त्र :—"अस्त्रों से अतिरिक्त जिन आयुधों को हाथ से पकडे हुए प्रहार के रूप में प्रयुक्त किया जाता है, उन्हें शस्त्र कहते है—जैसे असि, कुन्त गदादि।"[2]

(ऋ) अदिव्यास्त्र (नालिका) :—अदिव्यास्त्रों में आध्यात्मिक शक्ति की आवश्यकता न होकर मानसिक श्रम की आवश्यकता होती है। इन अदिव्यास्त्रों का प्रयोग आज ही नही अपितु अत्यन्त प्राचीनकाल से चला आ रहा है। अदि-

---

1. अस्यतेक्षिप्यते यत्तु मन्त्राग्निभिश्चतत्।
   अस्त्रम् (190/1/2) अस्त्रं तु द्विविधंज्ञेयं नालिकंमान्त्रिकं तथा
2. तदन्यतः शस्त्रमसिकुन्तकादिकं चयत्।
   (शु. नी. 6 प्र.4/191) (शु. नी. 6 प्र.4/(191/1/2)

व्यास्त्रों में धनुष और बाण, भुशण्डी, त्रिशूल, चक्र, शक्ति, शतघ्नी आदि माने जाते हैं, जिनका परिचय हम अब संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करते हैं।

1. धनुष :—धनुष का भारतीय साहित्य में बाहुल्य से वर्णन मिलता है। वैदिक साहित्य में धनुष को लेकर एक पृथक् ही उपवेद बना दिया गया, जिसे धनुर्वेद के नाम से अभिहित किया जाता है और जिसका परिचय हम द्वितीय पर्व में दे चुके है। महाकाव्य, पुराण, संहिता, स्मृति, धर्मशास्त्र इस धनुर्विद्या के स्रोत रहे है। हमारे भारतीय साहित्य में तीन धनुषों को श्रेष्ठतम माना गया है। भगवान् शिव का पिनाक, भगवान विष्णु का शार्ङ्ग और नरावतार अर्जुन का गाण्डीव। धनुष के लिये हमारे साहित्य में कार्मुक, कोदण्ड, चाप और द्रूणादि नाम मिलते हैं।[1]

प्रत्येक धनुष आकृति में प्रायः अर्धचन्द्राकार के रूप में होता है। उसके पृष्ठ भाग में एक रज्जु बन्धी होती है जो 'ज्या' या प्रत्यंचा कहलाती है। इसमें शर आधान करके छोड़ा जाता है। दिव्य तथा अदिव्यास्त्र दोनों के लिये ही धनुष योद्धा का प्राथमिक अस्त्र है।

आइये विषय से सम्बन्धित अर्जुन के विश्वविख्यात गाण्डीव-धनुष का परिचय प्राप्त करें।

अर्जुन का गाण्डीव धनुष :—खाण्डव वन का दहन करने हेतु जब अग्नि-देव ने भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन से निवेदन किया तब धनंजय ने अपने बाहुबलानुकूल धनुष रथ और अक्षय तूणीर मांगे। तब अग्निदेव ने वरुण देव का चिन्तन किया और वरुण-देव ने तत्काल उपस्थित होकर अग्नि-देव की प्रार्थनानुसार धनुषों में रत्न के समान गाण्डीव-धनुष, बाणों से भरे दो अक्षय तूणीर तथा-कपिध्वजा से युक्त रथ भी प्रदान किया। अर्जुन को प्रदत्त यह धनुष अद्भुत था, उसमें बड़ी शक्ति थी यश और कीर्ति को बढाने वाला था। वह किसी भी अस्त्र शस्त्र से टूट नही सकता था और दूसरे सब शस्त्रों को नष्ट कर डालने की शक्ति

1. तालचापदारवशार्ङ्गाणिकार्मुककोदण्डद्रूणा धनूंषी।
(कौटिल्य—अ. शा. 2/34/18)

उसमें विद्यमान थी। उसका आकार सभी धनुषों से बढ़कर था। शत्रु सैन्य को विदीर्ण करने वाला वह एक ही धनुष दूसरे लाखों धनुषों के बराबर था। वह अपने धारण करने वाले के राष्ट्र को बढ़ाने वाला एवं विचित्र था। अनेक प्रकार के रंगों से उसकी शोभा होती थी। वह चिकना और छिद्र से रहित था। देवताओं, दानवों और गन्धर्वों ने अनन्तवर्षों तक उसकी पूजा की थी।[1]

पाण्डव पक्ष के प्रमुख वीरों के धनुष :—धर्मराज युधिष्ठिर के पास महेन्द्र का दिया हुआ दिव्य धनुष था। इसी प्रकार भीमसेन के पास वायुदेवता का दिया हुआ दिव्य धनुष था नकुल को वैष्णव तथा सहदेव को अश्विनीकुमार सम्बन्धी धनुष प्राप्त था तथा घटोत्कच के पास पौलस्त्य नामक भयानक दिव्य धनुष विद्यमान था। रोहिणीनन्दन बलराम ने जो रुद्रसम्बन्धी श्रेष्ठ धनुष प्राप्त किया था, उसे उन्होंने सन्तुष्ट होकर महामना सुभद्रकुमार अभिमन्यु को दे दिया। द्रौपदी के पाँचों पुत्रों के पास दिव्य धनुषरत्न क्रमशः रुद्र, अग्नि, कुबेर, यम तथा भगवान् शंकर से सम्बन्ध रखने वाले थे।[2]

2. बाण :—लक्ष्य का वेधन करने के लिये बाण एक प्रमुख साधन है। इसका अग्र-भाग लोहे का बना होता है और तीक्ष्ण होता है। पिछला भाग भी लोहे या काष्ठ का बना होता है और लघुदण्डाकार होता है। हमारे साहित्य में बाण के वेणु, शर, शलाका, दण्डासन, नाराच और शिलीमुख इत्यादि नाम मिलते हैं।[3]

महाभारत और धनुर्वेद के आधार पर बाणों के विभिन्न प्रकार प्राप्त होते हैं जिन्हे हम क्रमशः इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

(1) महाभारत :—इस ग्रन्थ में बाण के विभिन्न प्रकारों का विशेष वर्णन दो स्थानों पर मिलता है। प्रथम स्थान पर क्षुर, नाराच, भल्ल और विपाठ शरों का वर्णन मिलता है, जिनकी नीलकण्ठी मे इस प्रकार व्याख्या मिलती है।[4]

---
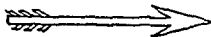
1. आदि प. 2।5/19–25 पू., 224/4–9 गी.
2. द्रोण प. 22/× ×पू., 23/91–95 गी.
3. वेणुशरशलाकादण्डासननाराचाश्च इषवः। (कौ. अ. शा. 2/34–18)
4. आदि प. Append.x–1 Page 927/10–15 पू., 138/6–7 गी.

क्षुर :—यह वह बाण होता है, जिसके पार्श्व में तेज धार होती है जैसे नापित का छुरा।

नाराच :—नाराच सीधे बाण को कहते हैं जिसका अग्रभाग तीक्ष्ण होता है।

भल्ल :—जिसकी नौक का पिछला भाग चौड़ा और नोकदार होता है, उसे भल्ल कहते है।

विपाठ :—इस बाण की आकृति खनती की भाँति होती है। यह दूसरे बाणों से बड़ा होता है।

इन उपर्युक्त बाणों में क्षुर और नाराज सीधा है भल्ल टेढ़ा और विपाठ विशाल है।

महाभारत के दूसरे स्थान पर 7 प्रकार के विशिष्ट बाणों का वर्णन प्राप्त होता है, जिनकी नीलकण्ठी टीका के आधार पर इस प्रकार की व्याख्या मिलती है।[1]

कर्णी :—जिधर बाण के फल का रुख हो, उससे विपरीत रुखवाले दो काँटो से युक्त बाण को 'कर्णी' कहते हैं। शरीर मे घँस जाने पर यदि उसे निकाला जावे तो वह आँतों को भी अपने साथ खींच लेता है। इसलिये निन्द्य है।

नालीक :—यह बाण अत्यन्त छोटा होता है और शरीर में पूरा का पूरा डूब जाता है। अतः इसे निकालना कठिन हो जाता है।

वस्तिक :— बाण के डण्डे और फल के सन्धिस्थान में जो अत्यन्त पतला होता है, उस बाण को वस्तिक कहते हैं। इसे शरीर से निकालने पर यह बीच से टूट जाता है, फल भीतर रह जाता है और केवल डण्डा बाहर निकल पाता है।

सूची :—यह बाण भी कर्णी के समान ही होता है। अन्तर इतना ही है कि इसमें बहुत से कण्टक होते है।

कपिश :—कुछ लोग 'कपिश' को भी सूची के ही समान मानते हैं। किन्हीं के मत में 'कपिश' का फल बन्दर की हड्डी का बना होता है। अधिकांश लोगों का

---

1. द्रोण प. X Xपृ., 189/11-12 गी.

मत है 'कपिश' काले लोहे का बना होता है, इसका हल्का आघात लगने पर भी वह शरीर में गहराई तक घुस जाता है। मेदिनीकोष के अनुसार 'कपिश' का अर्थ काला है भी।

गवास्थिज :— जो बाण गाय की हड्डी से बनाया गया हो उसे 'गवास्थिज' कहते हैं।

गजास्थिज :—जो बाण हाथी की हड्डी से बना हो वह गजास्थिज कहलाता है। इसका प्रभाव भी विषलिप्त बाण के समान ही होता है।

(2) धनुर्वेद :—धनुर्वेद में बाण प्रधानरूप से द्वादश प्रकार के मिलते हैं, जिन्हें हम क्रमशः इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

1. आरामुख% :—इस बाण में उसी प्रकार आरे लगे रहते हैं, जिस प्रकार रथ के चक्र में आरे होते हैं। लगभग नौ आरों से संयुक्त इस बाण को आरामुख कहा जाता है।

2. क्षुरप्र :—इस बाण का अग्र-फलक क्षुरपा (जिससे घास खोदा जाता है) जैसा होता है। अतः इसे क्षुरप्र कहते है।

% आरामुखादि दस बाणों के चित्र श्री जी० एन० पन्त द्वारा विरचित पुस्तक 'इण्डियन वेपन्स एण्ड वारफेयर' के पृ. सं. 55 से उद्धृत किये गये हैं, जो आर्मी एजूकेशनल स्टोर्स नई दिल्ली-5 से प्रकाशित हुआ है।

3. गोपुच्छ :—इस बाण का अग्र-फलक गाय की पूँछ जैसा बना होता है अतः इसे गोपुच्छ के नाम से अभिहित करते हैं।

4. अर्धचन्द्र :—इस बाण का अग्र-भाग अर्धचन्द्र के आकार का होता है अतः इसे अर्धचन्द्र के नाम से पुकारते हैं।

5. सूचीमुख :—इस बाण का फलक सूई के समान सूक्ष्माकार होता है। अतः इसे सूचीमुख कहते हैं।

6. भल्ल :—इस बाण का अग्र-फलक दो भालों के समान दो किनारों वाला होता है, अतः आकृति के अनुसार इसे भल्ल कहा जाता है।

7. वत्सदन्त :—इस बाण में चारों ओर इस प्रकार के मुड़े हुये शंकु लगे रहते हैं, जैसे बछड़े के दांत हों, अतः आकृति के अनुसार इसे वत्सदन्त कहते हैं।

8. द्विभल्ल :—अनुमान है कि यह बाण मानों दो भालों को मिलाकर बनाया जाता हो। अतः इसे इसी कारण द्विभल्ल कहते हैं, किन्तु इसकी आकृति बहुत कुछ पद्म से मिलती हुई होती है।

9. कर्णिक :—इस बाण का अग्रफलक कर्णिकार-पुष्प से मिलता सा होता है। अतः उसकी आकृति के अनुसार ही कर्णिक कहते हैं।

10. काकतुण्ड :—इस बाण की आकृति कौओं के शरीर से मिलती हुई होती है। अतः आकार के सदृश ही इसका नाम काकतुण्ड रख दिया गया है।

ये उपर्युक्त दश बाणों के प्रकार धनुर्वेद के शरलक्षण-प्रकरण में मिलते है ।[1]

इन दस प्रकारों के अतिरिक्त धनुर्वेद में नाराच और नालिक नाम के दो प्रकार के बाण और बताये गये है । जिनमें सब प्रकार से लोह ही लगा हुआ हो उन्हें नाराच और नल यन्त्र से छोड़े जाने वाले लघु बाण नालिक कहलाते हैं, जो दूर तक गिरते है और विशेषतः दुर्गयुद्धों में काम आते हैं ।[2]

इस प्रकार महाभारत और धनुर्वेद के आधार पर कुल बाण बारह प्रकार के ही हुये ।

3. तूणीर :—यद्यपि तूणीर कोई अस्त्र नहीं है, किन्तु धनुष और बाण के साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है । यदि तूणीर न हो तो बाणों को धारण करना अति कठिन हो जाये । तूणीर बाणों का सुरक्षित घर होता है । कई महापुरुषों के तूणीर तो अक्षय हुआ करते हैं, जिनमें हम श्रीराम श्रीकृष्ण और अर्जुन का नाम अग्रगण्य रखते है ।
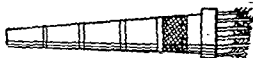
4. भुशुण्डी :—आधुनिक काल मे जैसे बन्दूक (राईफल) होती है उसी प्रकार महाभारत काल में भुशुण्डी होती थी । इस अस्त्र के द्वारा बहुत दूर तक गुटिकायें (गोलियाँ) फेंकी जाती है । यह लोहे और काष्ठ से निर्मित होता है । पातालनिवासी निवात-कवच-दानव इसी अस्त्र से सुसज्जित होकर अर्जुन से युद्ध करने आये थे ।[3]

---

1. आरामुखं क्षुरप्रं च गोपुच्छं चार्द्धचन्द्रकम् ।
   सूची-मुखं च भल्लं च वत्सदन्तं द्विभल्लकम् ॥
   कर्णिकं काक-तुण्डं च तथान्यान्यप्यनेकशः ।
   फलानि देशभेदेन भवन्ति बहुरूपतः ॥ (धनुर्वेद संहिता छ. सं. 63-64)
2. सर्वलोहास्तु ये बाणा नाराचास्ते, प्रकीर्तिताः । (ध. वे. छ. सं. 73)
   नालिका लघवो बाणा नलयन्त्रेण नोदिताः ॥ (ध. वे. छ. सू. 74)
3. वन प. 166/15 पू., 169/16 श्लो.

दैत्य-गुरु शुक्राचार्य भी भुशुण्डी को लघुनालिका (बन्दूक) कह कर इसका लक्षण इस प्रकार करते हैं "जिसमें नाल ऐसी हो कि मूल की ओर से तिरछा होकर ऊपर की ओर तक छिद्र हो, वह 5 बलिश्त लम्बी हो और जिसके मूल तथा अग्र-भाग में लक्ष्य को बेध करने में सहायक तिलबन्दु सदा लगे हों। यन्त्रद्वारा आघात होने पर अग्नि पैदा करने वाले ग्रावचूर्ण (बारुद) जिसके मूल के कर्ण भाग में भरा हुआ हो। जिसका मूल भाग जो पकड़ने के लिये होता है उसके अंगोपांग सुन्दर काष्ट के बने हुये हों। नाल का छिद्र एक अंगुल चौड़ा हो अग्निचूर्ण भरने की शलाका भी साथ हो, जो दृढ़ हो उसे लघुनालिका (बन्दूक) कहते हैं।[1]

5. शतघ्नी :—जैसे आधुनिक काल में तोप नाम का अस्त्र होता है, उसी प्रकार महाभारत काल में शतघ्नी हुआ करती थी। इस अस्त्र को यन्त्र भी कहते हैं। इसका निर्माण लोहे में होता है शीघ्रताप-ग्राही-चूर्ण (बारुद) की सहायता से शीशे की धातु की, काँसी की धातु की और पत्थर की गुटिकायें (गोले) इस यन्त्र से दूर तक छोड़ी जाती हैं, धनंजय के साथ निवात कवच दानवों ने इसका प्रयोग किया था।[2]

महर्षि उशना ने इसे बृहन्नालिक (तोप) कहकर इसका लक्षण इस प्रकार किया है "जैसे-जैसे नाल की लम्बाई अधिक हो और जैसे-जैसे छिद्र की चौड़ाई अधिक हो एवं जैसे-जैसे गोले का आकार बड़ा हो वैसे-वैसे ही बृहदनालिक यन्त्र (तोप) दूर तक लक्ष्य वेधन करने वाला होता है। जिसके मूल भाग में लगी हुई कील को घुमाने से वह लक्ष्य के अनुरूप गोले को फेंकने वाला होता। इसका मूल भाग काष्ठ का बना होता है और बैल गाड़ी आदि से इसे ढोया जाता है यदि इसका उचित रीति से प्रयोग किया जाय तो यह विजय देने वाला होता है।[3]

---

2. शु. नी. 4/7प्र./195–197
3. वन प. 166/15 पू., 169/16 गी.
4. शु. नी. 7प्र./198–199

उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि तोप नाम का अस्त्र तथा बन्दूक नाम का अस्त्र केवल मुगलकाल या अंग्रेजो के शासनकाल की ही देन नही थी अपितु अत्यन्त प्राचीनकाल (महाभारत) म भी इनका बाहुल्य से प्रयोग होता था।

6. त्रिशूल :—यह अस्त्र भी लोहे से निर्मित होता है। इसके मुखाग्र में सूक्ष्म रूप से बने तीन फलक होते है। इस तीक्ष्ण अस्त्र का प्रहार शारीरिक शक्ति से किया जाता है। इसका प्रहार बहुत घातक होता है। इसका प्रधान उदाहरण हमे धनंजय के साथ निवातकवच-दानवों के युद्ध में प्राप्त होता है।[1]
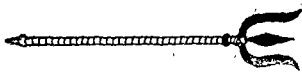
7 चक्र :—यह अस्त्र भी लोहे का ही बना हुआ होता है यह गोलाकार होता है। जिस प्रकार रथ का चक्र होता है वैसी ही आकृतिवाला यह लघु आकार मे निर्मित अस्त्र होता है। शुक्राचार्य ने भी इसका लक्षण इस प्रकार किया "जिसके घेरे की लम्बाई 6 हाथ की हो और चक्र की भांति गोलाकार हो, प्रान्त भाग मे छुरे लगे हों, जिसकी नाभि सुन्दर एव दृढ बनी हो। उसे चक्र कहते है।[2] महाभारत में इस चक्र का विभिन्न रूपों में वर्णन मिलता है। भगवान् अग्निदेव ने केशव को खाण्डव-वन-दहनकाल में अद्भुत चक्रास्त्र प्रदान किया था, जिसका मध्य भाग वज्र के समान कठोर था।[3]

---

1. वन प. 166/14 पू., 169/15 गी.
2. शु. नी. 4/7प्र./215 (चक्रं षड्हस्तपरिधिः क्षुरप्रान्तं सुनाभियुक्)
3. आदि प. 216/20 पू., 224/23 गी.

खाण्डव-वन-दहनकाल में ही जब श्रीकृष्ण और अर्जुन देवों के साथ भीषण संग्राम करते हैं तो मित्र देवता एक ऐसा चक्र लेकर आते हैं जिसके किनारों पर छुरे लगे हुये थे।[1]

इसी प्रकार भीम पुत्र घटोत्कच ने भी समरांगण में कर्ण के बाणों से व्यथित होकर दिव्य-सहस्रार-चक्र हाथ में लिया। उस चक्र के किनारो पर छुरे लगे हुये थे और वह मणि एवं रत्नों से विभूषित था, जिसे उसने कर्णवध की इच्छा से उस पर छोड़ दिया।[2]
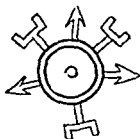
8. **शक्ति :**—पौरुष को ही स्त्रीलिंग में शक्ति कहते हैं। यह अस्त्र हिन्दी भाषा में बर्छी के नाम से अभिहित किया जाता है। यह स्वामी कार्तिकेय का प्रधान अस्त्र माना जाता है और वे इसी को धारण करने के कारण शक्तिधर कहलाते हैं। इसका फलक प्रास से कुछ लघु और आयताकार होता है। युधिष्ठिर शक्ति के द्वारा ही शल्य का प्राण हरण करते हैं।[3]

1. आदि प. 218/33 पू., 226/36 गी.
2. द्रोण प. 150/42–45 पू., 175/45–46 गी.

9. भिन्दिपाल :—महाभारत में भिन्दिपाल का वर्णन बहुलता से प्राप्त होता है। इसे 'नलिका' भी कहते हैं। यह चर्म और रज्जु विशेष से बना होता है। इससे पत्थर निक्षिप्त किये जाते हैं। भाषा में इसे 'गुलेल' कहते है। भीमसेन अलम्बुष के युद्धकाल मे अलम्बुष ने इस अस्त्र का प्रयोग भीम के विरुद्ध किया था।[1]
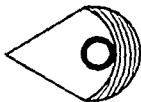
(लू) दिव्यास्त्र (मान्त्रिक) :—'दिवु' धातु से चमत्कारार्थ में 'यत्' प्रत्यय लगाने पर 'दिव्य' शब्द बनता है, जिसका तात्पर्य चमत्कार युक्त, अलौकिक या आध्यात्मिक वस्तु विशेष है अर्थात् जो अस्त्र दिव्य शक्तियों या आध्यात्मिक-शक्तियों से समन्वित हैं, उन्हें दिव्यास्त्र कहते हैं। इन दिव्यास्त्रों में प्रायः तपस्या का प्रभाव होता है : इन दिव्यास्त्रों की प्राप्ति भी तपस्या, गुरुशुश्रूषा या परम्परा से होती है। परिचयार्थ हम अब प्रधान-प्रधान दिव्यास्त्रों को उदाहरण के रूप में संक्षिप्तता के साथ प्रस्तुत करते हैं।

1. वारुणास्त्र :—यह दिव्यास्त्र वरुणदेव का है और वरुण जल के देवता हैं। अतः इस दिव्यास्त्र के द्वारा जलधारा से आघात किया जाता है या पाश से भी बांधा जाता है। जैसा कि भीष्म ने इसका प्रयोग शाल्व के घोड़ों पर किया था। जिससे वे मूर्च्छित हो गये।[2] धनंजय ने भी अस्त्रप्रशिक्षण प्राप्ति अनन्तर प्रदर्शनकाल में इसी दिव्यास्त्र के द्वारा वर्षा की झड़ी लगाकर लोगों को आश्चर्य मे डाल दिया था।[3]

2. ऐन्द्रास्त्र :—यह दिव्यास्त्र सुराधिप इन्द्र का कहलाता है। इसके प्रयोग से ऐसा प्रतीत होता है कि प्राणी पंचत्व को प्राप्त हो जाते हैं। ऐन्द्रास्त्र होने के कारण इसका प्रहार इन्द्रायुध-वज्र के समान कठोर होता है। भीष्म इसी का प्रयोग करके शाल्व के अश्वों को यमलोक भेज देते हैं।[4]

---

1. द्रोण प. 101, 30 पू., 108/30 गी.
2. आदि प. 96/37 पू., 102/47 गी.
3. आदि प. 125/19 पू., 134/19 गी.
4. आदि प. 96/38 पू. 102/49 गी.

3. ब्रह्मशिरास्त्र :—आचार्य- द्रोण धनंजय को यह दिव्यास्त्र उस समय प्रदान करते है, जब पार्थ द्रोणाचार्य को ग्राह से ग्रसित हो जाने पर बचा लेते है। आचार्य द्रोण अर्जुन द्वारा जल में ही ग्राह के टुकड़े-टुकड़े कर देने पर अति प्रसन्न होते है और उसे प्रयोग तथा उपसंहार सहित यह दिव्यास्त्र प्रदान कर देते हैं। यह अस्त्र समस्त दिव्यास्त्रों में अपना एक विशेष स्थान रखता है। इसका धारण करना अत्यन्त कठिन है इसका प्रयोग मनुष्यों में तो सर्वथा वर्जनीय होता है। यदि किसी अल्प तेज वाले पुरुष पर इस दिव्यास्त्र का प्रयोग किया जाता है तो यह उसके साथ ही समस्त विश्व को भी भस्म कर सकता है। इस अस्त्र को तीनो लोकों में असाधारण बताया जाता है। जो व्यक्ति मन और इन्द्रियों को अपने वश में रख सकता है वही इसे धारण कर सकता है।[1]

4 आग्नेय-अस्त्र :—पूर्व काल में यह दिव्यास्त्र इन्द्र-गुरु बृहस्पति ने महर्षि भरद्वाज को दिया था। भरद्वाज ने अग्निवेश को, अग्निवेश ने द्रोण को, और द्रोणाचार्य ने धनंजय को प्रदान किया। धनंजय ने जिसका प्रयोग अंगारपर्ण गन्धर्व के साथ दुर्योधन को बचाने के लिये किया। इसके प्रयोग करते ही गन्धर्व का रथ विदग्ध हो गया और मूर्छित हो गया। यह अस्त्र नाम के अनुसार अग्निदेव का कहलाता है और अपना कार्य भीषण अग्निवर्षा करना ही प्रकट करता है।[2]

5. वायव्यास्त्र :—यह दिव्यास्त्र वायु देवता का कहलाता है। इसके द्वारा भयंकर आंधी चलाई जाती है। अर्जुन ने अपने अस्त्र कौशल प्रदर्शन काल में इसका प्रयोग कर भयंकर प्रभंजन को उत्पन्न कर दिया था।[3]

6. पर्जन्यास्त्र :—यह दिव्यास्त्र पर्जन्यदेव का है। इसके द्वारा मेघों को उत्पन्न कर घनघोर वर्षा की जाती है। जैसा कि धनंजय ने अस्त्रकौशल प्रदर्शन काल में मेघों का विस्तार कर वर्षा की झड़ी लगा दी थी।

7. भौमास्त्र :—यह अस्त्र भूमिदेवी कहलाता है। इस अस्त्र के द्वारा भूमि का उत्पादन किया जाता है। इसका प्रयोग प्रदर्शन भी अर्जुन के द्वारा अपने अस्त्र-कौशल काल में ही किया गया था।

---

1. आदि प. 123/74–78 पू., 132/18–22 गी.
2. आदि प. 155/26–30 पू., 169/29–36 गी.
3. आदि प. 125/15–21 पू., 134/19–21 गी.

8. पर्वतास्त्र :—नामानुसार ही यह अस्त्र पर्वतों से सम्बन्धित है। इस अस्त्र के द्वारा पर्वतों की उत्पत्ति कर दी जाती है। गुडाकेश धनंजय ने रंगभूमि में अस्त्र कौशलकाल मे इसका प्रदर्शन करके दिखाया था।

9. अन्तर्धानास्त्र :—इस अस्त्र के द्वारा चालक अपने आप अन्तर्धान कर लेता है, वह जब चाहे दिखायी देने लगता है और जब चाहे विलुप्त हो जाता है। धनंजय ने इसका प्रयोग भी अपने अस्त्र कौशल प्रदर्शनकाल में करके दिखाया था और इसी के प्रभाव से वे कभी छोटे और कभी बड़े और कभी पलक मारते-मारते अन्यत्र दिखाई देने लगते थे।

10. पाशुपतास्त्र :—यह अस्त्र इन्द्र यम, कुबेरादि देवों के लिये भी दुर्लभ है। भगवान् महेश्वर ने इसे अर्जुन को उसकी घोर तपस्या से प्रसन्न होने के पश्चात् प्रदान किया था। इसका प्रयोग कभी भी स्वल्पशक्तिवान् पुरुष के लिये नहीं करना चाहिये। यदि किया जाय तो यह समस्त विश्व को भस्म कर सकता है। त्रिलोकी में चाहे वह चर हो या अचर हो इसके लिये कोई अवश्य नहीं है। उसका प्रयोग कर्त्ता मानसिक संकल्प से, दृष्टि से, वाणी से, और धनुष से शत्रुओं को नष्ट कर सकता है।[1] इसका प्रयोग अर्जुन ने निवातकवच-दानवों के नाश के लिये किया था। इसके प्रयोग करने पर मृगसिंह, व्याघ्र महिष, ऋक्ष, सर्प, गौ, शरभ, हाथी, वानर, बैल, सूअर, बिलाव, भेड़िये, प्रेत निशाचर, मत्स्य, गजमुख उल्लू, मीन तथा अश्व जैसे रूप वाले नाना प्रकार के जीवों का प्रादुर्भाव होता है। उन सब के हाथों में भांति-भांति के अस्त्रशस्त्र एवं खड्ग होते है। इसी प्रकार गदा और मुद्गर धारण किये हुये बहुत से यातुधान भी प्रकट हो जाते है। पाशुपत अस्त्र का प्रयोग होते ही कोई तीन मस्तक कोई चार दाढे, कोई चार मुख, कोई चार भुजावाले, अनेक रूपधारी प्राणी प्रकट होते हैं।[2]

11. ब्रह्मास्त्र :—यह दिव्यास्त्र ब्रह्मा का कहलाता है। धनंजय, कर्ण, भीष्म और द्रोणादि ने महाभारत समर में इसका बहुधा प्रयोग किया था। युद्ध मे यह ब्रह्मास्त्र प्रायः ब्रह्मास्त्र से ही शान्त हुआ। इस दिव्यास्त्र को किसी संकल्प से छोड़ा जाता है। प्रायः प्रयोग कर्ता, ब्रह्मा को स्मरण कर प्रणाम कर फिर इसका प्रयोग करता है। ब्राह्मणेतर मनुष्यों में ब्रह्मास्त्र सर्वदा स्थिर नहीं रहता। प्रयोगानन्तर यह दिव्यास्त्र सहसा प्रज्वलित हो उठता हैं। इससे प्रलयकालाग्नि सदृश

---

1. वन इ. 41/13-16 पू., 40/15-18 गी.
2. वन प. 170/43-49 पू., 173/45-54 गी.

ज्वालायें उत्पन्न होती हैं, आकाश से हजारों उल्कायें गिरने लगती हैं, व्योम ज्वाला-मालाकुल हो उठता है, भीषण शब्द होने लगते है, पर्वतों और वनों सहित सम्पूर्ण धरा चलायमान हो उठती है और सम्पूर्ण लोक संतप्त हो उठते हैं ।[1]

यह दिव्यास्त्र मनुष्यों पर प्रयुक्त होने के योग्य नहीं है । इसका प्रयोग और उपसंहार जितेन्द्रिय वीर ही कर सकता है । जिसने ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया है, वह पुरुष यदि इसका एक बार प्रयोग करके इसे फिर लौटाने का प्रयत्न करें तो यह अस्त्र सगे सम्बन्धियों सहित उसका सिर काट लेता है । जिस देश से एक ब्रह्मास्त्र को दूसरे उत्कृष्ट-अस्त्र से दबा दिया जाता है उस राष्ट्र में बारह वर्षों तक वर्षा नहीं होती । यह अस्त्र अमोघास्त्र होता है ।[2]

12. नारायणास्त्र :—यह अस्त्र आचार्य द्रोण के द्वारा भगवान् नारायण से वरदान के रूप में प्राप्त किया गया था । इसे प्राप्त कर इसका प्रयोक्ता अद्वितीय शक्ति से समन्वित हो जाता है, किन्तु इसका सहसा प्रयोग वर्जनीय है, क्योंकि यह अस्त्र शत्रु को मार कर ही लौटता है । इसके द्वारा कौन वध्य नहीं है, यह भी नहीं जाना जा सकता, क्योंकि यह तो अवध्य को मार देता है और इसी कारण से इसका सहसा प्रयोग वर्जनीय है । संग्राम में रथ से उतर कर शस्त्रों को त्याग कर, अभय याचना करता हुआ प्रयोगकर्ता की शरण जाना ही इस महानस्त्र से बचने का उपाय है । रणभूमि में इस अस्त्र के द्वारा जो व्यक्ति अवध्य मनुष्यों को पीड़ा देता है, वह स्वयं भी सब प्रकार से पीड़ित हो सकता है । गुरु द्रोणाचार्य से इस अस्त्र की प्राप्ति अश्वत्थामा को हुई । अश्वत्थामा ने इस दिव्यास्त्र का प्रयोग उस समय किया जब द्रोणाचार्य इस संसार से उर्ध्वलोकों को जा चुके थे । उनकी मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिये द्रौणि ने इसका प्रयोग किया था ।[3]

अश्वत्थामा के द्वारा नारायणास्त्र के प्रकट होते ही बिना बादलों के ही आकाश में गर्जना होने लगी थी, जल की बूँदों के साथ प्रचण्ड वायु चलने लगी थी, पृथ्वी काँप उठी थी, समुद्र में ज्वार आ गया था, नदियों के प्रवाह प्रतिकूल दिशा में बहने लगे थे । पर्वतों के शिखर टूट-टूट कर गिरने लगे थे । सम्पूर्ण दिशाओं में

---

1. सौ. प. 14/5–10 पू., 13/5–20 गी.
2. सौ. प. 15/7–15, 23, 31–32 पू., 15/7–15,23, 31–32 गी.
3. द्रोण प. 166/41–60 पू., 195/29–50 गी.

अन्धकार छा गया था, सूर्य मलिन हो गया था देव दानव गन्धर्व और सब भूपाल मस्त हो उठे थे।[1]

इस अस्त्र का प्रयोग केवल एक बार ही किया जाता है, न तो यह अस्त्र छोड़ने के बाद फिर लौटता है और न पुनः प्रयुक्त हो होता है। यदि इसका पुनः प्रयोग किया जाता है तो यह दिव्यास्त्र को निसंदेह प्रयोक्ता को ही समाप्त कर देता है।[2]

13. गान्धर्वास्त्र :—इस दिव्यास्त्र को धनंजय ने तप करके तुम्बरू आदि प्रमुख गन्धर्वों से प्राप्त किया था और अर्जुन से इसकी प्राप्ति अभिमन्यु को हुई थी। इसके अस्त्र प्रयोग से प्रयोक्ता बलाद् चक्र के समान परिभ्रमण करता हुआ दिखाई देता है। उसके एक, सैकड़ों और हजारों रूप दिखाई देते हैं, क्योंकि यह अस्त्र गन्धर्वों का है। अतः इसे गान्धर्वास्त्र कहते हैं। इसे भी महास्त्रों में गिना जाता है।[3]

14. संमोहनास्त्र :—इस दिव्यास्त्र के प्रयोग से शत्रु मूर्छित अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। इस अस्त्र को केवल कौन्तेय अर्जुन ही जानता था। उसके द्वारा इस दिव्यास्त्र का प्रयोग राजा विराट की गायों के संरक्षण काल में कौरवों पर किया गया था और उस समय केवल भीष्म को छोड़कर सारे ही योद्धा मूर्छित हो गये थे। इस अस्त्र का निवारण भीष्म को छोड़कर अन्य किसी के लिये भी सम्भव नहीं था।[4]

15. प्रस्वापनास्त्र :—इस अस्त्र का देवता प्रजापति है। यह दिव्यास्त्र विश्वकर्मा के द्वारा निर्मित है। भीष्म को छोड़कर इस धरा पर अन्य कोई व्यक्ति इसे नहीं जानता था। वसुगणों ने इस दिव्यास्त्र को महात्मा भीष्म को उस समय दिया जब उनका परशुरामजी के साथ युद्ध हो रहा था। इसके प्रयोग से शत्रु मृत्यु को प्राप्त नहीं होता अपितु मूर्छित होकर रणस्थल में सो जाता है।[5]

---

1. द्रोण प. 170/1–6 पू., 196/1–6 गी.
2. द्रोण प. 171/27 पू., 300/27 गी.
3. द्रोण प. 44/21–23 पू., 45/21–23 गी.
4. विराट प. 61/8–20 पू., 66–8–20 गी.
5. उ. प. 184/12–15 पू., 183/12–15 गी.

16. त्वाष्ट्रास्त्र :—इस अस्त्र का देवता त्वष्टा है, अतः यह त्वाष्ट्रास्त्र कहलाता है। इसके प्रयोग से माया का नाश हो जाता है और धारों और हजारों बाण प्रकट हो जाते हैं। महाभारत के सम में पवनपुत्र भीमसेन ने इस अस्त्र का प्रयोग राक्षस अनस्पुप की माया का विनाश करने के लिये किया था। अतः इस दिव्यास्त्र ने उस राक्षस की माया का नाश कर उसे पराजित कर दिया था।[1]

यदि हम प्राचीनतम युद्धों को देखें तो सारे युद्ध प्रायः दिव्यास्त्रों से ही किये जाते थे, किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि अदिव्यास्त्रों का प्रयोग होता ही नहीं था, अपितु उनका भी उतनी ही बहुलता से उपयोग किया जाता था जितना कि दिव्यास्त्रों का विशेषकर देवासुर संग्राम और रामरावण युद्ध में इनका बाहुल्य था, किन्तु महाभारत काल में इनका प्रयोग दिव्यास्त्रों के ही समान व्यवहार में आता था।

शस्त्र :—अदिव्यास्त्र और दिव्यास्त्रों के वर्णन के पश्चात् अब हम प्रमुख शस्त्रों का परिचय प्रस्तुत करते हैं। शस्त्रों का भी आदिकाल से वीर के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। महाराणा प्रताप जैसे वीर तो तलवार जैसे शस्त्र से सदैव ही संयुक्त रहते थे और खड्ग के ही समान अन्य शस्त्र को शारीरिक शक्ति विशेष से चलाये जाते थे बलवान् पुरुषों के सम्मिश्रण हुआ करते थे। इनमें से कई शस्त्रों पर तो वीरों की सिद्धहस्तता होती थी।

गदा :—शस्त्रों में गदा का प्रमुख स्थान है। शारीरिक बल में अत्यन्त शक्तिशाली वीरों का गदा अत्यन्त प्रिय शस्त्र रहा है। उदाहरणार्थ विष्णु की कौमोद की गदा, पवनपुत्र हनुमान की गदा, वृषपर्वा की गदा और वायुपुत्र भयंकर भीम की गदा। यह गदा लोहे की बनी होती है। इसका मुखाग्र गोलाकार और उसमें भी अग्रिम भाग नुकीला होता है। पिछला भाग दण्डाकार होता है। महर्षि उशना ने गदा कालक्षण इस प्रकार बताया है "आठ पहलवानी, मूल में मोटी और हृदय के बराबर ऊँची दृढ़ दण्डीवाली गदा होनी चाहिये।[2] उदाहरण के लिये हम भीम की गदा का वर्णन प्रस्तुत करते हैं, जो वृषपर्वा से प्राप्त हुई थी। भीम की गदा, गुर्वी, भारसहा, दृढ़, सुवर्ण बिन्दुओं से चित्रित, एकाकी ही हजारों गदाओं के समान बलशालिनी और शत्रुघातिनी थी।[3] भीम गदा युद्ध में सिद्धहस्त वीर था।

---

1. द्रोण प. 83/34–39 पू., 108/39–4 गी.
2. शु नी. 4/7प्र,/212 (अष्टास्त्रा पृथुबुध्ना जु गदाहृदय-सम्मिता)
3. सभा प. 3/4–6 पू., 3/5–7 गी.

2. खड्ग :—भारतीय शस्त्रों में प्राचीनतम सर्वप्रिय और सार्वकालिक शस्त्र यदि है तो वह खड्ग है, यदि हम ऐसा कह दें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। इसके असि, करवाल, खड्ग, तलवार, चन्द्रहास, रिष्टि, मण्डलाग्र, कृपाणादि अनेक नाम* हैं। जिस प्रकार धनुष भारतीय प्रत्येक वीर का प्राथमिक अस्त्र था उसी प्रकार प्राचीन काल में खड्ग भी वीर का प्राथमिक शस्त्र रहा है। प्राचीन काल से ही खड्ग लोहे की बनती हुई आई है कई राजा महाराजाओं ने स्वर्ण की बनाई थी। प्रमुख रूप से तलवार के दो भेद रहे हैं। एक धारवाली और दो धार वाली। आगे चलकर तलवार विभिन्न प्रकार की समय-समय पर बनने लगी। तलवार के तीन अंग होते हैं एक कोष, जिसमें तलवार आवृत रहती है। दो-मूठ, जहाँ से तलवार को पकड़ कर प्रहार किया जाता है। तीसरा-तलवार का फलक जिससे आघात किया जाता है। महर्षि शुक्र ने करवाल का लक्षण इस प्रकार बताया है "कुछ टेढ़ा, एक ओर धारवाला चार अंगुल चौड़ा, तीक्ष्णप्रान्त भागवाला, नाभि तक ऊँचा, दृढ मूठ वाला एवं चन्द्रमा के समान स्वस्थ चमकने वाला ऐसा खड्ग होना है।"[1] आइये हम पाण्डववीरों की विशिष्ट खड्गों से परिचित हो लें।[2]

धर्मराज का खड्ग :—महाराज धर्मराज की करवाल तीस अंगुल लम्बी, विचित्र कोषवाली और सुफलात्मिका थी। इसकी मूठ सोने की बनी हुई थी।

भीमसेन का खड्ग .—भीमसेन की खड्ग का कोष व्याघ्र-चर्म का बना था। उसकी तलवार गुरुत्तर भार सहन करने वाली थी; जो दिव्य थी एवं शत्रुओं के लिये भयंकर थी।

अर्जुन की करवाल :—अर्जुन की असि दीर्घाकार थी। उसके पृष्ठभाग में मेढकी का चित्र बना हुआ था और उसका मुख भाग भी मेढकी के मुख के समान ही बना हुआ था। अर्जुन का यह विशाल खड्ग युद्ध-भूमि में भारी आघात को सहने में समर्थ और दृढ़ था।

---

* अमरकोष 2/8/89
1. शु. नी. 4/7प्र./213–214
2. विराट प. 38/54–58 पू., 43/19–23 गी.

नकुल की असि :—नकुल की असि का कोष अजचर्म से बना हुआ था। यह करवाल नाना प्रकार के युद्धों मे शस्त्रों का भारी आघात सहन करने मे समर्थ और दृढ़ थी।

सहदेव की चन्द्रहास :—सहदेव के विशाल चन्द्रहास का कोष गोचर्म से बना हुआ था वह भी सब प्रकार के आघात प्रत्याघात करने मे समर्थ और सुदृढ़ था।
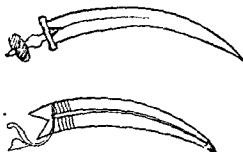
3. तोमर :—यह शस्त्र भी लोहे का बना होता है। इसका अग्र भाग भारयुक्त और दीर्घाकार फल वाला होता है। इसका पिछला भाग काष्ठदण्ड का बना होता है। भाषा मे इसे गण्डासा कहते है। महाभारत में इस अस्त्र का स्थान-स्थान पर वर्णन मिलता है।[1]

4. प्रास :—दीर्घाकार काष्ठ दण्ड के अग्रभाग में लघु एवं तीक्ष्ण लोहे का फलक वाला यह शस्त्र प्रास या कुन्त कहलाता है। हिन्दी भाषा में इसे भाला भी कहते है।[2] इसका भी महाभारत में स्थान-स्थान पर वर्णन मिलता है। शुक्राचार्य ने इसका लक्षण इस प्रकार किया है "4 हाथ लम्बे दण्ड के अग्रभाग छुरे के समान

1. द्रोण प. 131/19 पू., 138/19 गी.
2. द्रोण प. 131/19 पू.; 138/19 गी.
3. द्रोण प. 131/20 पू., 138/20 गी.

तीक्ष्ण मुख वाला 'प्रास' नाम का शस्त्र होता है। और जो दस हाथ लम्बे दण्ड के अग्रभाग मे तीक्ष्ण फल से युक्त होता है, उस फल से मूल म कील लगी होती है, एसा कुन्त (भाला) होता है।[1]
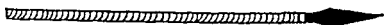
5. परशु :—यह शस्त्र भी प्रास के समान ही होता है। इसमें और प्रास में केवल अन्तर यह है कि इसका अग्र भाग चौडे फलक वाला होता है और उसके दोनों किनारे नुकीले और तीक्ष्ण होते है। इसके पीछे के भाग मे प्रास के ही समान दीर्घाकार काष्ठ दण्ड संयुक्त होता है। इसे भाषा में फरसा भी कहते है। इसका महाभारत मे स्थान-स्थान पर वर्णन मिलता है।[2]

6. परिघ :—लोहे के पत्र से आवृत यष्टिका को 'परिघ' कहते है यह दो प्रकार की होती है, एक लोहे के पत्र वाली और एक लोहे के तारों से सुगठित।[3] इसका भी महाभारत में यथास्थान वर्णन मिलता है।

7। मुसल :—लोक प्रवाहानुसार तो मूसल काष्ट का ही बना होता है, जो किधानादि की कुटाई के उपयोग में आता है, किन्तु हो सकता है कि रणक्षेत्र

1. शु. नी. 4 7प्र./214–214
2. द्रोण प. 131/20 पू., 138/20 गी.

का शस्त्र मुसल लोहे का बना हुआ हो। यह बलरामजी का प्रिय शस्त्र था। इसका भी महाभारत में यथा स्थान वर्णन मिलता है।[1]

8. पट्टिश :—इस अस्त्र का भी महाभारत में स्थान-स्थान पर वर्णन मिलता है।[2] मुग्धानल* के मत में यह अस्त्र तीखे किनारे वाला काष्टदण्ड से युक्त तीन तीखे काँटों वाला होता है। मोनियर** विलियम के मत में भी तीन काँटो से युक्त तीखे किनारों वाले अस्त्र को पट्टिश कहते हैं।

महर्षि शुक्र इसका लक्षण बताते हुये कहते है अपने बराबर लम्बा तथा दोनों ओर जिसके मुख हों एवं जो बीच में से हाथ से पकड़ा जाये उसे पट्टिश शस्त्र कहते हैं।%
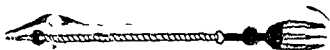
9. पाश :—पाश का भी महाभारत में यथा स्थान वर्णन मिलता है। महर्षि शुक्र इसका लक्षण बताते हुए कहते है। "जिसमें तीन हाथ लम्बा दण्ड लगा हो और उसमें तीन शिखायें (छोर) हों, जो लोह के तारों से बना हो उसे 'पाश' नाम का शस्त्र कहते हैं।[3]

---

1. द्रोण प. 131/20 पू., 138/20 गी.

% "पट्टिशः स्वसमो हस्तबुध्नश्योभयतोमुख." (शु नी. 4/7प्र/213)

2. भी. प. 86/52 पू., 90/57 गी.

* Sharp-edged spear weapon with threepoints.
(Samshrat English Dictonarly Mcdonal)

** Aspear with sharp-edged or some other weapon with three points. (Sahshrit-English Diction ary-Morior Villeam)

3. त्रिहस्त दण्डस्त्रिशिखो लोहरज्जुः सुपाशकः (शु. नी. 4/7प्र./216)

का रणक्षेत्र में विशेष उपयोग न होकर केवल परेडादि के समय या सम्मानादि के समय ही इसका उपयोग होता है, किन्तु बैनट का उपयोग तो रणक्षेत्र में भी किया जाता है। भुशुण्डी के आज कई भेद है जैसे एल. एम. जी. स्टेनगन, पिस्टल, और एम. एम. जी. आदि। इसी प्रकार शतघ्नी के भी अनेक भेद हो गये हैं।

(य) वाहन :—महाभारत काल मे युद्ध क्षेत्र हेतु प्रधान रूप से तीन वाहन काम में आते थे और वे हैं—रथ, हाथी, और घोडे। हम अब इनका क्रमशः वर्णन प्रस्तुत करते हैं—

रथ :—रथ महारथी की प्राथमिक आवश्यकता है। कोई भी महारथी रथ के बिना महा समर में युद्ध करने नहीं जावेगा। रथ वह वाहन है जिसमें चार चक्र होते है, कम से कम चार अश्व जोते जाते हैं और ऊपर मण्डपाकार का या छत्राकार का आवरण होता है। योद्धा के इस रथ में धनुष, तूणीर, बाण गदा, असि, और प्रासादि युद्ध सामग्री रखी जाती है। इसके ऊपरी भाग पर विशेष योद्धा के लक्षण को प्रकट करने वाली एक ध्वज भी लगी रहती है। इसके आगे के भाग में सारथि बैठता है और पीछे के सुरक्षित भाग में योद्धा बैठता है। युग, ईषादण्ड, वरुथ, ध्वजा, सारथि, त्रिवेणुछत्र तल्पादि इस के अंग होते है।

दैत्यगुरु शुक्राचार्य ने राजा के युद्ध रथ का लक्षण करते हुये कहा "राजा का युद्ध-रथ कान्तिसार लोह का बना हुआ, अत्यन्त सुगमता से फिरने वाले चक्रों से युक्त शय्या के समान सुखपूर्वक बैठने के लिये स्थान वाला, एवं हिण्डोले के समान सुखदायक कमानियों वाला हो, जिसके आगे की ओर सारथि के बैठने का स्थान हो, जिसके अन्दर अस्त्र-शस्त्र भरे पड़े हों, मनोनुकूल छायावाला हो और जिसमें अच्छे-अच्छे घोड़े जुते हों।[1]

विष्णुगुप्त-चाणक्य भी रथ का लक्षण बताते हुये अनेक प्रकार के रथ इस प्रकार बताता है। "द्वादशांगुलात्मक जो पुरुष परिमाण बताया गया है उसी पुरुष परिमाण से दशगुना ऊँचा एवं बारह पुरुष चौड़ा रथ उत्तम श्रेणी का रथ माना जाता है। विस्तार में क्रमशः एक-एक पुरुष कम करके छै पुरुष पर्यन्त विस्तृत छै प्रकार के रथ और पहले वाला दसपुरुष उच्च तथा बारह पुरुष चौड़ा एक प्रकार, इस प्रकार कुल मिलाकर सात प्रकार के रथ बनाये जा सकते है। विभिन्न कार्यों को लेकर विभिन्न प्रकार के रथ होते है। जैसे—(1) देवरथ–यात्रा एवं उत्सव आदि

1. शु. नी. 4/7प्र./30–31

10. करज (बघनखा) :—महाभारत में इस शस्त्र का भी यथा स्थान वर्णन मिलता है।[1] महर्षि शुक्र ने इसका लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है "पक्के उत्तम लोहे के बने हुये, दृढ एवं नख के समान तीक्ष्ण नुकीले शस्त्र को 'करज' (बघनखा) कहते है।*

आधुनिक काल मे हमारी भारतीय सेना में धनुष बाणादि एवं गदा तलवारादि अस्त्र शस्त्र बिल्कुल काम नही आते। इसका मुख्य कारण यह हैं कि अब विज्ञान ने अत्यधिक उन्नति करली है और विज्ञान के द्वारा अनेक नूतन अस्त्र शस्त्रादिको का निर्माण हो चुका है जो इन अस्त्रशस्त्रो की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक और तीव्र तथा तीक्ष्ण प्रहार कारी होते हैं। फिर भी प्राचीन अस्त्र शस्त्रादि को के अवशेष चिन्ह स्वरूप कुछ अस्त्र-शस्त्र अब भी मिलते है। जैसे भुशुण्डी के स्थान पर बन्दूक और शतघनी के स्थान पर तोप आज भी मिलती हैं। इसी प्रकार गोलियाँ, बैनट, और तलवारादि आज भी सेना में विद्यमान है। यद्यपि तलवार

---

* तीक्ष्णाग्रं करजं श्रेष्ठ लौहसारमयं दृढम्। (शु नी. 4/7प्र./217)

1. द्रोण प. 29/16 पू., 30/16 गी.

का रणक्षेत्र में विशेष उपयोग न होकर केवल परेडादि के समय या सम्मानादि के समय ही इसका उपयोग होता है, किन्तु बैनट का उपयोग तो रणक्षेत्र में भी किया जाता है। भुशुण्डी के आज कई भेद है जैसे एल. एम. जी. स्टेनगन, पिस्टल, और एम. एम. जी. आदि। इसी प्रकार शतघ्नी के भी अनेक भेद हो गये हैं।

(घ) वाहन :—महाभारत काल में युद्ध क्षेत्र हेतु प्रधान रूप से तीन वाहन काम में आते थे और वे हैं—रथ, हाथी, और घोड़े। हम अब इनका क्रमशः वर्णन प्रस्तुत करते हैं—

रथ :—रथ महारथी की प्राथमिक आवश्यकता है। कोई भी महारथी रथ के बिना महा समर में युद्ध करने नहीं जावेगा। रथ वह वाहन है जिसमें चार चक्र होते है, कम से कम चार अश्व जोते जाते हैं और ऊपर मण्डपाकार का या छत्राकार का आवरण होता है। योद्धा के इस रथ में धनुष, तूणीर, बाण गदा, असि, और प्रासादि युद्ध सामग्री रखी जाती है। इसके ऊपरी भाग पर विशेष योद्धा के लक्षण को प्रकट करने वाली एक ध्वज भी लगी रहती है। इसके आगे के भाग में सारथि बैठता है और पीछे के सुरक्षित भाग में योद्धा बैठता है। युग, ईषादण्ड, वरुथ, ध्वजा, सारथि, त्रिवेणुछत्र तल्पादि इस के अंग होते है।

दैत्यगुरु शुक्राचार्य ने राजा के युद्ध रथ का लक्षण करते हुये कहा "राजा का युद्ध-रथ कान्तिसार लोह का बना हुआ, अत्यन्त सुगमता से फिरने वाले चक्रों से युक्त शय्या के समान सुखपूर्वक बैठने के लिये स्थान वाला, एवं हिण्डोले के समान सुखदायक कमानियों वाला हो, जिसके आगे की ओर सारथि के बैठने का स्थान हो, जिसके अन्दर अस्त्र-शस्त्र भरे पड़े हों, मनोनुकूल छायावाला हो और जिसमें अच्छे-अच्छे घोड़े जुते हों।[1]

विष्णुगुप्त-चाणक्य भी रथ का लक्षण बताते हुये अनेक प्रकार के रथ इस प्रकार बताता है। "द्वादशांगुलात्मक जो पुरुष परिमाण बताया गया है उसी पुरुष परिमाण से दशगुना ऊँचा एवं बारह पुरुष चौड़ा रथ उत्तम श्रेणी का रथ माना जाता है। विस्तार में क्रमशः एक-एक पुरुष कम करके छै पुरुष पर्यन्त विस्तृत छै प्रकार के रथ और पहले वाला दसपुरुष उच्च तथा बारह पुरुष चौड़ा एक प्रकार, इस प्रकार कुल मिलाकर सात प्रकार के रथ बनाये जा सकते हैं। विभिन्न कार्यों को लेकर विभिन्न प्रकार के रथ होते है। जैसे—(1) देवरथ—यात्रा एवं उत्सव आदि

---

1. शु.नी. 4/7प्र./30–31

के अवसर पर देव-प्रतिमा स्थापित करके संचरण करने--के लिये उपयोगी रथ। (2) पुष्परथ—विवाहादि मांगलिक कार्यों में व्यवहारोपयोगी रथ। (3) सांग्रामिकरथ—युद्धोपयोगी रथ। (4) पारियाणिकरथ—भ्रमणोपयोगी रथ।

(5) परपुराभियानिकरथ—शत्रु के दुर्गादिध्वंस करने के लिये उपयोगी रथ और

(6) वैनयिकरथ– घोड़ों को सिखाने के लिये उपयुक्त रथ।"[1]

प्रायः योद्धा विशेष को लेकर भी रथविशेष बनाया जाता है। अतः अब हम प्रमुख वीरो के विशिष्ट रथों का वर्णन करते है।

1. धनंजय का दिव्यरथ :—खाण्डव-वन-दहनकाल में अर्जुन ने अपने अनुकूल सूर्य के समान अप्रतिमतेज से सम्पन्न तेज गति वाला, मेघ के समान ध्वनि करने वाला रथ अग्नि से चाहा था और प्रस्तुत विषय में अग्नि ने वरुणदेव को बुलाकर रथ देने हेतु कहा था। तब वरुणदेव ने जो दिव्य रथ अर्जुन को दिया उसका वर्णन इस प्रकार है "वह रथ श्वेत अश्वो से युक्त था जिनका रथ रजत के समान देदीप्यमान था तथा जो स्वर्णमालाओं से विभूषित थे। वह रथ सम्पूर्ण आवश्यक वस्तुओं से युक्त था तथा देव और दानव दोनो के लिये ही अजेय था। उसके चलने पर सब ओर बड़े जोर से ध्वनि गूंजती थी। वह सब रत्नों से जटित होने के कारण मनोरम जान पड़ता था। इसे विश्वकर्मा ने बड़ी तपस्या के द्वारा बनाया था। उस दिव्य रथ का 'इदमित्थ' रूप से वर्णन नही हो सकता था। पूर्व काल मे शक्तिशाली सोम ने इसी रथ पर आरूढ होकर दानवों पर विजय पायी थी। उस रथ का ध्वज-दण्ड बडा सुन्दर और स्वर्णमय था उस पर सिंह और व्याघ्र के समान भयंकर आकृति वाला दिव्य वानर बैठा था। वह रथ अन्य और भाँति-भाँति की पताकाओं से भी सुशोभित हो रहा था। वह रथ नवीनमेघ के समान दिव्य शोभा और उज्ज्वल कान्ति से भी भासमान हो रहा था।"[2]

---

1. दशपुरुषो द्वादशान्तरोरथः। तस्मादेकान्तरावराआषडन्तरादिति सप्तरथाः। देवरथपुष्परथसांग्रामिकपारियाणिकपरपराभियानिकवैनयिकांश्चरथान् कारयेत्। (कौ. अ. शा. 2अधि. 33/49 प्रकरण पृ. सं 228)

2. आदि प. 216/3-10 पृ, 224/10-17 गी.

2. भीष्म का रजतरथ :—बालब्रह्मचारी महात्मा भीष्म का रथ विशाल, सुन्दर, रजतमय, श्वेत अश्वों से युक्त और तालचिन्हित स्वर्णमयी ध्वजा से सुशोभित था।[1]

3. कर्ण का तेजस्वी रथ :—धनंजय के प्रतिद्वन्द्वी वैकर्तन कर्ण का रथ श्वेतपताका से युक्त था, जिसमे नागराज का चिन्ह अंकित था। बगुलों के समान श्वेतवर्ण के घोड़े उस रथ में जुते हुये थे। उसमें स्वर्ण पृष्ठवाला धनुष रक्खा हुआ था। वह रथ गदा, तूणीर और शरों से परिपूर्ण था। रथ की रक्षा के लिये ऊपर से आवरण लगाया गया था। उसमें शतघ्नी, किंकणी, शक्ति, शूल और तोमर संचित करके रखने गये थे तथा वह रथ अनेक धनुषों से सम्पन्न था।[2]

4. द्रोण का स्यन्दन :—आचार्य द्रोण का रथ शास्त्रोक्त विधि से निर्मित था और आकाश-चारी गन्धर्व नगर के समान जान पड़ता था। उसकी पताका वायुवेग से फहरा रही थी वह श्वेत वर्ण की थी और उस पर स्वर्णमयी वेदी पर धनुष के साथ कमण्डलु के चिन्ह सुशोभित थे। उस ध्वजा का दण्ड स्फटिक मणि के समान स्वच्छ था। वह रथ रथी के मन को आह्लादित करने वाला था। उसके घोडे भूरे रंग के थे और तेज गति से चलने वाले थे।[3]

5. घटोत्कच का विचित्र रथ :—भैमि घटोत्कच का रथ काले लोहे का बना हुआ और अत्यन्त भयंकर था। उसके ऊपर रीछ की खाल मढी हुई थी। उसके भीतरी भाग की लम्बाई 30 नल्व (बारह हजार हाथ) थी। उसमें यन्त्र और कवच रक्खे हुये थे चलते समय उससे मेघों की भारी घटा के समान गम्भीर शब्द होता था। उसमें हाथी जैसे विशाल-काय वाहन जुते हुये थे जो वास्तव में न हाथी थे और न घोडे ही। उस रथ की ध्वजा का दण्ड बहुत ऊँचा था। वह ध्वज पक्ष और पंजे फैलाकर आँखें फाड़कर देखने और कूजने वाले एक गृध्रराज से सुशोभित था। उसकी पताका रक्त से बनी हुई थी और उस रथ को आँतो की माला से विभूषित किया गया था।[4]

---

1. भीष्म प. × ×पू., 16/22–23 गी.
2. कर्ण प. × ×पू., 11/7–9 गी.
3. द्रोण प. 7/54 गी.
4. द्रोण प. 131/25–28 पू., 156/57–60 गी.

6. **अभिमन्यु का रथ** :—अभिमन्यु के रथ मे पिंगल वर्ण के घोडे जुते हुये थे। उसका वह रथ कर्णिकार चिन्ह से युक्त स्वर्णनिर्मित विचित्र ध्वज से सुशोभित था।[1]

गज

सेना के चार अंगों मे गज को भी प्रधान रूप से महत्त्व दिया जाता है। गज-सेना बलवती मानी जाती है क्योंकि हाथी वड़ा बलवान् प्राणी है। 'गच्छति इति गजः', 'द्विधाम्या पिबति इति द्विपः' इस प्रकार इसके इन दो नामों की वह व्युत्पत्ति है कि चलने के कारण इसे 'गज' और दो बार जल पीने के कारण इसे द्विप कहते है। जिस राजा की गजसेना दृढ होती है, वह राजा भी दृढ़ बन जाता है। युद्ध की दृष्टि से जितना महत्त्व अश्व का है उतना ही महत्त्व हाथी का भी है। जैसे घोडा सवारी के लिये काम में आता है वैसे ही हाथी भी सवारी के काम आता हुआ दूसरे अनेक युद्ध के कार्य में काम आता है जैसे द्वार तोड़ना, सिपाहियों को कुचलना, भारवाहन करना आदि।

शुक्राचार्य ने 1. भद्र, 2. मन्द्र, 3. मृग और 4. मिश्र ये चार प्रकार के हाथी बताये हैं। जिनमें सुन्दर मुख और श्रेष्ठ अंगो वाला 'भद्र' मध्यमाकार एवं दीर्घ-शरीर-वाला 'मन्द्र', छोटे-शरीर-वाला 'मृग' एवं जिसमे तीनो के कुछ-कुछ लक्षण मिलते हों वह मिश्र गज कहलाता है सर्वश्रेष्ठ गज वह होता है जिसके भौंह, गण्डस्थल वृहदाकार के हो एवं चाल सदा शीघ्रतायुक्त हो।[2]

कौरव सेना मे दो ही प्रसिद्धतम हाथी एवं गजारोही थे। गजवासन-देश के राजा शैव्य और प्रागज्योतिषपुर नरेश भगदत्त।[3]

अश्व

'नास्तिश्वो येषां ते अश्वा' जिनके प्राणों का अगले दिन तक का कोई पता नही उन्हें अश्व कहते हैं। अश्व युद्ध का अनिवार्य साधन है। कोई अश्व के बिना रण क्षेत्र में जाना नहीं चाहेगा। अश्वारोही अश्व के बिना मार्ग को पार नही कर सकता। अश्व का मनुष्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अश्व मनुष्य के लिये एक स्वामिभक्त प्राणी है।

---

1. भीष्म प. 45/7–8 पू., 47/7–8 गी.
2. शु. नी. 4/7प्र /34–42 गी.
3. भीष्म प. 17/20, 36 गी.

महर्षि शुक्र ने उत्तम घोड़े के लक्षण प्रकट करते हुये कहा है "जिसका मुख चालीस अंगुल का होता है वह घोड़ा 'उत्तमोत्तम कहलाता है। जिस घोडे के मुख पर बाल न हों, मुख सुन्दर भी हो, नासिका ऊँची हो, गर्दन एवं मुख लम्बे और कुछ उठे हुये हों, पेट, खुर, कान छोटे हों, अत्यन्त शीघ्र एवं प्रचण्ड वेग हो, हंस तथा मेघ के समान शब्द हो, स्वभाव न अत्यन्त क्रूर ही हो और न अत्यन्त मृदु ही हो, देवताओं के घोड़ों के समान उत्तम पराक्रमवान् हो। ऐसा घोड़ा मनमोहक एवं उत्तम होता है।[1]

देश विशेष को लेकर विशेष अश्व होते हैं। घोड़े कई वर्ण के होते हैं। अब हम सामान्य-ज्ञान हेतु केवल पाण्डव सेना के कुछ योद्धाओं के अश्वों का वर्णन प्रस्तुत करते हैं।

योद्धा का नाम	अश्ववर्ण	अश्ववैशिष्ट्य
1. भीम	ऋक्षवर्ण	—
2. सात्यकि	रजतवर्ण	—
3. युधामन्यु	सारंगवर्ण	श्वेत नीले और अरुण वर्ण के सारंगरंग के।
4. धृष्टद्युम्न	पारावतवर्ण	श्वेतनीलाभ
5. क्षत्रधर्मा (धृष्टद्युम्नसुत)	शोणवर्ण	—
6. शिखण्डी पुत्र क्षत्रदेव	कमलपत्र	निर्मल नेत्र
7. नकुल	तोते के पंख वाले वर्ण के	दर्शनीय काम्बोजा*
8. उत्तमौजा	कृष्णवर्ण	मेघसदृश
9. सहदेव	चितकबरे	वायुवेगशाली
10. युधिष्ठिर	हाथी दाँत के वर्ण वाले	काली पूँछ वायुवेग
11. द्रुपद	रक्तवर्ण	ललाम**और हरि***

1. शु. नी. 4/7प्र./43, 75–76;

* काबुल के घोडे—महाललाटजघनस्कन्धवक्षोजवाहया।
(नील कण्ठी के आधार पर)—दीर्घग्रीवायता ह्रस्वमुष्काः काम्बोजकाः स्मृताः॥

** श्वेतं ललाटमध्यस्थं तारारूपं हयस्ययत्।
ललामंचापि तत्प्राहुर्ललामो श्वस्तन्वितः॥ –(नीलकण्ठी)

*** सकेशराणि रोमाणि सुवर्णाभानियस्य तु।
हरि सः वर्णतो श्वस्तु पीतकौशेयसन्निभः॥

योद्धा का नाम	अश्ववर्ण	अश्ववैशिष्ट्य
12. विराट	पाटल पुष्प के समान लाल और श्वेत	दिव्य अश्व, सुवर्ण प्रदत्त
13. शिखण्डी	मिट्टी के कच्चे बर्तन के समान¹	—
14. उत्तमकुमार	हरिद्रावर्ण	स्वर्णमालाविभूषित
15. केकय कुमार (पांच)	वीरबहूटीवर्ण	—
16. धृष्टकेतु	चितकबरे	काबुल के अश्व
17. बृहत्क्षत्र (केकय)	पुआल के धुंये सदृश नीलवर्ण	उत्तम सैन्धव%
18. काशीराज कुमार	क्रौंचवर्ण%%	—
19. क्षत्रदेव (शैखण्डि)	पद्मवर्ण*	बाह्लिकदेशज**
20. प्रतिविन्ध्य	श्वेतवर्ण, कृष्णग्रीव	मनोजव
21. सुतसोम (भीमसेनि)	उड़द पुष्प वर्ण	—
22. शतानीक (नकुली)	शालपुष्प (रक्तपीत वर्ण)	बाल सूर्यकी कान्तिवाले
23. श्रुतकर्मा (सहदेव पुत्र)	मयूरग्रीवावर्ण	—
24. श्रुतकीर्ति (द्रौपदी से अर्जुन पुत्र)	नीलकण्ठ पंख वर्ण	—
25. श्रेणिमान्	रेशम के समान रोम वाले, सुनहरी पीठ वाले	स्वर्ण मालाओं से युक्त सहन शक्ति से सम्पन्न
26. काशिराज	स्वर्ण के समान पीठ वाले	स्वर्णमालाओं से युक्त
27. सत्यधृति	अरुण वर्ण	—
28. चेकितान	पिंगल गौर वर्ण	उत्तम स्वर्णमालाओं से युक्त
29. पुरुजित कुन्ति भोज	इन्द्रधनुष के रंगवाले	—
30. रोचमान	अन्तरिक्ष वर्ण चितकबरे	—

% दीर्घग्रीवा मुखालम्बनमेहनाः पृथुलोचनाः ।
महान्तस्तनुरोमाणो बलिनः सैन्धवाः हयाः ॥

%% सितलोम केसराढ्याः कृष्णत्वग्गुह्यलोचनोष्ठखुराः ।
येस्युमुनिभिर्वाहा निर्दिष्टाः क्रौंचवर्णास्ते ॥

* सितरक्तसमायोगात् पद्मवर्णः प्रकीर्त्यते ।

** काम्बोजसमसंस्थानो बाह्लिजाताश्च वाजिनः ।
विशेषपुनरेतेषां दीर्घपृष्ठांगतोच्यते ॥ (नीलकण्ठी)

31. जरासंधि सहदेव	चितकबरे	स्वर्णजाल विभूषित
32. सुदामा	कमलनाल के समान श्वेत	श्येन वेग
33. जनमेजय	सरसों के पुष्प के समान वर्ण वाले	—
34. सिंहसेन	खरगोश के समान लोहित वर्ण	श्वेतपीत रोमावलियां
35. व्याघ्रदत्त	रासभवर्णाभ	—
36. सुधन्वा	काले मस्तक चित्र-विचित्र वर्ण	मालालङ्कृत
37. चित्रायुध	इन्द्रगोप सदृश	—
38. सुचन	शुक्ल वर्ण	—
39. शैब्य	कमल वर्ण	—
40. नील	नील वर्ण	—
41. दण्डकेतु	सरकण्डे के समान श्वेत गौर	—
42. चन्द्रसेन	खरगोश वर्ण	—
43. पाण्डय	चन्द्रकिरण के समान रंगवाले[1]	—

ऊपर हमने पाण्डव पक्ष के लगभग सभी वीरों के अश्वों की विशेषतायें बताईं। इनमें भी अश्वों की श्रेष्ठता की दृष्टि से सिन्धु और काम्बोज (काबुल) के अश्व सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं।

सारथि

सांग्रामिक दृष्टिकोण से सारथि का बहुत महत्व है। सुयोग्य सारथि के सहयोग से भयंकर युद्ध मे भी विजय पायी जा सकती है। उदाहरणार्थ धनंजय ने भगवान् श्रीकृष्ण जैसे योग्य सारथि के ही सहयोग से महाभारत जैसे महासमर में विजय प्राप्त की। इसके विपरीत सारथि शल्य के सहयोगाभाव में कर्ण ने रण में मृत्यु का वरण किया। सारथि के बिना योद्धा पंगु होता है यदि ऐसा कहदें तो कोई अत्युक्ति नहीं है। यथा उत्तमकुमार सारथि के अभाव में उस समय रण मे नही जा रहा था जबकि राजा विराट की गायें कौरव चुरा ले गये थे, किन्तु बृहन्नला द्वारा यह कार्य स्वीकार कर लेने पर वह युद्ध स्थल में जा सका।[2]

---

1. द्रोण प. 22/1-60 पू., 23/1-78 गी.
2. विराट प. 35/3-6 पू., 37/8-12 गी.

बल की, कुल और उसके महत्वादि को प्रकट करता है। ध्वजा की परम्परा अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आ रही है, जो अब भी बाहुल्य से प्रचलित है। ध्वजा का केवल व्यक्तिगत रूप से ही महत्व नहीं है अपितु सामूहिक रूप में भी महान् महत्व है। ध्वजा राष्ट्र का, गण का, समाज और सेना का प्रतिनिधित्व करती है। ध्वजा का मानापमान राष्ट्र-विशेष का, गण विशेष का, समाज विशेष का, जाति विशेष का और सेना विशेष का मानापमान गिना जाता है।

महाभारत में भी ध्वजा का वर्णन बाहुल्य से प्राप्त होता है। अतः अब हम प्रधान योद्धाओं के ध्वजा-विशेषों का वर्णन प्रस्तुत करते हैं—

पाण्डव पक्ष के प्रधान वीरों की ध्वजायें

धनंजय की दिव्य-ध्वजा :—खाण्डव-वन-दहक-काल में अग्नि ने ... रथ दिया उसमें एक विशाल ध्वजा लगी हुई थी, उस ध्वजा का ...य था। उस ध्वजा के मध्य सिंह और शार्दूल के समान ... विराजमान था। उस रथ के शिखर पर बैठा हुआ यह वानर ऐसा जान पड़ता था मानो शत्रुओं को भस्म कर डालना चाहता हो। उस ध्वजा में और भी नाना प्रकार के प्राणी रहते थे, जिनकी आवाज सुनकर शत्रु सैनिकों के होश उड़ जाते थे। अर्जुन की यह ध्वजा 'कपिध्वजा' के नाम से जानी जाती थी।[1]

:—महातेजस्वी कुरुराज पाण्डुनन्दन

चन्द्रमा

। इस

एवं

ध्वजा

जो रथ को वहन करते हैं उन्हें रथ्य कहते हैं और जो रथ्यों को संचालित, नियन्त्रित और सुरक्षित करता है उसे सारथि कहते हैं। शुक्राचार्य ने सारथि को अश्व सुशिक्षक कह कर उसका लक्षण इस प्रकार किया है 'घोड़े को सुन्दर रीति से सिखाने वाला सारथि घुटनो से नीचे पैर हिलाता हुआ, शरीर को सीधे रखते हुये, स्थिर आसन से बैठकर तुला की भाँति लगाम को पकड़े हुये, काल तथा देश के अनुसार न अत्यन्त कठिन और न अत्यन्त कोमल चाबुक की मार से घोड़े को मार सिखाये।"[1]

सारथि के लिये रथ और रथ्यों का ज्ञान परमावश्यक है। कुशल-सारथि ही युद्ध मे विचरण कर सकता है। राजा विराट की गायों को चुरा लेने पर जब उत्तमकुमार अर्जुन के सारथि बनते हैं तो अपने सारथि कर्म की निपुणता से अर्जुन को आश्वस्त कराते हुये कहते है "नरपुंगव ! जैसे भगवान् वासुदेव का सारथि दारुक और इन्द्र सारथि मातलि है, उसी प्रकार मुझे भी आप सारथि कार्य में पूर्ण शिक्षित मानिये। जो घोड़ा दाहिनी धुरी मे जोता गया है तथा जिसके जाते समय लोग यह कहीं देख पाते कि उसने कब कहाँ पृथ्वी पर पैर रखा या उठाया है, यह श्रीकृष्ण के सुग्रीव नाम के घोड़े के समान है और भार ढोने वालो में श्रेष्ठ जो यह सुन्दर अश्व बायी धुरी का भारवहन करता है, उसे वेग मे मेघ पुष्प नामक अश्व के समान मानता हूँ। यह जो सोने के संनाह (बखतर) से सजा हुआ सुन्दर अश्व बायी और पिछला जुआ ढो रहा है, इसे वेग मे मैं शैब्य नामक अश्व के समान अत्यन्त बलवान् मानता हूँ और जो दाहिने भाग का पिछला जुआ धारण करके यह अश्व खड़ा है, वह वेग में बलाहक नाम वाले अश्व से भी अधिक समझा गया है। यह रथ आप जैसे धनुर्धर वीर को ही वहन करने योग्य है और मेरे मत में आप इसी रथ पर बैठ कर युद्ध करने योग्य हैं।"[2]

उपर्युक्त वर्णन मे स्पष्ट है कि कुशल-सारथि रथ, रथ्यों और रथी या महारथी को जानने की क्षमता रखता है। ऐसा ही ज्ञान प्रत्येक निपुण सारथि के लिये होना परमावश्यक है इस ज्ञान के अभाव मे उसे दक्ष सारथि नहीं कहा जा सकता

(ब) ध्वजा

ध्वजा योद्धा का वह चिन्ह विशेष है जो उसकी शक्ति का ज्ञापक होता है प्रत्येक योद्धा ध्वजा के रूप में अपना चिन्ह विशेष रखता है जो उसके व्यक्तित्व को

1. शु. नी. 4/प्र./122–123
2 विराट प. 40/17–22 पू., 45/19–24 गी.

बल को, कुल और उसके महत्वादि को प्रकट करता है। ध्वजा की परम्परा अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आ रही है, जो अब भी बाहुल्य से प्रचलित है। ध्वजा का केवल व्यक्तिगत रूप से ही महत्व नहीं है अपितु सामूहिक रूप से भी महान् महत्व है। ध्वजा राष्ट्र का, गण का, समाज और सेना का प्रतिनिधित्व करती है। ध्वजा का मानापमान राष्ट्र-विशेष का, गण विशेष का, समाज विशेष का, जाति विशेष का और सेना विशेष का मानापमान गिना जाता है।

महाभारत में भी ध्वजा का वर्णन बाहुल्य मे प्राप्त होता है। अतः अब हम प्रधान योद्धाओं के ध्वजा-विशेषों का वर्णन प्रस्तुत करते है—

पाण्डव पक्ष के प्रधान वीरों की ध्वजायें

1. धनंजय की दिव्य-ध्वजा :—खाण्डव-वन-दहक-काल में अग्नि ने धनंजय को जो रथ दिया उसमें एक विशाल ध्वजा लगी हुई थी, उस ध्वजा का दण्ड 'सुरुरि', और स्वर्णमय था। उस ध्वजा के मध्य सिंह और शार्दूल के समान एक महान् भयंकर दिव्य-वानर विराजमान था। उस रथ के शिखर पर बैठा हुआ
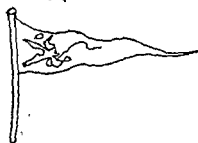
यह वानर ऐसा जान पड़ता था मानो शत्रुओं को भस्म कर डालना चाहता हो। उस ध्वजा मे और भी नाना प्रकार के प्राणी रहते थे, जिनकी आवाज सुनकर शत्रु सैनिकों के होश उड़ जाते थे। अर्जुन की यह ध्वजा 'कपिध्वजा' के नाम से जानी जाती थी।[1]

2. युधिष्ठिर की स्वर्णमयी ध्वजा :—महातेजस्वी कुरुराज पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर की ध्वजा स्वर्णमयी थी, जिसमे चन्द्रमा ग्रहगणों के साथ सुशोभित हो रहा था। इस ध्वजा मे नन्द उपनन्द नामक दो विशाल एवं दिव्य मृदंग लगे हुये थे, जो बिना बजाये ही बजा करते थे तथा सुन्दर शब्द का विस्तार कर सबका हर्ष बढ़ाते थे।[2]

---

1. आदि प. 216/8–9 पू., 224/15–16 गी.
2. द्रोण प. 122/8 पू., 123/84–85 गी.

3. भीमसेन की चमकीली ध्वजा :—भीमसेन की ध्वजा वैदूर्यमणिमय नेत्रों से सुशोभित महासिंह के चिन्ह से युक्त चमकीली थी और हवा में उड़ रही थी।[1]
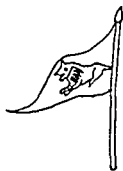
4. नकुल की विशाल ध्वजा:-माद्रीनन्दन नकुल की विशाल ध्वजा और भयंकर थी जो शरभ चिन्हांकित तथा पृष्ठभाग मे सुवर्णमयी थी। जो भयकर रूप से उडती हुई शत्रुओं को भयभीत करती थी।[2]

5. सहदेव की दुर्धर्ष ध्वजा :-सहदेव की ध्वजा मे घण्टा और पताका के साथ चाँदी के बने सुन्दर हंस का चिन्ह था। वह दुर्धर्ष ध्वजा शत्रुओ का शोक बढाने वाली थी।[3]

---
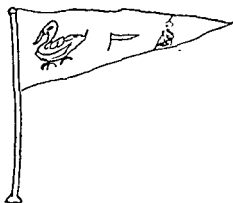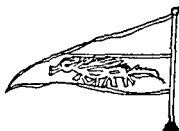
1. द्रोण प. 22 पू., 23/83 गी.
2. द्रोण प. 22 पू., 2./86 गी.
3. द्रोण प. 22 पू., 23/87 गी.

3. भीमसेन की चमकीली ध्वजा :—भीमसेन की ध्वजा वैदूर्यमणिमय नेत्रों से सुशोभित महासिंह के चिन्ह से युक्त चमकीली थी और हवा में उड़ रही थी।[1]

4. नकुल की विशाल ध्वजा:— माद्रीनन्दन नकुल की विशाल ध्वजा और भयंकर थी जो शरभ चिन्हांकित तथा पृष्ठभाग मे सुवर्णमयी थी। जो भयंकर रूप से उड़ती हुई शत्रुओं को भयभीत करती थी।[2]

5. सहदेव की दुर्धर्ष ध्वजा :— सहदेव की ध्वजा मे घण्टा और पताका के साथ चाँदी के बने सुन्दर हंस का चिन्ह था। वह दुर्धर्ष ध्वजा शत्रुओं का शोक बढाने वाली थी।[3]

---

1. द्रोण प. 22 पृ., 23/83 गी.
2. द्रोण प. 22 पृ., 2./86 गी.
3. द्रोण प. 22 पृ., 23/87 गी.

6. अभिमन्यु की स्वर्ण ध्वजा :—अभिमन्यु के रथ की श्रेष्ठ ध्वजा तपाये हुये स्वर्ण से निर्मित होने के कारण अत्यन्त प्रकाशमान थी। उसमें स्वर्णमय शार्ङ्ग पक्षी का चिन्ह था।[1] साथ ही वह कर्णिकार चिन्ह से भी सुशोभित थी।[2]

7. घटोत्कच की विचित्र ध्वजा :—घटोत्कच की रथ की ध्वजा का डण्डा बहुत ऊँचा था। वह ध्वजा पंख और पंजे फैलाकर आँखें फाड़-फाड़कर देखने कूजने वाले एक गृध्रराज से सुशोभित थी, वह रक्त से भीगी हुई और अन्त्र माला से विभूषित थी।[3]

8. धृष्टद्युम्न की ध्वजा :—पाण्डवों के प्रधान सेनापति धृष्टद्युम्न की ध्वजा वनराज के चिन्ह से सुशोभित हो रही थी।[4]

1. द्रोण प. 22 पू., 23/89 गा.
2. द्रोण प. 35/12 पू., 36/12 गा.
3. द्रोण प. 131/27–28 पू., 156/52–60 गा.
4. उ प. 171 गा. (पृ. सं. 2490 का चित्र)

3. भीमसेन की चमकीली ध्वजा :—भीमसेन की ध्वजा वैदूर्यमणिमय नेत्रों से सुशोभित महासिंह के चिन्ह से युक्त चमकीली थी और हवा में उड़ रही थी।[1]

4. नकुल की विशाल ध्वजा:—माद्रीनन्दन नकुल की विशाल ध्वजा और भयंकर थी जो शरभ चिन्हांकित तथा पृष्ठभाग मे सुवर्णमयी थी। जो भयकर रूप से उडती हुई शत्रुओं को भयभीत करती थी।[2]

5. सहदेव की दुर्धर्ष ध्वजा :—सहदेव की ध्वजा म घण्टा और पताका के साथ चाँदी के बने सुन्दर हंस का चिन्ह था। वह दुर्धर्ष ध्वजा शत्रुओं का शोक बढ़ाने वाली थी।[3]

1. द्रोण प. 22 पू., 23/83 गी.
2. द्रोण प. 22 पू., 2. /86 गी.
3. द्रोण प. 22 पू., 23/87 गी.

6 अभिमन्यु की स्वर्ण ध्वजा :—अभिमन्यु के रथ की श्रेष्ठ ध्वजा तपाये हुये स्वर्ण से निर्मित होने के कारण अत्यन्त प्रकाशमान थी। उसमें स्वर्णमय शङ्ग पक्षी का चिन्ह था।[1] साथ ही वह कर्णिकार चिन्ह से भी सुशोभित थी।[2]

7. घटोत्कच की विचित्र ध्वजा :—घटोत्कच की रथ की ध्वजा का डण्डा बहुत ऊँचा था। वह ध्वजा पंख और पंजे फैलाकर आँखें फाड़-फाड़कर देखने कूजने वाले एक गृध्रराज से सुशोभित थी, वह रक्त से भीगी हुई और अन्त्र माला से विभूषित थी।[3]

8. धृष्टद्युम्न की ध्वजा :—पाण्डवों के प्रधान सेनापति धृष्टद्युम्न की ध्वजा वनराज के चिन्ह से सुशोभित हो रही थी।[4]

1. द्रोण प. 22 पू., 23/89 गा.
2. द्रोण प. 35/12 पू., 36/12 गा.
3. द्रोण प. 131/27–28 पू., 156/52–60 गा.
4. उ प. 171 गा. (पृ. सं. 2490 का चित्र)

कौरव पक्ष के प्रधान वीरों की ध्वजायें
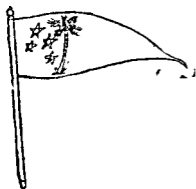
1. भीष्म की ताल ध्वजा :—
कौरव सेना के प्रधान सेनापति भीष्म की विशाल ध्वजा ताड़ और पाँच तारों के चिन्ह से युक्त थी। साथ ही उनके रथ मे अनेक छोटी-छोटी कई पताकायें भी लगी हुई थीं।[1]
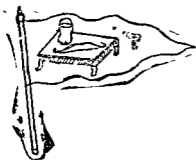
2. आचार्य द्रोण की ध्वजा :—
आचार्य द्रोण की पताका पर कमण्डलु विभूषित स्वर्णमयी वेदी और धनुष के चिन्ह बने हुये थे।[2]

3. कर्ण की श्वेत पताका :—
कर्ण के तेजस्वी रथ में श्वेत पताका फहरा रही थी। उस रथ की पताका मे हाथी की साकल का चिन्ह बना हुआ था।[3]

---

1. भीष्म प. 17/18 गा.
2. भीष्म प. 17/24 गा.
3. कर्ण प. 11/7 गा.

4. अश्वत्थामा की ध्वजा :-
द्रोणतनय अश्वत्थामा की ध्वजा सिंहलांगूलांकित थी।[1]
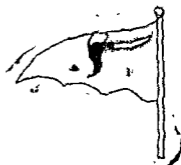
5. दुर्योधन की ध्वजा :—
गान्धारिनन्दन दुर्योधन की ध्वजा मणिमय थी और नाग चिन्हांकित थी।[2]
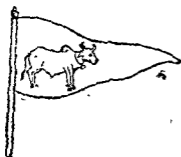
6. कृपाचार्य की ध्वजा :—
गौतम नन्दन कृपाचार्य की ध्वजा वृषभ चिन्हांकित थी।[3]
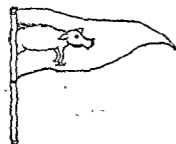
7. जयद्रथकेतु की ध्वजा :—
जयद्रथ की ध्वजा वराह के चिन्ह से चिन्हांकित थी।[4]

1. द्रोण प. 171/34 पू., 200/34 गा.
2. भीष्म प. 17/25 गा.
3. भीष्म प. 17/27 गा.
4. भीष्म प. 17/29 गा.

जैसाकि हमने पहले बताया था कि प्राचीन-काल के समान आज भी हमारी सेना में प्रत्येक गुण विशेष के आधार पर पृथक्-पृथक् टुकड़ियों के पृथक्-पृथक् चिन्ह-विशेष पृथक्-पृथक् ध्वजाओं एवं शिरस्त्राणों (टोपियों) पर अंकित रहते हैं। उदाहरणार्थ भारतीय सेना में गिद्ध, तोप, किला, बिगुल, मयूर पंख, सर्प, अश्व, सितारा वायुयान, चिड़िया और सिंहादि के चिन्ह मिलते हैं।

(र) वाद्य-यन्त्र

शंख

प्राचीन-काल में शंख का बहुत महत्त्व था। प्रत्येक वीर का व्यक्तिगत रूप से अपना-अपना शंख होता था। यह शंख वीर पराक्रम की सूचना देने वाला होता था। युद्ध के अवसर पर वीर प्रायः शंखनिनाद करके ही रणार्थ शत्रु का आह्वान किया करते थे। वीर के शंख-विशेष के निनाद से ही शत्रु वीर-विशेष की शक्ति का अनुमान लगा लिया करते थे और वे भी अपनी शंख ध्वनि करके अपनी शक्ति का परिचय दिया करते थे। इस

प्रकार शंख को भी प्राचीन-काल में युद्ध से संपृक्त एक परमावश्यक साधन गिना जाता था। अब हम महाभारत के प्रमुख वीरों में केवल पाण्डव-पक्षीय कुछ वीरों के शंखों का परिचय सामान्य-ज्ञान हेतु प्रस्तुत करते हैं।

1 धनंजय का शंख :—गुडाकेश किरीट के शंख का नाम 'देवदत्त' था। इस शंख को मय-दानव ने भेंट रूप में अर्जुन को दिया था। वस्तुतः यह शंख वरुण-देव का था, जिसके नाद से प्राणी काँप उठते थे क्योंकि यह सुघोषवान् शंख था।[1] यह शंख देवों के द्वारा प्रदत्त था। अतः इसी कारण इसका नाम देवदत्त था।[2]

2. केशव का शंख :—श्रीकृष्ण के शंख का नाम 'पाँचजन्य' था। यह शंख भी बड़ा भयंकर था, क्योंकि इस शंख के निनाद से त्रिभुवन में भय व्याप्त हो जाता था। यह शंख भी सुघोषवान् था।[3]

---

1. सभा प. 3/7, 18 पू., 3/8, 21 गी.
2. वन प. 165/22 पू., 168/85 गी.
3. भीष्म प. 23/15 पू., 25/15 गी.

3. वृकोदर का शंख :—भीमकर्मा, भीमसेन के भयंकर शंख का नाम पौण्ड्र था। इस शंख के निनाद से शत्रुओं के हृदय भय-व्याप्त हो जाते थे।[1]

4. युधिष्ठिर का शंख :—धर्मराज युधिष्ठिर के शंख का नाम 'अनन्त-विजय' था जो नामानुसार ही विजय दिलवाने वाला था।[2]

5. नकुल का शंख :—माद्रीनन्दन नकुल के शंख का नाम 'सुघोष' था। जिसके नाम से ही ज्ञात होता है कि वह सुघोषवान् था।[3]

6. सहदेव का शंख :—पाण्डुनन्दन सहदेव के शंख का नाम 'मणि-पुष्पक था।[4]

पाण्डवों और श्रीकृष्ण के शंखों के नाम तो महाभारत में मिलते है। इसी प्रकार अन्य शूरवीरो के शंख थे और वे भी समयानुसार शंख निनाद किया करते थे, किन्तु उनके सभी शंखों के नाम न मिलकर केवल शंख निनाद का संकेत मात्र मिलता है।

रणभेरी

प्राय: सभी रणवाद्यों को 'रणभेरी' के नाम से अभिहित किया जाता था यथा डिण्डिम, ढक्का, वृहढक्का, दुंदुभी, प्रणवानक, गोमुख और शंखादि, किन्तु फिर भी रणभेरी इस नाम का प्रधान तात्पर्य प्रयाणपटहों अथवा दुन्दुभियों से ही लिया जाता था।

रणभेरी (बड़े-बड़े नगाड़े) का रण की दृष्टि से महान् महत्त्व था, क्योंकि युद्ध के पूर्व रणवाद्य बजाये ही जाते थे, जिनके निनाद से शूरवीरों के हृदयों में उत्साह का संचार होता था, क्योंकि उत्साह-हीन वीर रणांगण में कुछ भी नहीं कर

---

1. भीष्म प. 23/15 पू., 25/15 गा.
2. भीष्म प. 23/16 पू., 25/16 गा.
3. भाष्म प. 23/16 पू., 25/16 गा.
4. भाष्म प. 23/17–19 पू., 25/17/19 गा.

सकते थे। अतः रणवाद्यों के द्वारा उनमें उत्साह भरा जाता था, जिससे कि वे उत्साह-पूर्वक रणक्षेत्र मे उतर कर अपना पौरुष दिखा सकें।[5]

भारतीय सेना में आज भी रणवाद्य बिगुल, बैंडादि बजाये जाते है, किन्तु इनका उपयोग परेड या शान्ति-काल में ही किया जाता है। जातयुद्ध-काल में नहीं।

इति—चतुर्थ पर्व

5. भीष्म प. 23/13 दृ., 25/13 गी.

पंचम–पर्व

सेना का अभियान

महाभारत कालीन सैनिक की सामान्य वेशभूषा :—महाभारत काल मे प्रायः सभी सैनिक सामान्य रूप से कवच, कुण्डल और पगड़ी धारण किया करते थे। कुलीन और राजकुल के योद्धा मुकुट भी धारण किया करते थे। इसके अतिरिक्त प्रायः सभी कण्ठ मे स्वर्णमय पदक (निष्क हार) और भुजाओं मे बाजूबन्द धारण करते थे। कटि से नीचे धौतवस्त्र तथा धौतवस्त्र पर लाल या हरितवर्ण का उत्तरीय (कमरबन्द) बन्धा हुआ रहता था। पैरों में जूतियां अथवा चप्पल पहनी जाती थीं। प्रत्येक के शिर पर पच-केश होते थे और प्रायः सभी के मूँछें रहती थी। इस प्रकार वे लोग अपनी वेशभूषाओं मे तेजस्वी रूप धारण करते हुये वस्त्राभूषणों से सजे हुये इन्द्र और कुबेर को भी अपनी शोभा से पराजित कर दिया करते थे।[1]

(महाभारत कालीन सैनिक की सामान्य वेशभूषा की विभिन्न आकृतियाँ)

वीर विशेष की वेशभूषा :—सामान्य वेशभूषा के पश्चात् [illegible]
हम कुछ विशेष वीरों की विशेष वेशभूषाओं को यहाँ इस प्रकार [illegible]

1. भीष्म प. 99/21–23 गु., 103/21–23 गी.

भीष्म की वेशभूषा :—गंगानन्दन भीष्म अति वृद्ध थे, अतः इनके केश श्वेतवर्ण के थे, उनकी शरीर की कान्ति भी श्वेतवर्ण की थी, वे अपने शिर पर उष्णीष (पगडी) भी श्वेतवर्ण की ही धारण करते थे, उनका उत्तरीय भी श्वेत था, उनके वक्षस्थल पर कवच भी श्वेत रंग का ही सुशोभित हो रहा था। उनकी रथ की पताका भी श्वेत थी, उनके रथ मे जुते हुये घोड़े भी श्वेत ही थे। अतः रथ मे विराजमान वे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो श्वेत कान्ति से संलग्न नवोदित चन्द्रमा हो।

दुर्योधन की वेशभूषा :—धृतराष्ट्र का ज्येष्ठ पुत्र राजा दुर्योधन अपने शिर पर मुकुट धारण किये हुये था, भुजाओं मे बाजूबन्द पहिने हुये था और हाथों मे वलय धारण किये हुये था। उसने शिरीषपुष्प एवं सुवर्ण के समान पीतवर्ण का बहुमूल्य सुगन्धित चन्दन अपने शरीर पर लगा रक्खा था। उसके सारे अंग निर्मल वस्त्र से ढके हुये थे। वह सिंह के समान मस्तानी चाल से चलता था और अपनी निर्मल प्रभा के कारण आकाश में प्रकाशित होने वाले सूर्य के समान शोभा पा रहा था।[2]

दुःशासन की वेशभूषा :—दुर्योधनानुगामी अनुज दुःशासन ने अपने विशाल वक्षस्थल पर सुवर्णमय विचित्र कवच धारण कर रखा था और उसने अपने शिर पर स्वर्णनिर्मित शिरस्त्राण (टोप) पहिन रखा था। दुःसह पराक्रम करने वाला शूरवीर था।[3]

आधुनिक सैनिक वेशभूषा :—महाभारत कालीन सैनिक की वेशभूषा और आधुनिक वेशभूषा मे रात-दिन का अन्तर है। इस अन्तर का कारण है समय का प्रवाह। दुर्दैव से हमारा भारत शताब्दियों तक पराधीन रहा और जिस-जिस ने शासन किया उसने अपनी-अपनी इच्छानुसार सेना का गणवेश बनाया। वर्तमान शासन से पूर्व अंग्रेज हमारे शासक रहे और उन्होंने जो वेशभूषा हमारे सैनिकों को दी वह आज भी चली आ रही है। अतः आज का भारतीय सैनिक कमर से नीचे पैण्ट कमर से ऊपर कमीज (शर्ट) और बैल्ट शिर पर गोल टोपी जिस पर कि अपनी सैनिक इकाई का चिन्ह (बैज) लगा रहता है, पहिनता है। उसके पैरों मे बडे मजबूत जूते होते हैं और कन्धों पर पद के तथा इकाई के चिन्ह लगे रहते है। भारतीय

1. भीष्म प. 16/40 पू., 16/22 गी.
2. भीष्म प. 93/20–22 पू., 97/20–22 गी.
3. द्रोण प. 65/6 पू., 90/6 गी.

सेना के गणवेश का वर्ण सम्पूर्ण भारत में एक ही है और वह है तमाल पत्र के रंग के समान जो वृक्षों की हरियाली या वन की हरियाली से सरलता से समानता पा लेता है।

सेना की रण सज्जा

प्रत्येक सेना का एक विशेष गणवेश एवं सज्जा होती है, किन्तु समयानुसार इसमे परिवर्तन होता रहता है। महाभारतकाल में शस्त्र विद्या मे निपुण और दृढ़ निश्चय वाले कुलीन तथा अश्वविज्ञान मे निपुण व्यक्तियों को सारथी बनाया जाता था। सेना में अनिष्ट निवारण हेतु विविध यन्त्र एवं औषधियां बांधी जाती थीं। रथों पर ध्वजायें संलग्न की जाती थी, क्षुद्रघण्टिकायें बांधी जाती थी, ढाल, तलवार, पट्टिश, धनुष, तीर, तूणीरादि रखे जाते थे। प्रायः सभी रथों में उत्तमकोटि के अश्व जोते जाते थे।

जिस प्रकार युद्ध के लिये रथ सजाये जाते थे, उसी प्रकार हाथी भी सुन्दर अम्बा-बाड़ियों, झूलनों जिञावलिगों एवं स्वर्ण-मालाओं से सुसज्जित किये जाते थे। दुर्योधन की सेना सभी प्रकार अस्त्र-शस्त्रों से, मस्त हाथियो से, रथों से, कवचो से और सुसज्जित अश्वो से सुशोभित थी। इस प्रकार महाभारत-युद्ध के लिये जैसी कौरवों ने तैय्यारी की थी वैसी ही तैय्यारी पाण्डवों ने भी की थी।

युधिष्ठिर की रणसज्जा :—महाभारत के महायुद्ध को प्रारम्भ करने के लिये राजा युधिष्ठिर हाथियों की सेना के बीच में खड़े हुये एक सुन्दर रथ पर आरुढ इन्द्र के समान सुशोभित हो रहे थे। उस रथ में स्वर्णमय-भाण्ड तथा रस्सियां रखी गयी थीं। उस समय किसी सेवक ने युधिष्ठिर के ऊपर हाथी दाँतों की बनी हुई शलाकाओं से युक्त श्वेत-छत्र लगा रखा था, जो बड़ी शोभा को प्राप्त हो रहा था। तभी कुछ महर्षिगणों ने नानाप्रकार की स्तुतियो द्वारा महाराज युधिष्ठिर की प्रशंसा करते हुये उनकी दक्षिणावर्त परिक्रमा की। महात्मा युधिष्ठिर ने ब्राह्मणों को बहुत से वस्त्र, गायें, फलफूल और स्वर्णमय आभूषण दान में दिये और उनके आशीर्वाद को ग्रहण करते हुये रणांगण में आगे बढ़े।[2]

धनंजय की रणसज्जा :—अर्जुन भी युद्ध के लिये समुत्सुक बने हुये स्वर्णकान्ति से सुशोभित, सूर्य की आकृति के समान सहस्रों चक्रों से संलग्न सैकड़ो

1. भीष्म प. 18/17 पू. 17/17 गी.
2. भीष्म प. 22/5–8 पू. 22/5–8 गी.

क्षुद्रघण्टियों से रणित श्वेत-अश्वों से जुते हुये दिव्य-रथ में अद्भुत शोभा को प्राप्त हो रहे थे। उनके एक हाथ में जगत्विख्यात गाण्डीव-धनुष सुशोभित था और दूसरे में बाण तथा रथ पर कपिध्वज लहरा रहा था। भगवान् केशव ने उनके घोड़ों की बागडोर अपने हाथ मे सँभाल रक्खी थी और अद्वितीय धनुर्धर अर्जुन अद्भुत उत्साह के साथ युद्ध की प्रतीक्षा कर रहे थे।[1]

(संलग्न चित्र देखिये)

पाण्डव सेना की रणसज्जा :—भगवान् श्रीकृष्ण ने जब धृष्टद्युम्न को ही प्रधान सेनापति पद पर अभिषिक्त करने का मत प्रकट किया तब पाण्डवों में हर्ष की लहर दौड़ गई। इसके अनन्तर तो सब प्रसन्न होकर कहने लगे, युद्ध के लिये 'सुसज्जित हो जाओ' तथा सब सैनिक शीघ्रता के साथ दौड़-धूप करने लगे। उस समय प्रसन्न-चित्त वाले उन वीरों का महान् हर्षनाद सब ओर गूँज उठा। सब ओर घोड़े, हाथी और रथों का घोष होने लगा। सभी ओर शंख और दुंदुभियों की भयानक ध्वनि गूँजने लगी। रथ, पैदल और हाथियों से भरी हुई वह भयंकर सेना उल्लास तरंगों से व्याप्त महासागर के समान क्षुब्ध हो उठी। रण-यात्रा के लिये उद्यत हुये पाण्डव और उनके सैनिक सब ओर दौड़ते, पुकारते और कवच बाँधे दिखायी दिये। उनकी वह विशाल वाहिनी जल से परिपूर्ण गंगा के समान दुर्गम दिखायी देती थी। जैसे पूर्णिमा के दिन बढ़ते हुये समुद्र का कोलाहल सुनायी पड़ता है उसी प्रकार हर्ष और उत्साह से भरकर युद्ध के लिये यात्रा करने वाले उन सैनिकों का महान् घोष सब ओर फैलकर मानो स्वर्गलोक तक जा पहुँचा। हर्ष में भरे हुये और कवचादि से सुसज्जित वे समस्त सैनिक शत्रुसेना को विदीर्ण करने का उत्साह रखते थे। महाराज युधिष्ठिर उस समय उन सबके मध्य में विद्यमान थे। उस सेना में सामान ढोने की गाड़ियाँ, बाजार, डेरे-तम्बू, रथादि सवारियाँ, कोष, यन्त्र-चालितअस्त्र और चिकित्साकुशल वैद्यादि सभी दिखाई दे रहे थे।[2]

कौरव सेना की रणसज्जा :—दूतकार्य लेकर आये श्री केशव के लौट जाने पर दुर्योधन ने शकुनि, कर्ण और दुःशासन को इस प्रकार कहा कि श्रीकृष्ण यहाँ से कृतकार्य होकर नहीं गये। अतः निश्चय ही क्रोधान्वित होकर वे पाण्डवों को युद्ध की प्रेरणा देंगे। अतः यह युद्ध तुमुल और भयंकर रोमांचकारी होगा। इसलिये राजाओं आप सब लोग आलस्य छोड़कर युद्ध की तैयारी करें। भूमिपालों

---

1. भीष्म प. 22/9–10 पू., 22/9–10 गी.
2. उ. प. 149/47–53 पू., 151/48–58 गी.

कुरुक्षेत्र में सैकड़ों और हजारों की संख्या में ऐसे शिविर तैय्यार कराओ, जिनमें अपनी आवश्यकता के अनुसार पर्याप्त-अवकाश हो तथा शत्रु-लोग जिन पर अधिकार न कर सकें। उन शिविरों को नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से भरपूर तथा ध्वजा-पताकाओं से सुशोभित रखना चाहिये। दुर्योधन की आज्ञा सुनकर रोषावेश से परिपूर्ण राजा लोग बहुमूल्य आसनों से उठ खड़े हुये और उन्होंने अपने शरीर पर पगड़ी, धोती, चादर और सब प्रकार के आभूषण धारण कर लिये। श्रेष्ठ रथी अपने रथ को, अश्व संचालन की कला में कुशल योद्धा घोड़ों को और हस्ति-शिक्षा में निपुण सैनिक हाथियों को सुसज्जित करने लगे। उन्होंने सोने के बने हुये बहुत से विचित्र कवच तथा सब प्रकार के विभिन्न अस्त्र-शस्त्र धारण कर लिये। जैसे चन्द्रोदय-काल में समुद्र उत्ताल तरंगों से व्याप्त हो जाता है, उसी प्रकार कुरुराज दुर्योधन-रूपी महासागर सैनिक समुदाय-रूपी चन्द्रमा के उदय से अत्यन्त उल्लसित दिखायी देने लगा।

आधुनिक काल में भी रक्षामन्त्री के द्वारा वैधसूत्र से आज्ञा मिलने पर सेना रण के लिये तैय्यारी करने लगती है। आधुनिक नभ, जल और थल सेना अपने समस्त उपकरणों को ट्रकों से और जहाँ ट्रकादि न पहुँच सकें वहाँ घोड़ों, ऊँटों, हैलीकोप्टर तथा वायुयानादि से पहुँचाती है। इसके साथ-साथ सैनिकों से सम्बन्धित वस्त्र-भोजनादि की सामग्री, शिविरादि की सामग्री आदि सभी बातों की पूर्ण तैय्यारी करने के पश्चात् रणस्थल के लिये पुनः आज्ञा मिलने पर प्रस्थान किया जाता है।

सैन्य संचालन विधि

विजयोपलब्धि, सैन्यसंचालन से होती है न कि सैन्यसंख्या से। अल्पसेना भी यदि कुशलता से संचालित की जाती है तो वह युक्ति से शत्रु को पराजित कर सकती है। इसके विपरीत यदि बहुल संख्यका सेना भी भलीभाँति संचालित नहीं होती तो उसके द्वारा विजयोपलब्धि होना असम्भव है। इस विषय को लेकर अब हम भीष्म का वह मत प्रस्तुत करते है जो उन्होंने युधिष्ठिर के लिये प्रकट किया था।

(अ) सैन्योपकरण संग्रह :—"राजा को चाहिये कि वह गाय, बैल तथा अजगर के चमड़े से हाथियों की रक्षा लिये कवच बनवाये। इसके अतिरिक्त लोहे की कीलें, लोहे के कवच, चँवर, चमकीले और पानीदार शस्त्र, पीले और लाल रंग

1. उ. प. 150/13–27 पू., 151/13–27 गी.

क्षुद्रघण्टियों से रणित श्वेत-अश्वों से जुते हुये दिव्य-रथ में अद्भुत शोभा को प्राप्त हो रहे थे। उनके एक हाथ में जगत्‌विख्यात गाण्डीव-धनुष सुशोभित था और दूसरे में बाण तथा रथ पर कपिध्वज लहरा रहा था। भगवान् केशव ने उनके घोड़ों की बागडोर अपने हाथ में सँभाल रक्खी थी और अद्वितीय धनुर्धर अर्जुन अद्भुत उत्साह के साथ युद्ध की प्रतीक्षा कर रहे थे।

(संलग्न चित्र देखिये)

पाण्डव सेना की रणसज्जा :—भगवान् श्रीकृष्ण ने जब धृष्टद्युम्न को ही प्रधान सेनापति पद पर अभिषिक्त करने का मत प्रकट किया तब पाण्डवों में हर्ष की लहर दौड़ गई। इसके अनन्तर तो सब प्रसन्न होकर कहने लगे, युद्ध के लिये 'सुसज्जित हो जाओ' तथा सब सैनिक शीघ्रता के साथ दौड़-धूप करने लगे। उस समय प्रसन्न-चित्त वाले उन वीरों का महान् हर्षनाद सब ओर गूँज उठा। सब ओर घोड़े, हाथी और रथों का घोष होने लगा। सभी ओर शंख और दुंदुभियों की भयानक ध्वनि गूँजने लगी। रथ, पैदल और हाथियों से भरी हुई वह भयंकर सेना उल्लास तरंगों से व्याप्त महासागर के समान क्षुब्ध हो उठी। रण-यात्रा के लिये उद्यत हुये पाण्डव और उनके सैनिक सब ओर दौड़ते, पुकारते और कवच बाँधे दिखायी दिये। उनकी वह विशाल वाहिनी जल से परिपूर्ण गंगा के समान दुर्गम दिखायी देती थी। जैसे पूर्णिमा के दिन बढ़ते हुये समुद्र का कोलाहल सुनायी पड़ता है उसी प्रकार हर्ष और उत्साह में भरकर युद्ध के लिये यात्रा करने वाले उन सैनिकों का महान् घोष सब ओर फैलकर मानो स्वर्गलोक तक जा पहुँचा। हर्ष में भरे हुये और कवचादि से सुसज्जित वे समस्त सैनिक शत्रुसेना को विदीर्ण करने का उत्साह रखते थे। महाराज युधिष्ठिर उस समय उन सबके मध्य में विद्यमान थे। उस सेना में सामान ढोने की गाड़ियाँ, बाजार, डेरेतम्बू, इत्यादि सवारियाँ, कोष, यन्त्र-चालितअस्त्र और चिकित्साकुशल वैद्यादि सभी दिखाई दे रहे थे।[2]

कौरव सेना की रणसज्जा :—दूतकार्य लेकर आये श्री केशव के लौट जाने पर दुर्योधन ने शकुनि, कर्ण और दुःशासन को इस प्रकार कहा कि श्रीकृष्ण यहाँ से कृतकार्य होकर नहीं गये। अतः निश्चय ही क्रोधान्वित होकर वे पाण्डवों को युद्ध की प्रेरणा देंगे। अतः यह युद्ध तुमुल और भयंकर रोमांचकारी होगा। इसलिये राजाओं आप सब लोग आलस्य छोड़कर युद्ध की तैय्यारी करें। भूमिपालों

---

1. भीष्म प. 22/9–10 पू., 22/9–10 गी.
2. उ. प. 149/47–53 पू., 151/48–58 गी.

चाणक्य भी शुक्र के मत का समर्थन करता हुआ कहता है "देश काल और शक्ति में जब विजिगीषु शत्रु से अधिक शक्तिशाली हो तो आवश्यक धन तथा सेना साथ लेकर शत्रु का विनाश करने के लिये मार्गशीर्ष मास में आक्रमण करे क्योंकि उस समय यह शत्रु के वर्षा काल में बोये अन्न तथा हेमन्त में बोये बीजों को नष्ट कर सकता है। यही कार्य चैत्र मास में भी ठीक रहता है। अतः ये दोनों मास आक्रमण के लिये श्रेष्ठ माने जाते हैं। इसी प्रकार वसन्त के अन्न और वर्षा के बीजों को नष्ट करने के लिये ज्येष्ठ मास में आक्रमण करें। जिस देश में उष्णता ज्यादा हो उस देश में हेमन्तकाल में चढ़ाई करे। वर्षाकाल में आक्रमण निषिद्ध माना जाता है।[1]

आजकल भी युद्ध के लिये उपर्युक्त काल सम्बन्धी सभी बातों को महत्व दिया जाता है किन्तु भीष्म और शुक्र की अन्तिम बात को विशेष महत्त्व देते हैं कि जब सेना सामग्री से पूर्ण हो और उसमें उत्साह हो तो युद्ध प्रारम्भ कर देना चाहिये एवं शत्रु आक्रमण कर दें तो युद्ध को अनिवार्य मानकर युद्ध प्रारम्भ कर देना चाहिये।

(उ) सेना का प्रस्थान मुहूर्त :—शुभ वेला में, श्रेष्ठ नक्षत्र में और शुभ तिथि में प्रस्थान करने पर तथा सेना का ठीक संचालन करने पर राजा को सदा ही विजय लाभ होता है।[2] अतः जहाँ तक हो सके मुहूर्तादि पर ध्यान देकर प्रस्थान-कार्य करना चाहिये, किन्तु आजकल इस विषय को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता।

(ए) प्रस्थान में मार्गावलम्बन :—युद्ध के लिये यात्रा करते समय मार्ग समतल और सुगम हो तथा वहां जल और तृणादि सुलभ हों तो अच्छा समझा जाता है। वन में विचरण करने वाले कुशल गुप्तचरों को मार्ग के विषय में उचित पथ प्रदर्शन करने हेतु राजा उनकी नियुक्ति करे जिससे कि सेना गन्तव्य स्थान पर शीघ्र तथा सरलता से पहुँच सके।[3] आधुनिक काल में भी इस विषय पर पूर्ण ध्यान दिया जाता है और इसके लिये एक दल की नियुक्ति की जाती है, जिसे 'रैकी पेट्रोल' कहते है।

---

1. कौ. अ. शा. 9 अधि/1/236/पृ. सं. 558 गी.
2. शान्ति प. 101/23 पृ. 100/26 गी.
3. शान्ति प. 101/11–12 पृ. 100/13/14 गी.

के कवच, बहुरंगी ध्वजापताकायें, ऋष्टि, तोमर, खड्ग, तीखे फरसे, फलक और ढालादि भारी संख्या में तैय्यार कराकर सदा अपने पास रक्खें।[1]

आधुनिक काल में हमारा रक्षा मंत्रालय प्रस्तुत विषय में सदैव सतर्क रहता है। पहले जो हथियार हमें बाहर से मंगवाने पड़ते थे वे अब भारत में ही बना लिये जाते है। पिछली तीन लड़ाइयों के बाद हमारा भारत बहुत सतर्क हो गया है और रक्षा के विषय को लेकर पर्याप्त खर्च की व्यवस्था रखता है। जल, थल और नभ की सभी सामग्रियों को पर्याप्त रूप से एकत्र कर शत्रु का सामना करने के लिये आज हमारा भारत पूर्णरूप से सक्षम है। उदाहरणार्थ सामग्री की मोटी-मोटी वस्तुयें हैं—राइफल, स्टेनगन, लाइटमशीनगन, टू इञ्चमोटर, पिस्टल, वैनटादि वायुयान, जहाज, पनडुब्बियाँ, वायुयान पर मार करने वाली तोपें, टैंक आदि।

(ङ) सेना का आक्रमण काल :—"यदि शस्त्र तैय्यार हों और योद्धा भी शत्रुओं का सामना करने का दृढ़ निश्चय कर चुके हों, तो चैत्र या मार्गशीर्ष मास की पूर्णिमा को सेना युद्ध के लिये उद्यत होकर आक्रमण कर दे, क्योंकि उस समय खेती पक जाती है और भूतल पर जल की प्रचुरता रहती है। उस समय मौसम भी ठीक रहता है, न अधिक ठण्ड रहती है और न उष्णता ही। अतः ऐसे ही समय आक्रमण करे अथवा जिस समय शत्रु संकट में हो, उसी अवसर पर आक्रमण कर दे। शत्रुओं को बाधा पहुँचाने के लिये ये ही अवसर अच्छे माने गये हैं।"[2]

महर्षि शुक्र भीष्म के मत का समर्थन करते हुये कहते हैं "युद्ध के लिये शरद्, हेमन्त तथा शिशिर ऋतु का समय उत्तम होता है। बसन्त का मध्यम और ग्रीष्म का सदा अधम समय होता है। वर्षाकाल में युद्ध करना उचित नहीं होता, इसके अतिरिक्त जिस समय राजा युद्ध की सामग्री से पूर्ण सम्पन्न होने से अधिक वलशाली हो और मन में युद्ध का उत्साह हो तथा अच्छे शकुन दिखाई पड़ते हों उस समय युद्ध करना शुभ फल देने वाला होता है। यदि आवश्यक कार्यवश युद्ध करना अनिवार्य हो जाय और इस समय शुभ फलप्रद समय उपस्थित न हो तो गृह मे भक्तिपूर्वक भगवान् का हृदय में ध्यान करके युद्ध के लिये सन्नद्ध हो जाय। गौ, स्त्री और ब्राह्मण का विनाश यदि उपस्थित हो जाय तो उनकी रक्षार्थ युद्ध करने में किसी प्रकार के काल का नियम नहीं है।"[3]

---

1. शान्ति प. 101/6–8 पू., 100/7–9 गी.
2. शान्ति प. 100/8–10 पू., 100/10–12 गी.
3. शु. नी. 4/7प्र./223–226

चाणक्य भी शुक्र के मत का समर्थन करता हुआ कहता है "देश काल और शक्ति में जब विजिगीषु शत्रु से अधिक शक्तिशाली हो तो आवश्यक धन तथा सेना साथ लेकर शत्रु का विनाश करने के लिये आग्रहायण मास में आक्रमण करे क्योंकि उस समय वह शत्रु के वर्षा काल में बोये अन्न तथा हेमन्त में बोये बीजों को नष्ट कर सकता है। यही कार्य चैत्र मास में भी ठीक रहता है। अतः ये दोनों मास आक्रमण के लिये श्रेष्ठ माने जाते हैं। इसी प्रकार बसन्त के अन्न और वर्षा के बीजों को नष्ट करने के लिये ज्येष्ठ मास में आक्रमण करें। जिस देश में उष्णता ज्यादा हो उस देश में हेमन्तकाल में चढ़ाई करे। वर्षाकाल में आक्रमण निषिद्ध माना जाता है।[1]

आजकल भी युद्ध के लिये उपर्युक्त काल सम्बन्धी सभी बातों को महत्त्व दिया जाता है किन्तु भीष्म और शुक्र की अन्तिम बात को विशेष महत्त्व देते हैं कि जब सेना सामग्री से पूर्ण हो और उसमें उत्साह हो तो युद्ध प्रारम्भ कर देना चाहिये एवं शत्रु आक्रमण कर दें तो युद्ध को अनिवार्य मानकर युद्ध प्रारम्भ कर देना चाहिये।

(ज) सेना का प्रस्थान मुहूर्त :—शुभ वेला में, श्रेष्ठ नक्षत्र में और शुभ तिथि में प्रस्थान करने पर तथा सेना का ठीक संचालन करने पर राजा को सदा ही विजय लाभ होता है।[2] अतः जहाँ तक हो सके मुहूर्तादि पर ध्यान देकर प्रस्थान-कार्य करना चाहिये, किन्तु आजकल इस विषय को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता।

(ण) प्रस्थान में मार्गावलम्बन :—युद्ध के लिये यात्रा करते समय मार्ग समतल और सुगम हो तथा वहाँ जल और तृणादि सुलभ हों तो अच्छा समझा जाता है। वन में विचरण करने वाले कुशल गुप्तचरों को मार्ग के विषय में उचित पथ प्रदर्शन करने हेतु राजा उनकी नियुक्ति करे जिससे कि सेना गन्तव्य स्थान पर शीघ्र तथा सरलता से पहुँच सके।[3] आधुनिक काल में भी इस विषय पर पूर्ण ध्यान दिया जाता है और इसके लिये एक दल की नियुक्ति की जाती है, जिसे 'रैकी पेट्रोल' कहते हैं।

---

1. कौ. अ. शा. 9 अधि/1/236/पृ. सं. 558 गी.
2. शान्ति प. 101/23 पृ. 100/26 गी.
3. शान्ति प. 101/11-12 पृ. 100/13/14 गी.

शुक्राचार्य भी मार्गविलम्बन विषय में अपने इस प्रकार के विचार रखते हैं "सेना के मध्य मे स्त्री, कोष, राजा और साधारण धन को रखकर इनकी तथा अपनी सेना की रातदिन सावधानी से रक्षा करता हुआ सेनापति आगे बढ़े। साथ ही नदी पर्वतादि में भय की सम्भावना होने पर व्यूह बांध कर चले।[1]

चाणक्य भी प्रस्तुत विषय में एक पद आगे बढ़कर अपनी सम्मति इस प्रकार देता है "ग्रामों और वनों में होकर मार्ग में चलते समय जिन-जिन स्थानों पर मार्ग मे रुकना हो वहाँ घास, ईंधन एवं जल के खर्च का अनुमान करके उन स्थानों पर पहुँचा दे। कहाँ रुकना और कब-कब चलना है इस बात का निर्णय पहले ही करके विजिगीषु यात्रा करे। यात्रा के समय समस्त आवश्यकीय उपकरण साथ ले ले। सेना के अग्र भाग मे नायक मध्य भाग में अन्तःपुर की रानियाँ और राजा रहे। सेना के दोनों पार्श्व में शत्रु का आघात रोकने के लिये सैनिकों की टुकड़ियाँ रहें। सेना के पीछे अपनी-अपनी सेना के सेनापति रहे।[2]

सेना का आवास स्थान :—शत्रु से बचाव के लिये सैनिकों के रहने का स्थान या दुर्ग ऐसा होना चाहिये जहाँ पहुँचना कठिन हो, जिसके चारों ओर जल से भरी हुई खाई हो और ऊँचा परकोटा हो। साथ ही उसके चारों ओर खुला आकाश होना चाहिये। उस स्थान पर शत्रुओं के आक्रमण को रोकने के लिये सुविधा होनी चाहिये। युद्ध-कुशल पुरुष सेना की छावनी डालने के लिये खुले मैदान की अपेक्षा अनेक गुणों के कारण वन के निकटवर्ती स्थान को अधिक लाभदायक मानते हैं उस वन के समीप ही सेना का पड़ाव प्रशंसनीय माना जाता है। वहाँ व्यूह निर्माण के लिये रथ और वाहनों का उतरना तथा पैदल सैनिकों को छिपा कर रखना असम्भव है। वहाँ रह कर शत्रुओं के प्रहार का प्रत्युत्तर दिया जा सकता है और आपत्ति के समय छिप जाने की भी सुविधा रहती है।[3]

महर्षि शुक्राचार्य ने तो सेना के आवास हेतु ऐरिण, पारिख, पारिध, वन, धन्व, जल, गिरि एवं सैन्य दुर्गों का वर्णन किया*, है, किन्तु इन सबमें भी उनकी सम्मति मे सैनिक दुर्ग ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। अन्य सारे दुर्गों को तो वे साधन मात्र मानते है। सैन्य-दुर्ग को छोडकर अन्य दुर्ग केवल बन्धन-मात्र है। इसलिये

1. शु. नी. 4/7प्र./262–263 श्लो.
2. कौ. अ. शा./10 अधि/2/148 प्रक. पृ. सं. 601 श्लो.
3. शान्ति प. 101/12–15 पृ., 100/15–18 श्लो.

* इन समस्त दुर्गों का वर्णन शुक्र नीति में 4/प्र6/1–5 तक देखना चाहिये।

सैन्य-दुर्ग का इस प्रकार लक्षण कर उसका महत्व बताते हुये उनका कथन है "व्यूह रचना में प्रचुर वीरों के व्याप्त होने से अभेद्य (आक्रमण द्वारा अजेय) हो उसे 'सैन्यदुर्ग'** कहते हैं। शूरवीर दुर्ग-सेना के लिये सभी स्थल दुर्ग की भांति दुर्भेद्य हो जाते हैं। राजा युद्ध की सामग्रियों से परिपूर्ण अर्थात् भोजन के लिये अन्न, शूरवीर सैनिक, अस्त्र-शस्त्र एवं कोष से परिपूर्ण दुर्गों को सुसज्जित रखे और ऐसे ही दुर्ग में रहे। उक्त रीति के दुर्ग में अपने सहायकों से परिपूर्ण रहने वाला राजा सदैव ध्रुव विजय पाता है।"[1]

आज के युग में सेना निवास के लिये दुर्गों का कोई महत्व नहीं रह गया है। वायुयान के आक्रमण के कारण दुर्ग को अब सुविधा के स्थान पर दुविधा के स्थल माने जाते हैं। अब तो सेना का भूमिगत और गुप्त निवास उत्तम माना जाता है।

विभिन्न सेनाओं के लिये पृथक्-पृथक् युद्ध-स्थल :—महाभारत-कार ने अश्वसेना, रथसेना, गजसेना और पदाति सेना के लिये पृथक्-पृथक् युद्धस्थलों का निरुपण किया है। अश्वसेना के लिये पंकरहित, दलदल रहित बांध और ढेलों से रहित भूमि प्रशंसनीय मानी जाती है। रथ सेना के लिये वह भूमि अच्छी मानी गई है जहाँ कर्दम और गड्ढे न हों। जिस भूमि मे नाटे वृक्ष बहुत हों, घास फूस और जलाशय हों, वह गजारोही योद्धाओं के लिये अच्छी मानी गई है। जो भूमि अत्यन्त दुर्गम, अधिक घास-फूस वाली, बांस और बेंतों से भरी हुई तथा पर्वत एवं उपवनों से युक्त हो, वह पैदल सेनाओं के योग्य होती है।[2]

चाणक्य भी महाभारतकार का समर्थन करते हुये उपर्युक्त विषय में अपने विचार इस प्रकार स्पष्ट करते हैं "जिस भूमि पर छोटे-छोटे शिलाखण्ड और वृक्ष हों, लांघने योग्य छोटे-छोटे गड्ढे हों और थोड़ी दरारें हों तो वह रण-भूमि घोड़ों के योग्य होती है। जिस भूमि पर वृक्षों के ठूंठ पत्थर, वृक्ष, लता वल्मीक और बड़ी-बड़ी झाड़ियाँ हो वह भूमि पैदल सैनिकों के लिये उपयुक्त होती है। जिस भूमि पर पर्वत हो, निम्नस्थल हो, उतार चढ़ाव हो, हाथियों को जाने में सुविधा हो, जहाँ के वृक्ष हाथियों को तोड़ने योग्य हों, जहाँ कि लतायें हाथियों के खाने योग्य हों, कीचड़ न हों, स्थान टेढ़ा-मेढ़ा हो, किन्तु दरारें न हों तो वह भूमि हाथियों के लिये उपयुक्त

**अभेद्यं व्यूहविद् वीरव्याप्तं तत्सैन्यदुर्गम्

1. शु. नी. 4/6प्र./7–13
2. शान्ति प. 101/18–20 पू., 100/21–23 कौ.

होती है। जलाशय और धर्मशालादि से युक्त, उबड़-खाबड़ स्थानों से रहित, खेत, क्यारी से हीन एवं यथासमय रथ मोड़ने योग्य स्थान से युक्त भूमि रथ सेना के अनुकूल होती है।"[2]

महर्षि उशना ने भी युद्धस्थल का विवेचन किया है, किन्तु वे सेनानुसार युद्धस्थल का निरूपण न कर युद्धस्थल की श्रेष्ठता तथा हीनता का वर्णन करते हुये कहते है "जिस स्थान पर समयानुसार सैनिको को व्यायाम करने के लिये योग्य भूमि हो और शत्रु के लिये विपरीत पड़े तो वही स्थान युद्ध के लिये चुना जाना उत्तम माना जाता है। जहाँ अपनी तथा शत्रु की सेना के लिये व्यायाम योग्य पर्याप्त भूमि हो उसे युद्धशास्त्रो के पण्डितों ने मध्यम भूमि कहा है। जहाँ शत्रु-सेना के व्यायाम हेतु तो पर्याप्त भूमि हो और अपनी सेना के लिये विपरीत हो वह देश युद्ध के लिये 'अधम' कहा गया है।[3]

आधुनिक काल में रथ, अश्व और गज सेना का तो युद्धस्थल हेतु नाम निशान ही नहीं है रही केवल पैदल सेना जिसके लिये स्थल ढूँढा नहीं जाता जैसा स्थल मिले उसे अपने अनुकूल बनाया जाता है या स्थल के अनुकूल व्यवस्था कर शत्रु पर विजय पाने का प्रयास किया जाता है। यह अवश्य है कि हमारी आधुनिक सेना भी युद्धस्थल का अपनी दृष्टियों से अनुकूल स्थान चुनने का पूर्ण प्रयास करती है, किन्तु अनुकूल स्थल के अभाव में युद्ध विराम नहीं करती।

सेनानुशासन-विधि :—राजा सेना मे कुछ लोगों को दस-दस सैनिकों का नायक बनावे, कुछ को सौ का तथा किसी प्रमुख और आलस्यरहित वीर को एक हजार योद्धाओं का अध्यक्ष बनावे। तत्पश्चात् मुख्य-मुख्य वीरों को एकत्र करके यह प्रतिज्ञा करावे कि हम संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिये प्राण रहते एक दूसरे का साथ नहीं छोड़ेंगे। जो लोग डरपोक हों, वे यहीं से लौट जायें और जो लोग भयानक सग्राम करते हुये शत्रुपक्ष के प्रधान वीर का वध कर सकें वे ही यहाँ ठहरें, क्योकि ऐसे डरपोक मनुष्य घमासान युद्ध में शत्रुओ को न तो तितर-बितर करके भगा सकते हैं और न उनका वध ही कर सकते है। शूरवीर पुरुष ही युद्ध में अपनी और अपने पक्ष के सैनिकों की रक्षा करता हुआ शत्रुओं का संहार कर सकता है। सैनिकों को यह भी समझा देना चाहिये कि युद्ध के मैदान से भागने में कई प्रकार के दोष हैं, एक तो अपने प्रयोजन और धन का नाश होता है, दूसरे

---

1. कौ. अ. शा. 10 अधि./4/153प्र पृ. सं. 612
2. शु. नी. 4/7प्र/227-229 श्लो.

भागते समय शत्रुओं के हाथ से मारे जाने का भय रहता है, तीसरे भागने की निन्दा होती है और सब ओर उसका अपयश फैलता है। इसके अतिरिक्त युद्ध से भागने पर मनुष्य को लोगों के मुख से अनेक प्रकार की दुःखदायिनी बातें सुननी पड़ती हैं। जो लोग युद्ध में पीठ दिखाते हैं, वे मनुष्यों में अधम हैं, केवल योद्धाओं की संख्या बढ़ाने वाले हैं उन्हें इहलोक और परलोक दोनों में ही सुख नहीं मिलता। शत्रु प्रसन्नचित्त होकर भागने वाले योद्धा का पीछा करते है तथा विजयी मनुष्य चन्दन और आभूषणों द्वारा पूजित होते हैं। विजय ही धर्म एवं सम्पूर्ण सुखो का मूल है। कायरों या डरपोक मनुष्यों को जिससे भारी ग्लानि होती है, वीर पुरुष उसी प्रहार और मृत्यु को सहर्ष स्वीकार करता है। अतः तुम लोग यह निश्चय कर लो कि हम स्वर्ग की इच्छा रखकर संग्राम में अपने प्राणों का मोह छोडकर लड़ेंगे। या तो विजय प्राप्त करेंगे या युद्ध में मारे जाकर सद्गति पायेंगे जो इस प्रकार शपथ लेकर जीवन का मोह छोड़ देते हैं वे वीर पुरुष निर्भय होकर शत्रुओं की सेना में घुस जाते हैं।[1]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि अनुशासन सेना का प्राणप्रद धर्म है। अनुशासन से ही सेना विशृंखलित होकर लक्ष्यच्युत हो जाती है, किन्तु दृढ़ निश्चय वाली अनुशासन में बन्धी हुई सेना बड़े से बड़े शत्रु को परास्त कर सकती है।

आधुनिक सेना में अनुशासन का पालन कडाई से किया जाता है। प्रारम्भ से ही इस प्रकार का प्रशिक्षिण दिया जाता है कि सैनिक अनुशासित रहकर अपने से ऊँचे अधिकारी की आज्ञा का पालन कहने ही करता है। सेना को छोटी-छोटी इकाईयों से बडी-बड़ी इकाईयो में पृथक्-पृथक् किया जाता है जिससे अनुशासन बना रहता है। भारतीय सेना अनुशासन की दृष्टि से प्रशंसनीय रही है। अभी पिछले दो युद्धो में पाकिस्तान को अनुशासन के कारण ही हमारी सेना ने पराजित किया। युद्ध पूर्व हमारे सेना-नायक ऐसा ही भाषण देकर सैनिको को दृढ़निश्चय-वाला तथा युद्धोत्साही बना देते हैं। जैसा कि ऊपर बताया गया है। अतः हमारी सेना योजना-बद्ध कार्य कर अनुशासन में बन्धी हुई बड़े से बड़े शत्रु को भी परास्त करने में सक्षम है।

सेना की विजय के लक्षण :—कौरव–पाण्डवों के युद्ध से पूर्व जब महाराज धृतराष्ट्र ने महर्षि व्यास से विजय के लक्षण पूछे तब महर्षि व्यास ने इस प्रकार विजय के लक्षणों पर प्रकाश डाला—

1. शान्ति प. 101/27–39 पू., 100/31–42 गी.

(1) उर्ध्वरश्मियों वाला पावक धूमरहित होकर जब उज्जवल कान्ति से दक्षिणावर्त होकर ऊपर उड़े, साथ ही अग्नि में जो आहुतियाँ डाली जाय उनकी पवित्र सुगन्ध वायु में मिलकर सर्वत्र व्याप्त होती रहे तो इससे उस पक्ष की भावी विजय की सूचना मिलती है।

(2) जिस पक्ष मे शंखों और मृदंगों की गम्भीर ध्वनि बड़े जोर-जोर से हो रही हो तथा जिन्हें सूर्य और चन्द्रमा की किरणें विशुद्ध प्रतीत होती हों, उनके लिये यह भावी विजय का लक्षण बताया जाता है।

(3) प्रस्थान के लिये उद्यत होने पर जब कौए अपनी मीठी ध्वनि का विस्तार करें तो उससे इस पक्ष की विजय सूचित होती है।

(4) जहाँ शुभ एवं कल्याण-मयी बोली बोलने वाले राजहंस, शुक, क्रौंच तथा शतपत्र (मोर) आदि पक्षी सैनिकों की प्रदक्षिणा करते हैं (दाहिने जाते हैं) उस पक्ष की युद्ध मे निश्चित रूप से विजय होती है।

(5) जिस पक्ष की सेना अलकार, कवच, ध्वजापताका सुखपूर्वक किये जाने वाले सिंहनाद अथवा घोड़ों के हिनहिनाने की आवाज से अत्यन्त शोभायमान होती है तथा शत्रुओं को जिसकी सेना की ओर देखना भी कठिन जान पड़ता है, वह अवश्य अपने विपक्ष पर विजय प्राप्त करता है।

(6) जिस पक्ष के योद्धाओं की बातें हर्ष और उत्साह से परिपूर्ण होती है; मन प्रसन्न रहता है तथा जिनके कण्ठ मे पड़ी हुई पुष्प-मालायें म्लान नहीं हैं, वह पक्ष युद्धरूपी महासागर से पार हो जाता है।

(7) जिस पक्ष के योद्धा शत्रु की सेना में प्रवेश करने की इच्छा करते समय अभीष्ट वचन (शौर्यसूचक वचन) बोलते हैं और अपने रण-कौशल का परिचय देते है, वे पीछे प्राप्त होने वाली अपनी विजय को पहले ही निश्चित कर लेते हैं।

(8) जिन योद्धाओं के शब्द रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि निर्विकार एवं शुभ होते हैं तथा जिनके हृदयों में सदा हर्ष और उत्साह बना रहता है, उनके विजय होने का यही शुभ लक्षण है।

(9) हे राजन् ! विजय को वरण करने वाले योद्धाओं के लिये वायु अनुकूल होती है, मेघ और पक्षी भी अनुकूल होते हैं तथा इन्द्रधनुष भी उन्हें अनुकूल दिशा में दृष्टिगोचर होते हैं ।[1]

सेना की पराजय के लक्षण :—जिस पक्ष के वीर मरणासन्न या पराजित होने वाले होते है, उनमें उपर्युक्त लक्षण विपरीत रूप से प्रतिफलित होते है । कहने का तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त लक्षणों से विपरीत लक्षण पराजय के लक्षण कहलाते हैं ।[2]

आधुनिक काल मे इन लक्षणों पर भारतीय सैनिक विश्वास नही करते, उन्हे तो जब अवसर मिले या आज्ञा मिले तब ही वे राजस्थानी के इस दोहे के अनुसार सदैव युद्ध हेतु तत्पर रहते हैं :—

शूर न पूछे टीपणो, शगुन न देखे शूर ।
मरणा नूं मंगल गिणै, समर चढ़े मुख नूर ॥

सेना की विजय के लक्षण :—महर्षि व्यास सेना की विजय होने के कारणों पर प्रकाश डालते हुये कहते हैं "सेना छोटी हो या बडी, उसमें सम्मिलित होने वाले सैनिकों का एक मात्र हर्ष ही निश्चित रूप से विजय का लक्षण बताया जाता है यदि एक दूसरे को जानने वाले हर्ष और उत्साह में भरे रहने वाले कही भी आसक्त न होकर विजय प्राप्ति का दृढ़ निश्चय रखने वाले तथा शौर्य-सम्पन्न पचास सैनिक भी हों तो वे बडी सेना को धूल मे मिला देते हैं । यदि पीछे पैर न हटाने वाले पाँच, छः या सात ही योद्धा हो तो भी निश्चित रूप से विजयी होते हैं । सदा अधिक सेना होने से ही विजय नही होती है । युद्ध में जीत प्रायः अनिश्चित होती है । उसमें दैव ही सबसे बड़ा आश्रय है । जो संग्राम में विजयी होते हैं, वे ही कृतकार्य होते है ।[3]

सेना की पराजय के कारण :—महाराज धृतराष्ट्र ने जब महर्षि व्यास से सेना की पराजय के कारण भी जानने चाहे तो भगवान् बादरायण बोले "यदि सेना का एक सैनिक उत्साहित होकर पीछे हटे तो वह अपनी ही देखा-देखी अत्यन्त

---

1. भीष्म प. 4/15-25 पू., 3/64-73 गी.
2. भीष्म प. 4/25 पू., 3/74 गी.
3. भीष्म प. 4/26, 31-35 पू., 3/75, 82-85 गी.

विशाल सेना को भी भगा देता है। उसके भागने में कारण बन जाता है। उस सेना के पलायन करने पर बड़े-बड़े शूरवीर भी भागने को विवश हो जाते हैं। जब बड़ी भारी सेना भागने लगती है तब डर कर भागे हुये मृगों के झुण्ड तथा नीची भूमि की ओर बहने वाले जल के महान् वेग की भांति उसे पीछे लौटाना बहुत कठिन होता है। भरतनन्दन ! विशाल सेना में जब भगदड़ मच जाती है तब उसे समझा बुझाकर रोकना बहुत ही कठिन हो जाता है। सेना भाग रही है, इतना सुनकर ही बड़े-बड़े युद्ध विद्या के विद्वान् भी भागने लगते है। उस समय बहुत से शूरवीर भी उस विशालवाहिनी को रोककर खड़े नहीं रख सकते। इसलिये बुद्धिमान् राजा को चाहिये कि वह सतत् सावधान रहकर कोई न कोई उपाय करके अपनी विशाल चतुरंगिणी सेना को विशेष सत्कार पूर्वक स्थिर रखने का यत्न करें।[1]

इस प्रकार हम देखते है कि अनुशासन का भंग होना और उत्साह का घटना भी सेना की पराजय के मूल कारण है। जब तक सेना के अनुशासन का तारतम्य बन्धा रहता है, सेना क्रमशः आगे बढती हुई शत्रु पर विजय प्राप्त करती जाती है और जब उत्साह की कमी होने लग जाती है तब सेना में अनुशासनहीनता फैलने लगती है फिर तो एक सैनिक के भागते ही दूसरे सैनिक भी देखा देखी भागने लगते हैं और सेना में भगदड़ मच जाती है, जिसे रोकना बहुत कठिन होता है। अतः राजा या सेनापति को चाहिये कि वह सेना मे अनुशासनहीनता और उत्साह हीनता न होने दे। सैनिकों को पूर्ण संतुष्ट रखकर उनके उत्साह को सदैव बढाता रहे।

सेना की विजय और पराजय मे आधुनिक सेनाविशेषज्ञ भी उपर्युक्त जय और पराजय के कारणो से पूर्ण सहमत हैं।

सेना की विजय के प्रकार :—महर्षि व्यास ने सेना की विजय के तीन प्रकार बताये हैं "सामदान-रूप-उपायों से जो विजय प्राप्त होती है उसे श्रेष्ठ बताया गया है। भेद नीति द्वारा शत्रु सेना मे फूट डालकर जो विजय प्राप्त की जाती है, वह मध्यम है तथा युद्ध के द्वारा मारकाट मचाकर जो शत्रु को पराजित किया जाता है, वह सबसे निम्न श्रेणी की विजय है।"[2]

सेना की अभियान-विधि :—महात्मा भीष्म महाराज युधिष्ठिर को सेना के अभियान की विधि बतलाते हुये कहते हैं "राजन् ! सेना का अभियान

1. भीष्म प. 4/27-29 पू., 3/76-80 गी.
2. भीष्म प. 4/30 पू., 3/81 गी.

करते समय सबसे आगे ढाल, तलवार धारण करने वाले पुरुषों को टुकड़ी रक्खें। पीछे की ओर रथियों की सेना खड़ी करें और बीच में राजस्त्रियों को रक्खें। उस नगर में जो वृद्ध-पुरुष अगुवा हों वे शत्रुओं का सामना और विनाश करने के लिये पैदल सैनिकों को प्रोत्साहन एवं बढ़ावा दें। जो पहले से ही अपने शौर्य के लिये सम्मानित धर्मवान् और मनस्वी हैं वे आगे रहें और दूसरे लोग उन्हीं के पीछे-पीछे चलें। जो डरने वाले सैनिक हों, उनका भी प्रयत्नपूर्वक उत्साह बढ़ाना चाहिये अथवा सेना का विशेष समुदाय दिखाने के लिये ही आस-पास खड़े रहें। यदि अपने पास थोड़े सैनिक हो तो उन्हें एक साथ सम्बद्ध रखकर युद्ध करने का आदेश देना चाहिये और यदि बहुत से योद्धा हो तो उन्हें बहुत दूर तक इच्छानुसार फैलाकर रखना चाहिये। थोड़े से सैनिको को बहुतों के साथ युद्ध करना हो तो उनके लिये सूचीमुख नाम का व्यूह, उपयोगी होता है। अपनी सेना उत्कृष्ट अवस्था में हो या निकृष्ट अवस्था में, बात सच्ची हो या झूठी, हाथ ऊपर उठाकर हल्ला मचाते हुये कहें "यह देखो शत्रु भाग रहे है, भाग रहे है, हमारी मित्र-सेना आ गई है अब निर्भय होकर प्रहार करो।" इतनी बात सुनते ही धैर्यवान् और शक्तिशाली वीर भयंकर सिंहनाद करते हुये शत्रुओं पर टूट पड़े। जो लोग सेना के आगे हो उनसे गर्जन तर्जन करते और किलकारियाँ मारते हुये क्रकच नरसिंहे, भेरी, मृदंग और ढोल आदि बाजे बजवाने चाहियें।[1]

महर्षि शुक्राचार्य यान का लक्षण निम्न प्रकार से करते हुये उसके पाँच भेद बताते है—"अपनी अभीष्ट-सिद्धि के लिये शत्रु के नाशार्थ चढ़ाई करने को 'यान' कहते हैं। यान के पाँच भेद होते है—

(1) जब कोई राजा किसी प्रकार का विग्रह का कारण दिखाकर बलात् शत्रुओं पर आक्रमण कर देता है तो उसे 'विग्रह यान' कहते हैं।

(2) विजय के चाहने वाले राजा को विशेष फल की इच्छा रखने वाले विद्वान् अन्यथ किसी शत्रु पर चढ़ाई करने के समय उसके पूर्व अपने पृष्ठ-भाग स्थित पड़ोसी शत्रु राजा के साथ सन्धि करके चढ़ाई करने को 'सन्धायगमन यान' कहते हैं।

(3) अकेला कोई राजा यदि शक्ति तथा शूरता से युक्त और युद्ध करने में कुशल सामन्तों के साथ एकत्र होकर किसी पर चढ़ाई करें तो 'सम्भूयगमनयान' कहते है।

---

1. शान्ति प. 101/40-47 पू., '00/43-50 गो.

ग्रौर वसाति-भूपालगण—ये सभी महारथी लोग अपनी अपनी सेनाओं के साथ महारथी भीष्म को सब ओर से घेरकर दूसरे सैन्यदल के रूप में सुसज्जित होकर चले। सेना सहित कृतवर्मा, महारथी त्रिगर्त, भाइयों से घिरा हुआ महाराज दुर्योधन, शल, भूरिश्रवा, शल्य तथा कोसलराज वृहद्रथ ये दुर्योधन को आगे करके उसके पीछे पीछे तृतीय सैन्यदल के रूप में चले। इस प्रकार धृतराष्ट्र के महाबली पुत्र रणक्षेत्र में जाकर कवचादि से सुसज्जित हो कुरुक्षेत्र के पश्चिम भाग में यथोचित रूप से खड़े हुये।[1]

पाण्डव सेना का रण प्रस्थान :—जिस प्रकार कौरव सेना ने प्रस्थान किया उसी प्रकार युधिष्ठिर ने भी धृष्टद्युम्नादि प्रमुख वीरों को युद्ध हेतु जाने की आज्ञा दी। वे महाधनुर्धर शूरवीर विचित्र कवच और तपाये हुये सोने के कुण्डल धारण किये वेदी पर घी की आहुति से प्रज्वलित हुये अग्नि देव के समान तथा आकाश में प्रकाशित होने वाले ग्रहों की भांति शोभा पा रहे थे। तदनन्तर धृष्टद्युम्न को आगे करके अभिमन्यु, बृहन्त तथा द्रौपदी के पांचों पुत्रों को प्रथम सेना के दल के साथ नियुक्त कर महाराज युधिष्ठिर ने युद्धार्थ भेजा। भीम सात्यकि, तथा पाण्डुनन्दन अर्जुन को युधिष्ठिर ने द्वितीय सैन्य समूह का नेता बनाकर भेजा। तत्पश्चात् राजा विराट और द्रुपद को साथ लिये अन्यान्य भूपालों सहित स्वयं राजा युधिष्ठिर चले। भयंकर धनुर्धरों से भरी हुई और धृष्टद्युम्न के द्वारा सुरक्षित हो कहीं ठहरती और कहीं आगे बढ़ती हुई वह पाण्डव सेना कहीं निश्चल और कहीं प्रभावशील जल से भरी गंगा के समान दिखाई देती थी। थोड़ी दूर जाकर बुद्धिमान् युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र के पुत्रों के बौद्धिक निश्चय में भ्रम उत्पन्न करने के लिये अपनी सेना का पुनः संगठन किया। उन्होंने द्रौपदी के पुत्रों, अभिमन्यु, नकुल, सहदेव समस्त प्रभद्रकवीर, दसहजार घुड़सवार, दो हजार हाथी सवार, दस हजार पैदल तथा पांच सौ रथी इनके प्रथम दुर्धर्ष दल को भीमसेन की अध्यक्षता में दे दिया। बीच के दल में राजा ने विराट जयत्सेन तथा पांचाल देशीय महारथी युधामन्यु और उत्तमौजा को रक्खा। हाथों में गदा और धनुष को धारण किये ये दोनों वीर बड़े पराक्रमी और मनस्वी थे। उस समय इन सबके मध्य में भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन सेना के पीछे पीछे जा रहे थे।

उस समय धनुष, बाण, खड्ग और गदा धारण करने वाले जो पैदल सैनिक थे वे सहस्त्रों की संख्या में सेना के आगे और पीछे चलते थे। जिस सैन्य-समुद्र में स्वयं राजा युधिष्ठिर थे, उसमें बहुत से भूमिपाल उन्हें चारों ओर से घेर कर चलते

---

1. उ. प. 196/5–11 पू., 195/5–11 गी.

(4) अन्यत्र किसी पर चढ़ाई करने के लिये चल पड़ने पर, मार्ग में यदि प्रसंग-वश उससे अन्यत्र चढ़ाई करने के लिये चल देवें तो उसे [illegible] 'प्रसंग-यान' कहते हैं।

(5) जो शत्रु बुरे फल को पाकर स्वयं विपन्न अवस्था में पड़ गया हो तो उसकी यदि उपेक्षा करके उसके ऊपर चढ़ाई कर दी जावे तो उसे 'उपेक्षायान' कहते हैं।[1]

इस प्रकार महाभारतकार और शुक्राचार्य में यही अन्तर है कि महाभारतकार अभियान की विधि बताते हैं और शुक्राचार्य यान का लक्षण कर उसके भेद बताते हैं।

आधुनिक काल में भी सेना के अभियान करने की लगभग यही विधियां हैं, जो महाभारत काल में थी। अन्तर केवल समय के प्रवाह का है। पहले चतुरंगिणी सेना थी और अब जल-सेना, नभ-सेना और थल-सेना है। इन तीनों सेनाओं का परस्पर सहयोग होता है जैसे वायुसेना आक्रमण कर थलसेना के लिये मार्ग प्रशस्त करती हुई उसे आगे बढ़ने में सहायता करती है और जलसेना समुद्रमार्ग से शत्रु के आक्रमण को रोकती है। अब भी प्रधानता पदातिसेना की ही है।

कौरवसेना का मंगलाचरण और प्रस्थान :—दुर्योधन की प्रेरणा के अनुसार निर्मल-प्रभात में सभी राजा पाण्डवों से युद्ध करने के लिये चले। चलने के पूर्व उन सबने स्नान करके शुद्ध हो श्वेतवस्त्र धारण किये। पुष्पों की मालायें पहनी, ब्राह्मणों से स्वस्ति-वाचन कराया, अग्नि में आहुतियां दी, फिर ध्वजा फहराते हुये हाथों में अस्त्र-शस्त्र लेकर रण-भूमि की ओर चले। वे सभी वेदवेत्ता, शूरवीर तथा उत्तमविधि से व्रत पालन करने वाले थे। सभी कवचधारी तथा युद्ध के चिन्हों से सुशोभित थे।[2]

अवन्तिराजकुमार विन्द और अनुविन्द, बाह्लीकदेशीय सैनिकों के साथ केकयराजकुमार—ये सब द्रोणाचार्य को आगे करके चले। अश्वत्थामा भीष्म, सिन्धुराज, जयद्रथ, दाक्षिणात्य नरेश, पाश्चात्य भूपाल और पर्वतीय भूपाल, गान्धारराज शकुनि तथा पूर्व और उत्तर दिशा के नरेश, शक, किरात, यवन, शिवि

---

1. शु. नी. 4/7अ./235, 253–259
2. उ. प. 196/1–3 पू., 195/1–3 गी.

और असानि-भूपालगण—ये सभी महारथी लोग अपनी अपनी सेनाओं के साथ महारथी भीष्म को सब ओर स घेरकर दूसरे सैन्यदल के रूप में सुसज्जित होकर चले। सेना सहित कृतवर्मा, महारथी त्रिगर्त, भाइयों से घिरा हुआ महाराज दुर्योधन, शल, भूरिश्रवा, शल्य तथा कोसलराज वृहद्रथ ये दुर्योधन को आगे करके उसके पीछे पीछे तृतीय सैन्यदल के रूप में चले। इस प्रकार धृतराष्ट्र के महाबली पुत्र रणक्षेत्र में जाकर कवचादि से सुसज्जित हो कुरुक्षेत्र के पश्चिम भाग में यथोचित रूप स खड़े हुये।[1]

पाण्डव सेना का रण प्रस्थान :—जिस प्रकार कौरव सेना ने प्रस्थान किया उसी प्रकार युधिष्ठिर ने भी धृष्टद्युम्नादि प्रमुख वीरों को युद्ध हेतु जाने की आज्ञा दी। वे महाधनुर्धर शूरवीर विचित्र कवच और तपाये हुये सोने के कुण्डल धारण किये वेदी पर घी की आहुति से प्रज्वलित हुये अग्नि देव के समान तथा आकाश मे प्रकाशित होने वाले ग्रहों की भांति शोभा पा रहे थे। तदनन्तर धृष्टद्युम्न को आगे करके अभिमन्यु, बृहन्त तथा द्रौपदी के पांचों पुत्रों को प्रथम सेना के दल के साथ नियुक्त कर महाराज युधिष्ठिर ने युद्धार्थ भेजा। भीम सात्यकि, तथा पाण्डुनन्दन अर्जुन को युधिष्ठिर ने द्वितीय सैन्य समूह का नेता बनाकर भेजा। तत्पश्चात् राजा विराट और द्रुपद को साथ लिये अन्यान्य भूपालो सहित स्वयं राजा युधिष्ठिर चले। भयंकर धनुर्धरों से भरी हुई और धृष्टद्युम्न के द्वारा सुरक्षित हो कहीं ठहरती और कही आगे बढ़ती हुई वह पाण्डव सेना कहीं निश्चल और कही प्रभावशील जल से भरी गंगा के समान दिखाई देती थी। थोड़ी दूर जाकर बुद्धिमान् युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र के पुत्रों के बौद्धिक निश्चय में भ्रम उत्पन्न करने के लिये अपनी सेना का पुनः संगठन किया। उन्होने द्रौपदी के पुत्रों, अभिमन्यु, नकुल, सहदेव समस्त प्रभद्रकवीर, दसहजार घुड़सवार, दो हजार हाथो सवार, दस हजार पैदल तथा पांच सौ रथी इनके प्रथम दुर्धर्ष दल को भीमसेन की अध्यक्षता में दे दिया। बीच के दल में राजा ने विराट जयत्सेन तथा पांचाल देशीय महारथी युधामन्यु और उत्तमौजा को रक्खा। हाथों में गदा और धनुष को धारण किये ये दोनों वीर बड़े पराक्रमी और मनस्वी थे। उस समय इन सबके मध्य मे भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन सेना के पीछे पीछे जा रहे थे।

उस समय धनुष, बाण, खड्ग और गदा धारण करने वाले जो पैदल सैनिक थे वे सहस्त्रों की संख्या में सेना के आगे और पीछे चलते थे। जिस सैन्य-समुद्र में स्वयं राजा युधिष्ठिर थे, उसमें बहुत से भूमिपाल उन्हे चारों ओर से घेर कर चलते

---

1. उ. प. 196/5–11 पू., 195/5–11 गी.

थे। वृष्णिवंश के प्रमुख महारथी महाधनुर्धर सात्यकि एक लाख रथियों से घिर कर गर्जना करते हुये आगे बढ़ रहे थे। अश्वदेव और ब्रह्म-देव ये दोनों पुरुषरत्न रथ पर बैठकर सेना के पिछले भाग की रक्षा करते हुये जा रहे थे।[1]

भयंकर युद्धोत्पात के लक्षण :—विराट नरेश के गौवंश को जब कौरव चुरा ले गये और महाधनुर्धर अर्जुन ने उन पर उस गौवंश को छुड़ाने हेतु आक्रमण किया तो कौरव पक्ष में जो अपशकुनात्मक उत्पात के लक्षण प्रकट हुये उन्हें आचार्य द्रोण ने दुर्योधन को इस प्रकार बताया "वत्स दुर्योधन अब हमारे शस्त्र-चमक नहीं रहे है। घोड़े प्रसन्न नहीं जान पड़ते और अग्निहोत्र की अग्नियाँ भी प्रज्वलित एवं उद्दीप्त नही हो रही हैं। यह सब कुछ अशुभ की सूचना है। हमारे सभी पशु सूर्य की ओर दृष्टि करके भयंकर क्रन्दन करते है और रथों की ध्वजाओ मे कौवे छिप रहे हैं। यह भी शुभ सूचक नही है। ये पक्षी भी हमारे वामभाग में उड़कर महान् भय की सूचना दे रहे हैं और यह शृगाल बिना किसी आघात के हमारी सेना के बीच से निकलकर रोता हुआ भाग रहा है। यह भी महान् भय का विज्ञापन कर रहा है। मैं देखता हूँ कि हमारे सैनिको के रोमाच हो आया है, अतः निश्चय ही इस युद्ध के द्वारा क्षत्रियो का विनाश निकट दिखायी देता है। सूर्य आदि का प्रकाश मन्द पड़ गया है। भयंकर मृग और पक्षी सामने आ रहे हैं और क्षात्रियों के सहार की सूचना देने वाले अनेक प्रकार के घोर उत्पात दिखाई देते है। राजा दुर्योधन! तुम्हारी सेना के ऊपर जलती हुई उल्काए गिरगिर कर पीड़ा देती है। हमारे वाहन अप्रसन्न तथा रोते से दिखाई दे रहे है। सेना के चारों ओर गिद्ध बैठ रहे हैं, इससे जान पड़ता है कि तुम अपनी सेना को अर्जुन के बाणो से पीडित होते देख मन में संताप करोगे। तुम्हारी सेना अभी से तिरस्कृत सी हो रही है और कोई भी सैनिक युद्ध करना नही चाहता। समस्त सैनिको के मुख पर भारी उदासी छा गई है और सब अचेत तथा हतोत्साह हो रहे ह।[2]

कौरव और पाण्डवों के रणांगण में आने पर अपशकुन :—इसी प्रकार महाभारत के महासमर का श्रीगणेश करने के लिये जब दोनों पक्षों की सेनायें रणांगण में उपस्थित हुई तक भयंकर अपशकुन हुये। उस समय वहाँ मेघ सब दिशाओ में समस्त सैनिको पर मांस और रक्त की वर्षा करने लगे। यह एक अद्भुत सी बात हुई। तदनन्तर वहां नीचे से बालू तथा ककड खीच कर सब ओर बिखेरने वाले बवडर की सी वायु उठी, जिसने सैंकड़ों हजारो सैनिकों को घायल

1. उ. प. 197/1–18 पू., 196/1–25 गी.
2. विराट प. 41/19–23 पू., 46/24–33 गी.

कर दिया।[1] दोनों सेनाओं के कुरुक्षेत्र में एकत्र हो जाने पर संजय ने महाराज धृतराष्ट्र को श्रीकृष्णद्वैपायन व्यास की भविष्य वाणी को प्रत्यक्ष देख कर कहा 'राजन् ! उस दिन (युद्ध के प्रथम दिन) चन्द्रमा मघा नक्षत्र पर था। आकाश में सात महाग्रह अग्नि के समान उद्दीप्त दिखाई दे रहे थे। उदयकाल में सूर्य दो भागों में बंटा हुआ सा दिखाई देने लगा। साथ ही वह अपनी प्रचण्ड ज्वालाओं से अधिकाधिक जाज्वल्यमान होकर उदित हुआ था सम्पूर्ण दिशाओं मे दाह सा हो रहा था और मांस तथा रक्त का आहार करने वाले शृंगाल और कौए मनुष्यों तथा पशुओं के मृत शरीरों को खाने की लालसा रखकर अमंगलसूचक शब्द कर रहे थे।[2]

भीष्म के अभिषेक काल में अपशकुन :—जब भीष्म पितामह का सेनापति पद पर अभिषेक किया गया तो कई अपशकुन इस प्रकार हुये। बिना मेघों के ही आकाश से रक्त की वर्षा होने लगी, जिसकी कीच जम गई। हाथियों के चिग्घाड़ने के साथ ही विद्युत में गड़गड़ाहट के समान भयंकर शब्द होने लगे। धरणी डोलने लगी। इन सब उत्पातों ने प्रकट होकर योद्धाओं के मानसिक उत्साह को दबा दिया। अशुभ आकाशवाणी सुनाई देने लगी, आकाश से उल्कायें गिरने लगीं। भय की सूचना देने वाली सियारनियां जोर-जोर से अमंगलजनक शब्द करने लगीं। राजा दुर्योधन ने जब गांगेय का सेनापति पद पर अभिषेक किया तो उस समय इस प्रकार के सैंकड़ों अपशकुन हुये।[3]

कर्ण के रण प्रस्थान काल में अपशकुन :—इसी भांति कर्ण जब सेनापति बनकर अपने वीरों के साथ प्रसन्नतापूर्वक प्रस्थान करने लगा तब धरा हिल उठी और जोर-जोर से अव्यक्त शब्द करने लगी। उस समय सूर्य-मण्डल से सात बड़े-बड़े ग्रह निकलते दिखाई दिये, उल्कापात होने लगा, दिशाओं में आग सी जल उठी, बिना वर्षा के ही बिजलियां गिरने लगी और भयानक आंधी चलने लगी। बहुतेरे मृग और पक्षी महान् भय की सूचना देते हुये अनेक बार कौरव-सेना को दाहिने करके चले गये। कर्ण के प्रस्थान करते ही उसके घोड़े भूमि पर गिर पड़े तथा आकाश से हड्डियों की भयंकर वर्षा होने लगी तथा कौरवों के शस्त्र जल उठे, ध्वजायें हिलने लगीं और वाहन आंसू बहाने लगे। इस प्रकार ये तथा और

---

1. भीष्म प. 1/21–22 पू., 1/21–22 गी.
2. भीष्म प. 17/1 4 गी. पूनानहीं.
3. उ. प. 153/28–31 पू., 156/28–31 गी.

भी बहुत से भयंकर उत्पात वहां प्रकट हुये जो कौरवों के विनाश की सूचना दे रहे थे।[1]

कर्ण द्वारा अभिहित विजय शकुन :—भगवान् श्रीकृष्ण जब कर्ण को पाण्डव पक्ष में सम्मिलित होने के लिये कहने लगे तो उसने अपने स्वप्न का वर्णन करते हुये पाण्डवों की निश्चित विजय होने वाले शकुनों को इस प्रकार प्रकट किया "हे गोविन्द ! पाण्डवो के वाहन प्रसन्न बताये जाते है और मृग उनके दाहिने जाते देखे जाते हैं। यह शकुन उनकी विजय की सूचना देता है। मयूर शुभशकुन सूचित करने वाले मुर्ग, हँस, सारस, चातक तथा चकोरों के समुदाय पाण्डवों का अनुसरण करते है। पाण्डवों की भेरियां बिना बजाये बज उठती है। पाण्डव मेरे द्वारा स्वप्न में श्वेत पगड़ी और श्वेत वस्त्र धारण किये हुये देखे गये है और उन सबके आसन भी मेरे द्वारा श्वेत वर्ण के ही देखे गये है। मैंने यह भी देखा है कि युधिष्ठिर इस वसुन्धरा को अपना ग्रास बनाये जा रहे हैं। अतः यह निश्चित है कि युधिष्ठिर ही इस भूमण्डल का उपभोग करेंगे।[2]

हमारे भारतीय साहित्य में विभिन्न प्रकार के शकुनों का वर्णन बहुलता से मिलता है। यहां तक कि ज्योतिषशास्त्र में शकुन-शास्त्र एक अलग ही शाखा के रूप में प्रचलित है। अतः भारतीय साहित्य-ज्ञान-कोष-महाभारत में भी इन विविध शकुनों का वर्णन पर्याप्त रूप से उपलब्ध होता है। वस्तुतः यह शकुन पहले ही माने जाते थे और आजकल नहीं ऐसी बात नहीं है। अब भी हमारी भारतीय जनता इन शकुनापशकुनों पर बहुत विश्वास करती है। क्योंकि इनका प्रतिफल देखा जाता है। यदि प्रतिफल दिखाई न दे तो क्यो कोई विश्वास करें ? अभी जब भारत का पाकिस्तान के साथ युद्ध हुआ था तो उषा-काल में एक उल्का (पुच्छल तारा) देखी जाती थी जो भयंकर युद्ध का सूचक थी और वह युद्ध होकर भी रहा। इसी प्रकार हमारी भारतीय सेना मे आज भी वयोवृद्ध सैनिक इन शकुनों को जानते है और इन पर विश्वासादि भी करते हैं। उदाहरणार्थ आप छींक को ही ले लीजिये। छींक का सामने होना अपशकुन माना जाता है, किन्तु पीछे की छींक शुभदायक होती है। यह अवश्य है कि भारतीय सेना में इन शकुनापशकुनों पर ध्यान नहीं दिया जाता और न इन्हें सैनिक-दृष्टि से महत्त्व ही दिया जाता है। अतः सेना में इन्हें कार्य-रूप में परिणत नहीं किया जाता है, जो एक उच्चकोटि के

1. कर्ण प. 26/33-38 पू., 37/3-9 गी.
2. उ. प. 143/16, 18, 20, 31, 34 गी., पू. नहीं

पौरुष की सूचना देता है क्योंकि उच्चकोटि का वीर मुहुर्त और शकुनापशकुनों पर विश्वास नहीं करता।

पाण्डव-सेना की शिविर व्यवस्था :—महाभारत में युधिष्ठिर ने एक चिकने और समतल प्रदेश में जहाँ घास और ईंधन की अधिकता थी, अपनी सेना का पड़ाव डाला। श्मशान, देवमन्दिर, महर्षियों के आश्रम, तीर्थ और सिद्धक्षेत्र इन सबका परित्याग करके उन स्थानों से बहुत दूर ऊसर रहित मनोहर शुद्ध एवं पवित्र स्थान में जाकर महामति युधिष्ठिर ने अपनी सेना को ठहराया। तदनन्तर धृष्टद्युम्न और सात्यकि ने शिविर बनाने योग्य भूमि को नापा। तत्पश्चात् श्रीकृष्ण ने पवित्र जल-वाली, सुन्दर-घाट-वाली एवं कंकड़ तथा कर्दम से रहित हिरण्यवती नामक नदी के समीप पहुँचकर खाई खुदवाई और उसकी रक्षा के लिये प्रहरियों को नियुक्त किया। पाण्डवों के लिये जिस विधि से शिविर का निर्माण किया था। उसी प्रकार केशव ने अन्य राजाओं के लिये भी शिविर बनवाये। उस समय राजाओं के लिये सैकड़ों और हजारों की संख्या में दुर्धर्ष एवं बहुमूल्य शिविर पृथक् पृथक् बनवाये गये थे। उनमें भी बहुत से काष्ठों तथा प्रचुर मात्रा में भक्ष्यभोज्य-अन्न एवं पान–सामग्री का संग्रह किया गया था। वे समस्त शिविर भूतल पर रहते हुये विमानों के समान सुशोभित हो रहे थे। वहाँ सैकड़ों शिल्पी और शास्त्रविशारद वैद्य वेतन देकर रक्खे गये थे, जो समस्त आवश्यक उपकरणों के साथ वहाँ रहते थे। प्रत्येक शिविर में प्रत्यंची, धनुष, कवच, अस्त्र–शस्त्र, मधु, घी तथा राल का चूरा—इन सबके पहाड़ों जैसे ढेर लगे हुये थे। राजा युधिष्ठिर ने प्रत्येक शिविर में प्रचुर जल, सुन्दर घास, भूसी और अग्नि का संग्रह करा रखा था। बड़े–बड़े यन्त्र नाराच, तोमर, फरसे, धनुष, कवच, ऋष्टि और तरकस ये सब वस्तुएँ भी उन सभी शिविरों में संग्रहित थी। वहाँ लाखों योद्धाओं के साथ युद्ध करने में समर्थ पर्वतों के समान विशालकाय बहुत से हाथी दिखायी देते थे, जो काँटेदार साज-सामान, लोहे के कवच तथा लोहे की शूल धारण किये हुये थे।[1]

कौरवों की शिविर व्यवस्था :—दौत्यकार्य लेकर आये श्रीकृष्ण जब कृतकार्य हुये बिना ही लौटकर चले गये तब दुर्योधन ने भयंकर युद्ध की सम्भावना करके कुरुक्षेत्र में भूमिपालों को शिविर निर्माण हेतु इस प्रकार आज्ञा दी "हे राजाओं! आप कुरुक्षेत्र में सैकड़ों और हजारों की संख्या में ऐसे शिविर तैयार करावें, जिनमें अपनी आवश्यकता के अनुसार पर्याप्त अवकाश हो तथा शत्रु लोग जिन पर अधिकार न कर सकें। उनमें पास ही जल और काष्ठादि मिलने की

1. उ. प. 149/67–82 पू., 152/1–16 गी.

सुविधाएँ हों। उनमें ऐसे मार्ग होने चाहिये जिनके द्वारा खाद्य सामग्री सुविधा से लायी जा सके और शत्रु लोग उसे नष्ट न कर सकें तथा उनके चारों ओर किले बन्दी कर दी जानी चाहिये। उन शिविरों को नाना प्रकार के अस्त्र शस्त्रों से भरपूर तथा ध्वजपताकाओं से सुशोभित रखना चाहिये। शिविरों का जो नगर बसाया जाय, उससे बाहर अनेक सीधे तथा समतल मार्ग उन शिविरों में जाने के लिये बनाये जायें।[1]

तदनन्तर राजा दुर्योधन ने कर्ण के साथ कुरुक्षेत्र में जाकर एक समतल प्रदेश में शिविर के लिये भूमि को नपवाया। वह भूमि ऊसर-रहित, मनोहर एवं ईंधन की बहुतायत वाली थी।[2] वहाँ दुर्योधन ने अपने लिये ऐसा निवास-स्थान बनवाया जो दूसरे हस्तिनापुर की भाँति सजा हुआ था। अन्य राजाओं के लिये भी उसने वैसे ही सैकड़ों तथा सहस्त्रों दुर्ग बनवाये। समरांगण के लिये पाँच योजन का घेरा छोड़कर सैनिकों के ठहरने के लिये सौ-सौ की संख्या में कितनी ही श्रेणिबद्ध छावनियाँ डाली गईं। उन्हीं बहुमूल्य आवश्यक सामग्रियों से सम्पन्न हजारों छावनियों में वे भूपाल अपने बल उत्साह के अनुरूप युद्ध के लिये उद्यत होकर रहने लगे। राजा दुर्योधन ने सवारियों और सैनिकों सहित उन महामना नरेशों को परम उत्तम भोज्य पदार्थ दिये। हाथियों, अश्वों, पैदल मनुष्यों, शिल्पजीवियों अन्य अनुगामियों तथा सूत, मागध और बन्दीजनों को भी राजा की ओर से भोजनादि की सुव्यवस्था की गई। वहाँ जो वणिक, गणिकायें, गुप्तचर तथा दर्शक मनुष्य आने लगे, उन सबकी कुरुराज दुर्योधन ने विधिपूर्वक देखभाल की व्यवस्था की।[3]

महर्षि उशना ने शिविर व्यवस्था को 'आसन'× के नाम से अभिहित करते हुये उसका लक्षण इस प्रकार किया है "जिन स्थलों से शत्रु सेना के ऊपर यन्त्रयुक्त अस्त्रों (तोपादि) के द्वारा प्रहार करके उसका भेदन किया जा सके। उन स्थलों में सेना के सहित राजा के ठहरने को 'आसन' कहते हैं।" इसके अतिरिक्त महर्षि शुक्राचार्य की शिविर व्यवस्था भी महाभारतकार से ठीक मिलती है।

1. उ. प. 150/14–16 पू., 153/14–16 गी.
2. उ. प. 153/34–35 पू, 156/35–36 गी.
3. उ. प. 196/12–19 पू., 195/12–19 गी.

× यन्त्रास्त्रैः शत्रुसेनाया भेदोयेभ्यः प्रजायते स्थले भूस्तेषु सन्तिष्ठेत् ससैन्यो ह्यासनं हि तत्। (शु.नी. 4/7प्र/284)

अर्थशास्त्र के प्रणेता अपने ग्रन्थ में शिविर व्यवस्था का वैसा ही वर्णन प्रस्तुत करते हैं जैसा कि महाभारतकार ने प्रस्तुत किया है।[1] यदि हम सूक्ष्म-दृष्टि से देखें तो उसमें केवल व्यक्ति-विशेष के नाते तथा सामयिक-दृष्टि से कुछ विस्तार सा मिलता है, किन्तु वह नहीं के समान है। अतः, शुक्र और चाणक्य भी महाभारत कार की ही शिविर व्यवस्था से सहमत हैं ऐसा कह दें तो कोई अत्युक्ति नही है।

आधुनिक सेना में भी शिविर व्यवस्था में उन्ही बातों को पूर्णरूपेण महत्व दिया जाता है जिन बातों का उल्लेख प्राचीन आचार्यों ने किया है। उदाहरणार्थ शिविर की भूमि ऊसर रहित हो, मनोहर हो, जलादि की सुविधा हो और आने-जाने के रास्ते ठीक हों आदि। इस प्रकार हम देखते हैं कि सेना की शिविर व्यवस्था के विषय मे प्राचीन तथा अर्वाचीन सैन्य-विशेषज्ञ एकसा ही मत रखते है।

युद्ध स्थिति (मोर्चाबन्दी) का प्रकार :—महात्मा भीष्म राजा युधिष्ठिर को मोर्चाबन्दी का प्रकार बताते हुये बोले "राजन्! योद्धाओं को चाहिये कि वे सप्तर्षियों को पीछे रखकर पर्वत की भांति अविचल भाव से युद्ध करें। इस विधि से आक्रमण करने वाला राजा दुर्जय शत्रुओ को भी जीतने की आशा कर सकता है। जिस ओर वायु, जिस ओर सूर्य और जिस ओर शुक्र हो उसी ओर पृष्ठ भाग रखकर युद्ध करने से विजय प्राप्त होती है। युधिष्ठिर यदि ये तीनो भिन्न भिन्न दिशाओं में हों तो इनमें पहला पहला श्रेष्ठ है अर्थात् वायु को पीछे रखकर शेष दो को सामने रखते हुये भी युद्ध किया जा सकता है।[2]

पाण्डव सेना की युद्ध स्थिति :—पाण्डवों के योद्धा लोग अपने अपने सैनिकों सहित धृतराष्ट्र पुत्र की दुर्धर्ष सेना के सम्मुख जाकर पश्चिम भाग में पूर्वाभिमुख होकर ठहर गये थे। वहाँ सभी वर्णों के लोग एक ही स्थान पर एकत्र थे। युद्ध-भूमि का घेरा कई योजन लम्बा था उन सब लोगों ने वहाँ के अनेक प्रदेशों, नदियों, पर्वतों और वनों को सब ओर से घेर लिया था। युद्ध-काल उपस्थित होने पर युधिष्ठिर ने सभी सैनिकों की पहिचान के लिये उन्हें भिन्न भिन्न प्रकार के सकेत और आभूषण दे दिये थे, जिससे यह जान पड़े कि यह पाण्डव-पक्ष का सैनिक है।[3]

---

1. अर्थ. शा. 9/9 अधि. 1/147 प्र.
2. शान्ति प. 101/16-16 पू., 100/19-20 गी.
3. भीष्म प. 1/5, 9, 12 पू., 1/5, 9, 12 गी.

कौरव सेना की युद्ध स्थिति :—कुन्ती-पुत्र अर्जुन की ध्वजा का अग्रभाग देखकर दुर्योधन ने भी समस्त भूपालों के साथ पाण्डव-सेना के विरुद्ध अपनी सेना की व्यूह रचना की। उसके मस्तक पर श्वेत छत्र तना हुआ था। वह एक हजार हाथियों के बीच में अपने भाइयों से घिरा हुआ शोभा पाता था। दुर्योधन को देखकर युद्ध का अभिनन्दन करने वाले पांचाल सैनिक बहुत प्रसन्न हुये और प्रसन्नतापूर्वक बड़े-बड़े शंखों तथा मधुर ध्वनि करने वाली भेरियों को बजाने लगे।[1]

दोनों सेनाओं की युद्ध-स्थिति का वर्णन :—महाराज धृतराष्ट्र ने जब संजय को दोनों सेनाओं की युद्ध-स्थिति के विषय में पूछा तब उसने कहा "नरेन्द्र! दोनों ओर की सेनायें समान रूप से आगे बढ़ रही हैं। दोनों ओर के व्यूह में खड़े हुये सैनिक हर्ष से उल्लसित हो रहे हैं। दोनों ही सेनायें वन-श्रेणियों के समान आश्चर्य रूप प्रतीत होती हैं और दोनों ही हाथी, रथ एवं घोड़ों से भरी हुई है। भारत! दोनों ओर की सेनायें विशाल भयंकर और दुःसह है, मानो विधाता ने दोनों सेनाओं को स्वर्ग की प्राप्ति के लिये ही रचा है। दोनों में ही सत्पुरुष भरे हुये है। कौरवों का मुख पश्चिम दिशा की ओर है और कुन्ती-पुत्र उनसे युद्ध करने के लिये पूर्वाभिमुख खड़े हैं। कौरव-सेना दैत्य-राज की सेना के समान जान पड़ती है और पाण्डव वाहिनी देवराज इन्द्र की सेना के तुल्य प्रतीत होती है। पाण्डव-सेना के पीछे की ओर से वायु चल रही है और आपके पुत्रों की ओर हिंसक जन्तु बोल रहे है। आपके पुत्र की सेना में जो हाथी हैं, वे पाण्डव पक्ष के गजराजों के मदों की तीव्रगन्ध सहन नहीं कर पा रहे हैं।[2]

कौरव सेना का अभियान :—दुर्योधन कमल के समान कान्ति-वाले मदस्रावी गजराज पर बैठकर कौरव-सेना के मध्य खड़ा था। उसके हाथी पर सोने का हौदा था और पीठ पर सोने की जाली बिछी हुई थी। उस समय बन्दी और मागधजन उसकी स्तुति कर रहे थे। गान्धार-राज शकुनि गान्धार-देश के पर्वतीय योद्धाओं के साथ आकर दुर्योधन को सब ओर से घेर कर चल रहा था। श्वेत पगड़ी, श्वेत छत्र, श्वेत धनुष, श्वेत खड्ग, श्वेत अश्व और श्वेत ध्वजा से शोभित रथ में विद्यमान वृद्ध भीष्म सेना के आगे-आगे चल रहे थे। उनके पीछे पीछे प्रायः समस्त राजाओं के गुरू उदार हृदय-वाले महामना द्रोणाचार्य हाथ में धनुष लिये लाल घोड़े जुते हुये स्वर्णमय रथ में बैठकर भूमिपाल की भांति युद्ध के लिये जा रहे थे। जयद्रथ, भूरिश्रवा, पुरुमित्र, जय, शल्य और मत्स्यदेशीय क्षत्रिय तथा सब-भाई

---

1. भीष्म प. 1/13–15 पू., 1/13–15 गी.
2. भीष्म प. 20/3–6 पू., 20/3–6 गी.

केकय-राजकुमार युद्ध की इच्छा से हाथियों के समूह को साथ ले सम्पूर्ण सेना के मध्य भाग में चल रहे थे। महाधनुर्धर और विचित्र रीति से युद्ध करने वाले गौतम वंशीय महामना कृपाचार्य गुरुतर भार ग्रहण कर शक, किरात, यवन तथा पह्लव सैनिकों के साथ कौरव-सेना के बायें भाग में होकर चल रहे थे। सेना-सहित कृतवर्मा दाहिने भाग से युद्ध हेतु चल रहा था। कौरव-सेना में एक लाख से अधिक हाथी, एक एक हाथी के साथ सौ सौ रथ और एक एक रथ के सौ सौ घोड़े थे। भीष्म ने व्यूह बनाकर प्रत्येक अश्व के पीछे दस दस धनुर्धर और प्रत्येक धनुर्धर के साथ सौ सौ सैनिक पैदल नियुक्त किये थे।[1]

युधिष्ठिर की सेना का अभियान :—राजा युधिष्ठिर ने भी भीष्म की सेना का सामना करने के लिये अपनी सेना की व्यूह रचना करते हुये उसे युद्ध के लिये प्रेरित किया। व्यूह के मध्यभाग में अर्जुन द्वारा सुरक्षित शिखण्डी की सेना थी और अग्रभाग में भीमसेन द्वारा पालित धृष्टद्युम्न विचरण कर रहा था। व्यूह के दक्षिण भाग की रक्षा इन्द्र के समान धनुर्धर सात्वतशिरोमणि सात्यकि कर रहे थे। राजा युधिष्ठिर हाथियों की सेना के साथ मध्य में खड़े एक सुन्दर रथ पर आरुढ हुये जो देवराज इन्द्र के रथ की समानता कर रहा था।[2]

आधुनिक सेना में भी व्यूहादिकों के द्वारा ही मोर्चाबन्दी की जाती है। आजकल भुशुण्डी से युद्ध करने के कारण अपने शरीर की लम्बाई के अनुकूल खाई खोद ली जाती है। खाई टूट जाने पर ट्रेन्च मोटर और गोली आदि से आक्रमण किया जाता है। शत्रु के विरुद्ध-स्थल देखकर टैंकादि खड़े करके आक्रमण किया जाता है।

इति—पंचम पर्व

1. भीष्म प. 20/7–17 पू., 20/7–17 गी.
2. भीष्म प. 22/1–5 पू., 22/1–5 गी.

षष्ठ–पर्व

महाभारत में युद्ध के प्रकार

विश्व के विशालतम ग्रन्थ महाभारत में अनेक प्रकार के युद्धों का वर्णन होता है। जिन्हें हम अस्त्र, (दिव्यास्त्र) शस्त्र, माया, मल्ल, मुष्टिक, प्रस्तर वृक्ष उपलब्ध और द्वन्द्वादि अनेक संज्ञाओं से अभिहित कर सकते है।

महर्षि शुक्राचार्य ने भी उत्तममध्यमादि रूप में चार प्रकार के युद्ध बताये हैं उनका कथन है "मंत्र द्वारा प्रयुक्त अस्त्रों से होने वाले युद्ध को उत्तम, नलिकास्त्रों (बन्दूक तोपादिकों) से होने वाले युद्ध को मध्यम, अस्त्रों से होने वाले युद्ध को कनिष्ठ और बाहु से होने वाले युद्ध को अधम कहते हैं।"[1]

अब हम उपर्युक्त युद्धों का लक्षण करते हुये अन्य ग्रन्थकारों तथा आधुनिक अस्त्र (परमाणु अस्त्र) शस्त्रों से तुलना करते हुये इनका क्रमिक वर्णन प्रस्तुत करते हैं—

(ख) दिव्यास्त्र युद्ध :—ब्रह्म, आग्नेय, ऐन्द्र वरुण और पाशुपतादि दिव्यास्त्रों के युद्ध को दिव्यास्त्र युद्ध कहते हैं। महर्षि शुक्राचार्य इसे मांत्रिक युद्ध कहकर इसे सर्वोत्तम युद्ध बताते हुये इसका लक्षण इस प्रकार करते हैं "जिस युद्ध में मंत्र से अभिमन्त्रित करके छोड़े हुये महाशक्तिशाली बाणादि द्वारा शत्रु का नाश किया जाता है, ऐसे मान्त्रिकास्त्र से होने वाले युद्ध को सब युद्धों में उत्तम कहा है।"[2]

---

1. उत्तमं मान्त्रिकामूत्रेण, नालिकास्त्रेण मध्यमम् ॥334॥
   शस्त्रैः कनिष्ठं युद्धन्तु बाहुयुद्धं ततोऽधमम् ॥ (शु. नी. 4/7प्र./334–334½)
2. मन्त्रैस्ति–महाशक्ति–बाणाद्यैः शत्रुनाशनम् ॥335॥
   मित्रवामूत्रेण तद्युद्धं सर्वं युद्धोत्तमं स्मृतम् । (शु, नी, 4/7प्र/335½)

दिव्यास्त्रों की दिव्य चमत्कृत मे चमत्कृति होने के पूर्व यह आवश्यक है कि हम दिव्यास्त्र प्राप्ति के उपायों, उनके सामान्य नियमों तथा उनके प्रति बन्धादि के विषय में भी जान लें। अतः हम पहले दिव्यास्त्र प्राप्ति के साधनों पर प्रकाश डालते है—

दिव्यास्त्र प्राप्ति के साधन :—महाभारत ग्रन्थ का आलोड़न करने पर हमें दिव्यास्त्र प्राप्ति हेतु तप, गुरुकृपा और परम्परा ये तीन ही साधन प्रधान रूप से प्राप्त होते हैं। जिनका विवेचन इस प्रकार है—

तप :— यदि हम प्राचीन इतिहास पर दीर्घ-दृष्टिपात करें तो तप को ही दिव्यास्त्रों की प्राप्ति का प्रधान साधन पायेंगे। उदाहरणार्थ जब धनंजय अनेक दिव्यास्त्रो की प्राप्ति कर स्वर्ग से लौटकर आते है तब युधिष्ठिर उन्हे दिव्यास्त्र प्राप्ति का तथा यात्रा का वृतान्त पूछते हैं और अर्जुन उन्हें इस विषय में बताते हुये कहते हैं *"महाराज ! काम्यकवन से चलकर तपस्या में पूरी आशा रखकर मैं* भृगुतुंग पर्वत पर पहुँचा, वहां मुझे मार्ग मे एक ब्राह्मण देवता का दर्शन हुआ और उन्होंने मुझ से जो कुछ पूछा, मैंने सच सच बता दिया। वे मेरी यथार्थ बातें सुनकर बड़े प्रसन्न हुये और बोले "भारत ! तुम तपस्या का आश्रय लो। तप मे प्रवृत्त होने पर तुम्हें शीघ्र ही देवराज इन्द्र का दर्शन होगा" मैं उनके इस आदेश को मानकर हिमालय पर्वत मे तपस्या मे लीन हो गया और एक मास तक केवल फलफूल खाकर रहा। दूसरे मास मे केवल जल ही पिया, तीसरे में निराहार रहा, चौथे में ऊपर हाथ उठाये खड़ा रहा, किन्तु मेरा बल क्षीण नहीं हुआ, यह मेरे लिये भी आश्चर्य था। पाँचवें माह में भगवान् शिव ने मेरी परीक्षा ली और प्रसन्न होकर बोले "परंतप मैं तुमसे सन्तुष्ट हूँ। बोलो तुम्हारा कौनसा कार्य सिद्ध करूँ ? अमरत्व को छोड़कर और तुम्हारे मन में जो भी कामना हो, बताओ।" तब मैंने प्रणाम करके प्रार्थना की "भगवन् ! यदि आप मुझ पर प्रसन्न है तो मुझे वे सभी दिव्यास्त्र प्रदान कीजिये जो देवताओं के पास विद्यमान है।" यह सुनकर भगवान् त्र्यम्बक ने कहा "हे पाण्डुनन्दन ! मैं सभी दिव्यास्त्रों की प्राप्ति का वरदान तुम्हे देता हूँ और मेरा रौद्रास्त्र स्वयं तुम्हें समय पर प्राप्त हो जायेगा।" यह कहकर भगवान् पशुपति ने बड़ी प्रसन्नता के साथ मुझे अपना महान् पशुपतास्त्र प्रदान किया।"[1]

इसी प्रकार सिन्धुराज जयद्रथ ने भी द्रौपदी-हरण प्रसंग में भीम से अपमानित होकर भगवान् शिव से दिव्यास्त्र बल की प्राप्ति हेतु घोर तपस्या की और

1. वन प. 163/1–17, 43–50 पू., 167/1–18, 44–51 गी.

भगवान् शिव ने उसकी तपस्या पर प्रसन्न होकर उसे ऐसा दिव्यास्त्र बल प्रदान किया जिससे उसने अभिमन्यु बध काल में अर्जुन को छोड़कर अन्य चारों पाण्डवों को चक्रव्यूह में प्रविष्ट नहीं होने दिया और उन्हें प्रवेश द्वार पर ही रोक दिया।[1]

द्रोणपुत्र अश्वत्थामा ने भी इसी प्रकार भगवान् भूतनाथ की घोर तपस्या कर पांचालों के नाश हेतु दिव्य खड्ग की प्राप्ति की। द्रौणि की भयंकर तपस्या से भगवान् शिव ने केवल उसे खड्ग ही प्रदान नहीं किया अपितु स्वयं ने भी उसके शरीर में प्रवेश कर एकाकी रूप में ही पांचालों का वह नरसंहार किया जो दिव्य शक्ति के बिना कभी नहीं किया जा सकता था।[2]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि जो जो भी दिव्यास्त्र जिन जिन के द्वारा प्राप्त किये गये उनकी प्राप्ति में तप ही प्रधान साधन रहा। इससे स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में प्रधान रूप से बिना तपस्या के दिव्यास्त्रों की प्राप्ति नहीं हो सकती थी।

गुरु-कृपा :—दिव्यास्त्रों की प्राप्ति के लिये तपस्या के बाद गुरु-सेवा से वरदान-रूप में प्राप्त होने वाली गुरु-कृपा का द्वितीय स्थान है। उदाहरणार्थ धनंजय ने द्रोणाचार्य को ग्राह से बचाकर गुरु के प्राणों की रक्षा-रूपी महती सेवा की तो गुरु ने कृपा कर उसे ब्रह्मशिरास्त्र प्रदान किया।[3] इसी प्रकार एकलव्य का ज्वलन्त उदाहरण भी हम इस विषय में पहले प्रस्तुत कर चुके है।

परम्परा :—दिव्यास्त्रों की प्राप्ति का तृतीय साधन परम्परा रही है, जिसके द्वारा बिना तप और बिना सेवा के ही व्यक्ति दिव्यास्त्रों के दिव्य ज्ञान से स्वतः संयुक्त हो जाता था। उदाहरणार्थ पूर्व काल में इन्द्र गुरु बृहस्पति ने महर्षि भरद्वाज को आग्नेयास्त्र प्रदान किया, भरद्वाज ने इसे अग्निवेश को दिया अग्निवेश ने द्रोण को दिया और द्रोणाचार्य ने अश्वत्थामा को प्रदान किया।[4]

इसी प्रकार भगवान् नारायण से द्रोणाचार्य ने वरदान रूप में नारायणास्त्र प्राप्त किया और द्रोणाचार्य से इसे अश्वत्थामा ने प्राप्त किया।[5] इस प्रकार अनेक

---

1. द्रोण प. 41/9-19 पू., 42/10-20 गी.
2. सौ. प. 7/53-64 पू., 7/55-66 गी.
3. आदि प. 132/74-78 पू., 132/18-22 गी.
4. आदि प. 155/26-27 पू., 169/29-30 गी.
5. द्रोण प. 166/43-50 पू., 195/31-40 गी.

दिव्यास्त्र कुल परम्परा से स्वतः प्राप्त हो जाया करते थे। जिसकी पुष्टि लवकुश को जृम्भकास्त्रों की स्वतः प्राप्ति भी करती है।[1]

दिव्यास्त्रों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध :—अर्जुन जब दिव्यास्त्रों की प्राप्ति का वर्णन युधिष्ठिर को सुना चुके और उन्होंने दिव्यास्त्रों का प्रयोग देखना चाहा तो दिव्यास्त्र-प्रयोग-प्रदर्शन हेतु प्रस्तुत अर्जुन को देवर्षि नारद ने निषेध करते हुये कहा "हे अर्जुन ! इस समय इन दिव्यास्त्रों का प्रयोग वर्ज्य है क्योंकि इन दिव्यास्त्रों को बिना लक्ष्य के कभी नहीं छोड़ना चाहिये। लक्ष्य मिलने पर भी इनका प्रयोग मनुष्यों पर न करें जब तक कि स्वयं प्रयोगकर्ता किसी संकट में न पड़ा हो। कुरुनन्दन ! इन दिव्यास्त्रों का अनुचित रूप में प्रयोग करने पर महान् दोष प्राप्त होता है। शास्त्रानुसार सुरक्षित रखने पर ही ये सबल और सुखदायक होते हैं।[2]

आधुनिक युग में हम दिव्यास्त्रों की तुलना आणविकास्त्रों से कर सकते हैं इनके प्रयोग का प्रभाव किस प्रकार प्राचीन दिव्यास्त्रों के प्रभाव के ही समान था यह हम प्रत्येक अस्त्र के प्रभाव को बताते समय आगे बतायेंगे।

हाँ, यह अवश्य है कि दिव्यास्त्रों की प्राप्ति हेतु जो साधन काम में लिये जाते थे वे आणविक अस्त्रों की प्राप्ति हेतु नहीं लिये जाते। आणविक अस्त्रों की प्राप्ति के लिये सुदृढ़ आर्थिक स्थिति का परमावश्यक है। इसके साथ-साथ वहाँ की राजनीति तथा सामाजिक स्थिति का भी इसके अनुकूल होना परमावश्यक है। जो देश समृद्ध एवं बढ़े-चढ़े हैं वे ही ऐसा करने में समर्थ हो सकते है जैसे—फ्रांस, चीन, अमेरिका, जापान, रूसादि। आजकल इस दृष्टि से हमारा भारत भी आगे बढ़ रहा है किन्तु वह अणुशक्ति का प्रयोग विनाशकारी अस्त्रों की अपेक्षा शान्ति कार्यों के लिये करना चाहता है। इसकी प्राप्ति के लिये मानव को तपस्या के ही समान मानसिक तथा शारीरिक रूप से घोर परिश्रम करना पड़ता है। गुरुकृपा और परम्परा को भी हम गौण रूप से इसकी प्राप्ति में किसी सीमा तक साधन मान सकते हैं।

आणविक अस्त्रों की भयंकर विनाशलीला जो अमेरिका ने जापान के दो नगरों (नागासाकी और हिरोशिमा) पर दिखाई थी, वह बहुत ही असह्य थी। अतः इन पर प्रतिबन्ध हेतु विश्व के कल्याणकारी राष्ट्रों ने एक समझौता कर रखा है, जिसे 'आणविकास्त्रों पर प्रतिबन्ध समझौता' (Nonproliteration Treaty)

---

1. उ. राम. 5/15
2. व. प. 172/18–19 दू., 175/19–21 गी.

कहते है और इस समझौते के ही कारण आज विश्व इनके विनाशकारी कृत्यों से रुका हुआ है। जो जनहित या मानवता के हित के लिये वरदान सिद्ध हो रहा है। आणविकास्त्रों पर इस प्रतिबन्ध के फलस्वरूप ही विश्व अभी तृतीय विश्वयुद्ध की ज्वालाओं से बच रहा है।

1. ब्रह्मास्त्र युद्ध :—इस युद्ध का महाभारत में बाहुल्य से वर्णन मिलता है। हम यहाँ पर केवल उदाहरणार्थ कुछ प्रमुख योद्धाओं का ही यह युद्ध संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करते है—

ब्रह्मास्त्र का प्रभाव :—बुद्धिमान द्रोणाचार्य ने रणभूमि में जब अर्जुन तथा आकाश-वर्ती अदृश्य प्राणियों को संताप देने के लिये ब्रह्मास्त्र को प्रकट किया तो पर्वत वन और वृक्षो सहित सारी धरणी डोल उठी, भयकर आँधी चल पड़ी और समुद्र में ज्वार आ गया। महामना द्रोण के इस ब्रह्मास्त्र से दोनों पक्षो में भयंकर आतंक छा गया।[1]

महारथी कर्ण ने जब अर्जुन के सभी भयंकर बाणों को व्यर्थ कर दिया तो उसने श्रीकृष्ण की प्रेरणा से अत्यन्त भयंकर ब्रह्मास्त्र को अभिमन्त्रित करके धनुष पर रखा और उसके द्वारा बाणों की वर्षा करके कर्ण को आच्छादित कर दिया।[2]

द्रोण पुत्र द्वारा सोये हुये पाँचालों और द्रौपदी के पुत्रों को मारने के बाद जब पाण्डवों ने उसका पीछा किया तो उसके हृदय मे गहरी व्यथा हुयी। अपने को संकट में पड़ा जानकर उसने अपने हाथ मे एक सींक उठाकर कहा "यह ब्रह्मास्त्र समस्त पाण्डवों का नाश कर डाले" तदनन्तर उस सीक में काल, अन्तक और यम-राज के समान भयंकर अग्नि प्रकट हो गयी। उस समय ऐसा प्रतीत होने लगा कि वह अग्नि मानो तीनों लोकों को जलाकर भस्म कर डालेगी।[3]

आधुनिक काल में ब्रह्मास्त्र की तुलना हम न्यूक्लीयर बम्ब से कर सकते हैं, क्योंकि इस आणविकास्त्र के भी छोड़ने पर ब्रह्मास्त्र के समान समुद्र में ज्वार आ जाता है, पृथ्वी हिल उठती है, वन और पर्वत काँप उठते हैं। अतः स्पष्ट है कि दोनो का प्रभाव एक सा ही होता है।

---

1. द्रोण प. 163/43-45 पू., 188/48-50 गी.
2. क. प. 66/52-53 पू., 90/95-96 गी.
3. सौ. प. 13/17-22 पू., 13/17-22 गी.

ब्रह्मास्त्र का ब्रह्मास्त्र से निवारण :—द्रोणाचार्य ने रणांगण में अर्जुन के भल्लबाणों को काटकर ब्रह्मास्त्र को प्रकट किया। फिर तो जल की सहस्त्र धाराओं के समान बाण वर्षा होने लगी। उस समय अपने बाणों द्वारा उनके बाणों को काटते हुये तेजस्वी अर्जुन ने भी ब्रह्मास्त्र के द्वारा ही आचार्य के उस ब्रह्मास्त्र की बाण वर्षा को रोक दिया।[1]

महासमर मे युधिष्ठिर ने क्रोधान्वित हो जब आचार्य पर भयंकर शक्ति का प्रहार किया तो द्रोणाचार्य ने बीच में ही उस शक्ति को ब्रह्मास्त्र द्वारा भस्म कर डाला। युधिष्ठिर ने देखा कि ब्रह्मास्त्र शक्ति को भस्म कर तीव्र गति से मेरे रथ की ओर आ रहा है तो उसी समय उन्होंने भी उसे ब्रह्मास्त्र के ही द्वारा शान्त कर दिया।[2]

पाण्डवों के पीड़ा करने पर जब अश्वत्थामा ने व्यथित होकर पाण्डवों के समूल नाश के लिये ब्रह्मास्त्र छोड़ दिया तो सव्यसाची श्रीकृष्ण की प्रेरणा से रथ से उतर पड़ा और उस ब्रह्मास्त्र को ब्रह्मास्त्र से ही निवारित करने हेतु सर्वप्रथम तो यह कहा कि आचार्य पुत्र का कल्याण हो। फिर अपने और सम्पूर्ण भाइयों के लिये मंगल कामना करके देवताओं तथा सभी गुरुजनों को नमस्कार किया। तदनन्तर इस ब्रह्मास्त्र से शत्रु का ब्रह्मास्त्र शान्त हो जाये ऐसा संकल्प करके सबके कल्याण की भावना करते हुये अपने उस दिव्यास्त्र को छोड़ दिया। गाण्डीवधारी अर्जुन के द्वारा छोड़ा गया वह ब्रह्मास्त्र सहसा प्रज्वलित हो उठा और उससे प्रलयाग्नि के समान बड़ी-बड़ी लपटें उठने लगी। इसी प्रकार द्रोण-पुत्र का वह अस्त्र भी तेज मण्डल से घिरकर बड़ी-बड़ी ज्वालाओं के साथ जलने लगा। उन दोनो अस्त्रों के तेज समस्त लोकों को संतप्त करते हुये वहां स्थिर हो गये। उस समय सम्पूर्ण धर्मों के ज्ञाता तथा समस्त प्राणियों के हितैषी महर्षि नारद तथा व्यास उन दोनों वीरों को शान्त करने के लिये उनके द्वारा छोडे गये प्रज्वलित अस्त्रों के बीच में खड़े हो गये। महर्षियों ने कहा "वीरो! पूर्वकाल में भी अनेक महारथी हो चुके हैं, जो नाना अस्त्रों के जानकार थे, किन्तु उन्होंने किसी प्रकार भी मनुष्यों पर इस अस्त्र का प्रयोग नही किया, तुम दोनों ने यह महान विनाशकारी दुःसाहस क्यों किया है।"[3]

धनंजय द्वारा ब्रह्मास्त्र का उपसंहार :—उन अग्नि के समान तेजस्वी महर्षियों को देखते ही महारथी अर्जुन ने समयोचित कर्त्तव्य का विचार कर उन

---

1. द्रोण प. 67/9–12 पू., 92/9–12 गी.
2. द्रोण प. 81/29–34 पू., 106/28–35 गी.
3. सौ. प. 14/4–16 पू., 14/4–16 गी.

महर्षियों से कहा "आप दोनों देवता के तुल्य हैं, अतः इस समय जैसा करने से हमारा और सबका सर्वथा हित हो उसी के लिये हमें सम्मति दें। मैंने तो द्रोणपुत्र के ब्रह्मास्त्र को शान्त करने के लिये ही इसे छोड़ा था। ऐसा कहकर अर्जुन ने उस अस्त्र को पीछे लौटा लिया। युद्ध में उसे लौटा लेना देवताओं के लिये भी दुष्कर था। संग्राम में एक बार उस दिव्यास्त्र को छोड़ देने पर पुनः उसे लौटा लेने में पाण्डुनन्दन अर्जुन के अतिरिक्त साक्षात् इन्द्र भी समर्थ नहीं थे।[1]

ब्रह्मास्त्र की अमोघता :—द्रौणि ने ब्रह्मास्त्र को लौटाने में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुये कहा "ब्रह्मास्त्र ! यद्यपि मैं जितेन्द्रिय नहीं हूँ तथापि मैंने इस अस्त्र का प्रयोग कर दिया है अब पुनः इसे लौटाने की शक्ति मुझ में नहीं है और यह उत्तम अस्त्र अमोघ है, अतः दिव्यास्त्र से अभिमन्त्रित की हुई यह सींक पाण्डवों के गर्भस्थ शिशुओं पर तो गिरेगी ही।"[2]

ब्रह्मास्त्र की समानता करने वाले न्यूक्लीयर बम्ब को भी छोड़ देने के बाद किसी भी प्रकार वापस नहीं लिया जा सकता तथा इसका प्रभाव अमोघ होता है यहाँ तक कि इसको छोड़ देने के बाद किसी अन्य बम्ब के प्रभाव से भी इसे दबाया नहीं जा सकता, इसे यदि छोड़ दिया तो यह विस्फोट करके ही रहेगा।

हाँ यह अवश्य है कि राकेट को राकेट के द्वारा दबाया जा सकता है। इसी प्रकार गाइडेड मिशाइल्स भी दूरातिदूर लक्ष्यों पर छोड़े जाते हैं, किन्तु इन्हें रोका जा सकता है और एक गाईडेड मिशाइल के पीछे दूसरे मिशाइल को छोड़कर उसका लक्ष्य भी परिवर्तित किया जा सकता है।

2. ऐन्द्रास्त्र युद्ध :—ब्रह्मास्त्र के समान ऐन्द्रास्त्र युद्ध का भी महाभारत में बहुल वर्णन मिलता है, जिसे हम यहाँ संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करते हैं।

ऐन्द्रास्त्र का प्रयोग प्रभाव और निवारण :—राजा विराट के गोधन-रक्षण काल में जब अर्जुन का कौरवों के साथ भयंकर युद्ध हो रहा था तब उसने हँसकर सूर्य के समान तेजस्वी ऐन्द्रास्त्र का संधान किया। इससे समस्त कौरव चारों ओर सायकों से आच्छादित हो गये थे। इसके भयंकर प्रयोग से उस समय वहाँ हाथी सवार और रथी आदि सभी सैनिक मूर्च्छित हो रहे थे। सबने जड़ता और

---

1. सौ. प. 15/1–6 पू., 15/1–6 गी.
2. सौ. प. 15/15, 32 पू., 15/15, 32 गी.

मूर्च्छा धारण कर ली थी, किसी का होश ठिकाने नहीं था। सभी योद्धाओं ने हतोत्साह होकर युद्ध से मुख मोड़ लिया था।[1]

महारथी अर्जुन ने समरांगण में शल्य द्वारा विमुक्त गदा को दो बाणों से काटकर विधिपूर्वक अत्यन्त भयंकर माहेन्द्र अस्त्र का प्रयोग किया। वह अद्भुत अस्त्र अन्तरिक्ष में चमक उठा और उस उत्तम अस्त्र ने निर्मल एवं अग्नि के समान प्रज्वलित बाणों का जाल सा बिछाकर सैनिकों को आगे बढ़ने से रोक दिया।[2]

महासमर में सात्यकि से युद्ध करते हुये जब अलम्बुष ने अपनी राक्षसी माया फैलाई तब सात्यकि तनिक भी विचलित नहीं हुआ और उसने अर्जुन से शिक्षित ऐन्द्रास्त्र का प्रयोग किया। उस समय उस दिव्यास्त्र ने उस राक्षसी माया को तत्काल भस्म करके उस राक्षस पर सब ओर से उसी प्रकार बाणों की वर्षा प्रारंभ की, जैसे वर्षा-काल में मेघ पर्वत पर जल की धारायें गिराता है तथा उस शरवर्षा से पीड़ित हो वह राक्षस युद्धस्थल छोड़कर भाग गया।[3]

रणांगण में अर्जुन के द्वारा द्रौणि का धनुष काट लिये जाने पर उसने एक भयंकर परिघ अर्जुन पर छोड़ा, किन्तु अर्जुन ने उस परिघ के टुकड़े-टुकड़े कर डाले, तब महारथी द्रोण पुत्र ने कुपित होकर ऐन्द्रास्त्र द्वारा वेगपूर्वक बाणों की वर्षा प्रारम्भ कर दी। अर्जुन ने भी उस इन्द्रजाल का विस्तार देखकर महेन्द्रास्त्र से उसका संहार कर डाला।[4]

महासमर में अर्जुन के भयंकर बाणों की चोट खाकर जब कर्ण कांप उठा तो उसने बलपूर्वक धैर्य धारण करके ब्रह्मास्त्र प्रकट किया। यह देख अर्जुन ने भी ऐन्द्रास्त्र को अभिमन्त्रित किया, जिससे अर्जुन के रथ से शक्तिशाली और तेजस्वी बाण निकलकर कर्ण के रथ के समीप प्रकट होने लगे, किन्तु कर्ण ने अपने समीप आते हुये उन सभी बाणों को व्यर्थ कर दिया और श्रीकृष्ण की प्रेरणा से पार्थ को ब्रह्मास्त्र को दबाने हेतु ब्रह्मास्त्र ही छोड़ना पड़ा।[5]

---

1. विराट प. 58/7–12 पू., 63/7–13 गी.
2. भीष्म प. 55/109–111 पू., 59/112–114 गी.
3. भीष्म प. 78/38–40 पू., 82/41–45 गी.
4. कर्ण प. 46/फुटकर टिप्पणी पू., 64/21–25 गी.
5. कर्ण प. 66/47–52 पू., 90/90–95 गी.

सार रूप में यह ज्ञात होता है कि ऐन्द्रास्त्र को महेन्द्रास्त्र अभिभूत कर देता है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ऐन्द्रास्त्र और महेन्द्रास्त्र दोनो एक ही अस्त्र हैं क्योंकि इन दोनो की क्रिया भी एक सी ही है। अतः हम यह कह सकते है कि ऐन्द्रास्त्र को ऐन्द्रास्त्र (महेन्द्रास्त्र) से ही निर्धारित किया जा सकता है। उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि ऐन्द्रास्त्र ब्रह्मास्त्र को अभिभूत नही कर सकता। ब्रह्मास्त्र को तो ब्रह्मास्त्र ही अभिभूत कर सकता है। ऐन्द्रास्त्र की तुलना हम उन सभी आणविक शास्त्रो से कर सकते हैं जिससे विषैली गैस निकलकर मनुष्यो या जन्तुओं को मूर्छित कर देती है। मुख्य रूप से इस अस्त्र के लिये किसी विशेष आंणविकास्त्र का नाम नही बताया जा सकता।

3. वायव्यास्त्र का प्रयोग प्रभाव और निवारण :—घटोत्कच अपनी राक्षसी माया से भयंकर नीलमेघ बनकर पत्थरों की वर्षा से रणभूमि मे अश्वत्थामा को आच्छादित करने लगा तब अस्त्रवेत्ताओं में श्रेष्ठ द्रोण कुमार ने वाव्यास्त्र का संधान करके वहाँ प्रकट हुये उस नीलमेघ को नष्ट कर दिया।[1]

कौन्तेय अर्जुन ने युद्ध के मुहाने पर त्रिगर्त सेनाओ को लक्ष्य करके वायव्यास्त्र का प्रयोग किया, फिर तो आकाश को विक्षुब्ध कर देने वाली वायु प्रकट हुई जो वृक्षो को गिरने और सैनिकों को नष्ट करने लगी। तदनन्तर द्रोणाचार्य ने उस वायव्यास्त्र का निवारण करने के लिये भयंकर पर्वतास्त्र का प्रयोग किया। जिससे वायव्यास्त्र से चली हुई वायु शान्त और सम्पूर्ण दिशायें स्वच्छ हो गई।[2]

आधुनिक युग में हम वायव्यास्त्र की तुलना हाईड्रोजन बम्ब से कर सकते हैं क्योंकि हाईड्रोजन बम्ब से भी जहरीली गैस का प्रवाह फैलता है, हवा का दबाव कम होने पर चारो ओर से वायु वेग से दौड़ती है और उससे वृक्ष उखड जाते है, कई वस्तुयें उड़ जाती है तथा अगारे के समान ज्वाला निकलने लग जाती है।

4. वारुणास्त्र का प्रयोग और प्रभाव :—रणांगण में शिखण्डी ने भीष्म पर बड़े वेग से धावा किया, किन्तु शल्य ने उसे दुर्जयास्त्र से रोक दिया। द्रुपद कुमार प्रलय काल की अग्नि के समान उस तेजस्वी अस्त्र से घबराया नही अपितु शल्य के उस अस्त्र का प्रतिघात करने के लिये अन्य भयंकर वारुणास्त्र का संधान कर उस दुर्जयास्त्र को विदीर्ण कर दिया।

---

1. द्रोण प. 131/71–72 पू., 156/108–109 गी.
2. भीष्म प. 98/18–22 पू., 102/18–22 गी.
3. भीष्म पर्व 81/25–27 पू., 85/28–30 गी.

द्रोणाचार्य की मृत्यु के बाद जब अश्वत्थामा ने भयंकर नारायणास्त्र का प्रयोग किया तथा भीम उस दिव्यास्त्र की ज्वालाओं में झुलसने लगा तब अर्जुन ने उसकी तीव्रता को शान्त करने के लिये वारुणास्त्र का अति लघु प्रयोग किया, जिसे श्रीकृष्ण के अतिरिक्त कोई न जान सका और वारुणास्त्र से उस दिव्यास्त्र की तीव्रता कुछ शान्त भी हुई।[1]

इस प्रकार अर्जुन की जयद्रथवध प्रतिज्ञा को विफल करने के लिये कौरवों ने जब उस पर तीव्रता के साथ आक्रमण किया तब अर्जुन ने भी उन्हें त्रास देने के लिये वारुणास्त्र को प्रकट किया तब गाण्डीव-धनुष से निकले हुये बाणों ने सब दिशाओं को आवृत कर लिया।[2]

आधुनिक युग में वारुणास्त्र के समान अभी कोई आणविक अस्त्र नहीं है, किन्तु ऐसे प्रयोग किये जा रहे है और कुछ क्षेत्र पर एक विशेष गैस के द्वारा बादल उत्पन्न कर वर्षा भी की गई है। हो सकता है भविष्य में इस प्रकार के आणविकास्त्र भी बनाये जा सकें।

5 आग्नेयास्त्र का प्रयोग प्रभाव और निवारण :—महासमर में द्रोणाचार्य ने कुपित होकर सात्यकि के वध हेतु जब अत्यन्त भयंकर आग्नेयास्त्र का प्रयोग किया तब सात्यकि ने भी वारुणास्त्र का प्रयोग किया। उन दोनों दिव्यास्त्रों के प्रयोग से वहां महान् हा-हा-कार मच गया। यहां तक कि गगनचारी प्राणियों ने आकाश में विचरण करना छोड दिया। वे वारुण और आग्नेयास्त्र जब तक एक दूसरों के प्रभाव से प्रतिहत नही हो गये, तभी तक भगवान् सूर्य अस्ताचल को चले गये।[3]

रणांगण मे अर्जुन की कठोर वाणी को सुनकर अश्वत्थामा क्रोध के मारे लम्बे श्वांस लेने लगा। उस पराक्रमी वीर ने तब सावधानी के साथ रथ पर आरुढ हो, आचमन करके धूम रहित अग्नि के समान एक तेजस्वी बाण को आग्नेयास्त्र से अभिमन्त्रित कर उसे प्रत्यक्ष और परोक्ष शत्रुओं के नाश के उद्देश्य से चला दिया। फिर तो आकाश में बाणों की भयंकर वर्षा होने लगी और सब फैली हुई आग की लपटें अर्जुन पर टूट पड़ीं। आकाश से उल्कायें गिरने लगीं, दिशाओं का प्रकाश

---

1. द्रोणि प. 171/1–2 पू., 200/1–2 गी.
2. द्रोणि प. 120/82–85 पू., 145/90–93 गी.
3. द्रो. प. 73/44–48 पू., 98/48–52 गी.

लुप्त हो गया और उस सेना में सहसा भयानक अन्धकार उतर आया। उष्ण वायु चलने लगी और सूर्य का ताप क्षीण हो गया। सम्पूर्ण महाभूत मानों चक्कर काटने लगे। सूर्य भी घूमता सा प्रतीत होने लगा। तीनों लोकों के प्राणी ज्वर ग्रस्त के समान संतप्त हो उठे। दिशा-विदिशा आकाश और पृथ्वी सब ओर छोटे बड़े बाणों की वर्षा होने लगी, जो गरुड़ और वायु वेग शाली थे, विशालकाय गजराज दग्ध होकर मेघ की गर्जना के समान चीत्कार करते हुये सब ओर धराशायी होने लगे। अश्वसमूह रथवृन्द तथा शत्रु सैनिक दावानल से दग्ध वृक्षों के समान गिरने लगे। जैसे प्रलयकाल मे संवर्तक अग्नि सब प्राणियों को जलाकर भस्म कर देती है उसी प्रकार उस आग्नेयास्त्र ने पाण्डवों की उस भयभीत सेना को युद्धस्थल में जलाना आरम्भ कर दिया। पाण्डव सैनिकों की दुर्दशा देखकर अर्जुन ने उस समय ब्रह्मास्त्र प्रकट किया, फिर तो दो ही घड़ी में यह सारा अन्धकार दूर हो गया, शीतल वायु बहने लगी और सारी दिशायें स्वच्छ हो गई।[1]

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि आग्नेयास्त्र एक भयंकर दिव्यास्त्र है, किन्तु ब्रह्मास्त्र का प्रभाव उससे अधिक होता है जिसने उसे शान्त कर दिया। आधुनिक युग में आग्नेयास्त्र की तुलना हम नेपामबम्ब से कर सकते हैं क्योंकि इस आणविकास्त्र में भी अग्नि की भीषण ज्वालायें निकलती है, छुरे की भाँति लौह के टुकड़े भी निकलते है, अँगारे की भाँति पिघला हुआ लोह भी निकलता है और यह जहाँ गिरता है वहाँ की सम्पूर्ण वस्तुओं को जलाकर भस्म कर देता है। इसमें बारूद गैसादि ऐसी अग्नि ज्वालक वस्तुयें होती हैं जो हवा का संयोग पाते ही जल उठती हैं। इसका प्रयोग द्वितीय महायुद्ध मे जापान के दो नगर हीरोशिमा और नागासाकी पर किया था जिसका इतना भयंकर दुष्प्रभाव हुआ कि आज भी उस भूमि में उत्पन्न होने वाला शिशु जन्म से ही पंगु पैदा होता है।

6. वैष्णवास्त्र का प्रयोग प्रभाव और निवारण :—महासमर मे अर्जुन के बाणों की चोट खाकर भगदत्त अत्यन्त पीडित हो उठा। अतः उसने कुपित होकर अकुश को ही वैष्णवास्त्र से अभिमन्त्रित करके पाण्डुनन्दन की छाती पर छोड़ दिया। भगदत्त का छोड़ा हुआ वह अस्त्र सबका विनाशकारी था। अतः श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ओट में करके स्वयं ने ही अपनी छाती पर उसकी चोट सहकर उसे शान्त कर दिया।[2]

---

1. द्रोण प. 1/2/13–34 पू., 201/14–38 गी.
2. द्रोण प. 28/16–17 पू., 29/16–18 गी.

7. नारायणास्त्र का प्रयोग प्रभाव और निवारण :– द्रोणाचार्य की मृत्यु से संतप्त अश्वत्थामा ने पाण्डवों और पांचालों के विनाश के लिये जल से आचमन करके दिव्य नारायणास्त्र को प्रकट किया।[1] तदनन्तर उस नारायणास्त्र के प्रकट होने पर जल की बूंदों के साथ प्रचण्ड वायु चलने लगी। बिना मेघों के ही आकाश में मेघ गर्जना होने लगी। धरा कांप उठी, समुद्र में ज्वार आ गया। नदियों का प्रवाह प्रतिकूल हो गया। पर्वतों के शिखर टूट-टूट कर गिरने लगे। सम्पूर्ण दिशाओं में अन्धकार छा गया, सूर्य मलिन हो गया और समस्त भूमिपालों में व्यथा तथा आतंक छा गया।[2]

आकाश में एक साथ हजारों बाण प्रकट हो गये, जिनके अग्र भाग प्रज्वलित हो रहे थे। जिस प्रकार दो ही घड़ी में सूर्य की किरणें समस्त संसार में फैल जाती हैं, उसी प्रकार वे बाण सम्पूर्ण दिशाओं, आकाश और समस्त सेनाओं में छा गये। इसी प्रकार वहां निर्मलाकाश में प्रकाशित होने वाले ज्योतिर्मय ग्रह-नक्षत्रों के समान काले लोहे के जलते हुये गोले भी प्रकट होकर गिरने लगे। फिर चार और दो पहियों वाली शतघ्नियाँ, बहुत सी गदायें तथा जिनके प्रान्त भाग में छुरे लगे हुये थे, ऐसे सूर्यमण्डल के समान कितने ही चक्र प्रकट होने लगे। पाण्डव महारथी ज्यों ज्यों युद्ध करते थे, त्यों-त्यों ही उस अस्त्र का वेग बढ़ता जाता था। उस दिव्यास्त्र से घायल हुये सैनिक रणभूमि में ऐसे पीड़ित हुये मानों सब ओर से आग में झुलस रहे हों। जैसे शीतकाल के व्यतीत होने पर ग्रीष्म काल में लगी हुई वह्नि सूखे काठ या वन को जला डाले, उसी प्रकार वह अस्त्र पाण्डव सेना को भस्म करने लगा।[3]

नारायणास्त्र के उग्र प्रभाव से व्याकुल पाण्डव सेना को इस दिव्यास्त्र के निवारण हेतु श्रीकृष्ण ने तुरन्त ही अपनी दोनों भुजाओं के संकेत से रोक कर कहा "योद्धाओं अपने अस्त्र शस्त्र शीघ्र नीचे डाल दो और सवारियों से उतर जावे। परमात्मा नारायण ने इस अस्त्र के निवारण के लिये यही उपाय निश्चित किया है। भूमि पर निहत्थे खड़े हुये तुम लोगों को यह अस्त्र नहीं मार सकेगा। जो कोई मन से भी इस अस्त्र का सामना करेंगे, वे रसातल में चले गये हो तो भी यह अस्त्र वहाँ पहुँचकर उन सबको मार डालेगा।" यह सुनकर भीमसेन को छोड़कर सारे सैनिक भूमि पर अपने अस्त्र-शस्त्रों का त्याग कर सभी प्रकार के वाहनों से उतर पड़े। अब

1. द्रोण प. 166/60 पू., 195/50 गी.
2. द्रोण प. 167/1–6 पू., 196/1–6 गी.
3. द्रोण प. 170/15–23 पू., 199/15–23 गी.

तो उस ग्रस्त्र की विशाल शक्ति केवल भीमसेन पर ही आ पड़ी,[1] किन्तु श्रीकृष्ण ने भीम को भी हाथ पकड़कर रथ से नीचे उतार दिया तो वह ग्रस्त्र स्वयं ही शान्त हो गया।[2]

सामान्य रूप से नारायणास्त्र की तुलना इस समय हाइड्रोजन एक्सप्लोसिव बम्ब (H. E. Bomb) से कर सकते है, क्योंकि इस आणविकास्त्र के प्रयोग से भी गिरते ही बहुत जोर का धमाका होता है। हजार पाउण्ड के समान दहकते हुये आग के गोले के समान टुकड़े इसमें से चारों ओर गिरने लगते हैं, ज्वालायें उठने लगती हैं, आग लग जाती है और इससे भी नारायणास्त्र के ही समान भूमि पर लेट जाने या खाई में प्रविष्ट हो जाने पर कुछ बचाव ही हो सकता है, अन्य इसके निवारण का कोई उपाय नहीं है।

8. पार्वतास्त्र का प्रयोग और प्रभाव :— महासमर में युद्ध होकर जब धनंजय ने त्रिगर्तों पर वायव्यास्त्र का प्रयोग किया तब द्रोणाचार्य ने उस दिव्यास्त्र के प्रभाव को अभिभूत करने के लिये तुरन्त पार्वतास्त्र का प्रयोग किया, फिर तो चलती हुई प्रचण्ड वायु शान्त हो गई और सम्पूर्ण दिशयें स्वच्छ हो गईं।[3]

9. भास्करास्त्र का प्रयोग और प्रभाव :— राक्षस अलम्बुष ने जब अपनी राक्षसी माया फैलाकर चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार कर दिया तो सुभद्रानन्दन ने उस महान् अन्धकार को देखकर भास्करास्त्र को प्रकट किया। जिससे अन्धकार के स्थान पर फिर चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश छा गया।[4]

10. प्रमोहनास्त्र का प्रयोग और प्रभाव :— धार्तराष्ट्रों को अपने ऊपर सामूहिक रूप से आक्रमण हेतु आते हुये देखकर धृष्टद्युम्न ने उनके वध के लिये भयंकर प्रमोहनास्त्र का प्रयोग किया। उस दिव्यास्त्र के प्रयोग से कौरवों की सेना अपनी चेतना और धैर्य खोकर रणांगण में मोहित होकर मरे हुये के समान अचेत हो गई तथा अन्य सैनिक भी यह दशा देखकर भाग खड़े हुये।[5]

---

1. द्रोण प. 170/37–42, 61–62 पू., 199/37–42, 61–62 गी.
2. द्रोण प. 171/18–19 पू., 200/18–19 गी.
3. भीष्म प. 98/20–21 पू., 102/20–21 गी.
4. भीष्म प. 97/21–25 पू., 101/22–26 गी.
5. भीष्म प. 73/42–43 पू., 77/44–46 गी.

प्रत्येक आणविकास्त्र के गैस से युक्त होने के कारण प्रायः सभी आणविकास्त्र मूर्छित कर देने वाले होते हैं।

11 प्रज्ञास्त्र का प्रयोग और प्रभाव :—द्रोणाचार्य ने जब यह सुना कि कौरव सेना प्रमोहनास्त्र से अचेत होकर रणभूमि में सो रही है तो वे तुरन्त वहाँ पहुँचे और तब उन्होने प्रज्ञास्त्र का प्रयोग कर उस मोहनास्त्र के प्रभाव का नाश कर दिया। इससे कौरव सेना म पुनः चेतना शक्ति लौट आयी।[1]

12. पाशुपतास्त्र का प्रयोग और प्रभाव :—जयद्रथ के वध हेतु धनंजय ने भगवान् शंकर से पाशुपतास्त्र प्राप्त किया था, किन्तु जयद्रथ-वध-काल मे उसका प्रयोग महाभारत द्वारा प्रदर्शित नहीं किया गया है। हो सकता है कि भले ही अस्त्र (बाण) वही रहा हो, किन्तु जयद्रथ वध काल में वर्षों से सुपूजित उस बाण को धनंजय वज्रास्त्र से अभिमन्त्रित करके ही छोड़ते हैं। जो सिन्धुराज का शिर लेकर उड़ता है।[2]

इस पाशुपतास्त्र का अर्जुन ने प्राथमिक रूप से निवातकवच दानवों पर प्रयोग किया और तब इसका प्रयोग करते ही उससे सहस्त्रों रूप प्रकट हो गये। मृग, सिंह, व्याघ्र, रीछ; भैंसे, नाग, गौ, शरभ, हाथी, वानर, बैल, सूअर, बिलाव, भेड़िये, प्रेत, भुरुण्ड, गिद्ध, गरुड़, चमरीगाय, देवता, ऋषि, गन्धर्व, पिशाच, यक्ष, देवद्रोही, राक्षस, गुह्यक, निशाचर, मत्स्य, गजमुख, उल्लू, मीन तथा अश्व जैसे रूप वाले नाना प्रकार के जीवो का प्रादुर्भाव हुआ। उन सबके हाथ में भाँति-भाँति के अस्त्रशस्त्र एवं खड्ग थे। इसी प्रकार गदा और मुद्‌गर धारण किये बहुत से यातुधान भी प्रकट हुये। इन सबके साथ दूसरे भी बहुत से जीवो का प्राकट्य हुआ, जिन्होने नाना प्रकार के रूप धारण कर रखे थे। उनमें किसी के तीन मस्तक थे, किसी के चार दाढ़ें थीं, किसी के चार मुख थे और कोई चार भुजायें धारण किये हुए था। इन समस्त विचित्र प्राणियो के द्वारा गहरी मार पड़ने से वे सारे ही दानव नष्ट हो गये।[3]

पाशुपतास्त्र के इस विचित्र प्रभाव से ज्ञात होता है कि उस समय का मांत्रिकास्त्र बल आज के आणविकास्त्र बल से बहुत चढा-बढा था जो इस प्रकार की

1. भीष्म प. 73/47–50 पू., 77/50–53 गी.
2. द्रोण प. 121/13–16 पू., 146/101–103 गी.
3. वन प. 170/43–49 पू., 173/45–54 गी.

विचित्र सृष्टि तक करने में समर्थ होता था। आज के युग में विज्ञान से इतनी प्रगति नहीं की है कि वह इस प्रकार की सृष्टि करने में समर्थ हो सके। हाँ यह अवश्य है कि आणविकास्त्र के प्रयोग से भी कई प्रकार की बीमारियों के कीटाणु पैदा हो जाते हैं जिनसे फ्लू आदि अनेक रोग फैलते हैं।

13. ज्योतिर्मयास्त्र का प्रयोग और प्रभाव :—समरांगण में जब शकुनि द्वारा प्रकट की गई माया को अर्जुन ने विनष्ट कर दिया तब उसके रथ के पास घोर अन्धकार प्रकट हुआ और उस अन्धकार से क्रूरतापूर्ण बातें कानों में पड़कर अर्जुन को डाट बताने लगीं। पाण्डुनन्दन ने तब उस घोर एवं भयानक अन्धकार को अपने विशाल उत्तम ज्योतिर्मयास्त्र द्वारा नष्ट कर दिया।[1]

आधुनिक काल में भी इस प्रकार के प्रकाशमान अस्त्र छोड़े जाते हैं जिनसे कोशार्ध पर्यन्त कुछ समय के लिये प्रकाश हो जाता है। उदाहरणार्थ 'रेकोनेशन्स फ्लेयर' एक ऐसा ही आणविकास्त्र है जिसे छोड़ने पर दस लाख बल्ब का प्रकाश होता है। हम इस अस्त्र की तुलना ज्योतिर्मयास्त्र से कर सकते हैं, क्योंकि दोनों ही का कार्य अन्धकार को नष्ट कर प्रकाश करना है।

14. आदित्यास्त्र का प्रयोग और प्रभाव :—अन्धकार के नष्ट हो जाने पर शकुनि ने जलप्रवाह को प्रकट किया तब अर्जुन ने उस जल के निवारण के लिये आदित्यास्त्र का प्रयोग किया उस अस्त्र ने वहाँ का सारा जल सोख लिया।[2]

15. गान्धर्वास्त्र का प्रयोग और प्रभाव :—महासमर में जब क्षत्रिय राजकुमारों ने अभिमन्यु पर एक साथ आक्रमण किया तो उसने कुपित होकर गान्धर्वास्त्र का प्रयोग किया और रथ माया (रथयुद्ध की शिक्षा में निपुणता) प्रकट की। उस दिव्यास्त्र से कौरव सेना मोहित हो उठी और वह अलातचक्र की भाँति एक, शत तथा सहस्रों रूपों में दृष्टिगोचर होने लगा। इस प्रकार वीर अभिमन्यु ने रथचर्या तथा अस्त्रों की माया से मोहित करके राजाओं के शरीरों के सौ-सौ टुकड़े कर दिये।[3]

---

1. द्रोण प. 29/22–23 पू., 30/23–24 गी.
2. द्रोण प. 29/24–25 पू., 30/25–25½ गी.
3. द्रोण प. 44/21–24 पू., 45/21–24 गी.

16. मानवास्त्र का सर्वास्त्र-घातकास्त्र से निवारण :—दुर्योधन को अभेद्य कवच से संयुक्त देखकर उसका नाश करने के लिये अर्जुन ने कठोर आवरण का भेद करने वाले मानवास्त्र का उस पर संधान करने हेतु अपने गाण्डीव धनुष पर बाणों को रखकर ज्योंही धनुष को खींचा कि उन बाणों को अश्वत्थामा ने सर्वास्त्रघातकास्त्र के द्वारा काट डाला। अश्वत्थामा के अद्भुत कर्म से चकित होकर अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा "जनार्दन ! इस अस्त्र का मैं दो बार प्रयोग नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा करने पर मुझे ही मार डालेगा और मेरी सेना का भी संहार कर डालेगा।[1]

17. वज्रास्त्र का प्रयोग और प्रभाव :—महासमर में घटोत्कच ने जब अश्वत्थामा द्वारा अपनी माया का विनाश देखा तब उसने पुनः अदृश्य होकर दूसरी माया की सृष्टि की। वह वृक्षों से भरे हुये शिखरों द्वारा सुशोभित एक बहुत ऊँचा पर्वत बन गया। उस पर्वत से गिरने वाले बहुत से अस्त्रशस्त्रों से घायल होकर भी द्रोणकुमार व्यथित नहीं हुआ और उसने हँसते हुये से वज्रास्त्र को प्रकट किया। उस अस्त्र का आघात होते ही वह पर्वतराज तत्काल अदृश्य हो गया।[2]

18. त्वाष्ट्रास्त्र का प्रयोग और प्रभाव :—राक्षस अलम्बुष के पराक्रम और कौरव-सैनिकों के हर्षनाद को भीमसेन सहन न कर सका। क्रोधान्वित भीम ने आँखें लाल कर कौरव सेना का संहार करने के लिये त्वाष्ट्रनामक अस्त्र का संधान होने लगा। युद्धस्थल में भीमसेन के द्वारा चलाये हुये उस अस्त्र ने राक्षस की महामाया को नष्ट कर उसे गहरी पीड़ा दी और भीमसेन की भयंकर मार खाकर वह राक्षस रणक्षेत्र से पलायन कर गया।[3]

19. नागास्त्र का प्रयोग और प्रभाव :—समरांगण में जब सहस्त्रों संशप्तक अर्जुन के रथ को पकड़कर उस पर चढ़ गये, श्रीकृष्ण की भुजायें पकड़ लीं और अर्जुन को भी पकड़ लिया तब शत्रुदमन पार्थ ने बार-बार नागास्त्र का प्रयोग करके उन सबके पैर बांध दिये। पैर बंध जाने पर संशप्तक योद्धा लोहे के बने हुये पुतलों के समान निश्चेष्ट हो गये। अब तो पाण्डुनन्दन ने उन योद्धाओं का संहार प्रारम्भ कर दिया। समरांगण में अर्जुन के भयंकर बाणों की मार खाकर उन संशप्तकों ने अर्जुन के उत्तम रथ को छोड़ दिया, किन्तु पैर बंधे रहने के कारण

---

1. द्रोण प. 78/19–23 पू., 103/20–24 गी.
2. द्रोण प. 131/67–70 पू., 156/104–107 गी.
3. द्रोण प. 83/33–37 पू., 108/38–42 गी.

वे हिल भी न सके और गिर पड़े। तब अर्जुन ने झुकी हुई गाँठ वाले बाणों द्वारा उनका पुनः वध किया।[1]

20 गरुड़ास्त्र का प्रयोग और प्रभाव :—महारथी सुशर्मा ने अपनी सेना को नागों द्वारा बँधी हुई देखकर तुरन्त ही गरुड़ास्त्र प्रकट किया। फिर तो गरुड़ पक्षी प्रकट होकर उन नागों पर टूट पड़े और उन्हें खाने लगे। उन पक्षियों को प्रकट हुआ देख सारे नाग भाग चले। जैसे सूर्यदेव मेघों की घटा से मुक्त होकर सारी प्रजा को ताप देते हुये प्रकाशित हो उठते हैं, उसी प्रकार पैरों के बँधन से छुटकारा पाकर वह सारी सेना बड़ी शोभा पाने लगी।[2]

21 आथर्वणास्त्र का प्रयोग और प्रभाव :—धनंजय द्वारा प्रयुक्त दिव्यास्त्र को विफल करने के लिये कर्ण ने श्री परशुराम से प्राप्त महा प्रभावशाली शत्रुनाशक अथर्वणास्त्र को प्रकट किया, जिसने अर्जुन के उस दिव्यास्त्र को नष्ट कर दिया जो कौरव सेना को दग्ध कर रहा था।[3]

प्रत्येक दिव्यास्त्र का प्रयोग और प्रभाव दिखा देने के पश्चात् यह उपयुक्त होगा कि प्रमुख दिव्यास्त्रज्ञाताओं का युद्ध प्रदर्शन भी प्रस्तुत किया जावे। अतः अब हम आदर्श रूप में कुछ वीरों के दिव्यास्त्र युद्धों को प्रस्तुत करते हैं।

1. भीष्मार्जुन दिव्यास्त्र युद्ध :—राजा विराट के गोहरण-प्रसंग में भीष्म और अर्जुन के अद्भुत दिव्यास्त्र युद्ध हुआ। वे दोनों भरतकुल शिरोमणि वीर समरांगण में समस्त प्राणियों के नेत्रों में मोह एवं आश्चर्य उत्पन्न करते हुये अस्त्रों द्वारा एक दूसरे के अस्त्रों का निवारण करके खेल सा कर रहे थे। वे दोनों ही *महापुरुष प्राजापत्य, ऐन्द्र, आग्नेय, रौद्र, कौबेर, वारुण तथा वायव्यादि* दिव्यास्त्रों का एक दूसरे पर प्रयोग कर रहे थे। उस समय युद्ध में उन दोनों की ओर देखकर सभी प्राणी आश्चर्य चकित हो बोल उठे "महाबाहु पार्थ ! साधुवाद, महाबाहु भीष्म ! साधुवाद। भीष्म और पार्थ के युद्ध में जो यह बड़े-बड़े दिव्यास्त्रों का महान् प्रयोग देखा जा रहा है, वह मनुष्यों में अन्यत्र कहीं सम्भव नहीं है।" इस प्रकार सम्पूर्ण अस्त्रों के ज्ञाता भीष्म और अर्जुन में कुछ काल तक दिव्यास्त्रों का युद्ध चलता रहा, जिसे देखकर प्राणी विस्मित हो उठे।[4]

---

1. कर्ण प. 37/21–24 पू., 53/24–29 गी.
2. कर्ण प. 37/25–27 पू., 53/30–32 गी.
3. क. प. 66/3 पू., 90/4 गी.
4. वि. प. 20/23½ पू., 22/25½ गी.

2. द्रोण युधिष्ठिर दिव्यास्त्र युद्ध :—महासमर में जब महाराज युधिष्ठिर ने कौरव सेना को खदेड़ दिया तब अत्यन्त क्रोध में भरकर आचार्य द्रोण ने राजा युधिष्ठिर को वायव्यास्त्र से बींध डाला, किन्तु युधिष्ठिर ने भी उनके उस दिव्यास्त्र को अपने दिव्यास्त्र से नष्ट कर दिया। उस अस्त्र के नष्ट हो जाने पर द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर पर क्रमशः वारुण, याम्य, आग्नेय, त्वाष्ट्र और सावित्र नामक दिव्यास्त्र चलाये, क्योंकि वे अत्यन्त कुपित होकर युधिष्ठिर को मार डालना चाहते थे, किन्तु धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने द्रोणाचार्य से तनिक भी भय न खाकर उनके द्वारा चलाये गये और चलाये जा रहे सभी अस्त्रों को अपने दिव्यास्त्रों से नष्ट कर दिया। द्रोणाचार्य ने अपनी प्रतिज्ञा को सच्ची करने की इच्छा से युधिष्ठिर को मार डालने की अभिलाषा लेकर उनके ऊपर ऐन्द्र और प्राजापत्य नामक अस्त्रों का प्रयोग किया। तब गज और सिंह के समान गति वाले, विशाल वक्षस्थल से सुशोभित बड़े-बड़े नेत्रों वाले, उत्कृष्ट तेजस्वी कुरुपति युधिष्ठिर ने माहेन्द्र अस्त्र प्रकट किया और उसी से अन्य सभी दिव्यास्त्रों को नष्ट कर दिया। अन्त में अत्यन्त कुपित होकर जब द्रोण ने युधिष्ठिर वध हेतु ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया तब युधिष्ठिर ने ब्रह्मास्त्र से ही उस अस्त्र का निवारण कर दिया। तब आचार्य निराश होकर वहाँ से हट गये।[1]

3. द्रौण्यार्जुन दिव्यास्त्र युद्ध :—द्रोणाचार्य के ये दोनों ही शिष्य अद्भुत दिव्यास्त्र योद्धा थे। महात्मा अर्जुन ने समरांगण में अपनी ओर आते हुये अश्वत्थामा को तत्काल जब उसी प्रकार रोक दिया, जैसे कि तटभूमि समुद्र को आगे बढ़ने से रोक देती है, तब क्रोध में भरे प्रतापी द्रोण पुत्र ने अर्जुन और श्रीकृष्ण को अपने बाणों द्वारा ढक दिया। द्रोण-पुत्र का अद्भुत पराक्रम देखकर अर्जुन ने हँसते हुये से दिव्यास्त्र प्रकट किया, परन्तु ब्राह्मण अश्वत्थामा ने उनके उस दिव्यास्त्र का निवारण कर दिया। रणभूमि में पाण्डुनन्दन अर्जुन अश्वत्थामा के दिव्यास्त्रों को नष्ट करने के लिये जो-जो दिव्यास्त्र चलाते थे, महा धनुर्धर द्रोण पुत्र उनके उस–उस दिव्यास्त्र को काट गिराता था। इस प्रकार अपनी धनुर्विद्या का कौशल दिखाते हुये अश्वत्थामा रणभूमि में यमराज के समान प्रतीत हो रहा था।[2]

4. कर्णार्जुन दिव्यास्त्र युद्ध :—महासमर में सूतपुत्र कर्ण ने अर्जुन के छोड़े गये जब सब ही बाण समूहों को नष्ट कर दिया तब इन्द्रकुमार अर्जुन ने

1. द्रोण प. 132/27–35 पू., 157/32–41 गी.
2. क. प. 45/2–7 पू., 64/2–7 गी.

शत्रुनाशक आग्नेयास्त्र का प्रयोग किया। वह आग्नेयास्त्र पृथ्वी, आकाश, दिशा तथा सूर्य के मार्ग को व्याप्त करके प्रज्वलित हो उठा। इससे वहाँ समस्त योद्धाओं के वस्त्र जलने लगे और वस्त्र जल जाने के कारण वे सब के सब वहाँ से भाग चले तथा सैनिकों में भयंकर आर्तनाद हो उठा। प्रतापी सूतपुत्र वैकर्तन कर्ण ने उस प्रदीप्त आग्नेयास्त्र की शान्ति के लिये वारुणास्त्र का प्रयोग किया और उस प्रज्वलित वह्नि को शान्त कर दिया। फिर तो बड़े वेग से मेघों की घटायें घिर आयी और उन घटाओं ने वहाँ का सारा प्रदेश जल से आप्लावित कर दिया। मेघों से घिरकर सभी दिशाएँ अन्धकाराच्छन्न हो गयीं, अतः कोई भी वस्तु दिखायी नहीं देती थी। तदनन्तर कर्ण की ओर से आये मेघ समूहों को वायव्यास्त्र से छिन्न-भिन्न करके शत्रुओं के लिये अजेय अर्जुन ने गाण्डीव धनुष, उसकी प्रत्यंचा तथा बाणों को अभिमन्त्रित करके अत्यन्त प्रभावशाली वज्रास्त्र को प्रकट किया। फिर तो उस गाण्डीव धनुष से क्षुरप्र, अञ्जलिक, अर्धचन्द्र, नालीक नाराच और वराहकर्ण आदि तीखे अस्त्र हजारों की संख्या में छूटने लगे। वे सभी अस्त्र वज्र के समान वेगशाली थे। वे सभी बाण कर्ण के पास पहुँच कर उसके समस्त अंगों में, घोड़ों पर, धनुष में, रथ के जुओं, पहियों और ध्वजा में जा लगे। जैसे गरुड़ से डरे हुये सर्प धरती को छेदकर उसके भीतर घुस जाते है, उसी प्रकार वे तीखे अस्त्र उपर्युक्त वस्तुओं को विदीर्ण कर शीघ्र ही उनके भीतर धँस गये। अब तो कर्ण का सारा शरीर बाणों से भर गया। उसके अंग प्रत्यंग से रक्त टपकने लगा। इससे उसके नेत्र क्रोध से घूमने लगे। फिर उस महामनस्वी वीर ने अपने धनुष को जिसकी प्रत्यंचा सुदृढ़ थी, झुकाकर समुद्र के समान गम्भीर गर्जना करने वाले भार्गवास्त्र को प्रकट किया और अर्जुन के महेन्द्रास्त्र से प्रकट किये गये बाण समूहों के टुकड़े-टुकड़े करके अपने अस्त्र से उनके अस्त्र को दबाकर युद्धस्थल में रथों, हाथियों और पैदल सैनिकों का संहार कर डाला।[1]

महासमर में ब्राह्मण शाप से जब धरणी ने कर्ण के रथ के पहिये को धँसा लिया तब श्रीकृष्ण ने कर्ण को मारने हेतु अर्जुन को प्रेरणा दी। श्रीकृष्ण की प्रेरणा से कर्ण के पिछले कुकृत्यों को स्मरण कर अर्जुन के मन में भयानक रोष जाग उठा। कुपित होने पर उसके रोम-रोम से आग की चिनगारियाँ छूटने लगी। अर्जुन के उग्र रूप को देखकर कर्ण ने अर्जुन पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करके बाणों की झड़ी लगा दी और रथ के पहिये को निकालने का प्रयत्न करने लगा। तब अर्जुन ने भी उस उस पर बाणों की वर्षा आरम्भ कर दी और तदनन्तर अर्जुन

1. कर्ण प. 65/1035-104

ने कर्ण पर कई दिव्यास्त्रों का प्रयोग किया किन्तु कर्ण भी उन सभी का निवारण करता चला गया।[1] अन्त में इन्द्रकुमार ने अंजलिक नामक बाण को महादिव्यास्त्र से अभिमन्त्रित कर अपराह्न काल में सूर्यकुमार का शिर धड़ से अलग कर दिया।[2]

5. पाण्डव सैनिकों का सामूहिक दिव्यास्त्र प्रहार :— महासमर में जब भगदत्त के द्वारा प्रेरित मत्त-गयंद भीमसेन की ओर वेग से दौड़ा तथा पाण्डव महारथी शीघ्रतापूर्वक उसके चारों ओर खड़े हो गये और केकय राजकुमार अभिमन्यु, द्रौपदी के पुत्र दशार्णराज, क्षत्रदेव, धृष्टकेतु तथा चित्रकेतु—ये सभी महावीर रोष वेश में भरकर अपने उत्तम दिव्यास्त्रों का प्रहार करने लगे। अनेक बाणों से घायल हुआ वह महान् गजराज रक्तरंजित होकर गेरु आदि धातुओं से विचित्र पर्वत के समान दिखाई देने लगा।[3]

6. कौरव सैनिकों का सामूहिक दिव्यास्त्र प्रहार :—समरांगण में कुपित होकर धनंजय ने शिखण्डी को आगे कर भीष्म पर धावा किया और उनका धनुष काट डाला। भीष्म का धनुष काटा जाना कौरव महारथियों को सहन नहीं हुआ। द्रोण कृतवर्मा, जयद्रथ, भूरिश्रवा, शल, शल्य और भगदत्त—ये सात महारथी अत्यन्त क्रोधपूर्वक बाणों से आच्छादित करने लगे।[4]

इसी प्रकार और भी अनेक महान् योद्धाओं के अनेक दिव्यास्त्र युद्ध हुये, किन्तु सबका वर्णन पुनः पुनः करना पिष्टपेषण मात्र होगा। अतः उपर्युक्त आदर्श उदाहरणों से ही अन्य योद्धाओं के दिव्यास्त्र युद्धों का भी अनुमान कर लेना ही पर्याप्त रहेगा।

(फ) गदा (शस्त्र) युद्ध

गदायुद्ध को हम एक शस्त्र विशेष का युद्ध कह सकते हैं, क्योंकि शस्त्र युद्ध में गदा, खड्ग तथा कुन्तादि सभी शस्त्र आ जाते हैं, जिसका लक्षण शुक्राचार्य ने इस प्रकार किया है "जिसमें सदा नालास्त्र का अभाव होने से केवल भालादि शस्त्र समूहों के द्वारा शत्रुओं का नाश किया जाता है, उसे शस्त्र युद्ध समझना चाहिये।"[5]

---

1. कर्ण प. 67/5–11 पू., 91/17–24 गी.
2. कर्ण प. 67/40–50 पू, 91/40–50 गी.
3. भीष्म प. 91/37–41 पू, 95/38–42 गी.
4. भीष्म प. 114/13–16 पू., 119/13–16 गी.
5. शस्त्रयुद्धं तु तज्ज्ञेयं नालास्त्राऽभावतः सदा (शु नी: 4/7प्र./337)

महाभारत मे यद्यपि प्रायः सभी अस्त्रों का यथा समय प्रयोग हुआ है अतः उनका यथावश्यक यथास्थान वर्णन करेंगे, किन्तु विशिष्ट रूप से वर्णनीय युद्ध केवल गदा (अस्त्र विशेष) का ही है, क्योंकि महाभारत के प्रायः सभी प्रमुख वीर गदा युद्ध में कुशल थे। उदाहरणार्थ भीम, सुयोधन, कर्ण और शल्यादि। अतः अब हम इनके द्वारा किये गये गदा युद्धों को प्रस्तुत करते हैं—

भीम और शल्य का गदा युद्ध :—समरांगण में अभिमन्यु ने जब राजा शल्य के सारथी को मार गिराया तब मद्रराज पूर्णतः लोहे की गदा अपने हाथ में उठाकर रथ से कूद पड़े। दण्डधारी यमराज के समान शल्य को आता देख भीम भी विशाल गदा लेकर उनकी ओर झपटे। उस समय भीमसेन के द्वारा घुमायी गयी विशाल गदा स्वर्णपत्र से जटित होने के कारण अग्नि के समान प्रज्वलित हो रही थी। इसी प्रकार शल्य की गदा भी महाविद्युत के समान शोभा पा रही थी। अब तो वे दोनों गदा रूप सींगों को घुमा-घुमाकर सांडों की भांति गरजते हुये पैतरे बदलने लगे। वे दोनो ही वीर बेजोड़ थे। अतः दोनों के प्रहारों में दोनों की योग्यता एक सी जान पड़ती थी। भीम की गदा से टकराकर शल्य की गदा चिनगारियाँ छोड़ती हुई जब भिन्न-भिन्न होकर बिखर गई तब शल्य ने दूसरी गदा चलाई जो बारम्बार अंगारों की वर्षा कर रही थी। इसी प्रकार भीम ने भी शत्रु को लक्ष्य करके जो गदा चलाई, वह आकाश से गिरती हुई बड़ी भारी उल्का के समान कौरव सेना को संतप्त करने लगी। दोनों ही गदायें परस्पर टकराकर फुफकारती हुई नाग कन्याओं की भाँति अग्नि की वृष्टि कर रही थी। एक ही क्षण में वे दोनों गदा के अग्र भाग से घायल होकर रक्त से लथपथ हो फूलों से भरे हुये दो पलाश-वृक्षों के समान दिखायी देने लगे। तत्पश्चात् आठ पग चलकर दोनों हाथियों की भाँति परस्पर टूट पड़े और सहसा लोहे के डण्डों से एक दूसरे को मारने लगे। फिर तो वे दोनों वीर परस्पर के वेग और गदाओं द्वारा अत्यन्त घायल हो दो इन्द्रध्वजों के समान एक ही समय धरणी पर गिर पड़े। फिर अत्यन्त व्याकुल मद्रराज को कृतवर्मा रथ पर बैठाकर युद्धस्थल से बाहर हटा ले गया।[1]

भीम और कर्ण का गदा युद्ध :—समरांगण में युद्ध करते हुये जब भीम और कर्ण अत्यन्त निकट आ गये तब उनके बाण चलाने का क्रम टूट गया। अतः उनमें गदा युद्ध प्रारम्भ हो गया। भीम ने अपनी गदा से कर्ण के रथ का कूबर तोड़कर उसके सौ टुकड़े कर दिये। फिर पराक्रमी कर्ण ने भी भीम ही की गदा को उठाकर, उसे घुमाकर उसी के रथ पर फेंका, किन्तु भीम ने दूसरी गदा से उस गदा

1. द्रो. प. 14/4–32 पू., 15/4–32 गी.

को तोड़ डाला। तत्पश्चात् भीम ने तत्काल कर्ण पर एक दूसरी भारी गदा छोड़ी, किन्तु कर्ण ने तेज किये हुये सुन्दर पंखों वाले बहुत से बाण मारकर उस गदा को बींध डाला और वह पुनः भीम पर ही लौट आयी, जिसने भीम के भीमध्वज को तोड़कर सारथि को मूर्छित कर दिया। फिर तो दोनों में पुनः अस्त्र युद्ध प्रारम्भ हो गया।[1]

द्रोण और युधिष्ठिर का गदा युद्ध :—महासमर में युद्ध करते हुये युधिष्ठिर ने जब द्रोणाचार्य का धनुष काट डाला तब क्षत्रियमर्दन द्रोण ने धनुष को फेंक कर धर्मपुत्र पर गदा चलायी। परंतप युधिष्ठिर ने भी उस गदा को सहसा अपने ऊपर आती देखकर क्रोध में भरकर गदा उठा ली और द्रोणाचार्य की गदा पर दे मारा। एक बार ही छोड़ी हुई वे दोनों गदाएँ एक दूसरे से टकराकर चिनगारियाँ छोड़ती हुई पृथ्वी पर गिर पड़ी और उनमें फिर अस्त्र युद्ध होने लगा।[2]

भीम और दुर्योधन का गदा युद्ध :—भीम और दुर्योधन का 'गदा युद्ध' तो इतिहास प्रसिद्ध युद्ध है। इसी गदा युद्ध के द्वारा महाभारत युद्ध की परिसमाप्ति हुई थी। ये दोनों ही योद्धा गदायुद्ध में अति निपुण और अप्रतिम थे। इसीलिये हम गदायुद्ध का वर्णन सविस्तार प्रस्तुत करते हैं—

प्रारम्भ :—भीम और दुर्योधन के गदा युद्ध से पूर्व वाग्युद्ध हुआ। वाग्युद्ध के बाद जब राजाओं ने ताली बजाकर दुर्योधन को हर्ष और उत्साह से भर दिया तब महा मनस्वी पाण्डुनन्दन भीम ने कुपित होकर गदा उठाई और दुर्योधन पर बड़े वेग से आक्रमण किया।[3] तदनन्तर दुर्योधन ने भी भीम को आक्रमण करते देख गर्जना करते हुये बड़े वेग से आगे बढ़कर उसका सामना किया। फिर तो वे दोनों बड़े-बड़े सींगों वाले दो सांडों के समान एक दूसरे से भिड़ गये। उस अत्यन्त भयंकर गदायुद्ध के प्रारम्भ होने पर गदाओं के आघात से आग की चिनगारियाँ छूटने लगीं। इस प्रकार चलते हुये उस अत्यन्त भयंकर घमासान युद्ध में लड़ते-लड़ते वे दोनों थक गये।[4]

---

1. द्रो. प. 163/13–17 पू., 188/13–18 गी.
2. द्रो. प. 81/36–38 पू., 106/37–39 गी.
3. श. प. 55/42–43 पू.. 56/44–45 गी.
1. श. प. 56/1–6 पू., 57/1–6 गी.

मध्य :—थके हुये उन दोनों ने दो घड़ी तक विश्राम किया इसके अनन्त दोनो योद्धा फिर विचित्र और सुन्दर गदाएं ह ाथों मे लेकर एक दूसरे पर प्रहार करने लगे। उन दोनों के विचित्र प्रहारों को देख समस्त प्राणियों को एक की विजय के सम्बन्ध मे संशय उत्पन्न हो गया। वे दोनों ही दोनों के चूकने के अवसर देखते हुये पैंतरे बदलने लगे। यमदण्ड के समान भारी और भयकर गदा को भीम द्वारा घुमाये जाने पर उसकी और घोर एवं भनायक ग ूँज दो घड़ी तक गूँजती रही। दुर्योधन भी भीम की अनुपम वेगशालिनी गदा व ो घूमते हुये देख आश्चर्य मे पड गया। उस समय भीम नाना प्रकार के मार्ग औ र विचित्र मण्डल दिखाने लगा। वे दोनों कभी एक दूसरे के सम्मुख आगे बढते और कभी एक दूसरे का सामना करते हुये पीछे हट जाते थे। कभी विरोधी को ग राने की चेष्टा करते, कभी स्थिर भाव से खड़े होते, कभी गिरे हुये शत्रु के उठ ो पर उसके साथ पुनः युद्ध करते, कभी विरोधी प्रहार करने के लिये चक्कर काट ते, कभी शत्रु के बढाव को रोक देते, कभी विपक्षी के प्रहार को विफल करने के लिये झुककर निकल जाते, कभी उछलते कूदते, कभी निकट आकर गदा प्रहार क रते और कभी लौटकर पीछे की और किये हुये हाथ से शत्रु पर आघात करते थे। दोनों ही गदा विशेषज्ञ होने के कारण पैंतरे बदलकर एक दूसरे पर चोट करते थे। उनमें दुर्योधन दक्षिण मण्डल मे खड़ा था और भीमसेन बायें मण्डल में।[1]

तदनन्तर दुर्योधन ने अपने मन में दृढ नि श्चय लेकर बायें मण्डल से चक्कर लगाते हुये अपनी भयकर वेगशाली गदा से भीम सेन के मस्तक पर प्रहार किया। इस आघात से पीड़ित होने पर भी भीम एक पग भी इधर-उधर नही हुआ, यह महान् आश्चर्य की बात थी, जिसकी सभी सैनिकों ने भूरि भूरि प्रशंसा की, फिर भीम ने भी अपनी सुवर्णजटित एवं तेजस्विनी बड़ी भारी गदा दुर्योधन पर दे मारी, किन्तु उसने सावधानी से इधर उधर होकर उस प्रहार को व्यर्थ कर दिया। भीम की गिरती हुई उस गदा ने भूमि को हिला दिया। भीम के वार को खाली देखकर उत्साह से भरे दुर्योधन ने कौशिक मार्गों का आश्रय ले बार बार उछलकर भीम को धोखा देकर उसकी छाती में गदा मारी। उस चो ट से भीम मूर्छित हो गया और एक क्षण तक उसे अपने कर्त्तव्य का ज्ञान तक न रहा। उस प्रहार से भीम अत्यन्त कुपित हो उठे और जैसे मृगराज गजराज पर झपटता है उसी प्रकार वह बड़े वेग से गदा लेकर दौड़ा। गदा-प्रहार कुशल भीम ने दुर्योधन के पास जाकर गदा घुमायी और उसे मार डालने के उद्देश्य से उसकी पसली में आघात किया। उस प्रहार से व्याकुल हो दुर्योधन घुटने टेक कर बैठ गया। उस समय सृंजयों ने बड़े

---

1. श. प. 56/7–25 पू., 57/7–25 गी.

हर्ष से सिंहनाद किया, जिसे सुनकर दुर्योधन ग्रमर्ष से कुपित हो उठा और सर्प के समान फुफकारता हुग्रा दोनों ग्रांखों से भीम को ऐसे देखने लगा मानो उसे भस्म कर डालना चाहता हो। ग्रब तो वह धीर हाथ में गदा लेकर भीम का मस्तक कुचलने के लिये उसकी ग्रोर दौड़ा। पास पहुँचकर उसने भीम के ललाट पर जोर से ग्राघात किया। रणभूमि में उस चोट को खाकर भीम के मस्तक से रक्त की धारा बह चली ग्रौर वह मद की धारा बहाने वाले गजराज के समान ग्रधिक शोभा पाने लगा। फिर भीम ने भी बिना विचलित हुये वज्र के समान वीर विनाशिनी लोहामयी गदा लेकर उस शत्रु पर प्रहार किया। भीम के प्रहार से ग्राहत होकर दुर्योधन के शरीर की नस नस ढीली हो गयी ग्रौर वह वायु के वेग से प्रताड़ित हो भोंके खाने वाले विकसित शालवृक्ष की भांति काँपता हुग्रा पृथ्वी पर गिर पड़ा, किन्तु कुछ देर बाद होश में ग्राकर एक शिक्षित योद्धा की भाँति विचरते हुये उसने भीम पर फिर गदा प्रहार किया। उसकी चोट खाकर भीम का सारा शरीर शिथिल हो गया ग्रौर उसने धरती थाम ली। ग्रब तो दुर्योधन सिंह के समान दहाड़ने लगा क्योंकि उसने सारी शक्ति लगाकर चलायी गयी गदा के ग्राघात से भीम के वज्रतुल्य कवच का भेदन कर दिया था। तत्पश्चात् दो घड़ी में सचेत हो भीम रक्त से भीगा हुग्रा मुँह को पोंछता हुग्रा उठा ग्रौर ग्रपने को बलपूर्वक सम्हालकर धैर्य का ग्राश्रय ले ग्रांख खोलकर देखते हुये पुनः युद्ध के लिये खड़ा हो गया।[1]

परिसमाप्ति :—कुरु कुल के उन दोनों प्रमुख वीरों के उस संग्राम को उत्तरोत्तर बढ़ता देख ग्रर्जुन ने केशव से पूछा "जनार्दन ग्रापकी सम्मति में इन दोनों में युद्धस्थल में कौन बड़ा है।" श्रीकृष्ण ने कहा "इन दोनों को शिक्षा तो एक सी मिली है, परन्तु भीमसेन बल में ग्रधिक है ग्रौर दुर्योधन उसकी ग्रपेक्षा ग्रभ्यास ग्रौर प्रयत्न में बढ़ा-चढ़ा है। यदि भीम ने धर्मपूर्वक युद्ध किया तो कभी नहीं जीतेगा। इन्द्र ने माया से वृत्रासुर के तेज को नष्ट कर दिया था, ग्रतः भीम भी यहाँ मायामय पराक्रम का ही ग्राश्रय ले। धनंजय। द्यूत के समय भीम ने प्रतिज्ञा करते हुये कहा था "दुर्योधन ! मैं युद्ध में गदामार कर तेरी दोनों जाँघें तोड डालूँगा," ग्रतः भीम उस प्रतिज्ञा का पालन करे ग्रौर मायावी दुर्योधन को माया से ही नष्ट कर डाले"।[2]

केशव का यह वचन सुनकर ग्रर्जुन ने भीमसेन के देखते हुये ग्रपनी बायीं जांघ को ठोका। इससे संकेत पाकर भीम रण-भूमि में गदा द्वारा यमक तथा

---

1. श. प. 56/42-63 पू., 57/43-70 गी.
1. श. प. 57/1-8 पू., 58/1-8 गी.

अन्य प्रकार के विचित्र मण्डल दिखाते हुये विचरने लगा और दुर्योधन भी भीम की वध की इच्छा से शीघ्रता से विचित्र पैंतरे देता हुआ विचरने लगा। बैल के समान विशाल नेत्रोवाले वे दोनों वेगशाली-वीर समरांगण में धावा करके कीचड़ में खड़े हुये दो भैंसों के समान एक दूसरे पर चोट करने लगें। उन दोनों के मारे अंग गदा के प्रहार से जर्जर हो गये और दोनों ही खून से लथपथ हो गये। उस दशा में वे हिमालय पर खिले हुये पलास वृक्षों के समान दिखायी देते थे। जब अर्जुन ने छिद्र की ओर संकेत किया, तब कनखियों से उसे देखकर दुर्योधन सहसा भीम की ओर बढ़ा। रणभूमि में उसे निकट आया देख भीम ने उस पर बड़े वेग से गदा चलायी, किन्तु दुर्योधन सहसा उस स्थान से हट गया और वह गदा व्यर्थ होकर भूमि पर गिर पड़ी। उस प्रहार से अपने को बचाकर दुर्योधन ने भीम पर बड़े वेग से गदा द्वारा आघात किया। उस चोट से भीम के शरीर से रक्त की धारा बह निकली और वह मूर्च्छित सा हो गया। यद्यपि उसके शरीर में अत्यन्त वेदना हो रही थी तो भी भीम उसे सम्हाले रहा। दुर्योधन ने यह समझाकि भीम रणक्षेत्र में अब मुझ पर प्रहार करने के लिये खड़ा है, अतः बचने की चेष्टा मे संलग्न होकर उसने भीम पर पुनः प्रहार नही किया। तदनन्तर मुहुर्तभर सुस्ताकर प्रतापी भीम ने निकट आये दुर्योधन पर बडे वेग से आक्रमण किया। भीम को छलने के लिये दुर्योधन ने पहले वहां स्थिरता पूर्वकर खड़े रहने का विचार करके फिर उछलकर दूर हट जाने की इच्छा की। भीम समझ गया कि दुर्योधन क्या करना चाहता है। अतः पैंतरे से छलने और ऊपर उछलने की इच्छावाले दुर्योधन के ऊपर आक्रमण करके भीमसेन ने सिंह के समान गर्जना की और उसकी जाँघों पर बडे वेग से गदा चलायी। भयंकर कर्मवाले भीमसेन के द्वारा चलायी हुई वह गदा वज्राघात के समान गिरी और दुर्योधन की सुन्दर दिखायी देने वाली जाँघों को उसने तोड़ दिया। इस प्रकार जब भीमसेन ने उसकी जाँघें तोड़ डाली तब वह कपटी दुर्योधन पृथ्वी को प्रतिध्वनित करता हुआ गिर पड़ा और फिर भूमि पर से उठा ही नही।[1]

(छ) द्वन्द्व युद्ध :—द्वन्द्व युद्ध का तात्पर्य दो योद्धाओं के युद्ध से है इसका हम पिछले कई युद्धों में अप्रत्यक्ष रूप से वर्णन कर चुके हैं। अतः अब केवल इसे विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिये कुछ अवशिष्ट प्रमुख योद्धाओं के द्वन्द्व युद्ध आदर्श उदाहरण के रूप में प्रस्तुतत किये जा रहे हैं।

1. सात्यकि और कृतवर्मा का द्वन्द्व युद्ध :—जब अर्जुन भीष्म को युद्ध में हिला न सके तब दूसरी ओर महाधनुर्धर सात्यकि ने कृतवर्मा पर धावा

. श. प, 57/21-45 पू., 58/21-48 गी.

किया उन दोनों में बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। सात्यकि ने कृतवर्मा को और कृतवर्मा ने सात्यकि को भयंकर बाणों से घायल करते हुये एक दूसरे को बड़ी पीड़ा पहुँचाई।[1]

2 दुःशासन और नकुल का द्वन्द्व युद्ध :—महासमर में दुःशासन ने आगे बढ़कर मर्म स्थानों को विदीर्ण करने वाले अपने बहुसंख्यक तीखे बाणों द्वारा महाबली नकुल को घायल कर दिया। तब नकुल ने भी हसते हुये से तीखे बाण मारकर दुःशासन के धनुष बाण और ध्वज को काट गिराया और पच्चीस बाण मारकर उसे घायल कर दिया। इसके अनन्तर दुःशासन ने भी नकुल के घोड़ों को अपने सायकों द्वारा छेद डाला और ध्वज को भी नीचे गिरा दिया।[2]

3. दुर्मुख और सहदेव का द्वन्द्व युद्ध :—महाबली सहदेव भी महासमर में अपनी विजय के लिये बड़ा प्रयत्न कर रहा था। उसे धार्तराष्ट्र दुर्मुख ने धावा करके अपने बाणों की वर्षा से घायल कर दिया। तब वीरवर सहदेव ने उस महायुद्ध में अत्यन्त तीखे बाणों से दुर्मुख के सारथि को मार गिराया। वे दोनों युद्ध दुर्जय वीर समरांगण मे एक दूसरे से टक्कर लेकर पूर्वकृत अपराधो का बदला लेने की इच्छा रखते हुये भयकर बाणों द्वारा एक दूसरे को भयभीत करने लगे।[3]

4. घटोत्कच और अलम्बुष का द्वन्द्व युद्ध :—समरागण मे क्रूर-कर्मा घटोत्कच ने अलम्बुष नामक राक्षस पर वैसे ही आक्रमण किया जैसे युद्ध मे इन्द्र ने बल नामक दैत्य पर चढ़ाई की थी। क्रोध मे भरे हुये घटोत्कच ने नये तीखे बाणो द्वारा उस राक्षस को विदीर्ण कर दिया। तब उसने भी घटोत्कच को झुकी हुई गांठवाले बाणों द्वारा बहुत प्रकार से घायल कर दिया। जैसे देवासुर-संग्राम मे बलासुर और इन्द्र घायल हो गये थे, उसी प्रकार वे दोनो एक दूसरे के बाणो मे क्षतविक्षत होकर शोभा पा रहे थे।[4]

5. कृपाचार्य और वृहत्क्षत्र का द्वन्द्व युद्ध :—उस महासमर में वृहत्क्षत्र पर कृपाचार्य ने बाणों की वर्षा कर उसे ढक दिया। तब केकयराज ने

1. भीष्म प. 43/11-12 पू., 45/11-12½ गी.
2. भीष्म प. 43/20-22 पू., 45/21½-24 गी.
3. भीष्म प. 43/23-24 पू., 45/25-27 गी.
4. भीष्म प. 43/39-42 पू., 45/42-45 गी.

भी क्रुद्ध होकर अपने सायको की वर्षा से कृपाचार्य को आच्छादित कर दिया वे दोनों एक दूसरे के घोड़ों को मार धनुष के टुकडे कर रथहीन हो अमर्ष मे भरकर खड्ग द्वारा युद्ध करने के लिये आमने सामने खड़े हुये। फिर तो उन दोनों मे अत्यन्त भयाकर एवं दारुण युद्ध होने लगा।[1]

इसी प्रकार जयद्रथ और द्रुपद, विराट और भगदत्त, अभिमन्यु और बृहद्बलादि के भी द्वन्द्व युद्ध हुये।

(ठ) माया युद्ध :— छल, कपट और ऐन्द्रजालिक युद्ध को 'मायायुद्ध' कहते है यह युद्ध प्रायः हीन व्यक्तियों के द्वारा किया जाता है। महापुरुषो के लिये यह युद्ध गर्हित माना जाता है। अतः देखा गया है कि सम्माननीय व्यक्तियों ने मायानाश तो किया है किन्तु माया का प्रयोग नही किया।

(1) घटोत्कच और अलम्बुष का माया युद्ध :— महासमर मे भयंकर कर्म करने वाले राक्षस घटोत्कच और अलम्बुष ये दोनों एक दूसरे को जीतने की इच्छा से अत्यन्त अद्भुत युद्ध करने लगे। वे घमण्ड मे भरे हुये निशाचर सैकडों मायाओं की सृष्टि करते और माया द्वारा ही एक दूसरे को परास्त करना चाहते थे। अतः वे लोगो को अत्यन्त आश्चर्य में डालते हुये अदृश्यभाव से विचरण करने लगे।[2]

इन्द्र और बलि के समान महापराक्रमी वे दोनों अत्यन्त मायावी राक्षस अपनी मायाओ द्वारा एक दूसरे से बढ़ जाने की चेष्टा करते हुये परस्पर युद्ध करने लगे। एक ने अग्नि बनकर आक्रमण किया तो दूसरे ने महासागर बनकर उसे बुझा दिया। इसी प्रकार एक तक्षक नाग बना तो दूसरा गरुड़। फिर एक मेघ बना तो दूसरा प्रचण्ड वायु। तत्पश्चात् एक महान् पर्वत बनकर खडा हुआ तो दूसरा वज्र बनकर उस पर टूट पडा फिर वे क्रमशः हाथी और सिंह तथा सूर्य और राहु बन गये। अन्त मे घटोत्कच अलम्बुष के वध की इच्छा से अत्यन्त कुपित होकर ऊपर उछला और बाज के समान उस पर टूट पड़ा और उसे दोनो हाथो से पकड उसी तरह धरती पर दे मारा जैसे विष्णु ने मायासुर को पछाड़ दिया हो। फिर अद्भुत तलवार उठाकर भयंकर गर्जना और उछल कूद करते हुये अलम्बुष के विकराल मस्तक को धड़ से अलग कर दिया।[3]

---

1. भीष्म प. 43/49-51 पू., 45/52-54 गी.
2. द्रोण प. 13/46-47 पू., 14/46-47 गी.
3. द्रोण प. 149/25-33पू., 174/29-37½ गी.

(2) घटोत्कच और कर्ण का माया युद्ध :—रणांगण में कर्ण ने अपने बाण समूहों द्वारा सारी दिशाओं को आच्छादित करके घटोत्कच द्वारा चलाये गये अस्त्रों को काटडाला। तब महाबली भीमसेन-कुमार ने जोर जोर से हँस कर समरभूमि में महारथी कर्ण के प्रति अपनी महामाया प्रकट की। थोड़ी देर बाद ही कर्ण ने घटोत्कच को राक्षसों से घिरे हुये रथ पर आसीन देखा। उस राक्षस ने कुपित होकर कर्ण पर आठ चक्रों से युक्त एक अत्यन्त भयंकर रुद्रनिर्मित अशनि चलायी, जिसकी ऊँचाई दो योजन और लम्बाई चौड़ाई एक एक योजन की थी। लोहे की बनी हुई उस शक्ति में शूल चुने गये थे। इससे वह केसरों से युक्त कदम्ब पुष्प के समान जान पड़ती थी। कर्ण ने अपना विशाल धनुष नीचे रख दिया और उछलकर उस अशनि को पकड़ लिया, फिर उसे घटोत्कच पर ही चला दिया, किन्तु घटोत्कच शीघ्र ही उस रथ से कूद पड़ा और वह अतिशय प्रभापूर्ण अशनि घोड़े, सारथि और ध्वज सहित घटोत्कच के रथ को भस्म करके धरती फाड़कर समा गयी। कर्ण ने फिर निरन्तर नाराच धारा संपात कर घटोत्कच को मथ डाला, किन्तु वह उस घोर प्रहार से आहत हुआ गन्धर्वनगर के समाय पुनः अदृश्य हो गया और क्रोध में भरकर महारथियों को भयभीत करते हुये उसने अपने अनेक रूप बना लिये। तदनन्तर सम्पूर्ण दिशाओं से सिंह, व्याघ्र, तरक्षु (जरख) अग्निमयी जिव्हा वाले सर्प तथा लोहमय चञ्चुवाले पक्षी आक्रमण करने लगे। नागराज के समान घटोत्कच की ओर देखना कठिन हो रहा था। वह कर्ण के धनुष से छूटे हुये शिखाहीन बाणों द्वारा आच्छादित हो वहीं अन्तर्ध्यान हो गया। उस समय बहुत से राक्षस, कुत्ते और विकराल मुख वाले भेड़िये कर्ण को काटने के लिये सब ओर से उस पर टूट पड़े और अपनी भयंकर गर्जनाओं द्वारा उसे भयभीत करने लगे। कर्ण ने अपने दिव्यास्त्र से उस राक्षसी माया का विनाश करके घटोत्कच के घोड़ों को मारडाला। इस प्रकार अपनी माया नष्ट हो जाने पर हिडिम्बानन्दन ने सूर्यपुत्र से कहा "यह ले, मैं अभी तेरी मृत्यु का आयोजन करता हूँ" ऐसा कहकर वह वहीं अदृश्य हो गया।[1]

(3) घटोत्कच और अलायुध का माया युद्ध :—इस प्रकार कर्ण से घटोत्कच का उपर्युक्त युद्ध चल ही रहा था कि राक्षस अलायुध भीम के पूर्व वैर को स्मरणकर घटोत्कच को मारने के लिये दुर्योधन से आज्ञा लेकर रणांगण में उपस्थित हुआ। घटोत्कच ने कर्ण को छोड़कर अपने समीप आते हुये शत्रु को बाणों द्वारा पीड़ित करना आरम्भ किया।[2]

---

1. द्रोण प. 150/73–196 पू., 175/78–114 गी.
2. द्रोण प. 151/1–12 पू., 176/1–12 गी.

युद्ध करते करते घटोत्कच ने अलायुध पर एक अग्नि के समान तेजस्विनी गदा बड़े वेगपूर्वक चलायी, जिसने अलायुध के रथ, सारथि और घोड़ों को चूर चूर कर दिया। फिर तो अलायुध राक्षसी माया का आश्रय लेकर तुरन्त ही ऊपर को उड़ गया। उसने माया का आश्रय लेकर बहुत रक्त की वर्षा की। तत्पश्चात् महासमर में वज्रपात, मेघ गर्जना के साथ विद्युत की गड़गड़ाहट तथा महान् चटचट शब्द होने लगे। राक्षस की उस विशाल माया को देखकर राक्षसजातीय हिडम्बकुमार ने ऊपरउड़कर अपनी माया से उस माया को नष्ट कर दिया।[1]

(4) **अलम्बुष और इरावान् का माया युद्ध** :- घटोत्कच के हाथ से मारे जाने के पूर्व नाग-कन्या उलूपी से उत्पन्न अर्जुनात्मज इरावान् का भी अलम्बुष से घोर माया युद्ध हुआ था, जिसका वर्णन इस प्रकार है। महासमर में इरावान् को अपनी ओर आते देख अलम्बुष ने शीघ्रतापूर्वक माया का प्रयोग प्रारम्भ किया। उसने माया-मय दो हजार घोड़े उत्पन्न किये, जिन पर शूल और पट्टिश धारण करने वाले भयंकर राक्षस सवार थे। इरावान् तथा अलम्बुष के उन योद्धाओं ने परस्पर घोर युद्ध किया और एक दूसरे को यमलोक पहुँचा दिया। एक बार जब दुर्बुध राक्षस बहुत निकट आ गया, तब इरावान् ने अपने खड्ग से उसका धनुष और माथे को शीघ्र ही काट डाला। धनुष को कटा देखकर वह इरावान् भी आकाश में उछलकर उस राक्षस को अपनी मायाओं से मोहित करके उसके अंगों को सायकों द्वारा छिन्न भिन्न करने लगा। वह कामरूपधारी श्रेष्ठ राक्षस सम्पूर्ण मर्मस्थानों को जानने वाला और दुर्जय था, वह बाणों से कटने पर भी पुनः ठीक हो जाता था और नवयौवन प्राप्त कर लेता था, क्योंकि राक्षसों में माया का बल स्वाभाविक होता है और वे इच्छानुसार रूप धारण कर लेते हैं। इरावान् भी अत्यन्त कुपित होकर उस महाबली राक्षस को बार बार फरसे से काटने लगा। फरसे से बार बार छिदने के कारण राक्षस के शरीर से बहुत सा रक्त बह गया, इससे वह अत्यन्त कुपित होकर अपनी माया से इरावान् को पकड़ना चाहता था, किन्तु उसकी माया को देखकर क्रोध में भरकर इरावान् ने भी माया का प्रयोग प्रारम्भ किया। उसी समय उसके मातृकुल के नागों का समुदाय भी उसकी सहायता के लिये आ पहुँचा। फिर इरावान् ने अपना शरीर शेष नाग की भाँति बहुत बड़ा कर लिया। तदनन्तर उसने बहुत से नागों द्वारा राक्षस को आच्छादित कर दिया। नागों द्वारा आच्छादित होने पर उस राक्षस-राज ने कुछ सोच-विचारकर गरुड़ का रूप धारण कर लिया और समस्त नागों को भक्षण करना प्रारंभ कर दिया। उस

1. द्रोण प. 153/15-18 पू., 178/16-19 गी.

राक्षस ने इरावान् के मातृकुल के सब नागों को भक्षण कर लिया और मोहित हुये इरावान् को तलवार से मार डाला।[1]

(5) शकुनि और अर्जुन का माया युद्ध :—महासमर में अपने दोनों भाइयों को मारा गया देख सैंकड़ों मायाओं के प्रयोग में निपुण शकुनि ने श्रीकृष्ण और अर्जुन को मोहित करते हुये उनके प्रति माया का प्रयोग किया। फिर तो अर्जुन के ऊपर डंडे, लोहे के गोले, पत्थर, शतघ्नी, शक्ति, गदा, परिघ, खड्ग, शूल मुद्गर, पट्टिश, कम्पन, ऋष्टि, नखर, मुसल, फरसे, छूरे, क्षुरप्र, नालीक, वत्सदन्त, अस्थिसन्धि, चक्र बाण, प्रास, तथा अन्य नाना प्रकार के सैंकड़ो अस्त्र-शस्त्र सम्पूर्ण दिशाओं से आकर गिरने लगे। गदहे. ऊँट भैंसे सिंह, व्याघ्र रोझ. चीते रीछ, कुत्ते, गिद्ध, बन्दर सर्प तथा अनेक प्रकार के भूखे राक्षस एवं भांति भांति के पक्षी अत्यन्त कुपित हो अर्जुन पर धावा करने लगे। तदनन्तर दिव्यास्त्रों के ज्ञाता शूरवीर धनंजय सहसा बाण समूहों की वर्षा करते हुये उन सबको मारने लगे अर्जुन के सुदृढ़ सायकों द्वारा मारे जाते हुये वे समस्त हिंसक पशु सब ओर से घायल होकर चीत्कार करते हुये वहीं नष्ट हो गये।[2]

अर्जन पर्वा और अश्वत्थामा का माया युद्ध :—रणांगण में जूझते हुये भीम पौत्र की गदा को जब अश्वत्थामा ने विफल कर दिया तो वह सहसा आकाश में उड़ गया और प्रलय मेघ के समान माया का सहारा लेकर उसने वृक्षों की वर्षा प्रारम्भ कर दी, किन्तु अश्वत्थामा ने उस मायाधारी घटोत्कचात्मज को उसी प्रकार घायल कर दिया जैसे सूर्य अपनी किरणों के द्वारा मेघों की घटा को गला देते हैं। जब वह नीचे उतरकर स्वर्ण-रथ पर द्रौणि के सामने खड़ा हो गया तो द्रोणतनय ने उसे वैसे ही मार दिया जैसे महेश्वर ने अन्धकासुर को मार दिया था।[3]

(थ) मल्ल युद्ध :—मल्ल-युद्ध की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। संभवतः जब तक किसी अस्त्र शस्त्र का निर्माण नहीं हुआ होगा तब तक युद्ध का सबसे सरल उपाय यही रहा होगा। क्योंकि इसमें योद्धा केवल अपने शारीरिक बल के आधार पर ही युद्ध करता है और उसे किसी अस्त्र शस्त्र की आवश्यकता नहीं पड़ती।

---

1. भीष्म प. 86/51–69 पू., 90/56–76 गी.
2. द्रोण प. 29/15–22 पू., 30/15–22 गी.
3. द्रोण प. 131/49–53 पू., 156/85½–89½ गी.

मल्लों का परस्पर जो हाथ पैरादि से युद्ध होता है उसे मल्लयुद्ध कहते हैं। महर्षि शुक्र मल्लयुद्ध को बाहु युद्ध के नाम से अभिहित करते हुये इसका लक्षण इस प्रकार करते है" कौशल के साथ शत्रु के सन्धिस्थान तथा मर्मस्थानों को पीड़ित करने से उल्टे तथा सीधे ढंग से बाहुओं द्वारा बांधने से जहां पर आघात पहुँचाया जाता है उसे बाहुद्ध कहते हैं।[1]

मल्ल युद्ध के प्रकार :— महाभारत कार ने मल्ल युद्ध के पन्द्रह दावों का वर्णन प्रस्तुत किया है। जिनके आधार पर हम मल्ल-युद्ध को पन्द्रह प्रकार का मान सकते हैं :–(1) भुजावबन्धन (भुजापाशों से बाँधना), (2) शिरावघातन (सिरों की-टक्कर लगाना), (3) पादावकर्षण (पैरों से खींचना), (पादसंघात (पैरों में पैर-लपेटना), (5) तोमरासन (तोमर प्रहार के समान ताल ठोकना), (6) अंकुशासन (अंकुश गडाने के समान एक दूसरे को नोंचना), (7) पाद विबन्धन (पैरों से पैरों-को बाँधना), (8) उदरविबन्धन (भुजाओं द्वारा उदर को बाँधना), (9) उद्भ्रमण (पृथ्वी पर घुमाना), (10), गत (प्रति-द्वन्द्वी की ओर बढ़ना), (11) प्रत्यागत पीछे लौटना), (12) आक्षेप (पछाडना) (13) पातन (पृथ्वी पर पटकना), (14) उत्थान (उछलकर खडा होना) और (15) संप्लुत (पीठ लगाना)[2]

दैत्य गुरु शुक्राचार्य ने भी बाहुद्ध के दावों के आधार पर आठ भेद किये हैं, जिनमें से कुछ तो महाभारतकार के साथ मिलते हैं और कुछ भिन्न से प्रतीत होते हैं। अतः इन आठ प्रकारों को भी हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं— (1) बामपाणिक मौल्यपीडा (बाये हाथ से बालो को पकड़ना), (2) भूमिनिष्पेषण (जबरदस्ती से भूमि मे पटक कर रगडना), (3) मूर्धपाद प्रहार (शिर में पैर से प्रहार करना), (4) जानूनोदरपीड़न (घुटने से पेट को दबाना), (5) कपोल दृढ-ताड़न (लता के समान दृढ मुक्कों से कपोल पर कठिन प्रहार करना), (6) कफोणिपात (बारंबार कोहनी को बलपूर्वक भूमि पर-गिराना), (7) सर्वतलताडन (सभी प्रकार से चपेटा द्वारा प्रहार करना) और (8) छलभ्रमण (छल के साथ शत्रुओं के छिद्र देखने की इच्छा से बाहुयुद्ध में घूमना)।[3]

---

1. कर्षणैः सन्धिमर्माणां प्रतिलोमानुलोमतः।
   बन्धनैर्घातनैः शत्रोर्युक्त्या तद्बाहुयुद्धम्॥
2. द्रोण प. 117/39–41 पू., 142/44–46 गी.
   (शु.नी. 4/7प्र./338–338)
3. शु. नी. 4/प्र. 7/339–341

महाभारत जैसे विशालकाय ग्रन्थ में मल्ल युद्ध का वर्णन बहुलता से मिलता है, किन्तु दीर्घ कलेवर के भय से हम केवल कुछ ही प्रधान मल्लयुद्धों का वर्णन यहाँ उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत कर रहे है, इनमें भी प्रधानत. उन्हीं मल्लयुद्धों को लिया है जो महाभारत के युद्ध से सम्बन्धित हैं।

(1) भीम और जरासन्ध का मल्ल युद्ध :—भीम और जरासन्ध का युद्ध एक इतिहास प्रसिद्ध युद्ध है यद्यपि इसका महाभारत युद्ध से कोई सम्बन्ध नहीं किन्तु इसकी ऐतिहासिक प्रसिद्धि के कारण ही हम इसे यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। अर्जुन श्रीकृष्ण और भीम ने जरासन्ध के यहाँ पहुँचकर उससे तीनों में से किसी भी एक के साथ मल्लयुद्ध करने को कहा तो महातेजस्वी मगध नरेश ने भीमसेन के साथ युद्ध करना ही स्वीकार किया। वह यशस्वी ब्राह्मण के द्वारा स्वस्तिवाचन सम्पन्न कराकर क्षत्रियधर्म का स्मरण कर युद्ध हेतु कमर कसकर तैयार हो गया और भीम से बोला "भीम आओ मैं तुमसे युद्ध करूंगा, क्योंकि श्रेष्ठपुरुष से लड़कर हारना भी अच्छा है।" तदनन्तर बलशाली भीम भी स्वस्तिवाचन के अनन्तर युद्ध की इच्छा से जरासन्ध के पास आ धमका। फिर सिंहों के समान वे दोनों एक दूसरे से भिड़ गये। पहले उन दोनों ने हाथ मिलाये, फिर एक दूसरे के चरणों का अभिवादन किया और तत्पश्चात् भुजाओं के मूलभाग के संचालन से वहाँ बन्धे हुये बाजूबन्द की डोर को हिलाते हुये वे दोनों वीर वहाँ ताल ठोकने लगे। फिर वे दोनों वीर हाथों से एक दूसरे के कन्धे पर बार बार चोट करते हुये अंग अंग से भिड़ाकर आपस में गुँथ गये तथा एक दूसरे को बार बार रगड़ने लगे। वे कभी हाथों को बड़े वेग से सिकोड़ते कभी फैलाते, कभी ऊपर नीचे चलाते और कभी मुट्ठी बांध लेते। इस प्रकार चित्रहस्तादि दाँव दिखा कर एक दूसरे की काँख या कमर में हाथ डालकर (कक्षाबन्ध) प्रतिद्वन्द्वी को बाँध लेने की चेष्टा की। फिर गले में और कपोल पर ऐसे हाथ मारने लगे कि आग की चिनगारियाँ सी निकलने लगी और वज्रपात सा शब्द होने लगा। तत्पश्चात् वे 'बाहुपाश' और चरणपाश आदि दाँव-पेचों से काम लेते हुये एक दूसरे पर पैरों से भीषण प्रहार करने लगे। तदनन्तर दोनों ने पूर्ण कुम्भ (दोनों हाथों की उँगलियों को परस्पर गूँथ कर हाथों की हथेलियों से शत्रु के सिर को दबाना) नामक दाँव लगाया इसके अनन्तर उरोहस्त (छाती पर थप्पड़ मारना) का प्रयोग किया। थप्पड़ों की मार खाकर परस्पर एक दूसरे को घूरघूर कर देखते। दोनों अपने अंगों और भुजाओं से प्रतिद्वन्द्वी के शरीर को दबाकर शत्रु की पीठ में अपने गले की हसली भिड़ाकर पेट को दोनों हाथों से कस लेते और उठाकर दूर फेंकते थे। वे दोनों ही मल्ल युद्ध की शिक्षा में प्रवीण थे। अतः सारी मर्यादाओं से ऊँचे उठे हुये पृष्ठ भंग (एक दूसरे की पीठ को धरती से लगा देने की चेष्टा में लगना)

नामक दांव-पेंच से काम लेने लगे। दोनों भुजाओं से सम्पूर्ण मूर्च्छा (उदरादि में आघात करके मूर्च्छित करने का प्रयत्न) तथा पूर्वोक्त पूर्णकुम्भ का प्रयोग करने लगे। तदनन्तर वे अपनी इच्छानुसार 'तृणपीड़' (रस्सी बनाने के लिये बटे जाने वाले तिनकों की भाँति हाथ पैरादि को ऐंठना) तथा मुष्टिकापात सहित पूर्णयोग (मुक्कों को एक अंग में मारने की चेष्टा दिखाकर दूसरे अंग में आघात करना) आदि दांव पेंचों का प्रयोग एक दूसरे पर करने लगे। वृत्र और इन्द्र के समान उनके युद्ध से दर्शक लोग भयभीत होकर पलायन कर गये। कार्तिकमास के प्रथम दिन से उन दोनों का युद्ध आरम्भ हुआ और दिन रात बिना खाये पिये अविरामगति से चलता रहा। उन वीरों का वह युद्ध इसी रूप में त्रयोदशी तक होता रहा। चतुर्दशी की रात्रि को मगधनरेश क्लेश से थककर युद्ध से निवृत्त सा होने लगा।[1]

तब भगवान् श्रीकृष्ण के संकेतानुसार भीम ने जरासन्ध को उठाकर आकाश में सौ बार घुमाया तथा धरणी पर पटक कर उसकी पीठ को धनुष की तरह मोड़ कर दोनों घुटनों की चोट से उसकी रीढ़ की हड्डी तोड़ डाली। फिर अपने शरीर की रगड़ से पीसते हुये भीम ने सिंहनाद किया। तदनन्तर अपने एक हाथ से उसका पैर पकड़कर और दूसरे पैर पर अपना पैर रखकर महाबली भीम ने उसे दो खण्डों में चीर डाला।[2]

2. भूरिश्रवा और सात्यकि का मल्लयुद्ध :— समरांगण में सोमदत्ति और सात्यकि जब निःशस्त्र हो गये तब उन्होंने बाहुयुद्ध प्रारम्भ कर दिया। दोनों के वक्षः स्थल चौड़े और भुजायें बड़ी-बड़ी थी। दोनों ही मल्ल युद्ध में कुशल थे। अतः लोहे के परिघों के समान सुदृढ़ भुजाओं द्वारा एक दूसरे से गुंथ गये। उन दोनों की भुजाओं द्वारा आघात, निग्रह (हाथ पकड़ना) और प्रग्रह (गले में हाथ लगाना) आदि दांव उनकी शिक्षा और बल के अनुरूप प्रकट होकर समस्त योद्धाओं का हर्ष बढ़ा रहे थे। जैसे दो हाथी दांतों के अग्र भाग से तथा दो सांड सींगों से लड़ते हैं; उसी प्रकार वे दोनों वीर कभी भुजपाश बांधकर, कभी सिरों की टक्कर लगाकर, कभी पैरों से खींचकर, कभी पैरों में पैर लपेट कर, कभी पाद-बन्ध, उदर-

---

1. सभा प. 23/2–30 गी.
2. सभा प. 24/5–7 गी.
भीम और जरासन्ध के युद्धस्थल पर स्मृतिरूप में आज भी एक अतिउच्च टीला बिहार राज्यान्तर्गत गिरिव्रज प्रदेश (राजगृह) से लगभग 5 की. मी. दूर विद्यमान है जहाँ एक लोह पट्ट पर स्थान की सूचना लिखी हुई है। मैंने यह स्थान अपनी नेपाल यात्रा में देखा है।

बन्ध, उदभ्रमण गत, प्रत्यागत आक्षेप, पातन, उत्थान, और संप्लुतादि दाँवों का प्रदर्शन करते हुये युद्ध करने लगे और इस प्रकार युद्ध करते हुये रणांगण में मल्लयुद्ध की बत्तीसों कलाओं का प्रदर्शन करने लगे और जब भूरिश्रवा सात्यकि को अधिक कष्ट देने लगा तब अर्जुन ने सात्यकि की रक्षा की।[1]

3. अलम्बुष और घटोत्कच का मल्ल युद्ध :—समरांगण में घटोत्कच ने जटासुरात्मज को मुक्कों से मारने के बाद भली प्रकार मथ कर तुरन्त ही भूमि पर पटक दिया और अपनी स्थूल भुजाओं से उसे भूतल पर रगड़ना आरम्भ किया, तब जटासुर का पुत्र अपने आपको घटोत्कच के बन्धन से छुड़ाकर पुनः उठ गया और बड़े वेग से उसकी ओर झपटा और उसने भी झटका देकर रणभूमि में राक्षस घटोत्कच को उठाकर पटक दिया और रोष पूर्वक उसे धरणी पर रगड़ने लगा। गरजते हुये उन दोनों का यह मल्लयुद्ध बड़ा रोमांचकारी था।[2]

4. सृंजय और कौरवों का मल्ल युद्ध :—समरांगण में अस्त्र-शस्त्रों से विहीन हो जाने पर योद्धाओं को सरल युद्ध बाहुयुद्ध ही प्रतीत होता था। अतः जब सृंजय और कौरववीर कवच, रथ और धनुषों से रहित हो गये तो वे अपने बालों को खोले हुये भुजाओं द्वारा ही मल्ल युद्ध करने लगे।[3]

संभवतः सर्वप्रथम प्रारम्भ होने वाला मल्ल युद्ध आज भी संसार में बहुतायत से प्रचलित है यहाँ तक कि विश्व-क्रीड़ा-प्रतियोगिताओं में इसे भी सम्मान स्थान मिलता है और मल्ल लोग अपने-अपने देश का नाम संसार में प्रकाशित करने का प्रयास करते हैं। हमारा भारत भी इस विषय में पीछे नहीं है। आज भी दारासिंह, मास्टर चंदगीराम, रंधावा जैसे प्रसिद्ध मल्ल भारत का नाम विश्व में चमका चुके है तथा भारत माँ की कोख अब भी नवीन-नवीन अद्‌भुत मल्लों को जन्म देती है, जिनमें दिल्ली के हनुमान के शिष्य अग्रगण्य हैं।

(घ) मुष्टिक युद्ध :—यदि हम यह कह दें कि 'मुष्टिक-युद्ध' 'मल्ल युद्ध' का ही एक भाग हो तो कोई अनुचित नहीं होगा, किन्तु अति बलवान् व्यक्ति केवल घोर मुष्टिक प्रहार के द्वारा ही शत्रु का प्राणान्त कर दिया करते थे। अतः मुष्टिक प्रहार का अपना पृथक् महत्व भी है। जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है कि मुष्टिका के द्वारा ही युद्ध हुये थे और वस्तुतः ऐसे युद्ध करने वाले व्यक्ति अति बलवान् थे। अतः उदाहरणार्थ हम इस प्रकार के मुष्टिक-युद्धों को भी प्रस्तुत करते हैं—

---

1. द्रो. प. 117/37–42 पू., 142/40–47 गी.
2. द्रोण प. 149/21–24 पू., 474/25–28 गी.
3. भीष्म प. 69/39 पू., भीष्म प. 73/41 गी.

1. भीम का मुष्टिक-युद्ध :—कलिंग कुमार ने अपने पिता का भीम द्वारा किया वध स्मरण कर उसके सारथि को मार डाला और ध्वजा भी छेद दी तब भीम को अति क्रोध आया और, उसने अपने रथ से उसके रथ पर कूद कर कलिंगकुमार के एक जोर का मुक्का मारा। युद्ध स्थल में बलवान् भीम के मुक्के की मार खाकर कलिंगकुमार की सारी हड्डियाँ सहसा चूर-चूर हो पृथक्-पृथक् गिर गयी। कर्ण और उसके भाई भीम के इस पराक्रम को सहन न कर सके। उन्होंने विषधर सर्पों के समान विषैले नाराचों से भीमसेन को गहरी चोट पहुँचायी। तदनन्तर भीम उस रथ को त्याग कर ध्रुव के रथ पर जा चढ़ा। निरन्तर बाण वर्षा कर रहे ध्रुव को भी भीम ने एक ही मुक्के से मार गिराया। ध्रुव को मारकर महाबली भीम जयरात के रथ पर जा पहुँचा और बार-बार सिंहनाद करने लगा, गर्जना करते हुये उसने बायें हाथ से जयरात को झटका देकर उसे थप्पड़ से मार डाला और फिर कर्ण के सामने जाकर खड़ा हो गया।

तदनन्तर कर्ण अश्वत्थामा दुर्योधन कृपाचार्य, सोमदत्त और बाह्लीक के देखते-देखते परंतप भीमसेन ने दुर्मद और दुष्कर्ण के रथों को लात मार-मार कर धरती में धँसा दिया। फिर धृतराष्ट्र के उन दोनों पुत्रों को क्रोध मे भरे हुये भीम ने मुक्के से मारकर मसल डाला और फिर जोर-जोर से गर्जना करने लगा।[1]

2. अलम्बुष और घटोत्कच का मुष्टिक युद्ध :—रणांगण में घटोत्कच ने जब अलम्बुष के सारथी घोड़ों और सम्पूर्ण अस्त्रशस्त्रों को तिल-तिल करके काट डाला तब रथ हीन हुये अलम्बुष ने रणभूमि मे कुपित होकर घटोत्कच के बड़े जोर से मुक्का मारा। उसके मुक्के की मार खाकर, घटोत्कच उसी प्रकार कांप उठा, जैसे भूकम्प होने पर वृक्ष, तृण और गुल्मों सहित पर्वत हिलने लगता है। तत्पश्चात् घटोत्कच ने भी शत्रु समूहों का नाश करने वाली अपनी परिघ जैसी मोटी भुजाओं के मुक्के से अलम्बुष को बहुत मारा।[2]

मुष्टिक युद्ध का अस्तित्व प्राचीन काल के समान अब भी है। भारत में तो इसका प्रचलन इतना नहीं जितना कि इस समय पश्चिमीय देशों में है। नीग्रो जाति का अमेरिकन घूसेबाज 'किंस क्ले' अपने मुष्टिक प्रहार के लिये विश्व में प्रसिद्ध है।

---

1. द्रो. प. 130/19–25, 33-34 पृ., 155/22–28, 39–40 गी.
2. द्रो. प. 149/16–20 पृ., 174/09–24 गी.

(ट) अश्वारोही-युद्ध :—प्राचीन काल में भी आधुनिक काल के समान अश्वारोही युद्ध कम होते थे। अश्वों को विशेषकर रथों में जोतकर ही रथवाहक के रूप में काम लेते थे। केवल घोड़े पर सवार होकर युद्ध न्यूनमात्रा में किया जाता था। इसका कारण संभवतः घोड़ों का प्रत्येक घुड़सवार के लिये सरलता से अधिक संख्या में प्राप्त न होना था। अस्तु उदाहरणार्थ महाभारत से एक प्रसंग देकर इसकी पुष्टि करना पर्याप्त रहेगा।

भीष्म की रक्षा हेतु दुर्योधन की आज्ञा पाकर सुबल पुत्र शकुनि एक लाख घुड़सवारों की सेना के साथ युद्ध के लिये आ पहुँचा। वह नकुल, सहदेव और युधिष्ठिर को सब ओर से घेरकर उन्हें आगे बढ़ने से रोकने लगा। वायु के समान वेगवाले उन अश्वों ने पाण्डव सेना को व्याकुल कर दिया। महाराज युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव ने तब उन घुड़सवारों का वेग नष्ट कर दिया, ठीक उसी प्रकार जैसे वर्षा-ऋतु में अधिक जल से परिपूर्ण होकर मर्यादा तोड़ने वाले समुद्र में पूर्णिमा तिथि मे बढ़े हुये वेग को तट की भूमि रोक देती है। तत्पश्चात् वे रथी झुकी हुई गाँठवाले बाणों द्वारा घुड़सवारों के मस्तक काटने लगे। उन सुदृढ धनुर्धरों द्वारा मारे गये वे घुड़सवार रण-भूमि मे उसी प्रकार गिरते थे, जैसे पर्वत की कन्दरा में बड़े-बड़े हाथी हाथियों से ही मारे जाकर गिरते हैं। वे घुड़सवार भी दसों दिशाओं में विचरते हुये झुकी हुई गाँठवाले तीखे बाणों तथा प्रासों द्वारा शत्रुपक्ष के सैनिकों के मस्तक काट गिराते थे। ऋष्टियों द्वारा मारे गये घुड़सवार अपने मस्तकों को उसी प्रकार गिराते थे, जैसे बड़े-बड़े वृक्ष अपने पके हुये फलों को गिराते हैं। सवारों सहित वहाँ मारे गये बहुत से घोड़े सब ओर गिरे और गिराये जाते हुये दिखायी देते थे। जैसे सिंह का सामना हो जाने पर मृग भय-भीत होकर अपने प्राण बचाने के लिये भागते हैं उसी प्रकार मारे जाते हुये घोड़े भय से व्याकुल हो इधर-उधर भाग रहे थे। पाण्डव उस महासमर मे शत्रु को जीतकर शंख फूँकने और नगाड़े पीटने लगे।[1]

(त) प्रस्तर युद्ध :—प्रस्तर युद्ध का प्रारम्भ संभवतः मानव ने मल्लयुद्ध के बाद किया हो, क्योंकि मल्लयुद्ध के अभाव में दूर से फेंक कर मारने के लिये प्रस्तर ही मानव को सरलता से मिला होगा और उसने दूर से मार करने के लिये इसी सरल साधन को अपना लिया होगा। महाभारत में प्रस्तर युद्ध का भी वर्णन मिलता है, जिसे हम उसी आदर्श उदाहरण के रूप में यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

1. भीष्म प. 101/8-24 पू., 105/8-24 गी. [illegible]

पर्वतीय वीरों और सात्यकि का प्रस्तर-युद्ध :—दुःशासन की आज्ञा पाकर प्रस्तर युद्ध में कुशल पर्वतीय वीर सात्यकि के सामने हाथी के मस्तक के समान बड़े-बड़े प्रस्तर हाथ में लेकर युद्ध के लिये तैयार होकर खड़े हो गये। प्रस्तर युद्ध की इच्छा रखने वाले उन योद्धाओं के आक्रमण करते ही सात्यकि ने तेज किये हुये बाणों का सन्धान करके उन्हें उन पर चलाया। पर्वतीय सैनिकों द्वारा की हुई उस भयंकर पाषाण,वर्षा को युयुधान ने अपने सर्पतुल्य नाराचों द्वारा छिन्न-भिन्न कर दिया। जुगनुओं की श्रेणियों के समान उद्भासित होने वाले उन प्रस्तरचूर्णों से प्रायः सारी सेनायें आहत होकर हा-हा कार करने लगी। तदनन्तर बड़े-बड़े प्रस्तर खण्ड उठाये हुये पांच सौ शूरवीर अपनी भुजाओं के कट जाने से भूमि पर गिर पड़े। फिर एक हजार दूसरे योद्धा तथा एक लाख अन्य सैनिक युयुधान तक पहुँचने भी नहीं पाये थे कि अपने हाथों में लिये शिलाखण्डों से कटी हुई भुजाओं के साथ ही धराशायी हो गये। वे पाषाणों द्वारा युद्ध करने वाले शूरवीर विजय के लिये यत्नशील होकर रणक्षेत्र में डटे हुये थे। उनकी संख्या अनेक सहस्र थी, परन्तु सात्यकि ने उन सबका संहार कर डाला।[1]

इति षष्ठ-पर्व

1. द्रो. प. 97/32-38 पू., 131/34-41 गी.

सप्तम–पर्व

महाभारत की व्यूह कला

कोई भी युद्ध व्यूह के बिना व्यवस्थित ढंग से नहीं लड़ा जा सकता। व्यूह के द्वारा व्यवस्थित की गई थोड़ी भी सेना शत्रु को पराजित कर सकती है। धनुर्वेद में व्यूह का लक्षण करते हुये कहा है "सेना के मुख भाग में रथ उनके पीछे हाथी, हाथियों के पीछे पदाति और दोनों पार्श्वों में घोड़ों को खड़ा किया जाना ही व्यूह की विधि है।"[1] शब्दकल्पद्रुम में "देश विशेष को प्राप्त कर उसके दुर्लङ्घ्यत्व के निमित्त युद्ध हेतु जो सेना की स्थापना की जाती है उसे व्यूह कहते हैं।"[2] ऐसा व्यूह लक्षण किया है। इसी प्रकार शब्द रत्नावली में भी व्यूह का लक्षण इस प्रकार प्रकट किया है "स्थान भेद को लेकर समग्र सेना का जो विन्यास किया जाता है उसे व्यूह कहते हैं।"[3]

भारतीय प्राचीन-ग्रन्थों में व्यूह का वर्णन विविधता से प्राप्त होता है। राजर्षि-मनु मनुस्मृति में दण्ड, शकट, वराह, मकर, सूची, गरुड़, पद्म और वज्र व्यूहों का उल्लेख करते हैं[4] तो महर्षि उशना क्रौंच, श्येन, मकर, सूची सर्वतोभद्र, शकट और व्याल व्यूहों के लक्षण प्रस्तुत करते हैं।[5] धनुर्वेद-प्रणेता शार्ङ्गधर भी अर्धचन्द्र, चक्र, शकट, मकर, कमल, शिलिका और गुल्म इन सात व्यूहों का उल्लेख

---

1. मुखेरथा गजाः पृष्ठे, तत्पृष्ठे च पदातयः।
   पार्श्वयोश्च हयाः कार्या व्यूहस्यायं विधिः स्मृतः॥ (धनु. वे./व्यूह-विधे/211)
2. युद्धार्थं सैन्यस्य देश-विशेषं विभज्य दुर्लङ्घ्यत्व-निमित्तं स्थानं व्यूहः।
   (शब्द क. द्रु. पृ. सं. 553)
3. समग्रस्य तु सैन्यस्य विन्यासः स्थानभेदतः। स व्यूह इति विख्यातो युद्धेषु पृथिवीभुजाम्॥ (श. क. द्रु. पृ. 553 (इति शब्द रत्नावली
4. मनु. स्मृ. 7/197–188, 191
5. शु. नी. 4/7प्र./278–283

द्वितीय स्थान पर इसका नाम केवल क्रौंचव्यूह ही मिलता है। अबकी बार इस व्यूह की रचना कौरव पक्ष के प्रधान सेनापति भीष्म द्वारा की गई मकर व्यूह की रचना के विरुद्ध की गयी। व्यूह के चंचुस्थल पर महाधनुर्धर द्रोण तथा नेत्रों पर अश्वत्थामा और कृपाचार्य खड़े हुये। काम्बोज और बाह्लिक देश के उत्तम सैनिकों के साथ नरश्रेष्ठ कृतवर्मा व्यूह के शिरो-भाग में स्थित हुये। शूरसेन तथा दुर्योधन बहुत से राजाओं के साथ क्रौंचव्यूह के ग्रीवा भाग में स्थित हुये। मद्र, सौवीर और केकय योद्धाओं के प्राग्ज्योतिषपुरनरेश भगदत्त उस व्यूह के वक्षःस्थल में स्थित हुये। त्रिगर्तराज सुशर्मा अपनी सेना के साथ व्यूह के वामपक्ष का आश्रय लेकर खड़े हुये। तुषार, यवन, शक और चूचुपदेश के सैनिक व्यूह के दाहिने पक्ष का आश्रय लेकर खड़े हुये। श्रुतायु, शतायु तथा सोमदत्तकुमार भूरिश्रवा ये लोग परस्पर एक दूसरे की रक्षा करते हुये व्यूह के जघन प्रदेश में स्थित हुये।[1]

उपर्युक्त दोनों व्यूहों के वर्णनों से परस्पर कोई भेद दिखाई नहीं देता अतः केवल नाम में ही कुछ भेद है तत्वतः कोई भेद नहीं है।

दैत्यगुरु शुक्राचार्य भी इस व्यूह का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं। ...ने पर जैसे आकाश में उड़ने वाले क्रौंच पक्षियों की पंक्ति-बद्ध स्थिति एक, दो दो या संघरूप से पंक्तिबद्ध स्थिति में रहने के द्वारा क्रौंच ...न्य के अनुसार करे। इसमें ग्रीवा का भाग पतला, पुच्छ ... भाग मोटे होते हैं।

करते हैं[1] तो अर्थशास्त्र प्रणेता चाणक्य दण्ड, भोग, मण्डल और असंहत ये चार प्रकार के प्रधान-व्यूह मानकर इन्हीं के अनेक भेद कर डालते हैं।[2] महाभारत-कार भी अपने ग्रन्थ में लगभग बीस प्रकार के व्यूहों का उल्लेख करते हैं। अतः अब हम महाभारतकार को प्रधान मानकर अन्य ग्रन्थकारों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुये विविध व्यूहों का वर्णन इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं।

(1) क्रौंचव्यूह :—इस व्यूह के महाभारत में दो नाम मिलते हैं एक स्थान पर इसका नाम क्रौंचारुण व्यूह मिलता है क्योंकि यह पाण्डव पक्ष के द्वारा अरुणकाल से रचा गया था इसलिये सम्भवतः इसका नाम क्रौंचारुण व्यूह रखा गया या क्रौंच अरुणवर्ण जैसा भी होता है अतः उसके वर्ण पर इसका नाम क्रौंचारुण रखा गया जिसका वर्णन इस प्रकार है—महाराज युधिष्ठिर ने सेनापति धृष्टद्युम्न को समस्त सेना के संहारक क्रौंचारुण व्यूह को बनाने का आदेश दिया और युधिष्ठिर की आज्ञा सुनकर व्यूह रचना कुशल धृष्टद्युम्न ने प्रातःकाल बृहस्पति की विधि से उस व्यूह की रचना की, जिसमें सबसे आगे अर्जुन को खड़ा किया, यहाँ अर्जुन अपने कपिध्वज से वैसे ही सुशोभित हो रहे थे जैसे सूर्य मेरु-पर्वत से सुशोभित होता है। व्यूह के शिर पर द्रुपद को, कुन्तीभोज और धृष्टकेतु को और दोनों नेत्रों पर, आशार्णक, दाशेरक समूहों के साथ प्रभद्रक, अनुपक और किरात गण को ग्रीवास्थल पर खड़ा किया। पटच्चर, पौण्ड्र, पौरव तथा निषादों के साथ महाराज युधिष्ठिर को पृष्ठ भाग में खड़ा किया। भीमसेन को एक पंख पर खड़ा किया और द्वितीय पंख पर स्वयं धृष्टद्युम्न खड़ा हुआ। द्रौपदी के पुत्र अभिमन्यु, सात्यकि, पिशाच, दरद, पुण्ड्र, कुण्डीविष, मारुत, धेनुक, तंगण, परतंगण, बाह्लिक, तित्तिर, चोल तथा पाण्ड्य जनपदों के लोगों को दाहिने पक्ष की ओर खड़ा किया। अग्निवेश, हुण्ड, मालव, दानभारि, शबर, उद्भस, वत्स तथा नाकुल जानपदों के साथ नकुल और सहदेव को वाम पक्ष की ओर खड़ा किया। उस क्रौंच-व्यूह के पंख भाग में दस हजार, शिर भाग में एक लाख, पृष्ठ भाग में एक अर्बुद बीस हजार तथा ग्रीवा में एक लाख सत्तर हजार योद्धा विद्यमान थे। राजा विराट केकय राजकुमारों के साथ उस व्यूह के जघन (कटिप्रदेश) की रक्षा कर रहे थे। काशिराज और शैब्य भी उनकी रक्षा में तत्पर थे। इस प्रकार पाण्डव क्रौंचारुण नामक महाव्यूह की रचना करके सूर्योदय की प्रतीक्षा करते हुये युद्ध हेतु सुसज्जित हो खड़े हो गये।[3]

---

1. धनु. वे./व्यूह-विधि/212
2. अ. शा. 6/158 अ. पृ. सं. 621
3. भीष्म प. 49/39–56 पृ., 50/40–47 गी.

द्वितीय स्थान पर इसका नाम केवल क्रौंचव्यूह ही मिलता है। अबकी बार इस व्यूह की रचना कौरव पक्ष के प्रधान सेनापति भीष्म-द्वारा की गई मकर व्यूह की रचना के विरुद्ध की गयी। व्यूह के चंचुस्थल पर महाधनुर्धर द्रोण तथा नेत्रों पर अश्वत्थामा और कृपाचार्य खड़े हुये। काम्बोज और वाह्लिक देश के उत्तम सैनिकों के साथ नरश्रेष्ठ कृतवर्मा व्यूह के शिरो-भाग में स्थित हुये। शूरसेन तथा दुर्योधन बहुत से राजाओं के साथ क्रौंचव्यूह के ग्रीवा भाग में स्थित हुये। मद्र, सौवीर और केकय योद्धाओं के प्राग्ज्योतिषपुरनरेश भगदत्त उस व्यूह के वक्षःस्थल में स्थित हुये। त्रिगर्तराज सुशर्मा अपनी सेना के साथ व्यूह के वामपक्ष का आश्रय लेकर खड़े हुये। तुषार, यवन, शक और चूचुपदेश के सैनिक व्यूह के दाहिने पक्ष का आश्रय लेकर खड़े हुये। श्रुतायु, शतायु तथा सोमदत्तकुमार भूरिश्रवा ये लोग परस्पर एक दूसरे की रक्षा करते हुये व्यूह के जघन प्रदेश में स्थित हुये।[1]

उपर्युक्त दोनों व्यूहों के वर्णनों से परस्पर कोई भेद दिखाई नहीं देता अतः केवल नाम में ही कुछ भेद है तत्वतः कोई भेद नहीं है।

दैत्यगुरु शुक्राचार्य भी इस व्यूह का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं। सकेत किये जाने पर जैसे आकाश में उड़ने वाले कौंच पक्षियों की पंक्ति-बद्ध स्थिति होती है वैसी एक एक, दो-दो या संघरूप से पंक्तिबद्ध स्थिति में रहने के द्वारा कौंच व्यूह की रचना देश तथा सैन्य के अनुसार करे। इसमें ग्रीवा का भाग पतला, पुच्छ भाग मध्यम तथा दोनो पक्षों के भाग मोटे होते हैं।[2]

इस प्रकार हम देखते है कि इस व्यूह का वर्णन केवल महाभारत और शुक्र नीति में ही मिलता है अन्य ग्रन्थ-कार इस विषय में मौन है।

(2) महाव्यूह :— भीष्म द्रोण और धार्तराष्ट्रों ने मिलकर एक महाव्यूह की रचना की जो पाण्डवों को बाधा पहुँचाने में समर्थ था। व्यूह के अग्रभाग में सेनापति भीष्म सब सैनिकों से घिरे हुये ऐसे चले जैसे देवराज देवसेना से घिरे हुये जा रहे हों। उनके पीछे प्रतापी वीर महाधनुर्धर द्रोणाचार्य ने युद्ध के लिये प्रस्थान किया उस समय मागध, विदर्भ, गान्धार और सौविरादि देश के क्षत्रिय लोग भीष्म की रक्षा करने लगे। शकुनि ने अपनी सेना लेकर द्रोणाचार्य की रक्षा में योग दिया। तत्पश्चात् दुर्योधन अपने भाइयों सहित हर्ष में भर कर कोसल, दरद, शक,

---

1. भीष्म प. 71/14-21 पू., 75/15-22 गी.
2. शु. नी. 4/7प्र./278-279

मालवादि देशों के योद्धाओं के साथ शकुनि की सेना का संरक्षण करने लगा। भूरिश्रवा, शल, शल्य, भगदत्त तथा विन्दानुविन्द उस सारी सेना के बाम भाग की रक्षा कर रहे थे। सोमदत्ति, सुशर्मा, सुदक्षिण, श्रुतायु और अच्युतायु दक्षिण भाग में स्थित होकर उस सेना की रक्षा कर रहे थे। अश्वत्थामा, कृपाचार्य तथा कृतवर्मा अपनी विशाल सेना के साथ कौरव सेना के पृष्ठ भाग में खड़े होकर उसका संरक्षण करते थे। केतुमान्, वसुदान, काशिराज के पुत्र अभिभू तथा अन्य अनेक नरेश सेना के पृष्ठ पोषक थे।[1]

इस व्यूह के विषय में महाभारतकार के अतिरिक्त अन्य सभी ग्रन्थकार मौन हैं। इस महाव्यूह की रचना क्रौंच-व्यूह का प्रतिकार करने के लिये की जाती है।

(3) श्येन व्यूह :—कौरवों के सेनापति भीष्म द्वारा रचे हुये मकर-व्यूह को देखकर पाण्डवों ने अजेय व्यूह-राज श्येन की रचना की। व्यूह के मुख भाग में महाबली भीमसेन शोभा पा रहे थे। नेत्रों के स्थान पर शिखण्डी तथा धृष्टद्युम्न खडे थे। शिरो-भाग में सत्य पराक्रमी वीर सात्यकि और ग्रीवा भाग में गाण्डीव धनुष की टंकार करते हुये अर्जुन खडे हुये थे। महात्मा द्रुपद एक अक्षौहिणी सेना लेकर बायें पंख के स्थान पर खड़े हुये। एक अक्षौहिणी के अधिपति केकय दाहिने पंख में स्थित हुये। द्रौपदी के पाँचों पुत्र और पराक्रमी अभिमन्यु पृष्ठ भाग में खडे हुये। उत्तम पराक्रम से सम्पन्न स्वयं महाराज युधिष्ठिर अपने दो भाई नकुल और सहदेव को साथ में लेकर पृष्ठ भाग में ही सुशोभित हुये।[2]

महर्षि शुक्राचार्य ने श्येन-व्यूह का लक्षण इस प्रकार किया है "जिसके दोनों पक्ष-भाग विशाल हों और गला तथा पुच्छ भाग मध्यम हो तथा मुख भाग पतला हो, यदि सैनिकों की ऐसी पंक्ति व्यवस्थित की गई हो तो उसे श्येन व्यूह कहते हैं।"[3]

चाणक्य श्येन व्यूह को 'दण्डव्यूह' के अन्तर्गत मानते हैं। उनके मत में सेना के जिस व्यूह को तिरछा खड़ा किया जावे उसे दण्ड व्यूह कहा जाता है। अतः यदि दोनों पक्षों को अपनी अपनी जगह रखकर मध्य भाग से शत्रु सेना पर आक्रमण किया जावे तो उस व्यूह को श्येन व्यूह कहा जायेगा।[4]

---

1. भीष्म प. 47/10–20 पू., 51/10–20 गी.
2. भीष्म प. 65/7–12 पू., 69/7–12 गी.
3. शु. नी. 4/7प्र./279
4. अर्थ. शा. 6/158–159 प्र. पृ. सं. 622

(4) सूची-मुख-व्यूह :—कौरवों की सेना को व्यूहाकार देखकर युधिष्ठिर ने धनंजय को कहा तात ! महर्षि वृहस्पति के वचनानुसार यदि अपनी सेना थोड़ी और विशाल हो तो अपनी सेना को इच्छानुसार फैलाकर खड़ी करे । थोडे से सैनिकों से बहुतों के साथ युद्ध करने के लिये सूची मुख नामक व्यूह उपयोगी हो सकता है और हमारी सेना शत्रुओं मे बहुत कम है ही ।[1] युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर अभिमन्यु को आगे करके विशाल सेना से घिरे हुये पांच केकय कुमार द्रौपदी के पांचों पुत्र और पराक्रमी धृष्टकेतु ये शत्रुओं का दमन करने वाले शूरवीर सूचीमुख नामक समरव्यूह बनाकर धार्तराष्ट्रों को रणक्षेत्र में विदीर्ण करने लगे ।[2]

महर्षि शुक्र के मत में सूची मुख का लक्षण इस प्रकार है "जिसका मुख भाग सूची के समान पतला मध्य भाग समान भाव से दण्डाकार लम्बा तथा अन्त में स्थित मूल भाग छिद्र युक्त हो ऐसी सेना पंक्ति को 'सूचीमुख' व्यूह कहते हैं ।[3] महर्षि शुक्र ने इस व्यूह को ठीक सूई के समान बताया है ।

चाणक्य इसे दण्ड व्यूह के अन्तर्गत मानते हुये कहते है जिस दण्ड व्यूह की सेना राजि शत्रुओ की ओर अग्रसर हो तो उसे 'सूची व्यूह' के नाम से अभिहित करेंगे ।[4]

(5) मकर व्यूह :—प्रातः काल शंखों और दुंदुभियों की जब बडी जोर जोर से ध्वनि हो रही थी तब युधिष्ठिर ने धृष्टद्युम्न से कहा "महाबाहु ! तुम शत्रु नाशक मकर व्यूह की रचना करो ।" युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर धृष्टद्युम्न ने अपने रथियों को मकर व्यूह बनाने की आज्ञा दे दी । व्यूह के मस्तक स्थान पर राजा द्रुपद तथा पाण्डुपुत्र अर्जुन खडे हुये । महारथी नकुल और सहदेव नेत्रों के स्थान में स्थित हुये । महाबली भीमसेन उसके मुख की जगह खडे हुये । अभिमन्यु, द्रौपदी के पांचों पुत्र, घटोत्कच, सात्यकि और धर्मराज युधिष्ठिर उस मकर व्यूह के ग्रीवा भाग में स्थित हुये । सेनापति विराट विशाल सेना से घिर कर धृष्टद्युम्न के साथ उस व्यूह के पृष्ठ भाग में खडे हुये । पांच भाई केकय राजकुमार उनके वामपार्श्व में खडे थे । नरश्रेष्ठ धृष्टकेतु और पराक्रमी चेकितान व्यूह के दाहिने भाग में स्थित होकर उसकी रक्षा करते थे । व्यूह के दोनों पैरों के स्थान पर कुन्ती भोज

1. भीष्म प. 19/3–5 पू., 19/3–5 गी.
2. भी. प. 73/54–55 पू., 77/58–59 गी.
3. शु नी. 4/7प्र./280
4. अर्थ. शा. 6/158–159 प्र. पृ. सं. 622

चाणक्य इस व्यूह को भी भोगव्यूह के अन्तर्गत मानते हुये इसका लक्षण इस प्रकार करते हैं "जिस भोगव्यूह में मध्य स्थान दो भागों में विभक्त होकर दण्डाकार रूप धारण कर ले और दोनों पक्ष एक दण्डे के समान दिखाई दें उस व्यूह का नाम शकटव्यूह है ।[1]

(7) **मण्डल व्यूह** :—कौरव सेनापति भीष्म ने पाण्डवो के विरुद्ध प्रभात की बेला में मण्डल नामक व्यूह का निर्माण किया, जो नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रो से सम्पन्न था ।

वह व्यूह हाथी और पैदल आदि मुख्य मुख्य योद्धाओं से भरा था । कई सहस्र रथो ने इसे सब ओर से घेर रखा था । वह व्यूह ऋष्टि और तोमर धारण करने वाले अश्वारोहियों के महान समुदायों से भरा था । एक एक हाथी के पीछे सात सात रथ, एक एक रथ के साथ सात सात घुड़सवार, प्रत्येक घुड़सवार के पीछे दस दस धनुर्धर और प्रत्येक धनुर्धर के साथ दस दस ढाल तलवार लिये रहने वाले वीर खड़े थे । इस प्रकार महारथियो के द्वारा व्यूहबद्ध होकर कौरव सेना महायुद्ध के लिये प्रस्तुत थी और भीष्म उसकी रक्षा कर रहे थे । उसमें दस हजार घोडे उतने ही हाथी और उतने ही रथ तथा अनेक वीर कवच धारण कर भीष्म पितामह की रक्षा कर रहे थे । पश्चिमाभिमुख वह मण्डल नामक महाव्यूह दुर्भेद्य होने के साथ ही शत्रुओं का संहार करने वाला था ।[2]

शुक्राचार्य जहाँ इस विषय में मौन हैं वहाँ चाणक्य इसका एक भेद और कर देते हैं जिसका वर्णन आगे करेंगे । चाणक्य के मत में जिस व्यूह के दोनों पक्ष, दोनों कक्ष और उरस्य एक दूसरे से मिल जायें तो इसका मण्डल व्यूह कहा जाता है ।[3]

(8) **सर्वतो-भद्र-व्यूह** :—शान्तनुनन्दन भीष्म ने शिविर से बाहर निकलकर सर्वतोभद्र व्यूह के रूप में सैन्य संगठन किया । कृपाचार्य, कृतवर्मा, शैव्य, शकुनि, जयद्रथ तथा कम्बोजराज सुदक्षिण ये सब नरेश भीष्म तथा धार्तराष्ट्रों के साथ सम्पूर्ण सेना के आगे तथा व्यूह के प्रमुख भाग में खड़े हुये । द्रोणाचार्य और भूरिश्रवा शल्य तथा भगदत्त कवच बाँधकर व्यूह के दाहिने पक्ष का आश्रय लेकर खडे

1. अर्थ. शा. 6/158–159 प्र. पृ. सं. 623
2. भीष्म प. 77/11–16, 21 पृ., 81/11–16, 21-गी.
3. अर्थ. शा. 6/158–159 प्र. पृ. सं. 623

हुये। अश्वत्थामा सोमदत्त तथा विन्दानुविन्द विशाल [illegible] पक्ष में खड़े हुये। त्रिगर्त देशीय सैनिकों के द्वारा सब [illegible] पाण्डवों का सामना करने के लिये व्यूह के मध्य भाग [illegible] अलम्बुष और महारथी श्रुतायु कवच धारण करके सम्पूर्ण [illegible] भाग में खड़े हुये।[1]

महर्षि शुक्र इस व्यूह का लक्षण इस प्रकार करते हैं [illegible] और साठ हाथी रेखाकार परिधि के रूप में और सभी तरफ शिर [illegible] आठ वलयाकार गोल पंक्तियों से युक्त एवं घुसने के मार्ग से रहित [illegible] व्यूह कहते हैं।[2]

चाणक्य इस व्यूह को मण्डल व्यूह के अन्तर्गत मानते हुये [illegible] पर चारों ओर से आक्रमण करने के लिये इसका निर्माण होता है, इसी [illegible] सर्वतोभद्र व्यूह कहा जाता है।[3]

(9) **अर्द्ध चन्द्राकार-व्यूह** :—परंतप सव्यसाची अर्जुन ने द्रो[illegible] की व्यूह रचना देखकर युद्ध भूमि मे उसका सामना करने के लिये धृष्ट[illegible] साथ लेकर अपनी सेना का अत्यन्त भयंकर अर्द्ध चन्द्राकार व्यूह बनाया था। दक्षिण शिखर पर भीमसेन सुशोभित हुये। उनके साथ नाना प्रकार के अस्त्र[illegible] से सम्पन्न विभिन्न देशों के नरेश भी थे। भीमसेन के पीछे ही राजा विराट [illegible] महारथी द्रुपद खड़े हुये थे। उनके बाद नील आयुधधारी सैनिकों के साथ [illegible] नील और नील के बाद महाबली धृष्टकेतु खड़े हुये। धृष्टकेतु के साथ चेदि, [illegible] करूष और पौरादि देशों के सैनिक भी थे। धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा पांचाल और प्रभद्रक-गण उस विशाल सेना के मध्य भाग में युद्ध के लिये खड़े हुये। हाथियों की सेना से घिरे हुये धर्मराज युधिष्ठिर भी वहीं खड़े हुये। तदनन्तर द्रौपदी के पाँचों पुत्र और सात्यकि खड़े हुये। इनके बाद शूरवीर अभिमन्यु और अभिमन्यु के बाद इरावान् थे। इरावान् के बाद घटोत्कच तथा महारथी केकय खड़े हुये थे। [illegible] [illegible] अर्जुन उस व्यूह के बायें शिखर पर खड़े हुये।[4]

---

1. द्रोण प. 95/26–32 पृ. 99/1–7 गी.
2. शु. नी. 4/7/282
3. अर्थ. शा. 6/158–159 पृ. सं. 623
4. द्रोण प. 52/10–17 पृ. 56/10–17 गी.

चाणक्य इस व्यूह को 'असंहत' व्यूह के अन्तर्गत मानते हैं। उनके मत में जब दोनों कक्ष और उरस्य ये पाँचों सेनायें असंगठित भाव से यदि शत्रु पर आक्रमण कर दे तब 'असंहत' व्यूह हो जाता है। यदि पक्षद्वय उरस्य एवं प्रतिग्रह (पश्चाद् भाग) इनमें तीन स्थानों पर सेना द्वारा असंहत-भाव से संगठन किया जाये तो उसका नाम अर्धचन्द्रक व्यूह अथवा कर्कटशृंगी व्यूह होता है।[1]

10. वज्र व्यूह :—महाभारत-कार ने वज्र-व्यूह का भी शकटव्यूह के समान विशेष वर्णन न देकर केवल इंगितमात्र किया है। इसका कारण भी वज्र की बहुतायत चर्चा हो सकती है क्योंकि इन्द्र ने अपने वज्र से कई दैत्यों का विनाश किया था, अतः सभी में प्रसिद्ध होने के कारण संभवत ग्रन्थकार ने इस व्यूह की आकृत को स्पष्ट करने की आवश्यकता न समझी हो। इसी कारण महाभारत में "शत्रुओं के दुर्जय मण्डल व्यूह को देखकर युधिष्ठिर ने वज्र-व्यूह की रचना की और तदनन्तर प्रहार में कुशल योद्धाओं ने व्यूह के भेदन करने की इच्छा से आगे प्रस्थान किया।[2] इतना मात्र ही वर्णन मिलता है।

चाणक्य ने इस व्यूह को असंहत-व्यूह के अन्तर्गत मानते हुये इसकी रचना पर इस प्रकार प्रकाश डाला है "जब पक्षद्वय, कक्षद्वय और उरस्य सहित इन पाँचों सेनाओं का वज्र की आकृति में संगठन कर दिया जावे तब उसे वज्र कहने लग जाते हैं।[3]

11. चक्रव्यूह :—महाभारत में चक्रव्यूह की घटना एक अविस्मरणीय घटना है। महाधनुर्धर अर्जुन के अभाव में अवशिष्ट पाण्डवों में से कोई भी चक्रव्यूह का भेदन करना नहीं जानता था, ऐसी स्थिति में षोडश-वर्षीय नवयुवक किशोर अभिमन्यु ने चक्रव्यूह को भेदन करने का निश्चय किया और वह उसका भेदन कर सकने में भी समर्थ हुआ, किन्तु कौरवों के अन्याय के कारण वह लौटकर न आ सका। गुरुवर द्रोणाचार्य ने इस व्यूह की जो रचना की थी वह इस प्रकार थी।

---

1. अर्थ. शा. 6/158–159 प्र./पृ. सं. 623
2. भीष्म प. 77/21–22 पू. ,, ,, 81/22–23 गी.
3. अर्थ शा. 6/158–159 प्र.प.सं. 623

हुये। अश्वत्थामा सोमदत्त तथा विन्दानुविन्द विशाल सेना के साथ व्यूह के वाम पक्ष में खड़े हुये। त्रिगर्त देशीय सैनिकों के द्वारा सब ओर से घिरा हुआ दुर्योधन पाण्डवों का सामना करने के लिये व्यूह के मध्य भाग में खड़ा हुआ। रथी श्रेष्ठ अलम्बुष और महारथी श्रुतायु कवच धारण करके सम्पूर्ण सेनाओं तथा व्यूह के पृष्ठ भाग में खड़े हुये।[1]

महर्षि शुक्र इस व्यूह का लक्षण इस प्रकार करते है "जिस व्यूह के चारों ओर आठ हाथी रेखाकार परिधि के रूप में और सभी तरफ जिसके मुख हों और जो आठ वलयाकार गोल पंक्तियों से युक्त एवं घुसने के मार्ग से रहित हो उसे भी सर्वतोभद्र व्यूह कहते है।[2]

चाणक्य इस व्यूह को मण्डल व्यूह के अन्तर्गत मानते हुये कहते है "शत्रु पर चारो ओर से आक्रमण करने के लिये इसका निर्माण होता है, इसी कारण इसे सर्वतोभद्र व्यूह कहा जाता है।[3]

(9) अर्द्ध चन्द्राकार-व्यूह :--परंतप सव्यसाची अर्जुन ने कौरव सेना की व्यूह रचना देखकर युद्ध भूमि में उसका सामना करने के लिये धृष्टद्युम्न को साथ लेकर अपनी सेना का अत्यन्त भयंकर अर्द्ध चन्द्राकार व्यूह बनाया था। उसके दक्षिण शिखर पर भीमसेन सुशोभित हुये। उनके साथ नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों से सम्पन्न विभिन्न देशों के नरेश भी थे। भीमसेन के पीछे ही राजा विराट और महारथी द्रुपद खड़े हुये थे। उनके बाद नील आयुधधारी सैनिको के साथ राजा नील और नील के बाद महाबली धृष्टकेतु खड़े हुये। धृष्टकेतु के साथ चेदि, केशी, करुष और पौरादि देशों के सैनिक भी थे। धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा पांचाल और प्रभद्रक-गण उस विशाल सेना के मध्य भाग मे युद्ध के लिये खड़े हुये। हाथियो की सेना से घिरे हुये धर्मराज युधिष्ठिर भी वही खड़े हुये। तदनन्तर द्रौपदी के पांचो पुत्र और सात्यकि खड़े हुये। इनके बाद शूरवीर अभिमन्यु और अभिमन्यु के बाद इरावान् थे। इरावान् के बाद घटोत्कच तथा महारथी केकय खड़े हुये थे। तत्पश्चात् मनुष्यों में श्रेष्ठ अर्जुन उस व्यूह के बायें शिखर पर खड़े हुये।[4]

---

1. भीष्म प. 95/26–32 पू., 99/1–7 गी.
2. शु. नी. 4/7प्र/282
3. अर्थ. शा. 6/158–159 पृ. सं. 623
4. भीष्म प. 52/10–17 पू., 56/10–17 गी.

चाणक्य इस व्यूह को 'असंहत' व्यूह के अन्तर्गत मानते हैं। उनके मत में जब दोनों कक्ष और उरस्य ये पाँचों सेनायें असंगठित भाव से यदि शत्रु पर आक्रमण कर दे तब 'असंहत' व्यूह हो जाता है। यदि पक्षद्वय उरस्य एवं प्रतिग्रह (पश्चाद् भाग) इनमें तीन स्थानों पर सेना द्वारा असंहत-भाव से संगठन किया जाये तो उसका नाम अर्धचन्द्रक व्यूह अथवा कर्कटश्रृंगी व्यूह होता है।[1]

10. वज्र व्यूह :—महाभारत-कार ने वज्र-व्यूह का भी शकटव्यूह के समान विशेष वर्णन न देकर केवल इंगितमात्र किया है। इसका कारण भी वज्र की बहुतायत चर्चा हो सकती है क्योंकि इन्द्र ने अपने वज्र से कई दैत्यों का विनाश किया था, अतः सभी मे प्रसिद्ध होने के कारण संभवत ग्रन्थकार ने इस व्यूह की आकृत को स्पष्ट करने की आवश्यकता न समझी हो। इसी कारण महाभारत में "शत्रुओं के दुर्जय मण्डल व्यूह को देखकर युधिष्ठिर ने वज्र-व्यूह की रचना की और तदनन्तर प्रहार में कुशल योद्धाओं ने व्यूह के भेदन करने की इच्छा से आगे प्रस्थान किया।[2] इतना मात्र ही वर्णन मिलता है।

चाणक्य ने इस व्यूह को असंहत-व्यूह के अन्तर्गत मानते हुये इसकी रचना पर इस प्रकार प्रकाश डाला है "जब पक्षद्वय, कक्षद्वय और उरस्य सहित इन पाँचों सेनाओं का वज्र की आकृति में संगठन कर दिया जावे तब उसे वज्र कहने लग जाते है।[3]

11. चक्रव्यूह :—महाभारत में चक्रव्यूह की घटना एक अविस्मरणीय घटना है। महाधनुर्धर अर्जुन के अभाव में अवशिष्ट पाण्डवों में से कोई भी चक्रव्यूह का भेदन करना नहीं जानता था, ऐसी स्थिति में षोडश वर्षीय नवयुवक किशोर अभिमन्यु ने चक्रव्यूह को भेदन करने का निश्चय किया और वह उसका भेदन कर सकने में भी समर्थ हुआ, किन्तु कौरवों के अन्याय के कारण वह लौटकर न आ सका। गुरुवर द्रोणाचार्य ने इस व्यूह की जो रचना की थी वह इस प्रकार थी।

---

1. अर्थ. शा. 6/158–159 प्र./पृ. सं. 623
2. भीष्म प. 77/21–22 पू. „ „ 81/22–23 गी.
3. अर्थ शा. 6/158–159 प्र.प.सं. 623

आचार्य द्रोण ने चक्रव्यूह के निर्माण में इन्द्र के समान पराक्रम प्रकट करने वाले समस्त राजाओं का समावेश किया था। उसमें अरों के स्थान में सूर्य के समान तेजस्वी राजकुमार खड़े किये गये थे, जिन्होने प्राणों के रहते युद्ध से विमुख न होने की प्रतिज्ञा कर ली थी। सुदृढ़ धनुष धारण करने वाले आक्रमण-कारी वीरों की संख्या दस हजार थी। उन्होने लाल वस्त्र और लाल रंग के ही आभषण धारण कर रखे थे। उनकी ध्वजायें भी रक्त वर्ण की थी और उन्होंने स्वर्णमालायें भी धारण कर रखी थीं, इस प्रकार की सेना के मध्य भाग में राजा दुर्योधन खड़ा हुआ अग्रभाग में सेनापति द्रोण खड़े हुये। वही सिन्धुराज जयद्रथ की मेरु-पर्वत की भांति खड़ा हुआ। उसके एक पार्श्व में अश्वत्थामादि महारथी खड़े हुये तथा तीस धार्तराष्ट्र कुमारी शकुनि शल्य और भूरिश्रवा ये वीर महारथी सिन्धुराज के दूसरे पार्श्व में खड़े हुये।[1]

सामान्यतः पण्डव पक्ष ये युधिष्ठिर के शब्दों में अर्जुन-पुत्र अभिमन्यु स्वयं अर्जुन, श्रीकृष्ण और धृष्टद्युम्न ही चक्रव्यूह का भेदन कर कर सकते थे,[2] किन्तु और श्रीकृष्ण तो संशप्तकों से युद्ध करने गये थे और धृष्टद्युम्न प्रधान सेनापति थे। अतः उन्हें इस दुष्कर कार्य में में लगाकर सौभद्र को ही इस कार्य के लिये भेजना उचित समझा गया।

दैत्यगुरु शुक्राचार्य महाभारतकार के ही चक्रव्यूह के लक्षण की पुष्टि करते हुये कहते हैं कि जो चक्राकार गोल हो, मध्य में आठ भागों में विभक्त कुण्डली आकार के बने हों उसके अन्दर घुसने के लिये एक ही मार्ग हो तो ऐसी सेनापंक्ति को 'चक्रव्यूह' कहते हैं।[3]

12. व्यालव्यूह :— इस व्यूह का भी महाभारतकार ने केवल संकेत मात्र ही किया है। इसका कारण भी व्याल (सर्प) की प्रसिद्धि हो सकती है। भीष्म जब कौरव सेना को लेकर आगे बढ़े तो अर्जुन ने देखा कि उन्होने अपनी सेना को

1. द्रो. प. 33/12–20 पू., 34/13–23 गी.
2. द्रो. प. 34/15 पू., 35/15 गी.
3. शु. नी. 4/7प्र. 265

व्याल नाम के व्यूह में आबद्ध कर रखा है जिससे वह सेना अनेक प्रकार की दिखाई दे रही थी। इस व्यूह के कारण सेना-शक्ति छिपी हुई थी और उसमें हाथी घोड़ पैदल तथा रथियों के समूह दिखाई दे रहे थे और सेना का वह व्यूह महान मेघों की घटा के समान प्रतीत होता था।[1]

महाभारतकार के ही समान शुक्राचार्य भी मानों व्याल की प्रसिद्धि के कारण व्याल (सर्प) के आकार की सेना पंक्ति को व्याल व्यूह कहते हैं।[2] ऐसा कहकर चुप हो जाते हैं।

13. गरुड़-व्यूह :—प्रभात होने पर गांगेय भीष्म ने कौरवों की इच्छा से महान् गरुड़व्यूह की रचना की। सेनापति भीष्म स्वयं व्यूह के अग्र भाग में चंचुस्थल पर खड़े हुये। आचार्य द्रोण और यदुवंशी कृतवर्मा दोनों नेत्रों के स्थान पर स्थित हुये। यशस्वी वीर अश्वत्थामा और कृपाचार्य शिरो भाग मे खड़े हुये जिनके साथ त्रिगर्त केकय और वाट धान भी युद्ध भूमि में उपस्थित थे। भूरिश्रवा शल शल्य और भगदत्त ये सब जयद्रथ के साथ ग्रीवा भाग में खड़े किये गये। इन्हीं के साथ मद्र, सिन्धु सौवीर तथा पंचनंद के योद्धा भी थे। अपने सहोदरों तथा अनुचरों के साथ राजा दुर्योधन पृष्ठ भाग में स्थित हुआ। अवन्तिकुमार विन्द और अनुविन्द, कम्बोज, शक एवं शूरसेन-प्रदेश के योद्धा उस महाव्यूह के पुच्छ भाग में स्थित हुये। मगध और कलिंग देश के योद्धा दासेरगणों के साथ व्यूह के दायें पंख के स्थान में स्थित हुये। कारूष विकुंज मुण्ड और कुण्डीवृष आदि योद्धा राजा बृहद्बल के साथ बायें पंख के स्थान में खड़े हुये।[3]

प्रस्तुत व्यूह में महाभारतकार को छोड़कर अन्य सभी ग्रन्थकार मौन हैं।

14. शृंङ्गाटक व्यूह ;—शत्रु सेना को देखकर महाराज युधिष्ठिर ने प्रधान सेनापति धृष्टद्युम्न को उसका सामना करने के लिये जब व्यूह बनाने की आज्ञा दी, क्रूर स्वभाव वाले धृष्टद्युम्न ने अत्यन्त शृङ्गाटक (सिंघाड़े) के आकार वाला व्यूह बनाया; जो शत्रु के व्यूह को विनाश करने वाला था। उसके दोनों

1 भी. पू. 56/7 पू. ,, ,, 60/7 गी.
2. शु. नी. 4/7 प्र./282
3. भीष्म प. 52/2–9 पू, 56/2–9 गी.

शृङ्गों के स्थान में भीमसेन और महारथी सात्यकि कई हजार रथियों, घुड़सवारों और पैदलों के साथ विद्यमान थे। व्यूह के अग्रभाग में नर-श्रेष्ठ श्वेत वाहन अर्जुन खड़े हुये थे और मध्य देश में राजा युधिष्ठिर तथा माद्रीकुमार, नकुल, सहदेव थे। इनके बाद सेना सहित अनेक महाधनुर्धर नरेश खड़े थे, जो व्यूहशास्त्र के पूर्ण विद्वान् थे। उन्होंने व्यूह को प्रत्येक अंग और उपांग, से परिपूर्ण किया था। उस व्यूह के पिछले भाग में अभिमन्यु, महारथी विराट, हर्ष से भरे हुये द्रौपदी के पाँचो पुत्र तथा राक्षस घटोत्कच विद्यमान थे।[1]

इस व्यूह के विषय मे भी अन्य ग्रन्थकार मौन हैं।

15. विचित्र (चक्र+शकट+पद्मगर्भ+सूचीगूढ़) व्यूह :—आचार्य द्रोण ने जयद्रथ की अर्जुन मे रक्षा करने के लिये एक विचित्र व्यूह का निर्माण किया, जिसे चक्र-गर्भशकटव्यूह कह सकते थे। उस विचित्र-व्यूह की लम्बाई 12 गव्यूति (चौबीस कोस) और पिछले भाग की चौड़ाई पाँच गव्यूति (दस कोस) थी। यत्रतत्र खड़े हुये अनेक नरपतियों तथा हाथी-सवार, घुड़सवार, रथी और पैदल सैनिकों द्वारा द्रोणाचार्य ने स्वयं उस व्यूह की रचना की थी। उस चक्र शकट-व्यूह के पिछले भाग मे पद्म नामक एक गर्भ-व्यूह बनाया गया था, जो अत्यन्त दुर्भेद्य था। उस पद्म-व्यूह के मध्य-भागों में सूची नामक एक गूढ़ व्यूह और बनाया गया था। सूचीमुख-व्यूह के प्रमुख भाग में महाधनुर्धर कृतवर्मा खड़े किये गये थे। कृतवर्मा के पीछे काम्बोजराज और जलसंध खड़े हुये, तदनन्तर दुर्योधन और कर्ण स्थित हुये। तत्पश्चात् युद्ध मे पीठ न दिखाने वाले योद्धा खड़े हुये। वे सब के सब शकटव्यूह के प्रमुख-भाग की रक्षा के लिये नियुक्त थे। उनके पीछे विशाल सेना के साथ स्वयं राजा जयद्रथ सूचीव्यूह के पार्श्वभाग मे खड़ा था इस शकटव्यूह के मुहाने पर भरद्वाज-नन्दन द्रोणाचार्य थे और उनके पीछे भोज थे, जो स्वयं आचार्य की रक्षा कर रहे थे। द्रोणाचार्य द्वारा रचित वह महाव्यूह क्षुब्ध महासागर के समान जान पड़ता था। उसे देखकर सिद्ध और चारण भी महान् विस्मय को प्राप्त हुये। उस समय समस्त प्राणी ऐसा मानने लगे कि वह व्यूह पर्वत, समुद्र और काननों सहित अनेकानेक जनपदों से भरी हुई इस सारी पृथ्वी को अपना ग्रास बना लेगा। बहुत से रथ, पैदल, मनुष्य, घोड़े और रथियों से परिपूर्ण भयंकर कोलाहल से युक्त एवं शत्रुओं के हृदय को विदीर्ण करने में समर्थ अद्भुत और समय के अनुरूप बने हुये उस महान् व्यूह को देखकर राजा दुर्योधन बहुत प्रसन्न हुआ।[2]

---

1. भीष्म प. 83/17–21 पू., 87/17–21 गी.
2. द्रोण प. 63/21–33 पू., 87/22–34 गी.

यह व्यूह तो ऐसा विचित्र व्यूह है कि द्रोण को छोड़कर दूसरा कोई इसे बनाने मे समर्थ था ही नही। अतः अन्य ग्रन्थकारों द्वारा उल्लेख किया जाना असम्भव था।

16. सर्वतोमुख व्यूह :—सर्वतोभद्र और सर्वतोमुख व्यूह नाम से दो प्रतीत होते हैं किन्तु रचना में समान से ही लगते हैं। महाभारतकार ने दोनों व्यूहों का पृथक् उल्लेख किया है और अन्य किसी भी ग्रन्थकार ने इस विषय में प्रकाश नहीं डाला। अतः इसका पृथक्-रूप से उपलब्ध वर्णन इस प्रकार प्रस्तुत किया जा रहा है।

रथों के समूह से युक्त कौरव सेना का भयंकर समूह सर्वतोमुखी था। वह हँसता हुआ आक्रमण सा कर रहा था। हाथी उस व्यूह के अंग थे, राजाओं का समुदाय ही उसका मस्तक था और घोड़े उसके पंख जान पड़ते थे। द्रोणाचार्य, भीष्म, अश्वत्थामा, वाह्लीक और कृपाचार्य ने उस सैन्य-व्यूह का निर्माण किया था।[1]

17. व्यूहराज :—महाभारतकार ने इस व्यूह का केवल उल्लेख मात्र किया है। इसकी रचना-विधि पर प्रकाश नहीं डाला और न अन्य किसी ग्रन्थकार ने ही ऐसा किया। अतः हम भी इसका वही वर्णन प्रस्तुत करते है जैसा कि महाभारतकार ने किया है।

"लोकविख्यात महारथी किरीटधारी अर्जुन अस्त्र-शस्त्र लेकर जिसे सुरक्षित रूप से अपने साथ ले आ रहे थे और जिसमें चार-चार हजार मतवाले हाथी प्रत्येक दिशा में खड़े किये गये थे, उस व्यूह-राज को कौरव सेना ने देखा। यह व्यूह वैसा ही था जैसाकि धर्मराज युधिष्ठिर ने पहले दिन बनाया था। इस प्रकार के इस व्यूह को भूतल पर मनुष्यों की सेनाओं में न तो पहले कभी देखा ही गया था और न कभी सुना ही गया था।[2]

---

1. भीष्म प. 17/38–39 पू., 17/38–39 गी.
2. भीष्म प. 56/10–11 पू., 60/10–11 गी.

18. चन्द्राकार व्यूह :—जैसा कि नाम से प्रतीत होता है कि इस व्यूह की रचना पूर्ण-चन्द्र के आकार की होनी चाहिये, क्योंकि महाभारतकार ने अर्ध चन्द्राकार व्यूह का भी उल्लेख किया है, जिसका वर्णन हम पहले प्रस्तुत कर चुके हैं। इस व्यूह के विषय में भी अन्य ग्रन्थकार मौन हैं और महाभारतकार भी केवल इस ओर इंगित मात्र करते है।

महाधनुर्धर धनंजय जब संशप्तगणों से महा भयंकर युद्ध करने गये तो उन योद्धाओं ने रथों के द्वारा ही समतल प्रदेश पर चन्द्राकार-व्यूह बनाया और प्रसन्नता-पूर्वक अर्जुन का सामना करने के लिये सन्नद्ध होकर खड़े हो गये।[1]

मार्गावलम्बन व्यूहों का उपयोग :—महाभारतकार के अतिरिक्त शुक्राचार्य और चाणक्य रणस्थल के अतिरिक्त रणस्थल में पहुँचने के लिये जिस मार्ग का अवलम्बन लिया गया हो उस मार्ग के अनुसार भी व्यूहों का उपयोग करने का निर्देश करते है।

महर्षि शुक्र कहते हैं "यदि आगे से नदी पर्वतीय के कारण भय की सम्भावना हो तो बड़े मगर के आकार की व्यूह रचना करके चले अथवा उभय पक्ष वाले श्येन (बाज) पक्षी के आकार कि वा तीक्ष्ण मुखवाली सूची के आकार की व्यूह-रचना करके चले। पीछे से यदि शत्रुभय हो तो शकटव्यूह या वज्र-व्यूह चारों ओर से भय हो तो सर्वतोभद्र व्यूह, चक्रव्यूह अथवा व्यालव्यूह की रचना करे।[2]

चाणक्य भी शुक्राचार्य की पुष्टि करते हुये कहते है "यदि सेना के अग्रभाग पर आक्रमण की सम्भावना हो तो विजिगीषु, मकरव्यूह यदि पिछले भाग पर आक्रमण की सम्भावना हो तो शकटव्यूह, यदि दोनों पार्श्व से आक्रमण का भय हो तो वज्र व्यूह, यदि चारों ओर से आक्रमण की आशंका हो तो सर्वतोभद्र-व्यूह और यदि मार्ग में एक-एक व्यक्तियों के आक्रमण की आशंका हो तो सूची-व्यूह बनाकर आगे बढ़े।[3]

आधुनिक व्यूह और उनका उपयोग :—हमारी भारतीय सेना मे व्यूहों का उपयोग अब भी किया जाता है, हाँ यह अवश्य है कि उनका स्वरूप परिवर्तित हो गया है किन्तु उनमे भारतीय व्यूहों की झलक दिखाई देती है।

---

1. द्रोण प. 17/1 पू., 18/1 गी.
2. शु. नी. 4/7प्र./263–265.
3. अर्थ. शा. 2/प्र./148–149/पृ. सं. 602

1. एक पंक्तिबद्ध व्यूह (Single File Formation) :—इस व्यूह में एक के पीछे एक सैनिक चलता है। इसका उपयोग रणस्थल में पहुँचने के लिये उस समय किया जाता है जबकि किसी संकीर्ण मार्ग (घाटी आदि) से पार होकर जाना हो या पंकयुक्त (दलदली) भूमि हो। इसका क्रम इस प्रकार रहता है—पहिले आगे दो सिपाही, उसके बाद नायक, फिर अस्त्रयुक्त (राइफल वाले) चार सैनिक और तीन पीछे की ओर जो अग्नियन्त्र भुशुण्डी (Light Machine Gun) दल के होते हैं। सामान्यतः इसमें दस की संख्या होती है। यही सख्या निश्चित नही है। आवश्यकतानुसार इसका उपयोग रणस्थल मे भी किया जाता है। व्यूह हमें सूची मुख व्यूह के समान प्रतीत होता है।

2. द्विपंक्तिबद्ध व्यूह (File Formation) :—इस व्यूह में समानान्तर रूप से दो पंक्तियाँ चलती हैं। इसका उपयोग अधिकतर समतल मार्ग (Road) पर किया जाता है पुलादि को पार करने के लिये इसका उपयोग उत्तम रहता है। उपर्युक्त व्यूह के समान ही इसका रचना विधान है। इसका उपयोग रणस्थल मे भी यथास्थान और यथासमय किया जाता है। इसका साम्य हम व्याल-व्यूह से बैठा सकते हैं।

3. तीराकार व्यूह (Aero Head Formation) :—इस व्यूह की आकृति तीर के समान होती है, इसमें दो सैनिक समान तल पर आगे की ओर होते हैं, उन दोनों के पीछे नायक मध्य मे होता है। नायक के एक हाथ की ओर तीन और नायक के दूसरे हाथ की ओर तीन तथा नायक के पीछे एक बम्ब फैंकने वाला सैनिक (Bomber Man) होता है। इसका उपयोग सामने से जब भय की आशंका हो तो किया जाता है तथा रणस्थल मे भी आवश्यकतानुसार इसका बहुतायत से उपयोग किया जाता है। इसका साम्य हम श्येन व्यूह से करते हैं।

4. त्रिशूलाकार व्यूह (Spear Head Formation) :—इस व्यूह की आकृति त्रिशूल के सदृश होती है। इसमे दो सैनिक, दो पृथक्-पृथक् किनारों पर खडे होते हैं। नायक बीच में खड़ा होता है। बीच में ही नायक के साथ अग्नियन्त्र भुशुण्डी दल होता है जिसमे तीन सैनिक होते हैं और शेष दो सैनिक नायक के एक हाथ तथा शेष दो नायक के पार्श्व में दूसरे हाथ की ओर खडे होते हैं। इस व्यूह का उपयोग पीछे के भय के लिये उपयोगी होता है। इसका भी रणस्थल में प्रचुर प्रयोग किया जाता है तथा इसका साम्य हम वज्र व्यूह से बैठा सकते है।

5. मंजूषा-कार व्यूह (Box Type Formation) :—इस व्यूह की आकृति सन्दूक के समान होती है। इसमे दो सैनिक आगे, दो पीछे और तीन एक पार्श्व में तथा तीन द्वितीय पार्श्व में होते हैं। इस व्यूह का उपयोग उस समय किया जाता है जब चारों ओर से शत्रु के भय की आशंका हो। इसका उपयोग समतल भूमि (खुला मैदान) तथा रणस्थल में यथासमय किया जाता है। इसकी तुलना हम सर्वतोभद्र व्यूह से कर सकते हैं।

6. समतल पंक्ति व्यूह (Standard Line Formation) :—इस व्यूह में दसों सैनिक शत्रु के सामने समतल रूप से एक पंक्ति में सीधे खड़े होकर आक्रमण करते हैं। इसका उपयोग केवल रणस्थल में ही सहसा आक्रमण के समय किया जाता है। इस व्यूह का साम्य हम व्यूहराज-व्यूह से कर सकते हैं।

इति सप्तम—पर्व

उपसंहार

सार रूप में देखना यह है कि मेरे द्वारा प्रस्तुत यह शोधप्रबन्ध वर्तमान परिप्रेक्ष्य में हमारे राष्ट्र एवं राष्ट्रीय साहित्य के लिये किस प्रकार उपयोगी हो सकता है ? इस दृष्टिकोण से यदि हम गम्भीर चिन्तन करें तो निश्चय ही ग्राज के इस ग्राणविक एवं संघर्षशील युद्धप्रिय युग में हमारी भारत भूमि के रक्षार्थ उपयुक्त उपायों की दृष्टि से यह शोध-प्रबन्ध अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगा । ग्राइये हम गृध्र-दृष्टि से इस की उपयोगिता का ग्रवलोकन करें।

हमारे मस्तिष्क में यह एक सहजात प्रश्न उठता है कि मानव संघर्ष क्यों करता है ? इसका समाधान मैंने यह किया है कि संघर्ष करना मानव की स्वाभाविक-प्रवृत्ति है । फिर भी उसकी इस स्वाभाविक-प्रवृत्ति का क्षेत्र किन-किन उद्देश्यों को लेकर बना हुग्रा है । इसके लिये मानव के वे ही काम क्रोध लोभ मोह ग्रौर मात्सर्यादि दुर्गुण ही हेतु है । जैसा कि ग्रनुभवी पुरुष कहते हैं कि झगड़े की जड़ जर जमीन ग्रौर जोरू होती है । ग्रतः जब हमें युद्ध के मूल कारण ज्ञात हो जायें तो हम उसे टालने के प्रयास कर सकते हैं ।

महाभारत का महाभयंकर युद्ध भी इन्हीं तीन प्रमुख कारणों को लेकर हुग्रा ग्रौर उसे टालने के ग्रनेक उपाय करने पर भी वह नहीं टाला जा सका क्योंकि इतिहास साक्षी है कि होनी होकर ही रहती है । महात्मा तुलसी ही के शब्दों में—

"सुनहु भरत भावी प्रबल, बिलखि कहेउ मुनिनाथ ।
हानि लाभु जीवनु मरनु जसु ग्रपजसु विधि हाथ ॥"
(राम. मानस बा. का. दोहा 171)

इस शोध प्रबन्ध के ग्रध्ययन से हमारी राष्ट्रीय नीति को यह प्रबल समर्थन मिलता है कि हम चलाकर ग्राक्रान्ता नहीं बनते । यदि कोई हमारे ऊपर युद्ध घोषना ही चाहता है तो हम यथा-साध्य ग्रपनी ग्रोर से उसे टालने के प्रयास करते हैं, किन्तु न टलने पर हम शत्रु के सामने घुटने नहीं टेकते ग्रपितु रणांगण में लोहा

लेकर शत्रु के दांत खट्टे कर देते हैं। इस शोध-प्रबन्ध से यह ज्ञात होता है कि हमारी नीति की यह स्वस्थ परम्परा आज की नही अपितु महाभारतकाल से भी पुरानी है और हमारे राष्ट्र के लिये यह गौरव की बात है कि हम इसे अभी भी बनाये हुये हैं और बनाये रखें, इसी से हमारे राष्ट्र का गौरव बना रहेगा।

हमारे प्राचीन महर्षियों ने हमारे सामाजिक ढांचे को वर्णव्यवस्था में व्यवस्थित किया था और यह व्यवस्था हमारी पुरातन संस्कृति के संरक्षक भारत में अभी भी विद्यमान है। सामाजिक व्यवस्थापकों ने युद्ध हेतु प्राचीन काल में युद्धप्रिय जाति क्षत्रिय को बताया है। इस शोध-प्रबन्ध से यह स्पष्ट होता है कि युद्ध करना केवल क्षत्रियों का ही कार्य नही है अपितु उसमें ब्राह्मण से लेकर अन्त्यज तक सम्मिलित हो सकते है और यही बात आज के स्वतन्त्र भारत में भी है, किन्तु अब भी युद्ध हेतु प्राबल्य क्षत्रियों का ही दिखाई देता है। अतः क्षत्रियों के युद्ध धर्म के ज्ञान हेतु मैंने अपने शोध-प्रबन्ध में क्षात्रधर्म पर सुचारू विवेचन किया है, जो वस्तुतः हमारी सेना के लिये अत्यन्त उपादेय है और मै यह कह सकता हूँ कि मेरे शोध प्रबन्ध के प्रथम-पर्व का यह एक मार्मिक प्रकरण है।

समय परिवर्तनशील है और समयानुसार युद्ध के नियम भी परिवर्तित होते रहते है, इस शोध-प्रबन्ध मे प्रदर्शित युद्ध के नियमों का आधुनिक नियमो के साथ अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि युद्ध के नियम अवश्य निर्धारित किये जाते हैं, किन्तु अधिकतर उनका पालन पूर्णरूपेण नहीं किया जाता। अतः इस सारांश के अनुसार हमे भी शत्रु के समान ही नियमों पर जोर देना चाहिये अधिक नहीं; क्योंकि फिर इससे पराजय की संभावना रहती है।

सेना का राज्य के सन्दर्भ में कितना महत्वपूर्ण स्थान है? यह केवल आज के युग की ही बात नहीं है अपितु प्राचीनकाल में भी सेना को राज्य-रक्षा के लिये राज्य का अनिवार्य अंग समझा जाता था। यह शोध-प्रबन्ध इस बात को बतलाता है कि सेना में जो आज नौ श्रेणियां है, वे कोई नई नही है अपितु महाभारत काल में भी वे ही नौ श्रेणियां थीं। यहां तक कि कई श्रेणियों की तो संख्या तक भी समान रूप से मिलती है। इससे ज्ञात होता है कि हमारा भारतीय सैन्य-विज्ञान प्राचीनकाल में भी बढ़ा चढ़ा था। अतः हम यदि हमारी सेना को भारतीय सैन्य-श्रेणियों के नामों से ही अभिहित करना चाहें तो देश के सांस्कृतिक ज्ञान की महत्ता से यह गौरव का विषय हो सकता है।

हमारी सेना के चार परम्परागत अंगों का इस शोध-प्रबन्ध द्वारा आज की सेना के अंगों से तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि पदाति सेना के जो कि प्राचीन तथा आधुनिक काल में भी प्राथमिक अंग मानी जाती है, उतना ही महत्व है जितना कि प्राचीन काल में था। यदि हम नभ और जल सेना को भी

चार अंगों की पूर्ति के रूप में गिन लें तो उन्हीं परम्परागत चार अंगों की (चतुरंगिणी) सेना की पूर्ति हो जाती है यद्यपि अश्वसेना युद्ध क्षेत्र में चलकर लड़ाई के रुप में आज काम नही करती, किन्तु फिर भी युद्ध के आवश्यक उपकरणों की पूर्ति में इसका स्तुत्य योगदान रहता है। अतः हम कह सकते हैं कि भारतीय सेना के आज भी चार परम्परागत अंगो में से दो वैसे ही विद्यमान हैं और दो का समयानुसार स्वरुप परिवर्तित हो गया है।

सेना के सामाजिक संगठनाधार को यदि हम लें तो ज्ञात होगा कि उस समय महायुद्ध में सम्मिलित होने के लिये सभी लोग तत्पर रहते थे और सम्मान सहित बुलाने पर अपना प्राण तक अर्पण कर देते थे। आज भी भारत का सामाजिक सैन्य-संगठन-आधार प्राचीनकाल के समान सुदृढ है केवल संगठनाधार प्रकार में परिवर्तन हुआ है।

शोध-प्रबन्ध का तृतीय पर्व हमें आज भी सेनापति का योग्यता के आधार पर उसके निर्वाचन हेतु पूर्ण सहायता ही नहीं करता अपितु वर्तमान से भी अधिक कुशलता हेतु शिक्षा देता है। सेनापति के पद का कितना महत्व है यह बात यह पर्व भलीभाँति प्रदर्शित करता है। प्राचीन काल की सैन्यप्रशिक्षण विधि यह कहती है कि अप्रशिक्षित सैनिकों को कभी भी रणागण में नहीं उतारना चाहिये और उनकी कठोर परीक्षा ली जानी चाहिये। आज हमारे शासन द्वारा सैनिक कल्याण हेतु केन्द्रो की व्यवस्था, वेतन व्यवस्था आदि की जाती है वे महाभारत काल में भी की जाती थी। अतः आज की व्यवस्थाओं को और भी सुचारू बनाने के लिये हम इस विषय में शोधप्रबन्ध से लाभ उठा सकते हैं। प्राचीन-काल में राजा किस प्रकार सेना पर नियत्रण रखता था। इस विषय मे हमारे शासन कर्ता बहुत कुछ शिक्षाग्रहण कर सकते हैं।

चतुर्थ-पर्व तो आयुधों की दृष्टि से अपनी विशिष्टता रखता है मैंने इस में दिव्य और अदिव्यास्त्रों का परिचय ही नही दिया अपितु चित्रादि देकर उनके स्वरूप को और भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। भुशुण्डी और शतघ्नी का वर्णन यह प्रकट करता है कि प्राचीनकाल में भी हम इस दिशा में बहुत आगे बढ़े हुये थे। अतः यह हमारी मौलिकता को प्रस्तुत कर देश के प्राचीन-सैन्यज्ञान-गौरव की महिमा को प्रकाशित करता है जिसके गौरव का अनुभव का हम संसार मे शिर ऊँचा कर सकते है। इसमें वर्णित कुन्तादि के प्रयोग तो आज भी हमारी सेना मे किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त पाश, पट्टिश, करजादि शस्त्रों तथा चक्र, त्रिशूल भिन्दिपालादि अस्त्रों का प्रयोग कर सामान्य खर्च के साथ शत्रु पर सरलता से प्रहार कर सकते हैं। दिव्यास्त्रों का वर्णन आज के आणविकास्त्रों को भी मात देता हुआ

दिखाई देता है अतः इस विषय में हमें भी प्रयोगात्मक कदम उठाने चाहिये, जिससे कि हम आज के युग में विश्व के समक्ष प्राचीन-शक्ति को नवीन रूप में प्रस्तुत कर अपना गौरव विशेष बना सकते हैं। ध्वजाओं का वर्णन भी ध्वजा के महत्व को प्रतिपादित करता हुआ आज से बहुत साम्य रखता है।

पंचमपर्व मे सैन्य-निर्याण-काल में मंगलाचरण और शकुनापशकुन का प्रसंग बहुत ही महत्वपूर्ण है। आज हम हमारी इस भारतीय मांगलिक परम्परा को भूल बैठे हैं, किन्तु यदि इसे पुनः अपनाकर देखें तो निश्चय ही इस विषय को ध्यान में रखने से हम विशेष लाभ उठा सकते हैं। सेना की अनुशासन-विधि और सैन्य संचालन की रीतिनीति का प्रकरण भी आज के सैन्यप्रशासन को बहुत कुछ शिक्षा देता है और कुशल-सेनापतियों को चाहिये कि अपने आधुनिक सामरिक-ज्ञान के साथ प्राचीन सामरिक ज्ञान की विशिष्टताओं को ग्रहण कर अपनी ज्ञानाभिवृद्धि करें।

षष्ठ-पर्व में मैंने महाभारतकालीन विविध युद्धों के प्रकारों का वर्णन प्रस्तुत किया है जिससे प्राचीनकाल के साहसात्मक वर्णन से हृदय उत्साह से भर जाता है इसमें भी ब्रह्मास्त्रादि दिव्यास्त्रों की आज के आणविकास्त्रों के साथ तुलना के प्रकरण हमारे लिये आज विशेष उपयोगी सिद्ध हो सकता है। महाभारताधार पर बताई गई दिव्यास्त्र प्राप्ति की विधि से हमें आज उन प्राचीन-अस्त्रों को पुनः प्राप्त करने की दिशा में कदम उठाकर आणविकास्त्रों को एक नई दिशा देने का प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि हो सकता है हम इस विषय में संसार से बहुत आगे बढ़ जाएँ।

महाभारत कालीन व्यूह-कला का आधुनिक व्यूह कला के साथ तुलनात्मक अध्ययन यह प्रकट करता है कि आज भी हमारी सैन्य प्रणाली में कई व्यूह वैसे ही है जैसे प्राचीनकाल में थे। केवल नामों में समयानुसार परिवर्तन कर दिया गया है। हमें चाहिये कि जिन व्यूहों का प्रयोग हमने रखा है उन्हें भी अपनाये, क्योंकि हो सकता है ऐसा करने से हम शीघ्र विजयश्री प्राप्त करने में अधिक सफल हों। उदाहरणार्थ विश्व विख्यात चक्रव्यूह को हम आधुनिक रूप में ढालकर विशिष्ट लाभ उठा सकते हैं।

इसमें कोई संशय नहीं है कि युद्ध विषय को लेकर संस्कृतजगत् में लिखा जाने वाला मेरा यह शोध-प्रबन्ध आज के सामरिकज्ञान हेतु अपना विशेष महत्व तथा भारतीयों को विशेषतः सैन्याधिकारियों को इसका अध्ययन मनन कर भारतीय सेना को नवीन दिशा देनी चाहिये। जिससे कि हमारे प्राचीन सामरिक-ज्ञान का गौरव विश्व में उच्चस्थान प्राप्त कर सके और हम भी अपने गौरव के उच्च स्थान के साथ अपना मस्तक ऊँचा कर सकें।

—: संदर्भ ग्रन्थों की सूची :—

1. महाभारत	गीताप्रेस गोरखपुर
2. शुक्रनीति	चौखम्बा प्रकाशन
3. मनुस्मृति	चौखम्बा प्रकाशन
4. किरातार्जुनीयम्	चौखम्बा प्रकाशन
5. याज्ञवल्क्य-स्मृति	चौखम्बा प्रकाशन
6. उत्तररामचरितम्	चौखम्बा प्रकाशन
7. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्	पण्डित पुस्तकालय काशी
कौटिल्य-अर्थशास्त्र	चौखम्बा प्रकाशन
8. मत्स्यपुराण	वेंकटेश्वरप्रेस बम्बई
9. गौतमधर्मसूत्राणि	चौखम्बा प्रकाशन
10. पूर्वमीमांसादर्शन	
11. रघुवंश	चौखम्बा प्रकाशन
12. धनुर्वेद संहिता	कर्मवीर महामण्डल काठमाण्डू
धनुर्वेद संहिता	काशीमुद्रायंत्र में मुद्रित विश्वनाथ मन्दिर के पास
13. अमरकोष	चौखम्बा प्रकाशन
14. शब्दकल्पद्रुम	
15. शब्द रत्नावली	
16. वराहमिहिरबृहत्संहिता	
17. सिद्धान्तशिरोमणि	
18. राजतरंगिणी	
19. संस्कृत काव्यों में पशु-पक्षी	देव नागर प्रकाशन, जयपुर
20. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास	वाचस्पति गैरोला
21. संस्कृतसाहित्य के इतिहास की रूपरेखा	चन्द्रशेखर पाण्डेय
22. संस्कृत-साहित्य का इतिहास	बलदेव उपाध्याय
23. भारतीय ज्योतिष	
24. श्री मद्भागवत् पुराण	
25. कल्याण-महाभारतांक	
26. ऋग्वेद	
27. अथर्ववेद	
28. रामायण	
29. ऐतरेयब्राह्मण	
30. शतपथ ब्राह्मण	

31. संस्कृत साहित्येतिहासः — हंसराज अग्रवाल
32. महाभारत के आदर्श पात्र — गीता प्रेस गोरखपुर
33. रामचरित मानस — गीता प्रेस गोरखपुर
34. Mahabharata (Critical (Edition) — Bhandarkar Oriental Research Institute of Poona
35. Mahabharatanukramanika — (Index of Mahabharata)
36. Mahabharata Ki Namanukramanika — by V.S. Agrawal
37. Epice and Purans — by A.B. Pusalkar
38. Mahabharta–A criticism — by C.B. Vaidya
39. Age of Mahabharata War — by Jagannath Roy
40. On of Mahabharata War — by V.S. Sukhathankara
41. Date of Mahabharata War — by Prof. Tarkeshwar Bhattacharya
42. Epic Mythology — by E.W. Hopkins
43. Das Mahabharata — by Harmann Olden Burg.
44. The Mahabharata Analysis & Index — by E.P. Rice
45. Studies in Indian Weapons & Warfare — by G.N. Pant
46. Sanskrit English Dictionary — by Mecdonal
47. " " " — by Monior Villium
48. History of Dharm Shastra — by P.V. Kane
49. History of Indian Literature — by Winternit
50 History of Sanskrit Literature — by Macdonell
51. Epic and Ebrahaman Literature — by V.V. Dixit
52. History of Ancient Sanskrit Literature — by Max Muller

....
....
....
....

अश्वत्थामा एवं अर्जुन के छोड़े हुए ब्रह्मास्त्रों को शान्त करने लिये नारदजी और व्यासजीका आगमन

अश्वत्थामा एवं अर्जुन के छोड़े हुए ब्रह्मास्त्रों को शान्त करने लिये नारदजी और व्यासजीका आगमन

31. संस्कृत साहित्येतिहासः — हंसराज अग्रवाल
32. महाभारत के आदर्श पात्र — गीता प्रेस गोरखपुर
33. रामचरित मानस — गीता प्रेस गोरखपुर
34. Mahabharata (Critical (Edition) — Bhandarkar Oriental Research Institute of Poona
35. Mahabharatanukramanika — (Index of Mahabharata)
36. Mahabharata Ki Namanukramanika — by V.S. Agrawal
37. Epice and Purans — by A B. Pusalkar
38. Mahabharta–A criticism — by C.B Vaidya
39. Age of Mahabharata War — by Jagannath Roy
40. On of Mahabharata War — by V.S. Sukhathankara
41. Date of Mahabharata War — by Prof. Tarkeshwar Bhattacharya
42. Epic Mythology — by E.W. Hopkins
43. Das Mahabharata — by Harmann Olden Burg.
44. The Mahabharata Analysis & Index — by E.P. Rice
45. Studies in Indian Weapons & Warfare — by G.N. Pant
46. Sanskrit English Dictionary — by Mecdonal
47. „ „ „ — by Monior Villium
48. History of Dharm Shastra — by P.V. Kane
49. History of Indian Literature — by Winternit
50 History of Sanskrit Literature — by Macdonell
51. Epic and Ehrahaman Literature — by V.V. Dixit
52. History of Ancient Sanskrit Literature — by Max Muller

....

....

....

....

अश्वत्थामा एवं अर्जुन के छोड़े हुए ब्रह्मास्त्रों को शान्त करने लिये नारदजी और व्यासजीका आगमन

महाभारत में सांग्रामिकता

अश्वत्थामाके द्वारा पाण्डव-सेनापर नारायणास्त्रका प्रयोग

वज्र
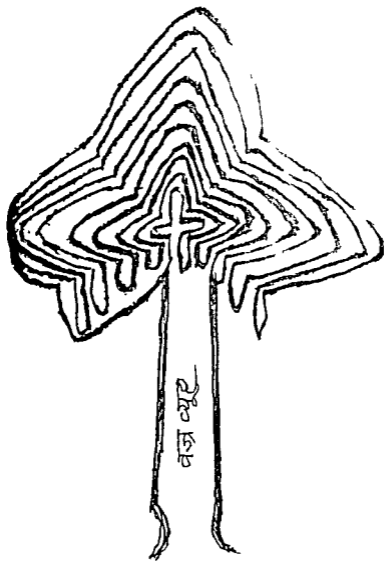
सपेतो भद्र.
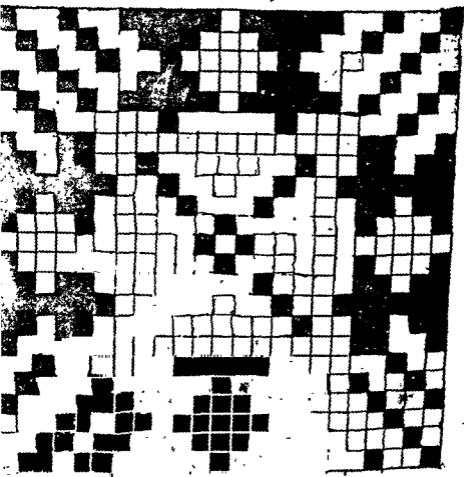
महाभारत में सांग्रामिकता

अश्वत्थामा द्वारा अर्जुनपर आग्नेयास्त्रका प्रयोग एवं उसके द्वारा
पाण्डव-सेनाका संहार

महा व्यूह
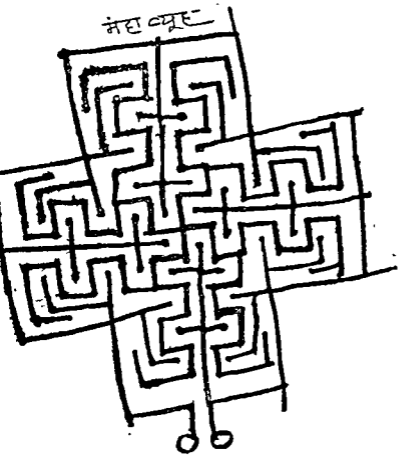
मित्रवर डा. नन्दकिशोर गौतम, बहुमुखी प्रतिभा के धनी संस्कृत विद्वान् लेखक एवं कवि हैं। उनकी अनेक रचनाओं मे से महाभारत की सांग्रामिकता सर्वश्रेष्ठ है। महाभारत की युद्ध कला का जैसा विशद एवं सूक्ष्म विवेचन इस कृति में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। विद्वान् लेखक ने महाभारत का विस्तृत परिचय देने के बाद ग्रन्थ में युद्ध के उद्देश्य, धन व यशलाभ, प्रमुत्व प्राप्ति, भूमिलाभ आदि पर विस्तृत प्रकाश डाला है। लेखक ने सेना के प्रकार एवं गुप्त अंगो का परिचय देते हुए, सैन्य सामग्री एवं सेना प्रमाण पर प्रकाश डाला है। लेखक ने परम्परागत हथियारों, धनुप, बाण, गदा पत्थर, चक्र आदि का उल्लेख करने के साथ-साथ विभिन्न प्रभावकारी, दिव्यास्त्र, ब्रह्मास्त्र, पर्जन्यास्त्र, आग्नेयास्त्र, नारायणास्त्र, पाशुपतास्त्र वायव्यास्त्र, आदि का विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। सैन्य प्रमाण प्रसंग में लेखक ने तत्सम्बन्धी संपूर्ण विधि पर प्रकाश डाला है। संक्षेप मे महाभारत की युद्ध कला के प्रसंग में एक भी विषय ऐसा नही, जिस पर विद्वान् लेखक की पैनी दृष्टि नही पड़ी हो, परिणाम स्वरूप प्रत्येक विषय लेखक की लेखनी का स्पर्श पाकर प्रस्फुरित हो उठा है। इस श्रेष्ठ ग्रन्थ के लिये डा. गौतमजी को बधाई है।

डा. सुभाष वेदालंकार

सहायक प्रोफेसर

संस्कृत विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय

जयपुर